

भारतीय शिक्षा का इतिहास [1800-1973]

जे० पी० नायक सैयद नूरुल्ला

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड

नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

© जे० पी० नायक सैयद नूरुल्ला प्रथम हिंदी संस्करण : 1976

भारत सरकार से रियायती दर पर प्राप्त कागज इस पुस्तक में इस्तेमाल किया गया है।

मूल्य: पुस्तकालय संस्करण: 35.00

छात्र संस्करण : 20.00

एस० जी० वसानी द्वारा दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित तथा प्रगति प्रिटर्स, दिल्ली 110032 में मुद्रित। J P Naik Syed Nurullah: Bhartiya Shiksha ka Itihas

प्रस्तावना

भारत के शैक्षिक इतिहास का आध्निक काल लगभग 1765 से आरंभ होता है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य इसी आधुनिक काल की मूख्य शैक्षिक गतिविधियों की रूपरेखा प्रस्तुत करना है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक का वत्तांत है। इसमें उन व्यापक सिद्धांतों को भी बताया गया है जिनके आधार पर पंचम योजना काल में शैक्षिक पूर्निर्माण के लिए प्रयास करना होगा।

इस पुस्तक में हिंदुओं के बीच चलने वाले आर्य समाज आंदोलन अथवा मुसलमानों के बीच चलने वाले अलीगढ आंदोलन जैसे व्यष्टि आंदोलनों के इतिहास के वर्णन का प्रयास नहीं किया गया है। न इसमें प्रत्येक व्यष्टिक प्रांत अथवा देशी रियासत के शैक्षिक इति-हास को ही लिया गया है। उपर्युक्त सीमाओं के रहते हए, इस पूस्तक में इस बात का प्रयास किया गया है कि भारत के आधुनिक शिक्षा के इतिहास के प्रत्येक चरण की पूर्ण एवं विशद समीक्षा दी जाए, प्रत्येक महत्वपूर्ण निर्णय के उद्देश्य तथा परिणामों को स्पष्ट किया जाए और यह दिखाया जाए कि वर्तमान शिक्षा पद्धति का क्रमिक रूप से किस प्रकार निर्माण हुआ है। समीक्षा इस प्रकार से की गई है जिससे वह न केवल वर्तमान को समझने में. वरन भावी सुधार और पूनर्गठन की मुख्य दिशाओं को बताने में सहायक हो।

इस अध्ययन की एक विशिष्टता का यहां उल्लेख कर दें। पाठक को यह पता चलेगा कि इस पुस्तक में भारी संख्या में उद्धरण भरे पड़े हैं। इन उद्धरणों को कई कारणों से रखा गया है। इनमें से कुछ को इसलिए शामिल किया गया है कि इनके मूल आधार ग्रंथ अब अप्राप्य हैं और सामान्य विद्यार्थी की पहुंच से बाहर हैं। कुछ अन्य उद्धरणों को इसलिए शामिल किया गया है ताकि पाठक को उन मूल दस्तावेजों के विशाल साहित्य से परिचित कराया जा सके जो इस विषय पर उपलब्ध है। परंतू अनेक उद्धरणों को इसलिए शामिल किया गया है कि उनसे विगत काल के संघर्षों तथा उन आदशों को स्पष्ट रूप से चित्रित करने में सहायता मिलती है जिनसे दोनों ओर के संघर्षकर्ताओं को प्रेरणा मिली थी। इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक में पात्रों को अपनी बात स्वयं कह देने की पूर्ण स्वतंत्रता देना ही सदैव लाभकर है।

नई दिल्ली अगस्त 1974

जे० पी० नायक

भूमिका

भारत की आधुनिक शिक्षा पद्धति के विकास के इतिहास की तुलना एक वृहद नाटक से की जा सकती है।

इस नाटक के लिए 'दृश्य विधान' न केवल भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांविधानिक इतिहास ने वरन समसामयिक इंग्लैंड की सामाजिक, राजनीतिक और शैक्षिक गतिविधियों ने भी तैयार किया है। कई भारतीय संस्थाओं की योजनाएं इंग्लैंड की सदृश संस्थाओं के आधार पर बनाई गई थीं। बहुधा अंग्रेजी शिक्षा के विवादों का, और उससे भी अधिक बार, इंग्लैंड की शिक्षा नीति में हुए परिवर्तन का देर सवेर भारतीय शिक्षा में पूर्ण अनुकरण किया गया है। भारतीय शिक्षा नीति को इस पृष्टभूमि से पृथक रखकर देखने का प्रयास करना किसी बात के कारण को जाने बिना ही उसके परिणाम को समझने का प्रयत्न करना है। अतः इस पुस्तक में उपर्युक्त 'दृश्य विधान' को यथासंभव स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने और उसे भारत की शैक्षिक प्रगति के विभिन्न चरणों के साथ सहसंबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

इस नाटक में जो अंतर्द्वंद्व है वह प्राचीन और नवीन के बीच संघर्ष में दिखाई देता है।
गैर भारतीयों का प्रयास कितना ही सदाशयपूर्ण क्यों न रहा हो तथापि उसकी भावना यह
थी कि ब्रिटिश शिक्षा पद्धित का महत्वहीन अनुकरण करके उसी प्रकार की एक पद्धित को
भारत पर लादा जाए। परंतु दूसरी ओर देश की जनता यह चाहती थी कि अपनी विशिष्ट
आवश्यकताओं को पूरा करने और अपनी विशिष्ट समस्याओं का समाधान करने के लिए
एक नई पद्धित का सर्जन किया जाए। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व भाग में, देशी शिक्षा
पद्धित का प्रमुख स्थान बना रहा। उसके बाद शीघ्र ही मिशनरियों ने पाश्चात्य ज्ञान का
प्रसार करना और अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य को प्रोत्साहन देना आरंभ कर दिया। सरकारी
कर्मचारियों तथा कुछ ऐसे प्रबुद्ध भारतीयों ने उनका साथ दिया जो या तो नई पद्धित
के अधीन शिक्षित हुए थे अथवा उसके लाभों को महत्व देते थे। उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के
कार्यकर्ताओं के सम्मिलित प्रयत्नों से आधुनिक शिक्षा पद्धित ने जन्म लिया। अनेक कारणों
से यह पद्धित शीघ्र फलने फूलने लगी। पहली बात यह है कि विक्टोरिया काल के अंग्रेजों
का आत्मतीय के साथ यह विश्वास था कि उनकी भाषा, साहित्य और शिक्षा प्रणालियां

संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं और भारत के लिए सबसे अच्छी बात यही होगी कि वह उन्हें समग्र रूप में अपना ले। दूसरी बात यह है कि इस काल के भारतवासी पाश्चात्य सभ्यता के साथ प्रथम बार संपर्क होने के कारण चिकत थे और यह विश्वास करते थे कि उनके लिए सबसे अच्छी बात यही होगी कि ब्रिटिश आदर्श की नकल करें। तीसरी बात यह है कि चूंकि इस पद्धित के अंतर्गत शिक्षित युवक युवितयों को सरकारी सेवा में निर्वाध रूप से नौकरी मिल जाती थी अतः इस पद्धित को कृत्रिम लोकप्रियता एवं महत्व प्राप्त हो गया। अतः उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक पुरानी देशी शिक्षा पद्धित लगभग पूरी तरह लुप्त हो गई और उसके स्थान पर एक नई शिक्षा पद्धित ने अपनी जड़ जमा ली। इस नई शिक्षा पद्धित का लक्ष्य अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करना था।

परंतु शीघ्र इसकी प्रतिक्रिया आरंभ हो गई। जापान जैसे अन्य राष्ट्रों की, विशेषकर रूस जापान युद्ध के पश्चात, अचानक और असाधारण उन्नित होने का भारतीय जनमत पर भारी प्रभाव पड़ा और लोग भारतीय शिक्षा के मंद और असंतोषजनक विकास को शंका की दृष्टि से देखने लगे। अब एक नई भावना बढ़ने लगी और पूर्ववर्ती काल के लोगों की भावना के विपरीत, बीसवीं शताब्दी के भारतवासी अपने देश के सांस्कृतिक इतिहास का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करने लगे। 1914-18 के महायुद्ध ने संसार को यह दिखा दिया कि पश्चिमी सभ्यता में मूलरूप से कोई खराबी है और पाश्चात्य आदर्शों की एकदम नकल करने की उपयोगिता के बारे में लोगों के मन में संदेह उत्पन्न कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भारतीयों ने इंग्लैंड का समग्र रूप से अनुकरण करने का प्रयास एकदम बंद कर दिया। वे एक ऐसी नई शिक्षा पद्धित का सर्जन करने की बात सोचने लगे जो उनकी आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त हो।

उन्होंने कुछ प्रयास सरकारी पद्धित से बाहर रह कर किए, जैसे विश्वभारती अथवा जामिया मिलिया की स्थापना। कुछ अन्य प्रयास सरकारी पद्धित के अंतर्गत किए गए जैसे बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय। इन दोनों में समानता यह थी कि इनके पीछे सर्जन करने की इच्छा थी, अनुकरण करने की नहीं। प्रस्तुत पुस्तक में इस संघर्ष के विभिन्न पहलुओं को दिखाने, बताने और उसके इतिहास का वर्णन करने का प्रयास किया गया है।

इस नाटक के पात्रों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है: मिशनरी लोग, शिक्षा विभाग के यूरोपीय कर्मचारी और भारतीय जनता। भारत में आधुनिक शिक्षा पद्धित का अग्रणी होने का सम्मान मिशनरियों को ही प्राप्त है। आज भी समाज सेवा की ऐसी अनेक शाखाओं में वे अग्रणी कार्य कर रहे हैं जिनकी ओर भारतीय कार्यकर्ताओं का बहुत कम ध्यान गया है। शिक्षा विभाग के यूरोपीय कर्मचारी 1855 में रंगमंच पर आए और कुछ समय पहले तक उनका संपूर्ण शिक्षा क्षेत्र में प्रभुत्व कायम रहा। भारतीय जनता ने रंगमंच पर सबसे अंत में प्रवेश किया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में 'आधुनिक' शिक्षा संस्थाओं की स्थापना के लिए धन एकत्र करके उसने अपने कार्य का श्रीगणेश किया और बाद में उन संस्थाओं का निदेशन एवं संचालन करने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दर्शकों में उसने शिक्षा सेवाओं का भारतीयकरण करने की मांग की। परंतु शीघ्र ही राजनीतिक दिष्टकोण अधिक व्यापक हो गया और यह मांग की जाने लगी कि शिक्षानीतियों का

नियंत्रण एवं निदेशन करने की शक्ति भारतीय जनता को सौंपी जाए। 1921 में इस मांग को आंशिक रूप से पूरा किया गया। 1937 में इसे और अधिक तथा 1947 में सर्वथा पूरा कर दिया गया। इस समय शैक्षिक कियाकलाप के संपूर्ण क्षेत्र का करीब-करीब भारतीय-करण हो चुका है। मिशनरी समितियां अपनी संस्थाओं को भारतीय ईसाइयों को सौंप रही हैं। भारतीय शिक्षा सेवा के लिए भर्ती बहुत समय पूर्व ही बंद कर दी गई थी। अब शिक्षा विभाग के सभी कर्मचारी भारतीय हैं। अधिकांश शिक्षा संस्थाएं गैर सरकारी भारतीय उद्यम के नियंत्रण में हैं। केंद्र में राष्ट्रीय सरकार और संघ में सम्मिलित राज्यों में स्वायत्त मंत्रालयों को शिक्षा नीति निर्धारित करने की शक्ति प्राप्त है। जैसा कि इस पुस्तक में बताया गया है, इस महान क्रांति का वृत्तांत भारतीय शिक्षा के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अंग है।

नाटक को छ: अंकों में बांटा गया है।

इसका प्रथम अंक लगभग अठारहवीं शताब्दी आरंभ होने के समय शुरू होता है और 1813 के चार्टर अधिनियम के साथ समाप्त होता है। यद्यपि ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना 1600 ई० में कर दी गई थी तथापि उसने लगभग 100 वर्ष तक कोई शैक्षिक कियाकलाप आरंभ नहीं किए। 1698 के चार्टर अधिनियम ने पहली बार उसका घ्यान शैक्षिक विषयों की ओर खींचा। इस अधिनियम में कंपनी से यह कहा गया था कि वह अपने गैरिसनों में पादरी रखे और विद्यालय चलाए। परंतु ये उपबंध भारतीय लोगों की अपेक्षा मुख्यतः कंपनी के यूरोपीय कर्मचारियों के बालकों के लिए ही किए गए थे। भारतीयों को शिक्षित करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करने के बारे में कंपनी ने जो अनिच्छा दिखाई उस पर आध्चर्य नहीं होना चाहिए। कंपनी मुख्यतः एक व्यापारिक संस्था थी और व्यापारियों की संस्था से यह आधा नहीं की जा सकती है कि वह उन लोगों को शिक्षित बनाएगी जिनके साथ उसका व्यापार चलता हो।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक स्थित में यथेष्ट परिवर्तन हो गया। इस समय तक कंपनी अपने यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों : पुर्तगालियों, डच और फांसीसियों से संघर्ष में विजयी हो चुकी थी और 1765 में दीवानी दे दिए जाने से वह भारत में प्रमुख शिक्त बन गई। इसके उपरांत ही कंपनी से यह कहा गया कि वह अपनी प्रजा के बीच शिक्षा को उसी प्रकार से प्रोत्साहन दे जिस प्रकार पूर्ववर्ती हिंदू और मुसलमान शासक देते थे। परंतु निदेशक मंडल ने हिंदू अथवा मुसलमान परंपराओं से प्रेरणा लेने के बजाय स्वाभाविक रूप से अंग्रेजी आदर्शों से प्रेरणा ली। चूंकि स्वयं ब्रिटिश संसद अंग्रेज जनता को शिक्षित बनाने के लिए कुछ नहीं करती थी अत: कंपनी ने भी भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने से इंकार कर दिया।

अतः इस अंक में अंतर्द्वंद्व मुख्यतः दो बातों के इर्द-गिर्द सीमित रहा । पहली बात यह थी कि एक ओर तो कंपनी के निदेशक भारतीयों की शिक्षा के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे परंतु दूसरी ओर भारत में उनके अधिकारीगण, मुख्यतः राजनीतिक आवश्यकता के आधार पर, निदेशकों को उत्तरदायित्व ग्रहण करने के हेतु सहमत करने के लिए आंदोलन कर रहे थे । दूसरी बात यह है कि एक ओर मिशनरी ईसाई धर्म

फैलाने के लिए भारत आना चाहते थे परंतु दूसरी ओर निदेशक मंडल उन्हें अपने राज्य में आने देने के लिए तैयार नहीं था क्योंकि उसे डर था कि मिशनरियों के धर्मांतरण संबंधी किया कलापों से लोगों के मन में विरोध की भावना पैदा हो सकती है। काफी लंबे आंदो-लन के पश्चात कंपनी को 1813 के चार्टर अधिनियम द्वारा इस बात के लिए बाध्य किया गया कि वह भारतीयों की शिक्षा के संबंध में उत्तरदायित्व स्वीकार करे, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ धनराशि व्यय करे और पाश्चात्य 'प्रकाश एवं ज्ञान' को फैलाने के लिए मिशनरियों को अपने डोमिनियनों में आने दे। यह ब्रिटिश शासन में भारत में राजकीय शिक्षा पद्धित का प्रारंभ था।

इस नाटक का दूसरा अंक 1813 से आरंभ होता है और 1854 के वुड के शिक्षा घोषणापत्न के साथ समाप्त होता है। यह मुख्यतः विवादों और प्रयोगों का काल है।

इस अंक में अंतर्द्वंद्व दो विचार-संप्रदायों के बीच है । इनमें से एक विचार-संप्रदाय का प्रतिनिधित्व मैकाले करते थे और इसका विश्वास था कि भारतीय संस्कृति के स्थान पर पाक्चात्य संस्कृति लाई जानी चाहिए। वह ऐसे लोगों का एक वर्ग बनाना चाहता था जो 'रक्त और वर्ण से भारतीय परंतु रुचि, विचार, आचार और बुद्धि से अंग्रेज' हों। इस विचार-संप्रदाय में अधिकांशत: या तो वे मिशनरी थे जिनका मुख्य उद्देश्य धर्मांतरण करना था अथवा कंपनी के ऐसे छोटे कर्मचारी थे जो स्वच्छंदतावादी पुनरुत्थान की परंपराओं में पले थे और इसके परिणामस्वरूप पुरातन को समाप्त करने और उसके स्थान पर नवीन को लाने के लिए अधीर थे। दूसरा विचार संप्रदाय प्राच्य एवं पाण्चात्य संस्कृतियों के 'संश्लेषण' में विश्वास करता था । इसमें कंपनी के वे पुराने कर्मचारी थे जो हेस्टिंग्ज और मिण्टो की परंपराओं में पले थे। इसके अतिरिक्त, इसमें अधिकांशतः वे भारतीय थे जिनकी शिक्षा में रुचि थी। दुर्भाग्यवश इस दल के लोग एकमत नहीं थे। बंगाल में जो वर्ग प्रभुत्वज्ञाली था उसका यह विश्वास था कि उपर्युक्त संश्लेषण भारतीय क्लासिकी भाषाओं के माध्यम से पाश्चात्य विज्ञान एवं ज्ञान का प्रसार करके किया जा सकता है। दूसरा वर्ग बंबई में प्रभुत्वशाली था और उसका यह विश्वास था कि संश्लेषण करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि भारतीय क्लासिकी भाषाओं का अध्ययन करके जनता की बोलचाल की भाषाओं को समृद्ध कर उनके द्वारा पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान का प्रसार किया जाए।

ये मूलभूत समस्याएं इस काल के विवादों में बहुत ही जटिल बनी रहीं और 'शिक्षण विषय अंग्रेजी तथा अंग्रेजी माध्यम में भेद न करने से यह उलझन और भी बढ़ गई।' ये उग्न विवाद निम्नलिखित चार विषयों पर थे:

- (1) शिक्षा नीति का लक्ष्य क्या हो: पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करना अथवा प्राच्य विद्या का परिरक्षण करना।
- (2) शिक्षा माध्यम क्या हो : अंग्रेजी, संस्कृत अथवा अरबी अथवा आधुनिक भारतीय भाषाएं।
- (3) शिक्षा का प्रसार करने के लिए कौन सा अभिकरण हो : मिशन विद्यालय, कंपनी के सीधे नियंत्रण में चलने वाली संस्थाएं अथवा स्वयं भारतीयों द्वारा संचालित संस्थाएं।

(4) शिक्षा का प्रसार करने की प्रणाली क्या हो : सरकार सीधे सर्वसाधारण को शिक्षित करने का प्रयत्न करे अथवा वह केवल थोड़े से भारतीयों को शिक्षित करे और अन्य लोगों को शिक्षित करने का काम इन्हीं भारतीयों के लिए छोड़ दे।

1854 के आज्ञापत्न ने कुछ समय के लिए इन संघर्षों को यह घोषणा करके शांत कर दिया कि शिक्षा पद्धित का मुख्य लक्ष्य पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान का प्रसार करना ही है, यद्यिप यह भी वांछनीय है कि (i) महाविद्यालयी चरण में प्राच्य विद्या को कुछ प्रोत्साहन दिया जाए, (ii) अंग्रेजी और जनता की बोलचाल की भाषा दोनों का ही माध्यमिक चरण में शिक्षा माध्यमों के रूप में प्रयोग किया जाए, (iii) चूंकि देश की समस्त शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त निधियां कभी नहीं हो सकती हैं अतः अधिकांश शिक्षा संस्थाओं की व्यवस्था गैर सरकारी निकाय ही करें, चाहे वे मिशनरी संस्थाएं हों अथवा भारतीय, और (iv) केवल थोड़े से व्यक्तियों को शिक्षा देने के लिए किए जाने वाले सरकारी प्रयत्न बंद हों तथा भविष्य में सर्वसाधारण की शिक्षा को राज्य सरकार का एक कर्तव्य माना जाए।

तीसरा अंक 1854 से आरंभ होता है और 1900 के लगभग समाप्त होता है। यह शिक्षा पद्धति का द्भुत गित से पाश्चात्यीकरण परंतु उसके अभिकरणों के भारतीयकरण का काल है।

इस अंक में दो अंतर्द्वंद्व हैं। प्रमुख संघर्ष एक ओर देशी शिक्षा पद्धित और दूसरी ओर वुड के शिक्षा घोषणापत्र द्वारा सर्जन की गई नई पद्धित के बीच उत्पन्न हुआ। आरंभ में यह आशा की गई थी कि इस प्रकार का संघर्ष उत्पन्न ही नहीं होगा और देशी विद्यालयों को बुद्धिमत्तापूर्वक प्रोत्साहन दिया जाएगा तथा राजकीय शिक्षा पद्धित में समाविष्ट कर लिया जाएगा। परंतु अनेक कारणों से उपर्युक्त आशा पूरी नहीं हो सकी। इस काल के कर्मचारियों ने देशी विद्यालयों को घृणा की दृष्टि से देखते हुए उनकी उपेक्षा की। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जबिक सुधार के लिए इस प्रकार के प्रयास किए गए जिनके उद्देश्य तो अच्छे थे परंतु वे इतने अविवेकपूर्ण थे कि सुधार के बजाय विनाश ही हुआ। अनेक दशाओं में माता पिता पर इस बात के लिए दबाव डाला गया कि अपने बालकों को देशी विद्यालयों से हटा लें और उन्हें विभागीय विद्यालयों में भेज दें। नई पद्धित में प्रशिक्षित व्यक्तियों को सरकारी सेवा में निर्वाध रोजगार देकर नई पद्धित को जो संरक्षण प्रदान किया गया उसके साथ मिलकर, कृत-अकृत की इन चूकों ने देशी शिक्षा पद्धित का प्राय: पूर्णतया लोप ही कर दिया। 1900 तक, एक प्रकार से सभी उच्च शिक्षा संस्थाएं शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग करने लगीं और उनका ध्येय पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान का प्रसार करना हो गया।

इस अंक में गौण संघर्ष उन अभिकरणों के बीच छिड़ा जिन्होंने भारत में पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार का काम हाथ में लिया। 1844 में, इस काम को अधिकांशत: उन यूरोपीय

^{1.} सर फिलिप हार्टोग : सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एजूकेशन, पास्ट एंड प्रेजेंट, पृ० 105।

लोगों ने किया था जो भारत में या तो मिशनरियों के रूप में आए थे अथवा कंपनी के कर्मचारियों के रूप में । पाश्चात्य पद्धित में शिक्षित भारतीय न तो भारी संख्या में उपलब्ध थे और न उन्हें अंग्रेजी विद्यालयों अथवा महाविद्यालयों का संचालन करने के योग्य समझा जाता था। अतः भारतीय शैक्षिक प्रयत्न अधिकांशतः धन संग्रह करने और विदेशों से बुलाए गए यूरोपीय प्रधानाध्यापकों अथवा प्रधानाचार्यों के अधीन विद्यालयों तथा महा-विद्यालयों का संचालन करने तक ही सीमित रहे।

परंतु 1880 में परिस्थितियों में यथेष्ट परिवर्तन हो गया। शिक्षा का प्रसार करने के लिए तीन भिन्न अभिकरण परिपक्वता की ओर अग्रसर हुए और उनमें सर्वोपरिता के लिए होड़ लगने लगी। इनमें से एक मिशन विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का अभिकरण था। दूसरा शिक्षा विभागों द्वारा संगठित शिक्षा संस्थाओं का अभिकरण था। तीसरा अभिकरण स्वयं भारतीयों के गैर सरकारी प्रयत्नों का छोटा सा प्रारंभ था। भारतीय शिक्षा आयोग से कहा गया कि वह इन अभिकरणों में से प्रत्येक के सापेक्ष गुणदोषों का मूल्यांकन करे और भारत में शिक्षा का प्रसार करने की पद्धित के बारे में निर्णय करे। भारतीय शिक्षा आयोग ने यह राय दी कि भारतीय शिक्षा में मिशनरी उद्यम का केवल गौण स्थान ही हो सकता है। उसके मतानुसार विभागीय संस्थाएं इतनी खर्चीली थीं कि उनकी संख्या में वृद्धि नहीं की जा सकती थी। उसका कहना था कि भारत जैसे निर्धन देश के लिए सबसे हितकर बात यही होगी कि वह विभागीय संस्थाओं को या तो बंद कर दे या उन्हें गैर सरकारी उद्यम को सौंप दे। उसकी यह भी राय थी कि सरकारी प्रयत्न मुख्यतः इस उद्देश्य से किए जाएं कि भारत में शिक्षा के प्रसार के सर्वोत्कृष्ट साधन के रूप में गैर सरकारी भारतीय उद्यम को प्रोत्साहन दिया जाए।

इन सिफारिशों पर प्रांतीय सरकारों ने सामान्यतः अमल किया और 1880 तथा 1900 के बीच के बीस वर्षों में भारतीयों द्वारा संचालित गैर सरकारी विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का इतना अधिक विकास हुआ कि 1901-1902 में जनता के बीच पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार करने के लिए भारतीय गैर सरकारी उद्यम ही सबसे महत्वपूर्ण अभिकरण था।

चौथा अंक 1901 में शिमला में लार्ड कर्जन द्वारा संयोजित लोक शिक्षा निदेशकों के सम्मेलन के साथ आरंभ होता है और 1921 में शिक्षा को भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में अंतरित किए जाने के साथ समाप्त होता है।

1901 और 1921 के बीच के 20 वर्ष भारत में तीव्र और सतत बढ़ती जाने वाली अशांति के वर्ष थे। बंग-भंग आंदोलन, मार्ले मिण्टो सुधार, विश्वयुद्ध, असहयोग तथा इसी प्रकार की अन्य घटनाओं से भारी राजनीतिक जागृति हुई और असंतोष फैला। इन्हीं प्रमुख राजनीतिक संघर्षों से इस काल के शैक्षिक संघर्षों का जन्म हुआ।

दूसरी बात यह है कि यह घ्यान रखना होगा कि इस काल के दौरान भारतीय तथा यूरोपीय शिक्षाविद दोनों के मन में शिक्षापद्धित के प्रति भारी असंतोष था। विचारकों का एक वर्ग ऐसा था जो यह विश्वास करता था कि 1880 से शिक्षा के गुण में सारभूत हास हुआ है। कर्मचारी अधिकांशतः इसी वर्ग में थे। इन विचारकों का यह भी विश्वास

बा कि गैर सरकारी प्रबंध के अधीन विद्यालय तथा महाविद्यालय सामान्यतः अनुशासन कायम रखने में असमर्थ रहे हैं। वे समझते थे कि शिक्षित भारतीय विदेशी संस्कृति को बारमसात नहीं कर सके हैं, पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान फैलाने के आदर्श की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, और शिक्षा पद्धित का ध्येय यह होना चाहिए कि चरित्रवान स्त्री-पुरुष तैयार किए जाएं। अतः उनका कहना था कि तदनुसार शिक्षा पद्धित की पुनः योजना बनाई जानी चाहिए। शिक्षाविदों का यह वर्ग यह मानता था कि उपर्युक्त दोषों में से अधिकांश का कारण गैर सरकारी उद्यम का प्रसार करने तथा हस्तक्षेप न करने की वह नीति है जिस पर भारतीय शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन आने के समय से अमल किया जाता रहा है। इस वर्ग ने सिफारिश की कि सरकार अब विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की संख्या बढ़ाने के बजाय उन पर नियंत्रण रखने और उनका सुधार करने का लक्ष्य सामने रख कर कार्य करे।

विचारकों के दूसरे वर्ग का अब भी यह विश्वास था कि भारतीय शिक्षा आयोग ने जिस नीति की सिफारिश की थी वह बुद्धिमत्तापूर्ण है। इस वर्ग में अधिकांशत: प्रबुद्ध भारतीय शामिल थे। ये लोग यह मानने को तैयार नहीं थे कि शिक्षा का ह्वास हुआ है। उनके लिए गुण ही सब कुछ नहीं था। वे समझते थे कि भारतीय राष्ट्रीय जीवन में पुनर्जागरण लाने के लिए पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार अत्यावश्यक है। वे इस बात का पक्ष समर्थन करते थे कि स्वैच्छिक आधार पर उच्च शिक्षा का बहुत द्रुत प्रसार किया जाए और जनता के लिए अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा आरंभ की जाए। विचारकों के इस वर्ग की युक्ति यह थी कि गैर सरकारी उद्यम को बढ़ने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता दी जानी चाहिए और नियंत्रण तथा सुधार की नीति देशहित के लिए घातक होगी।

एक दूसरे से अत्यंत भिन्न इन दोनों विचार संप्रदायों के बीच संघर्ष होने से ही इस महान नाटक के चतुर्थ अंक की रचना हुई है। यह संघर्ष सर्वप्रथम विश्वविद्यालय चरण में प्रारंभ हुआ। 1902 के भारतीय विश्वविद्यालय आयोग और 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय आयोग और 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय आयोग और 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम को लेकर महायुद्ध लड़े गए और उनमें गुण का नियंत्रण तथा सुधार करने के सिद्धांत का समर्थन करने वाले लोगों की प्राय: पूर्ण विजय हुई। फिर यह संघर्ष माध्यमिक चरण तक फैल गया और उस समय पुन: उसी दल को भारी विजय मिली जब 1904 और 1908 के बीच संशोधित सहायता अनुदान संहिताए बनाई गईं। अंत में यह संघर्ष प्राथमिक चरण में पहुंच गया और गोखले के अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा आरंभ करने से संबंधित विधेयक पर तीव्र संघर्ष छिड़ गया। इस दल को तीसरी बार विजय मिली और विधेयक भारी बहुमत से अस्वीकृत हुआ। तो भी, जैसी सुगमता से प्रत्याशा की जा सकती है, इन 'विजयों' से जनता में काफी कटु भावना उत्पन्न हुई और भारतीय राष्ट्रवादी विचारधारा देश की शिक्षानीति को नियंत्रित करने की शिक्त मांगने लगी। इस मांग को पूरा करने के लिए हो 1921 में शिक्षा विभाग भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में सौंप दिया गया।

इस नाटक का पांचवा अंक 1921 से आरंभ होता है और 1937 में समाप्त होता है। इसकी समाप्ति के समय तक ब्रिटिश भारत के ग्यारह प्रांतों में 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अधीन प्रांतीय स्वायत्त शासन आरंभ हो गया था। इस काल में भारतीय नियंत्रण में प्रथम प्रयोग हुए।

इस अंक का प्रारंभ उत्साह की लहर, शिक्षा के भारतीय नियंत्रण में अंतरण और दीर्घकाल से वांछित अनेक परिवर्तनों के पूरा होने के साथ होता है। पूर्ववर्ती काल के राजनीतिक संघर्ष समाप्त हो गए। भारतीय शिक्षा सेवा के लिए और आगे भर्ती समाप्त कर दी गई और प्रत्येक प्रांत को अपनी शिक्षा सेवाएं गठित करने की शिक्त दे दी गई। भारत सरकार का प्रशासन के ब्यौरों के बारे में जो नियंत्रण और पर्यवेक्षण था वह समाप्त हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि शैक्षिक प्रसार एवं सुधार के कार्यक्रमों की योजना बनाने के लिए प्रांतीय सरकारों को अपेक्षाकृत बहुत अधिक स्वतंत्रता मिल गई। इस प्रकार से इस काल में अनेक नई योजनाओं को आरंभ किया गया, शिक्षा के लिए विधित अनुदान मंजूर किए गए और छात्रों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई।

दुर्भाग्यवश, शीघ्र ही अनेक गंभीर किठनाइयां उत्पन्न हुईं, जिन्होंने देश के भाग्या-काश को तिमिराच्छन कर दिया। भारत सरकार अधिनियम, 1919 के द्वारा जो वित्तीय व्यवस्था की गई थी उससे केंद्रीय सरकार प्रांतीय सरकारों को क्षति पहुंचाकर समृद्ध बन गई। 1901 से 1912 तक भारत सरकार ने शिक्षा को उदारतापूर्वक जो विशेष अनुदान मंजूर किए थे उनको अचानक बंद कर दिया गया। इस काल के अधिकांश में विश्वव्यापी आर्थिक मंदी चलती रही जिससे स्थिति अत्यंत निराशापूर्ण हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जो नई योजनाएं आरंभ की गई थीं उनमें से अधिकांश को त्याग देना पड़ा और शिक्षा संबंधी वर्तमान व्यय में भी भारी कटौती करनी पड़ी।

इन वित्तीय कठिनाइयों से उस उत्साह को भारी धक्का पहुंचा जिसके साथ इस अंक का आरंभ हुआ था। इस काल में जो सैंद्धांतिक संघर्ष उत्पन्न हुए उनसे उपर्युक्त उत्साह को और भी अधिक धक्का लगा। एक विचार संप्रदाय ने इस बात का पक्ष समर्थन किया कि भारत को गुण पर ध्यान देना चाहिए और किसी अन्य स्थिति पर चोट किए जाने से पहले पहली स्थित को मजबूत बनाना चाहिए। दूसरा विचार संप्रदाय इस बात का पक्ष समर्थन करता था कि शिक्षा का द्रुत प्रसार हो और व्यापक निरक्षरता को दूर करने के लिए योजनाबद्ध एवं निर्धारित प्रयास किया जाए। जैसा हम पहले देख चुके हैं ये संघर्ष वास्तव में पूर्ववर्ती काल में उत्पन्न हुए थे। 1929 में हार्टोग समिति का प्रतिवेदन आने पर ये उभर कर सामने आ गए और 1937 में जब पांचवां अंक समाप्त हुआ तो ये संघर्ष भरपूर तेजी से चल रहे थे।

प्रांतीय स्वायत्त शासन आरंभ होने तथा ग्यारह में से सात प्रांतों में कांग्रेस द्वारा सत्ता ग्रहण कर लिए जाने पर भारत के इतिहास में एक नया पृष्ठ खुला और नाटक का छठा अंक आरंभ हुआ। 1937 और 1940 के बीच के तीन वर्षों में भारत के शैक्षिक इतिहास में बहुत अधिक हलचल रही। यद्यपि यह अवधि बहुत छोटी थी परंतु इसमें शिक्षा के लिए अपेक्षाकृत अधिक निधियां उपलब्ध कराई गई, प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने, बाध्यता लागू करने और प्रौढ़ निरक्षरता को समाप्त करने के लिए योजनाओं को शुरू किया गया, शिक्षा संबंधी वर्धा योजना आरंभ हुई और शारीरिक एवं व्यावसायिक

शिक्षा देने के लिए भारी प्रोत्साहन दिया गया। परंतु दुर्भाग्यवश यह महान प्रयोग उस समय अचानक ही समाप्त हो गया जब द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ा, कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया तथा उनके स्थान पर भारत सरकार अधिनियम, 1935 की धारा 93 के अधीन अंतरिम सरकारें स्थापित कर दी गईं । अत: कामचलाऊ सरकारों के पांच वर्ष (1940-45) का समय मुख्यत: एक ही स्थान पर रुके रहने का समय है। इस अविध में कोई नई योजनाएं तो आरंभ नहीं हुई परंतु यह प्रयास अवश्य किया गया कि जहां तक संभव हो सके, 1937 और 1940 के बीच कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा आरंभ किए गए काम को ज्यों का त्यों चलते रहने देना चाहिए। तो भी इस काल की एक बड़ी उपलब्धि यह है कि केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने भारत के युद्धोत्तर शैक्षिक विकास की एक योजना तैयार की जिसका अनुमानित व्यय 300 करोड़ रुपये था। इसका उद्देश्य यह था कि 40 वर्ष के अंत में भारत को शैक्षिक विकास की उस स्थिति तक पहुंचा दें जो इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशों में पहले ही पहुंच चुकी थी। 1945 में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने पुनः सत्ता संभाली और शैक्षिक विस्तार एवं सुधार का कार्य पुनः आरंभ कर दिया। परंतु आगामी दो वर्षों में तीव्र राजनीतिक आंदोलन चला जिसके कारण शैक्षिक पुर्नानर्माण के लिए समय ही नहीं मिला। कोई सारभूत प्रगति होने से पूर्व ही 15 अगस्त, 1947 को अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए और भारतीय शैक्षिक इतिहास के त्रिटिश काल का अंत हो गया।

अनुक्रम

| माग एक | |
|--|-----|
| ब्रिटिश काल में शिक्षा, (1765-1947) | |
| अन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत में देशी शिक्षा | 1 |
| ई स्ट इंडिया कंपनी भारतीयों का शिक्षा का उत्तरदायित्व | |
| स्वीकार (1600-1813) | 32 |
| शिक्षा में सरकारी प्रयोग (1813-1853) | 55 |
| शिक्षा संबंधो गैर सरकारी उद्यम (1853) और | |
| वुड का शिक्षा घोषणापत्र, (1854) | 102 |
| विक्टोरिया काल : एक, (1854-1902) | 132 |
| विक्टोरिया काल : दो, (1854-1902) | 161 |
| लार्ड कर्जन, (1898-1905) | 212 |
| संक्रमण काल, (1905-1921) | 238 |
| ह्रैघशासन में शिक्षा, (1921-1937) | 280 |
| प्रांतीय स्वशासन के अधीन शिक्षा, (1937-57) | 321 |
| ब्रिटिश काल के दौरान भारत में शिक्षा सिहावलोकन | 361 |
| भाग दो | |
| स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षा (1947-1973) | |
| चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक शैक्षिक | |
| गतिविधियां, (1947-1973) | 373 |
| शिक्षा आयोग की मुख्य सिफारिशें, (1964-1966) | 430 |
| | |

1 ब्रिटिश काल में शिक्षा (1765-1947)

1.

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत में देशी शिक्षा

विषय प्रवेश

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य उस आधुनिक शिक्षा पद्धित के विकास का संक्षिप्त विवरण देना है जो पिछली कई शताब्दियों से भारत में विकसित परंपरागत देशी पद्धित को हटा कर ब्रिटिश काल में स्थापित हुई है। सामान्यतः लोगों का, विशेषकर अनेक पाश्चात्य विद्वानों का, ऐसा विश्वास है कि इस देशी शिक्षा पद्धित में संभवतः ऐसी कोई मूल्यवान चीज नहीं थी, अतः इसका समाप्त हो जाना ही अच्छा था। उनका यह भी विश्वास है कि शिक्षा विभाग के ब्रिटिश पदाधिकारियों का यह कार्य पूर्णतया उचित था कि उन्होंने इस पद्धित को समाप्त हो जाने दिया अथवा इसकी समाप्ति में सहायता की और इसके स्थान पर विद्यालयों, कालेजों और विश्वविद्यालयों की वर्तमान पद्धित को स्थापित किया। भारत में शिक्षा का इतिहास लिखने वाले लोगों के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वे यह जांच करें कि उपर्युक्त विचार उचित है या नहीं, और यदि उचित है तो किस हद तक। अतः इस प्रारंभिक अध्याय में हम उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में (जब यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार ने आधुनिक शिक्षा पद्धित की नींव रखना आरंभ कर दिया था) भारत में प्रचलित देशी शिक्षा पद्धित के स्वरूप, विस्तार और गुण-दोषों की तथा उपयुक्त सुधार एवं प्रसार द्वारा एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित के रूप में विकसित होने की उसकी सक्षमता की चर्चा करेंगे।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में भारतीय समाज वस्तुतः सामंतवादी था जिसमें बहुत से वर्ग और बहुत बड़ी संख्या में जातियां और जनजातियां विद्यमान थीं। तत्कालीन देशी सरकारों ने अपने ऊपर जनता की शिक्षा की कोई जिम्मेदारी नहीं ली थी और उन्होंने जो शैक्षिक प्रयत्न किए वे केवल विद्वानों एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं को, मुख्यतः धार्मिक आधारों पर, कुछ वित्तीय सहायता देने तक ही सीमित रहे। औपचारिक शिक्षा पद्धित की स्वयं समाज को कोई आवश्यकता नहीं थी। पुरोहित वर्गों को जो बहुत ही अल्प संख्या में थे, धार्मिक शिक्षा के लिए औपचारिक संस्थाओं की आवश्यकता थी अतः राजाओं और जनता से इन पुरोहित वर्गों को

जितना भी समर्थन प्राप्त हो सका उसे लेकर उन्होंने अपने निजी प्रयासों से औपचारिक विद्यालयों की स्थापना की और उन्हें कायम रखा। सरकारी कर्मचारियों, व्यापारियों, साहकारों और अधिक संपन्न जमींदारों को भी लिखने, पढ़ने और हिसाब करने के लिए कुछ प्रारंभिक शिक्षा की आवश्यकता थी और उन्होंने इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित संस्थाओं की व्यवस्था की । अन्य लोग भी अगर चाहते थे तो इनका लाभ उठा सकते थे। परंतु अधिकांश जनता ने इन औपचारिक शिक्षा संस्थाओं का लाभ कभी नहीं उठाया। उसकी शिक्षा के मुख्य साघन अन औपचारिक होते थे। जनता को सबसे अधिक आवश्य-कता व्यावसायिक शिक्षा की थी और लोग सामान्यतः उसे पारिवारिक व्यवसाय में काम करके प्राप्त करते थे। नियम के अनुसार, स्त्रियां कभी भी विद्यालय में पढ़ने नहीं जाती थीं। वे अपनी माताओं और परिवार की अन्य प्रौढ़ महिलाओं की शिक्षार्थी बनकर गृह-संचालन कला, शिशु पालन और (जहां आवश्यक होता था) पारिवारिक व्यवसाय में भाग लेना सीखती थीं। विशाल जनसमुदाय के लिए कोई औपचारिक शिक्षा पद्धति न होने के कारण विदेशी लोग प्राय: यह समझने लगते हैं कि उस समय के भारतीय लोग अज्ञान के अंधकार में डूबे हुए थे और असभ्य थे, यह बात पूर्णतया गलत है। औपचारिक शिक्षा पद्धति के न होने अथवा सामान्य भारतीय के निरक्षर होने का यह अर्थ नहीं है कि वह घर पर और समाज में उन औपचारिक अभिकरणों द्वारा अपनी परंपरागत संस्कृति को आत्मसात करने से वंचित रहा । और इस काल के जो सहानुभूतिशील प्रेक्षक जनता के निकट संपर्क में आए उन्होंने भारतीयों के बहुत ऊंचे स्तर की व्यावसायिक कुशलता, उनके आधारभूत मानव धर्म और उनकी मनोहारी एवं रोचक संस्कृति की ओर ध्यान देने में कोई चूक नहीं की । हम इस अध्याय में जिस विषय पर चर्चा करेंगे वह यह नहीं है कि घर पर और समाज में शिक्षा की वे अनौपचारिक पद्धतियां क्या थीं जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय में प्रशिक्षित होता था, परंपरागत संस्कृति की उसे दीक्षा मिलती थी और वह अपने परिवार और समुदाय का एक लाभप्रद और जिम्मेदार सदस्य बन जाता था वरन यहां हम उस प्रारंभिक और उच्च औपचारिक शिक्षा पद्धति की चर्चा करेंगे जो समाज के उस छोटे से अंग के लिए थी जिसे इसकी आवश्यकता थी और जिसका लाभ अधिकांशत: पुरुष ही उठाते थे। अपनी चर्चा के इस जानबूझ कर सीमित रखे गए क्षेत्र को ध्यान में रखना आवश्यक है ताकि कोई व्यक्ति यह न मान ले कि यह छोटी सी औपचारिक शिक्षा प्रिक्रया ही वह संपूर्ण शिक्षा थी जिसे लोग प्राप्त करते थे और अनौपचारिक शिक्षा की उन अत्यंत बृहद प्रिक्रयाओं के अस्तित्व और महत्व की अवहेलना न कर दे जो इस समाज में विद्यमान थीं और जो वास्तव में विशाल जनसमुदाय को अत्यंत उपयोगी शिक्षा देने के लिए जिम्मेदार थीं। सूचना के स्रोत : यह दुर्भाग्य की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देशी शिक्षा पद्धित के स्वरूप और विस्तार के बारे में सूचना के स्रोत बहुत ही अपर्याप्त हैं। पहली बात तो यह है कि उपलब्ध स्रोत केवल ब्रिटिश राज्य क्षेत्रों से ही संबंधित है। उस समय भारत का एक बहुत छोटा सा भाग ही ब्रिटिश क्षेत्र के अंतर्गत आता था। शेष विशाल क्षेत्र के बारे में, जो अनेक भारतीय राजाओं के शासन में था, हमारी जानकारी

नहीं के बराबर है। दूसरी बात यह है कि हमारे स्रोत उस पूरे क्षेत्र में भी नहीं फैले हए हैं जहां ब्रिटिश शासन था। मद्रास में 1822 में सर टामस मुनरो ने देशी शिक्षा के बारे में जांच किए जाने का आदेश दिया था और इसके परिणामस्वरूप जो सूचना प्राप्त हुई थी वह केनारा को छोड़कर बाकी सभी जिलों के बारे में है। बंबई में माउंट स्टअर्ट एल-फिस्टन ने 1823 में एक वैसी ही जांच का आदेश दिया था और प्रांत के अधिकांश भाग के बारे में जिलाधीशों ने आंकडे प्राप्त किए थे जबकि 1829 में संपूर्ण प्रांत के बारे में वैसे ही आंकड़े न्याय विभाग द्वारा एकत्न किए गए। बंगाल में लार्ड विलियम बैंटिक के आदेशों के अधीन 1835-38 में देशी शिक्षा के बारे में एक विशेष जांच की गई थी। यह जांच विलियन ऐडम ने की थी जो एक धर्म प्रचारक थे और जिन्होंने अपना जीवन भारतीय शिक्षा के काम में लगा दिया था। ऐडम ने तीन प्रतिवेदन प्रस्तूत किए थे जिनमें से प्रथम प्रतिवेदन इसी विषय पर उपलब्ध पूर्वकालीन प्रतिवेदनों का सार संग्रह है, दूसरे में राजशाही जिले के एक थाने की पूर्ण जांच का विवरण है और तीसरे में बंगाल और बिहार के कूल उन्नीस जिलों में से पांच जिलों के आंकड़े दिए गए हैं। इस प्रकार हम यह पाते हैं कि यदि हम भारत की संपूर्ण देशी शिक्षा पद्धति के बारे में किन्हीं निष्कर्षों पर पहंचना चाहें तो इस धारणा को आधार मानकर चलना होगा कि उपर्युक्त तीनों जांच जितने क्षेत्र संबंध में की गई हैं, उसे संपूर्ण देश के लिए एक अच्छा नमूना माना जा सकता है। स्पष्ट है कि सांख्यिकीय दृष्टि से ऐसा अभिग्रह पूरी तरह सही नहीं है, परंत् अन्य आंकड़ों के अभाव के कारण इसी धारणा को अपनाना अनिवार्य हो जाता है।

इतिहास के विद्यार्थी के सम्मुख उस क्षेत्र का, जिसमें ये जांच की गई थी, अपर्याप्त होना बड़ी बाधा नहीं है। इतिहास के अध्ययन में वे दोष अधिक बाधक हैं जो सांख्यिकीय अथवा अन्य दृष्टिकोणों से इन जांचों में पाए जाते हैं। जहां तक यथार्थता और संपूर्णता का संबंध है, मद्रांस और बंबई की जांच बहुत असंतोषजनक हैं और जैसा आगे बताया जाएगा, इन जांचों में न तो उस समय विद्यमान तमाम विद्यालयों को और निषक्षा पा रहे तमाम विद्यार्थियों को ही समाविष्ट किया गया था। इसके विपरीत, ऐडम की जांच पूर्ण और लगभग तुटिहीन थीं। परंतु ये जांच एक ऐसे प्रांत में की गई थीं जहां बहुत लंबे समय तक सामान्य अराजकता फैल रही थी और जहां, जैसा ऐडम ने स्वयं बताया है, देशी शिक्षा पद्धित का सब स्थानों पर पतन हो रहा था। अतः ऐडम के निष्कर्ष भारत के उन भागों पर पूरी तरह लागू नहीं होते जहां सौभाग्यवश न्यूनाधिक स्थाई सरकारें विद्यमान थीं। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में देशी शिक्षा पद्धित का जो रूप था उसका सही चित्र तैयार करते समय हमें जांच की इन बुटियों को ध्यान में रखना होगा।

मद्रास में जांच : उपर्युक्त तीनों जांचों में से पहली जांच सर टामस मुनरो द्वारा मद्रास में की गई थी। इसके परिणामों का सारांश स्वयं मुनरो ने इस प्रकार दिया है:

1. 'सरकार ने राजस्व बोर्ड को 2 जुलाई, 1822 को निर्देश दिया कि वह विद्यालयों की संख्या और प्रांतों के मूल निवासियों की शिक्षा की स्थिति को सुनिश्चित करें और 21 फरवरी के अपने पत्न के साथ राजस्व बोर्ड ने इस विषय से संबंधित उन प्रतिवेदनों को प्रेषित किया जो उसे अनेक जिलाधीशों से प्राप्त हुए थे। इन प्रतिवेदनों से यह प्रकट होता है कि इस प्रेसीडेंसी के अधीनस्थ राज्य क्षेत्रों में विद्यालयों और महाविद्यालयों की संख्या 12,498 और इन राज्य क्षेत्रों की जनसंख्या 1,2,8,50,941 है, अत: इस जनसंख्या में प्रत्येक 1,000 लोगों के लिए एक विद्यालय मौजूद है: चूकि विद्यालयों में बहुत थोड़ी स्त्रियों को शिक्षा दी जाती है अत: हम मान सकते हैं कि प्रत्येक 500 लोगों के लिए एक विद्यालय है।

2. राजस्व बोर्ड ने यह विचार प्रकट किया है कि 1 करोड 25 लाख की जनसंख्या में केवल 1,88,000 लोग शिक्षा पारहे हैं अथवा प्रत्येक 67 व्यक्यिों में से केवल 1 व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहा है। संपूर्ण जनसंख्या के बारे में तो यह बात सही है परंत् पुरुषों के बारे में, जिनमें शिक्षित व्यक्तियों का अनुपात यहां पर अनु-मानित अनुपात की अपेक्षा बहुत अधिक है, यह बात सही नहीं है कि क्योंकि यदि हम कूल जनसंख्या को प्रतिवेदन में दी गई संख्या 1,28,50,000 ही मान लें और उसमें से स्त्रियों की आधी संख्या को निकाल दें तो शेष पुरुष जनसंख्या 64,25,000 रह जाएगी; और यदि हम पांच और दस वर्ष के बीच की आयू के (यह एक ऐसी कालावधि है जिससे सामान्यतः लड़के विद्यालयों में पढ़ते ही हैं,) बालकों की पुरुष जनसंख्या को कूल जनसंख्या का नौवां भाग मानकर गणना करें तो हमें पांच और दस वर्ष के बीच की आयु के लड़कों को जनसंख्या 7,13,000 प्राप्त होगी। यह उन लड़कों की संख्या है जो उस स्थिति में विद्यालय में पढ़ेंगे जब दस वर्ष से अधिक आयु के सभी पुरुष शिक्षित हों; परंत् वास्तव में विद्यालय में उपस्थित होने वाले विद्यार्थियों की संख्या केवल 1,84,110 अथवा उपर्युक्त संख्या के एक चौथाई भाग से कुछ अधिक है। मैंने 5 और 10 वर्ष के बीच की अंतराविध को शिक्षा ग्रहण की अवधि माना है क्योंकि यद्यपि बहुत से लड़के 12 या 14 वर्ष की आयु तक विद्यालयों में पढ़ते रहते हैं तथापि अन्य बहुत से लड़के 10 वर्ष से कम आयु में ही विद्यालय छोड़ देते हैं।

तो भी, पुरुष जनसंख्या का जितना भाग विद्यालय शिक्षा पाता है उसे मैं पांच और 10 वर्ष के बीच की आयु की कुल पुरुष जनसंख्या के एक चौथाई के बजाय एक तिहाई के अधिक निकट आंकता हूं क्योंकि हमें घर पर पढ़ाए जाने वाले विद्याथियों की संख्या के बारे में प्रांतों से कोई विवरण प्राप्त नहीं हुए हैं। मद्रास में घर पर पढ़ाए जाने वाले विद्याधियों की संख्या 26,903 है अर्थात विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले विद्याधियों की संख्या घर पर पढ़ाए जाने वाले विद्याधियों की संख्या से पांच गुनी से भी अधिक है। संभवत: इस संख्या में कोई गलती है और यद्यपि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रांतों में निजी रूप से पढ़ाए जाने वाले

विद्यार्थियों की संख्या की यह दर इतनी अधिक कर्तर्ड नहीं है तो भी यह यथेष्ट अवश्य है। इसका कारण यह है कि अपने संबंधियों अथवा निजी अध्यापकों द्वारा घर पर लड़कों को पढ़ाए जाने की प्रथा सामान्यतः देश के सभी भागों में पाई जाती है। देश के विभिन्न वर्गों में शिक्षित व्यक्तियों के अनुपात में बहुत भिन्नता है। कुछ वर्गों में लगभग सभी लोग शिक्षत हैं जबिक कुछ अन्य वर्गों में शिक्षित लोगों का भाग केवल दस प्रतिशत है।

3. यहां पर शिक्षा की जो स्थिति दिखाई गई है वह यद्यपि हमारे देश की शैक्षिक स्थिति की तुलना में हीन है तथापि कुछ ही समय पहले अधिकांश यूरोपीय देशों में शिक्षा की जो स्थिति थी उसकी अपेक्षा अच्छी है। निस्मंदेह पूर्व वर्ती कालों में तो स्थिति और भी ज्यादा अच्छी रही है।

विलारी के जिलाधीश का प्रतिवेदन: जिलाधीशों के प्रतिवेदनों में सबसे रोचक प्रतिवेदन बिलारी के जिलाधीश का है। उन दिनों के प्रारंभिक देशी विद्यालयों के सुस्पष्ट चित्र के लिए निम्नलिखित विस्तृत उद्धरण दिया जाना उचित होगा।

- 4. हिंदू युवकों की शिक्षा का प्रारंभ सामान्यतः पांच वर्ष की आयु में होता है। जब लड़के की आयु पांच वर्ष की हो जाती है तो जिस विद्यालय में उसे पढ़ने के लिए भेजना होता है उस विद्यालय के अध्यापक और छात्रों को लड़के के माता पिता घर पर आमंत्रित करते हैं। फिर सबको गणेश की मूर्ति के चारों ओर गोले में बैठाया जाता है और दीक्षा लेने वाले बालक को उनके सामने बैठाया जाता है। उस बालक के पास बैठा हुआ विद्यालय का अध्यापक, धूप जलाने और अध्यं देने के बाद बालक से गणेश की एक प्रार्थना कराता है जिसमें ज्ञान प्राप्ति के लिए निवेदन किया जाता है। उसके बाद अध्यापक वालक को अपनी अंगुली से चावल में देवता का नाम लिखना सिखाता है और अध्यापक को वालक के माता पिता अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपहार देकर घर से वापस भेजते हैं। अगले दिन प्रातः काल वह बालक अपनी शिक्षा का महान कार्य आरंभ करता है।
- 5. कुछ बच्चे विद्यालय में केवल पांच वर्ष तक पढ़ते हैं और उनके मादा पिता निर्धनता अथवा अन्य परिस्थितियों के कारण उन्हें विद्यालय से हटा लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप उन्हें अल्प शिक्षा ही प्राप्त हो पाती है। जो माता पिता खर्च उठा सकते हैं और अपने बच्चों के बौद्धिक विकास में वास्तविक रुचि रखते हैं उनके बालक सामान्यत: 14-15 वर्ष तक विद्यालय में पढ़ते हैं।
- 6. बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर और अल्प विविधता के साथ, प्रत्येक दिन सभी विद्यालयों में एक सी आंतरिक चर्या मिलेगी। सामान्यतया विद्यालय छः बजे खुलता है और जो बालक विद्यालय में सबसे पहले प्रवेश करता है उसकी हथेली पर सम्मान चिह्न के रूप में 'सरस्वती' लिखा जाता है और उसके बाद प्रवेश करने

मद्रास शब्द का संबंध मद्रास नगर से है, मद्रास प्रांत से नहीं । देखिए, 'सर फिलिप हार्टोंग : सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एजूकेशन' पृ० 72 ।

^{1.} सिलेक्शंस फाम दी रिकार्ड्स आफ दि गवर्नमेंट आफ मद्रास, संख्या II, परिशिष्ट ई।

6

वाले दूसरे बालक के हाथ पर यह प्रदिशित करने के लिए शून्य लिख दिया जाता है कि वह न तो प्रशंसा के योग्य है और न निंदा के; तीसरे विद्यार्थी को एक हल्का सा कोड़ा लगाया जाता है; चौथे विद्यार्थी को दो कोड़े लगाए जाते हैं और बाद में अपने वाले प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक-एक कोड़ा बढ़ता जाता है। यह प्रवृत्ति कठोर प्रतीत होती है। आलसी विद्यार्थी को कोड़े लगाए जाते हैं और प्रायः दोनों हाथ बांधकर छत से लटका दिया जाता है अथवा लगातार उठक बैठक लगवाई जाती है जो कि अत्यंत कष्टप्रद और थका देने वाली होती है परंतु संभवतः दंड देने का एक अच्छा तरीका है।

7. जब सारे विद्यार्थी इकट्ठे हो जाते हैं तो उन्हें उनकी संख्या और उपलब्धियों के अनुसार अनेक कक्षाओं में बांटा जाता है। इनमें से निचली कक्षाओं के विद्यार्थियों की देखभाल आंशिक रूप से मानीटर करते हैं जबकि ऊंची कक्षाओं के विद्यार्थी अध्यापक की निगरानी में रहते हैं जो संपूर्ण विद्यालय पर भी अपनी निगाह रखता है। सामान्यत: कक्षाओं की संख्या चार होती है और विद्यार्थी अपनी क्षमता और प्रगति के अनुसार एक कक्षा से दूसरी कक्षा में चढ़ता जाता है। विद्यालय में प्रवेश करने पर बालक का पहला कार्य यह होता है कि वह वर्णमाला सीखे और यह कार्य वह यूरोपीय देशों में प्रचलित रीति के अनुसार उच्चारण करके नहीं वरन अपनी अंगुली से रेत में अक्षर लिखकर करता है। जब उसे रेत में लिखने का काफी अभ्यास हो जाता है तब वह या तो लोहे की लेखनी से तालपत पर लिखे अथवा नरकुल से कागज पर या कभी कभी वह सामान्य ईश्वरी (एरिस्टोकिया इंडिका) के पत्तों पर लिखे अथवा हिल्लगी या कदल (जो स्लेटों का काम देते हैं) पर पेंसिलों से लिखे। ऊपर उल्लिखित जिलों में अंतिम दो चीजें सामान्य रूप से प्रचलित हैं। इनमें से एक लगभग एक फूट चौड़ा और तीन फूट लंबा आयताकार तस्ता होता है। जब इस तख्ते को सपाट कर लिया जाता है तो उस पर केवल थोड़े से चावल और लकड़ी के कोयले को पीसकर लेप करना होता है। उसके बाद इसे काम में लाया जा सकता है। दूसरी चीज कपड़े की बनी होती है। कपड़े को पहले मांड से कड़ा कर लिया जाता है। उसके बाद पुस्तक की तरह तह करके उस पर लकड़ी के कोयले और अनेक गोंदों का मिश्रण लगा दिया जाता है। इन दोनों चीजों में से किसी पर भी लिखी गई लिखाई को गीले कपड़े से मिटाया जा सकता है। जिस पेंसिल का उपयोग किया जाता है वह बुल्टपा कहलाती है। यह सफोद मिट्टी से बनाई जाती है और इस विशेषता के अतिरिक्त कि यह कुछ सख्त होती है, यह कुछ कछ खडिया से मिलती है।

8. वर्णमाला का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर विद्यार्थी संयुक्त अक्षरों को लिखना, व्यंजनों में स्वरों के चिह्नों को जोड़ने का तरीका और शब्दों का निर्माण करना आदि सीखता है। उसके पश्चात वह ग्रामों, पशुओं आदि के नामों को लिखना सीखता है और अंत में अंकगणित के चिह्नों को सीखता है। फिर वह पहाड़े कंठस्थ करता है और एक से सौ तक गिनती गिनता है। उसके बाद वह जोडना, घटाना

गुणा और भाग के द्रव्य संबंधी तथा माप आदि के सरल प्रश्नों को हल करता है। किसी पूर्णांक के अंशों को विद्यार्थी को सिखाने के लिए काफी श्रम करना पड़ता है। ये अंश दशमलव अंशों की भांति दस के हिसाब से नहीं घटते वरन चार के हिसाब से घटते हैं और इनकी गिनती बहुत लंबी चलती है। विद्यार्थियों को जोड़, गुणा और तीन प्रकार के मापों, क्षमता, भार एवं विस्तार, की अंकगणितीय सारणियों के साथ साथ इन अंशों का पूरी तरह ज्ञान कराने के लिए उन्हें दिन में दो बार कतारों में खड़ा किया जाता है और मानीटर के बोलने के बाद विद्यार्थी उसे पूरी तरह दोहराते हैं।

9. देशी शिक्षा में जिन अन्य चीजों को शामिल किया जाता है वे निम्नलिखित हैं: विभिन्न प्रकार की हस्तलिपियों और विद्यालय के अध्यापक द्वारा विभिन्न स्रोतों से एकत्र किए गए पत्रों को स्पष्ट रूप से पढ़ना, सामान्य पत्र लेखन करारनामों का लिखना, आख्यानों और पौराणिक कथाओं को पढ़ना और किवताएं कंठस्थ करना। इन चीजों को मुख्यतः इस विचार से शामिल किया गया है कि विद्यार्थी सुस्पष्ट और विशुद्ध उच्चारण करना सीख जाएं और उन्हें हर प्रकार की रचना को शुद्ध रूप से पढ़ने के लिए तैयार किया जा सके।

10. जिस लाघन के साथ देशी विद्यालयों में बालकों को लिखना सिखाया जाता है, जिस प्रणाली से पढ़ने में कम अग्रसर विद्याधियों को अधिक अग्रसर विद्याधियों से पढ़वाया जाता है, साथ ही उनके अपने ज्ञान को पक्का किया जाता है वह निश्चय ही प्रशंसनीय है और इंग्लैंड में उसकी जो नकल की गई है वह उचित ही है। देशी विद्यालयों की मुख्य कमी यह है कि उनकी पुस्तकों एवं पढ़ाई का स्वरूप तृष्टिपूर्ण है और उनमें सक्षम अध्यापक नहीं हैं।

मद्रास में की गई जांच की विश्वसनीयता: इस जांच से प्राप्त हुए आंकड़ों की विश्वसनीयता को इतिहासकार परस्पर विरोधी आधारों पर चुनौती देते हैं। सर फिलिप हाटोंग का विचार है कि इन आंकड़ों को अनावश्यक महत्व दिया गया। परंतु उपलब्ध आधार सामग्री की ओर अधिक गहराई से जांच करने पर पता चलेगा कि यह विचार सही नहीं है। पहली बात तो यह है कि गृह शिक्षा पाने वाले बालकों के आंकड़ों को (मद्रास जिले को छोड़कर) जिलाधीशों द्वारा दी गई संख्या में सम्मिलित नहीं किया गया था। यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मुनरों के मूल परिपत्न में गृह शिक्षा का उल्लेख नहीं था। संभव है कि मुनरों को उस समय यह पता ही न हो कि गृह शिक्षा चल रही है। जो व्यक्ति सरकारी परिपाटी से परिचित है उसे यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि जिलाधीशों ने गृह शिक्षा पाने वाले बालकों के आंकड़े जो नहीं भेजे उसका कारण यह

^{1.} सिलेक्शन फाम दि रिकार्ड्स आफ दि गवर्नमेंट आफ मद्रास, संख्या II, परिशिष्ट डी।

^{2.} सर फिलिप हार्टोग : सम आस्पेक्टस आफ इंडियन एजूकेशन, पृ० 72 ।

^{3.} सिलेक्शंस फाम दि रिकार्ड्स आफ दि गवर्नमेंट आफ मद्रास, संख्या II, परिशिष्ट ए।

नहीं था कि उनके जिले में गृह शिक्षा नहीं दी जाती थी अथवा इसके अस्तित्व का उन्हें ज्ञान ही नहीं था, वरन उसका कारण यह था कि सरकारी आदेशों में इन आंकड़ों को स्पष्ट रूप से नहीं मांगा गया था। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट है कि मद्रास जिलाधीश के अलावा किसी भी अन्य जिलाधीश ने गृह शिक्षा पाने वाले बालकों के आंकड़े नहीं दिए यद्यपि मुनरों को यह विश्वास था कि 'लड़कों को उनके माता पिता अथवा निजी अध्यापकों द्वारा घर पर पढ़ाए जाने की प्रथा देश के सभी भागों में सामान्य रूप से पाई जाती है।' यह स्पष्ट है कि मद्रास के जिलाधीश ने असाधारण कदम उठाया और यद्यपि गृह शिक्षा पाने वाले छात्रों के आंकड़ों को विशेष रूप से मांगा भी नहीं गया था तो भी उन्हें भेज दिया। अतः मद्रास के जिलाधीश को 'कैंपबेल की अपेक्षा कम सावधान और शिक्षा में कम रुचि रखने वाले' जिलाधीशों की श्रेणी में रख देना उनको उनके इस तमाम श्रम का निस्संदेह एक बुरा प्रतिफल देना होगा। प्रतीत होता है कि सर फिलिप ने ऐसा ही किया है।

दूसरी बात यह है कि यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वयं मुनरो को यह विश्वास था कि उनके आंकड़े न्यून प्राक्कलन हैं। उनकी गणना के अनुसार विद्यालय आयु के बालकों की संख्या कुल जनसंख्या की 1/9 थी। इससे उन्हें विद्यालय आयु के लड़कों की संख्या 7,13,000 प्राप्त हुई और उन्हें यह पता चला कि केवल 1,84,000 अर्थात कुल एक-चौथाई लड़के विद्यालयों में पढ़ते थे। परंतु उन्होंने यह महसूस किया कि गृह शिक्षा पाने वाले बालकों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। वह मद्रास के जिलाधीश द्वारा दिए गए आंकड़ों को विश्वसनीय मानने के लिए तैयार नहीं थे क्योंकि वह यह विश्वास नहीं कर सकते थे कि विद्यालय में पढ़ने वाले और गृह शिक्षा पाने वाले लड़कों के बीच एक और पांच का अनुपात था। परंतु साथ ही वह यह भी स्वीकार करते थे कि उपलब्ध आंकड़े न्यून प्राक्कलन हैं और उनका कहना था कि शिक्षा पाने वाले लड़कों की संख्या विद्यालय आयु के लड़कों की कुल संख्या की चौथाई न होकर लगभग तिहाई है।

मुनरो के लिए संभवतः सबसे अच्छा तरीका यह होता कि वह मद्रास के आंकड़ों की पुनः जांच करने की मांग करते और अन्य जिलाघीशों से भी गृह शिक्षा पाने वाले बालकों के आंकड़े एकत्र करवाते। परंतु उनकी रुचि इस समस्या की ओर नहीं थी। उनका लक्ष्य सहीं आंड़े प्राप्त करना नहीं था। जैसा कि उन्होंने अपने मूल विवरण पत्र में बताया था उनका एक मात्र प्रयोजन देशी पद्धित की कुछ जानकारी प्राप्त करना था और उन्होंने इस विषय में आगे जांच नहीं कराई क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया कि अपनी शिक्षा सुधार संबंधी प्रस्थापनाओं को तैयार करने के लिए उन्हें पर्याप्त आधार सामग्री उपलब्ध हो गई है। इस संबंध में अटकल लगाना व्यर्थ है कि यदि गृह शिक्षा पद्धित के बारे में सावधानीपूर्वक जांच की गई होती तो क्या परिणाम निकला होता। परंतु इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता है कि उपलब्ध साक्ष्य से हम स्पष्टतः इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि मुनरों के आंकड़े बहुत न्यून प्राक्कित थे।

बंबई में जांच (1823-25): मद्रास प्रांत में मुनरो द्वारा जांच आरंभ किए जाने के कुछ ही समय बाद बंबई के गवर्नर माउंट स्टुअर्ट एलिफिस्टन ने बंबई प्रांत में इसी प्रकार की जांच प्रारंभ की। उनके अनुरोध पर सरकार के सचिव ने तमाम जिला-घीशों को एक परिपत्र (दिनांक 10 मार्च, 1824) लिखा और देशी शिक्षा के बारे में तुरंत सूचना मांगी। अधिकांश जिलाधीशों से 1824-25 में उत्तर प्राप्त हुए जिन्हें हाल ही में श्री आर० वी० परुलेकर ने विद्वत्तापूर्ण संपादकीय टिप्पणी सहित प्रकाशित किया है। इन प्रतिवेदनों में उस संपूर्ण प्रांत को न लेकर उसके कुछ ही भागों को लिया गया है; और इस समय जांच के सभी संगत पत्रों का पता भी नहीं चल सकता है। परंतु जो आधार सामग्री उपलब्ध है उससे बंबई की देशी शिक्षा की तत्कालीन स्थित के बारे में निम्नलिखित सामान्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

9

(क) प्रारंभिक देशी विद्यालय: ऐसे एक भी विद्यालय का उल्लेख नहीं मिलता है जो किसी ऐसे मकान में चलता हो जिसका उपयोग अनन्य रूप से उसी बिद्यालय को चलाने के लिए ही किया जाता हो। अधिकांश विद्यालय मंदिरों, निजी निवास स्थानों, छाजनों अथवा स्वयं अध्यापकों के मकानों में चलते थे। कहीं कहीं नगर या गांव का कोई सम्मानित व्यक्ति विद्यालय चलाने के लिए अपने मकान का एक भाग दे देता था। विद्यालय प्रायः लगातार नहीं चलते थे और स्थानीय मांग होने पर वे अस्तित्व में आ जाते थे तथा मांग न होने पर लुप्त हो जाते थे। औसत प्रति विद्यालय छात्र संख्या 15 थी तथा विद्यालयों में छात्रों की संख्या 2 से लेकर 150 तक रहती थी। अधिकांश विद्यालयों में एक ही अध्यापक रहता था। नियमतः, उनका कार्यकरण सांप्रदायिक नहीं था। उनके द्वारा तथाकथित नीची जाति के लोगों को छोड़कर उन सभी के लिए खुले थे जो अपनी शिक्षा का खर्च दे सकते थे।

(स) अध्यापक: अधिकांश अध्यापक ब्राह्मण थे। उनके इस पेशे से संबद्ध रहने का प्रमुख कारण यह नहीं था कि उन्हें नकद अथवा माल के रूप में कोई वास्तविक लाभ प्राप्त होता था वरन वह सम्मान था जो परंपरा से इस पेशे को मिलता रहा था। सामान्यतः जिन अन्य जातियों के लोग अध्यापक बनते थे उनमें प्रभु, मराठा, भंडारी, कुन्बी, वानी, शिपी, बनिया इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अध्यापक को कुल पारिश्रमिक औसतन तीन से पांच रुपये प्रति मास तक मिलता था और इसका भुगतान नकद और माल के रूप में होता था। परंतु इस अल्प पारिश्रमिक का कुछ मुआवजा भी मिलता था। जैसा श्री आर० वी० पहलेकर ने कहा है:

हमने अब तक नियमित पारिश्रमिक पर विचार किया है जो अध्यापक अपने प्राप्य के रूप में पाने की आशा करते थे। जहां तक वास्तविक व्यवहार का संबंध है उन्हें पूरी राशि कभी नहीं मिलती थी। फिर भी, उस समय का अध्यापक समाज से कितपथ विशेषाधिकार मांग सकता था जिससे उसकी कमाई कम होने का उसे बहुत हद तक मुआवजा मिल जाता था। वह पूर्णतया उन लोगों का आदमी होता

^{1.} आर० वी० परुलेकर: ए सोर्स बुक आफ हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन दि बांबे प्राविस, भाग 1, सर्वे आफ इंडीजीनस एजूकेशन (1820-30)।

था जिनके बालकों को वह पढ़ाता था। लोग और उनके परिवार उसका सदा आदर करते थे और धनी व्यक्ति उसे दूसरों से अधिक नकदी और माल दोनों ही चीजें देते थे। केवल कह देने से उसे अपने शिष्यों के माता पिता से भोजन प्राप्त हो सकता था। अपने शिष्यों के विवाहोत्सवों पर, जिनकी संख्या बाल विवाह के उस काल में कम नहीं होती थी, उसे पर्याप्त उपहार मिलते थे और वह अपना आशीर्वाद देता था।

अहमदाबाद प्रतिवेदन में कहा गया है कि 'विद्यालय के अध्यापक को उसकी अपनी जाति के लोगों द्वारा आयोजित सभी भोजों में निरपवाद रूप से बुलाया जाता है और उसकी निश्चित और सुस्थापित आय के अतिरिक्त उसे सामान्यतः दशहरा, दिवाली और अन्य पर्वों पर अपने गांव के धनी लोगों से पर्याप्त उपहार मिलते हैं। यह एक सामान्य प्रथा है कि जब कोई बारात विद्यालय के सामने से गुजरती है तो विद्यालय के अध्यापक को कुछ धन भेंट किया जाता है और लड़कों को छुट्टी दिलाई जाती है। पता चला है कि कर्नाटक में भी एक ऐसी ही प्रथा है। वहां अध्यापक को त्योहार और हर्ष के अवसरों पर इसी प्रकार प्रेम और सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है।

अध्यापकों की शैक्षिक उपलब्धियां भी बहुत असंतोषजनक थीं। जैसा श्री आर० वी० परुलेकर ने कहा है:

उस काल में सामान्य प्रारंभिक विद्यालयों में जो अध्यापक पढ़ाते थे उनसे पढ़ने, लिखने और अंकगणित का आरंभिक ज्ञान कराने की अपेक्षा की जाती थी। पहाड़ों तथा लंबे और जटिल क्रमिवन्यास वाली अन्य सारणियों का ज्ञान होना प्रत्येक अध्यापक के लिए अनिवार्य था। उसके अतिरिक्त संतोषजनक सुलेख और साधारण लेख को पढ़ने की योग्यता बिद्यालय के सामान्य अध्यापक की न्यूनतम उपलब्धियां होती थीं। अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि गुजरात से प्राप्त एक रिपोर्ट में कहा गया है कि अध्यापक अज्ञानी हैं और वास्तव में उन्हें भी पुस्तक से स्वयं लड़कों के समान ही ज्ञानार्जन करना है।

(ग) विद्यार्थी: प्रारंभिक विद्यालयों के विद्यार्थी, हरिजनों को छोड़कर, हिंदुओं की सभी जातियों के थे। उनमें लगभग 30 प्रतिशत ब्राह्मण होते थे। विद्यालयों में विद्यार्थीं को अधिक संख्या में पढ़ने भेजने वाली अन्य जातियां वानी, प्रभु, सुनार और विन्या थीं। कुल विद्यार्थियों में से लगभग 70 प्रतिशत विद्यार्थी उंच्च समुंदायों के होते थे। उनकी आयु 6 से 14 वर्ष तक होती थी और उनके विद्यालय जीवन की औसत अविध गुजरात में लगभग 2 या 3 वर्ष और अन्य क्षेत्रों में लगभग 3 या 4 वर्ष थी।

- (घ) पाठ्यचर्या और अध्यापन प्रणालियां: प्रारंभिक विद्यालय पढ़ने, लिखने और गणित के प्राथमिक सिद्धांतों की शिक्षा देते थे। विद्यार्थियों को मुख्यतः इस दृष्टि से विविध प्रकार की गुणन सारणियां सिखाई जाती थीं कि वे दैनिक जीवन में साधारणतया काम में आने वाले सभी प्रकार के प्रश्नों को मौखिक रूप से हल कर सकें। इस काल में छपी हुई पुस्तकों का बिलकुल अभाव था। विद्यालय में साज सामान या तो होता ही नहीं था और यदि होता भी था तो बहुत सादा और अनगढ़ होता था। विद्याधियों को प्रचुर एवं कठोर दंड दिए जाते थे।
- (ङ) स्त्री शिक्षा: प्रांत के सार्वजनिक विद्यालयों में किसी छात्रा के पढ़ने का उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा किसी जल्दबाजी अथवा भूलचूक के कारण नहीं हुआ है। उस समय के सार्वजनिक विद्यालय केवल लड़कों के लिए ही होते थे।
- (च) गृह शिक्षा: यद्यपि बंबई के प्रतिवेदनों में प्रांत के विभिन्न भागों में गृह शिक्षा पद्धति विद्यमान होने के छुटपुट उल्लेख मिलते हैं तथापि उनमें इस पद्धति पर न तो विचार किया गया है और न इसका कोई ब्यौरा ही दिया गया है।
- (छ) मुसलमानों की शिक्षा: अनेक देशी विद्यालयों में केवल मुसलमान ही पढ़ने आते थे और इन विद्यालयों की देखरेख भी मुसलमान अध्यापक ही करते थे। कुछ में 'हिंदुस्तानी' की शिक्षा भी दी जाती थी। कई जगह मुसलमान साधारण हिंदू विद्यालयों में पढ़ने जाते थे।
- (ज) उच्च शिक्षा के हिंदू विद्यालय: कुछ प्रतिवेदनों में उच्च शिक्षा के हिंदू विद्यालयों का उल्लेख है। अहमदनगर में ऐसे 16 विद्यालय थे और पूना नगर में (सभी प्रकार की कुल 222 शिक्षण संस्थाओं में से) 164 विद्यालय ऐसे थे।

बंबई में जांच (1829) : यह जांच 1823-25 की जांचों से भिन्न थीं क्योंकि अब सूचना जिलाधीशों को मार्फत नहीं वरन जिला न्यायाधीशों की मार्फत मांगी गई थी। इस जांच से पता चलता है कि 46,81,735 जनसंख्या के लिए 1,705 विद्यालय मौजूद थे जिनमें 35,153 विद्यार्थी पढ़ते थे।

बंबई में की गई जांचों की विश्वसनीयता: ये प्रतिवेदन कहां तक विश्वसनीय हैं ?
गुणात्मक दृष्टि से, यह माना जा सकता है कि इनमें उस काल की देशी शिक्षण संस्थाओं
का काफी यथार्थ चित्रण किया गया है। परंतु इस बात में संदेह है कि उनमें प्रिमाणात्मक
पक्ष का भी समान रूप से यथार्थवादी चित्रण किया गया है। यह पहले ही कहा जा चुका
है कि इन प्रतिवेदनों में उस गृह शिक्षा पद्धित की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है जो
बंबई में अवश्यमेव विद्यमान थी। यहां तक कि औपचारिक विद्यालयों के संबंध में भी इस
बात की कोई संभावना नहीं है कि इन प्रतिवेदनों में सभी विद्यमान संस्थाओं के आंकड़ों
को शामिल किया गया था। इनमें से बहुत से प्रतिवेदन बहुत जल्दबाजी में तैयार किए
गए थे। उदाहरण के लिए, भड़ौंच, करा और सूरत के जिलाधीशों ने जांच के
लिए सरकारी पत्न भेजे जाने के लगभग चार महीने के अंदर ही अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत
कर दिए थे। यद्यपि अन्य जिलाधीश इतनी जल्दी कार्य नहीं कर सके तथापि उन्होंने
जितना समय लिया वह विशेषकर उस काल में विद्यमान पत्न प्रेषण के धीमी गित वाले

आर० बी० पहलेकर: ए सोर्स बुक आफ हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन दि बांबे प्राविस, भाग 1, सर्वे आफ इंडीजीनस एजूकेशन (1820-30) पृ० IX।

^{2.} वही ।

साधनों को देखते हुए इतनी विशद जांच के लिए पर्याप्त नहीं था जिसमें उन जिलों के प्रत्येक गांव को शामिल किया जाना था जिनके बारे में प्रतिवेदन दिए गए थे। 1828-29 के प्रतिवेदन में भी इस संबंध में अधिक सावधानी नहीं बरती गई थी। दूसरी बात यह है कि इस काल की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण भी गलितयां हो गई प्रतीत होती हैं। 'पेशवा का शासन हाल में ही समाप्त हुआ था और नए शासक अपने शासनों की अभी नींव ही रख रहे थे। उस समय एक ऐसा वातावरण बना हुआ था जिसमें यह संदेह किया जा रहा था कि सरकार ने जो कुछ किया है वह अपने निजी हित के लिए किसी गुप्त अभिप्राय से किया है।' ऐसे वातावरण में यदि लोगों ने सरकार के जांच अधिकारियों को बहुत से विद्यालयों के संबंध में जानकारी न दी हो और उसे जानबूझ कर दबा लिया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। तीसरी बात यह है कि यह प्रतिवेदन अधिकांशत: ऐसे व्यस्त अधिकारियों ने तैयार किए थे जो इन समस्याओं के प्रति विशेष एचि नहीं रखते थे। जिस व्यक्ति को ऐसी सरकारी जांचों की जानकारी है वह जानता है कि इनके परिणाम सदा ही विश्वसनीय नहीं होते हैं। चौथी बात यह है कि इस काल के अनेक महत्वपूर्ण ब्रिटिश अधिकारियों के विवरणों से हमें विपरीत प्रमाण मिलता है। जैसा श्री आर० वी० परलेकर ने कहा है:

बंबई के गवर्नर की परिषद के एक सदस्य श्री जी० एल० प्रैंडरगास्त ने अपने 1821 के विवरण पत्न में निम्नलिखित सुविख्यात विवरण दिया था :

मुभे यह बात जिसे बोर्ड का प्रत्येक सदस्य उतनी ही अच्छी तरह जानता है जितना मैं जानता हूं, बताने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे संपूर्ण राज्य क्षेत्रों में शायद ही कोई ऐसा बड़ा या छोटा गांव होगा जिसमें कम से कम एक विद्यालय न हो और बड़े गांवों में तो एक से अधिक विद्यालय और डिवीजन के प्रत्येक कस्बे और बड़े नगर में ऐसे अनेक विद्यालय मिलेंगे जिनमें नवयुवक मूल निवासियों को पढ़ने, लिखने और गणित की शिक्षा दी जाती है। यह पद्धित बहुत कम खर्चीली है। माता-पिता को अपनी क्षमता के अनुसार विद्यालय के अध्यापकों के लिए एक या दो मुट्ठी अनाज से लेकर संभवतः एक रुपया मासिक तक देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह पद्धित इतनी सरल और समर्थ है कि शायद ही कोई ऐसा कृषक अथवा छोटा दुकानदार हो जो, मेरी राय में, अपने हिसाब किताब को हमारे अपने देश के निचली श्रेणी के लोगों से अधिक सही रखने में सक्षम न हो। अधिक ठाट-बाट वाले दुकानदार और साहूकार अपनी बहियों को प्रकरण, संक्षिप्तता और स्पष्टता के साथ तैयार करते हैं और मैं समझता हूं कि उसका हिसाब-किताब पूरी तरह किसी ब्रिटिश व्यापारी के हिसाब-किताब के समान ही होता है (ऐविडैंस आफ

खानदेश में प्राय: प्रत्येक गांव में वहां के मूल निवासियों द्वारा चलाए जा रहे विद्यालय मौजद हैं (ऐविर्डंस आफ 1832, पृष्ठ 296)।

ऐसे लोग जो पढ़-लिख सकते हैं और साधारण हिसाब-किताब रख सकते हैं, संभवत: भारत में भी उतने ही भारी अनुपात में मौजूद हैं जितने अनुपात में यूरोपीय देशों में मिलेंगे (फिफ्थ ऐनुअल रिपोर्ट (1819) आफ दि बांबे एजूकेशन सोसायटी, पुष्ठ 11)।

मूल निवासियों के लिए सभी जगह विद्यालय प्रचुर संख्या में मौजूद हैं (बांबे एजू-केशन सोसायटीज सिक्स्थ रिपोर्ट (1820), पृष्ठ 21)।

हम यह मुझाव नहीं देंगे कि बंबई प्रांत में शिक्षा के विस्तार के बारे में इन आम विचारों को ज्यों का त्यों सही मान लिया जाना चाहिए, परंतु उनकी पूर्णतया अवहेलना कर देना और 'सरकारी' आंकड़ों को ज्यों का त्यों मान लेने का आग्रह करना भी समान रूप से अनुचित होगा।

अतः यदि हम इस समस्या पर बिना किसी पूर्वग्रह के विचार करें तो संभवतः हम इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि बंबई के आंकड़े अविश्वसनीय तथा न्यून प्राक्किलत हैं और संपूर्ण भारत में प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार को मापने के लिए उन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता है।

बंगाल में जांच: देशी शिक्षा पद्धित के बारे में बंगाल में जो जांच की गई थी वे मद्रास और बंबई में की गई जांचों से आश्चर्यजनक रूप से भिन्न थीं। ये जांच राजस्व और न्याय विभागों के सरकारी माध्यमों से नहीं वरन एक गैर-सरकारी व्यक्ति, विलियम ऐडम नामक एक उत्साही मिशनरी द्वारा की गई थीं। इसके अतिरिक्त, ये अत्यंत रीतिबद्ध रूप से और मद्रास तथा बंबई की जांचों की अपेक्षा कहीं अधिक समय लगाकर की गई थीं। अतः विलियम ऐड्स के जांच परिणामों का अत्यंत सावधानीपूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है। 2

(क) ऐडम का पहला प्रतिवेदन: ऐडम का पहला प्रतिवेदन उस समय की उपलब्ध समस्त शैक्षिक आधार सामग्री के बारे में अत्यंत सावधानीपूर्वक तैयार किया गया सार संग्रह है। यह पढ़ने में बहुत रोचक है यद्यपि इसमें जो सूचनाएं दी गई हैं वे न तो उतनी पर्याप्त हैं और न ही उतनी विश्वसनीय हैं जितनी ऐडम के बाद के दो प्रतिवेदनों में दी गई सूचनाएं हैं। प्रतिवेदन में जो मुख्य बात कही गई है, वह निम्नलिखित उद्धरण में है जोिक हाल के वर्षों में भारी विवाद का विषय बन गया है:

देशी प्रारंभिक विद्यालय : इस किस्म के विद्यालय वे होते हैं जिनमें प्राथमिक शिक्षा

आर० वी० परुलेकर: ए सोसं बुक आफ हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन दि बांबे प्राविस, भाग 1, सर्वे आफ इंडीजीनस एजूकेशन (1820-30) पृ० IV।

^{1.} आर० बी० पहलेकर: ए सोर्स बुक आफ हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन दि बांबे प्राविस, भाग 1, सर्वे आफ इंडीजीनस (1820-30), पु० V।

^{2.} इसमें तथा बाद के वैराग्राफों में दी गई सूचनाएं श्री ए० एम० बसु द्वारा संवादित और कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'ऐडम्स रिपोर्ट्स' के संस्करण से ली गई हैं।

दी जाती है। धार्मिक अथवा परोपकारी संस्थाओं द्वारा सहायता प्राप्त विद्यालयों से इनमें यह अंतर होता है कि इनकी स्थापना और सहायता स्वयं मूल निवासियों द्वारा की जाती है। माना जाता है कि बंगाल में ऐसे विद्यालयों की संख्या बहुत अधिक है। पब्लिक शिक्षा संबंधी सामान्य समिति के एक विशिष्ट सदस्य ने इस विषय से संबंधित एक विवरण पत्न में अपनी यह राय व्यक्त की थी कि यदि निचले प्रांतों में प्रत्येक वर्तमान ग्रामीण विद्यालय पर एक रुपया मासिक भी व्यय करना पड़े तो संभवतः 12 लाख रुपया प्रति वर्ष से कुछ ही कम धनराशि की आवश्यकता होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि बंगाल और विहार में ऐसे 1,00,000 विद्यालय हैं और यदि इन दोनों प्रांतों की जनसंख्या 4,00,00,000 मान ली जाए तो प्रत्येक 400 व्यक्तियों के लिए एक ग्रामीण विद्यालय होगा।

शैक्षिक इतिहास के कुछ अध्येता (जैसे सर फिलिप हार्टोग) इस प्रतिवेदन को एक दंतकथा अथवा मिथक कहते हैं जबकि श्री आर० वीर्० परुलेकर जैसे कुछ अन्य अध्येता समान बल देकर इस बात का समर्थन करते हैं कि प्रतिवेदन सारभूत रूप से सही है। उनकी युक्ति का आधार मुख्यतः दो बातें हैं। पहली बात यह है कि यह दोनों पक्षों में विद्यालय शब्द के अर्थ-निर्णय के बारे में मतभेद है। एक पक्ष इस शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग करता है अर्थात उसे किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा संचालित न्यूनाधिक स्थाई स्वरूप की संस्था मानता है जो क्षात्रों से प्राप्त फीस और अनुलाभों अथवा समुदायों से प्राप्त पारिश्रमिक के बदले में इलाके के कुछ बालकों को पढ़ाता है। यदि इस शब्द को उपर्युक्त में अर्थ सही मान लिया जाए तो यह निष्कर्ष निकालना ठीक होगा कि बंगाल में एक लाख विद्यालय होने की बात बहुत ही बढ़ा-चढ़ा कर कही गई है। परंतु दूसरा पक्ष इस अर्थ निर्णय का विरोध करता है । उसकी युक्ति यह है कि उस जमाने में विद्यालय शब्द का प्रयोग एक ऐसे स्थान के लिए किया जाता था जहां शिक्षा दी जाती थी और इसमें वे केंद्र भी शामिल थे जहां गृह शिक्षा पद्धति चालू थी। इस मत के अनुसार एक ऐसा परिवार भी उस काल में विद्यालय माना जाता था जिसमें परिवार के बालकों को शिक्षा देने के लिए एक अध्यापक नियुक्त कर लिया जाता था अथवा जिसमें इलाके के अन्य बालकों के साथ अथवा उनके बिना ही पिता अपने बालकों को शिक्षा देता था। इस सिद्धांत के समर्थन में यह कहा जाता है कि एडम ने विद्यालयों और छात्रों के बारे में जो जांच की थी उसमें गृह शिक्षा देने वाले परिवारों के भी आंकड़े एकत्र किए थे। ² यदि इस मत को सही मान

लिया जाए तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि बंगाल के लगभग प्रत्येक गांव में एक पब्लिक स्कूल या गैरसरकारी विद्यालय था और बड़े गांवों में तो कई-कई विद्यालय थे।

दूसरी बात यह है कि इस प्रश्न के उत्तर में भी बहुत प्रकार की बातें कही जाती हैं कि एक लाख विद्यालयों की इस दंतकथा के मिथ्या होने की बात स्वयं ऐडम ने क्यों नहीं बताई। ऐडम की ईमानदारी में संदेह नहीं किया जाता है परंतु सर फिलिप समझते हैं कि ऐडम 'अपने आंकड़ों का स्पष्ट रूप से संक्षेप' नहीं कर सके हैं जबकि दूसरा पक्ष ऐडम के प्रेक्षण और विश्लेषण की उन महान शक्तियों का निर्देश करता है जिन्हें उन्होंने अपने प्रतिवेदन में प्रदिश्ति किया है और यह दावा करता है कि 1,00,000 विद्यालय मौजूद होने की दंतकथा सरकारी और गैर सरकारी आंचलों में केवल इसीलिए चलती रही थी क्योंकि यह दंतकथा नहीं थी। जैसा एम० आर० परांजपे ने कहा है:

इस शताब्दी के ऐसे कर्मचारी और प्रचारक जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यार्ध में देश में विद्यमान शैक्षिक स्थिति का कोई व्यक्तिगत ज्ञान नहीं है, यह विश्वास करने को तैयार नहीं हैं कि कभी उन ग्रामों में भी विद्यालय मौजूद थे जिनमें आज ऐसे विद्यालयों को चला पाना आध्निक शिक्षा विभागों के लिए संभव नहीं है। वे ऐसे सादा शिक्षण केंद्रों की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं जिन्हें ग्राम संयुक्त रूप से अथवा धनी जमींदार व्यक्तिगत रूप से अध्यापकों को माल के रूप में धन देकर चलाते थे। परंतु 1850 से 1870 तक के दो दशकों में जो कर्मचारी और गैर सरकारी लोग मौजुद थे। उन्होंने ऐडम की तरह ही प्रत्येक गांव में विद्यालय होने की बात स्वीकार की है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत के अधिकांश नगरों में प्राथमिक शिक्षा के लिए काफी व्यापक व्यवस्था मौज्द थी। मद्रास प्रेसीडेंसी में, सर टामस मुनरो को प्रत्येक गांव में एक प्राथमिक विद्यालय होने का पता चला था (मिल-हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया, खंड 1, पृष्ठ 562, चौथा संस्करण)। बंगाल में वार्ड को पता चला था कि 'प्राय: सभी गांवों में पढ़ने, लिखने और प्रारंभिक अंकगणित की शिक्षा देने के लिए विद्यालय मौजूद थे' (वार्ड-व्यू आफ दि हिंदूज, खंड 1, पृष्ठ 160) । मालवा में जहां आधी शताब्दी से अधिक समय तक लगातार अराजकता फैली रही थी, मैल्कम को पता चला था कि 'लगभग 100 घरों वाले प्रत्येक गांव में, ब्रिटिश अधिराजत्व में आने के समय, एक आरंभिक विद्यालय मौजूद था' (मैल्कम-मेमोयर्स आफ सेंट्रल इंडिया एंड मालवा, अंक 11, gez 150) 1²

(ख) ऐडम का दूसरा प्रतिवेदन : अपने दूसरे प्रतिवेदन में ऐडम ने राजशाही जिले के एक थाना नत्तौर में पूर्ण और विषद जांच की थी। ऐसा करने में उनका मुख्य उद्देश्य यह था कि समस्या को एवं जांच की कठिनाइयों को समझा जाए। उन्होंने नत्तौर

ऐडम्स रिपोर्ट्स कलकत्ता संस्करण, पृ० 6 ।

^{2.} इस विषय पर ऐडम का अपना कथन इस प्रकार है: 'इस जिले (अर्थात राजशाही) में प्रारंभिक शिक्षा को दो भागों में बांटा जा सकता है: पब्लिक और गैरसरकारी। यह विभाजन पब्लिक स्कूलों अथवा निजी परिवारों में दी जाने वाली शिक्षा के अनुसार है। ऐसा नहीं है कि यह विभेद सदा ही बनाए रखा जाता है, परंतु फिर भी यह काफी सुस्पष्ट है।' 'रिपोर्ट्भ', कलकत्ता संस्करण, पृ० 136-37।

^{1.} सर फिलिप हार्टोग : सम आस्पैक्ट्स आफ इंडियन एजूकेशन, पृ० 75।

^{2.} प्रोग्रेस आफ एजूकेशन, जुलाई, 1940, पृ० 38।

को इसलिए चुना क्योंकि यह राजशाही जिले के थानों में सबसे प्रमुख था और अन्य परगनों में स्थिति का निर्णय करने के लिए इसे एक मानदंड बनाया जा सकता था। निम्नलिखित अनुच्छेदों में ऐडम के जांच-परिणामों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

थाने की जनसंख्या 1,95,296 थी जिसमें से 1,29,640 मुसलमान और 65,656 हिंदू थे। ग्रामों की संख्या \$485 थी। ऐडम को केवल 27 प्रारंभिक विद्यालयों का पता लगा जिनमें 262 छात्र पढ़ते थे। इनमें से 10 बंगला के विद्यालय थे जिनमें 167 छात्र थे, 4 फारसी के विद्यालय थे जिनमें 23 छात्र थे, 11 अरबी के विद्यालय (कुरान की शिक्षा देने के लिए) थे जिनमें 42 छात्र थे और 2 बंगला और फारसी के विद्यालय थे जिनमें 30 छात्र थे। इसके अतिरिक्त, 238 ग्रामों में 1,588 ऐसे परिवार थे जो 2,342 बालकों को शिक्षा देते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि गृह शिक्षा के अंतर्गत बालकों की संख्या सार्वजनिक पाठशालाओं के छात्रों की लगभग नौ गुनी थी। सार्वजनिक प्राथमिक पाठशाला में औसत प्रवेश आयु 8 वर्ष थी और विद्यालय छोड़ने की औसत आयु 14 वर्ष थी। प्रारंभिक विद्यालयों में अध्यापकों का औसत वेतन 5 से 8 रुपये मासिक तक था।

मुसलमान किसी देशी महाविद्यालय का संचालन नहीं करते थे। परंतु ऐडम को 38 संस्कृत महाविद्यालयों का पता लगा जिनमें 397 छात्र थे। औसत प्रवेश आयु 11 वर्ष थी और पाठ्यक्रम को पूरा करने की आयु 27 वर्ष थी। 397 छात्रों में से 136 उन गांवों के थे जहां महाविद्यालय स्थित थे और इन्हें केवल शिक्षा नि:शुल्क दी जाती थी, जबकि 261 विद्यार्थी अन्य गांवों के थे और इन्हें अपने अध्यापकों से भोजन, आवास और शिक्षा नि:शुल्क प्राप्त थी।

स्त्री शिक्षा का वस्तुत: अस्तित्व ही नहीं था। परंतु ऐडम ने अनुमान लगाया था कि नत्तौर में शिक्षित प्रौढ़ों की कुल संख्या 6,121 थी जो इस प्रकार है:

| हिंदू महाविद्यालयों के अध्यापक | 39 |
|--|-------|
| विद्वान व्यक्ति जो अध्यापक नहीं थे | 88 |
| महाविद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थी | 397 |
| वे व्यक्ति जिन्होंने पढ़ने और लिखने से | |
| अधिक शिक्षा प्राप्त की थी | 3,255 |
| वे व्यक्ति जो अपने त्रुटिपूर्ण हस्ताक्षर | |
| कर सकते थे अथवा बुटिपूर्ण पढ़ सकते थे | 2,342 |
| योग | 6,121 |
| | |

इससे कुल पुरुष जनसंख्या का साक्षरता प्रतिशत 6.1 और स्त्रियों सहित कुल जनसंख्या का साक्षरता सहित प्रतिशत 3.1 होता है।

(ग) ऐडम का तीसरा प्रतिवेदन: ऐडम का तीसरा प्रतिवेदन इन प्रतिवेदनों में सबसे महत्वपूर्ण है। इसे दो भागों में बाटा गया है। पहले भाग में ऐडम ने पांच जिलों अर्थात मुशिदाबाद, वीरभूमि, बर्दवान, दक्षिणी बिहार और तिरहुत के संबंध में अपने द्वारा एकत्र किए गए आंकड़े दिए हैं। दूसरे भाग में उन्होंने देशी विद्यालयों के सुधार के लिए अपनी प्रस्थापनाएं दी हैं।

ऐडम ने अपना तीसरा प्रतिवेदन यह स्वीकार करते हुए प्रस्तृत किया था कि वह जो कुछ कर सके उसके बावजूद उनके आंकड़े न्यून प्राक्कलित हैं। इसके मुख्यत: दो कारण हैं: पहली बात यह है कि उन्होंने प्रत्येक जिले के केवल एक थाने में अपनी वैय-क्तिक देख-रेख में जांच कराई थी और अन्य थानों से सूचनाएं एकत्र करने के लिए प्रतिनिधि नियुक्त किए थे। इस प्रकार से उन्होंने आंकडे तो प्रचर मात्रा में एकत कर लिए परंतु बाद में यह पता चला कि उनके प्रतिनिधियों के प्रतिवेदन पूर्णतया विश्वसनीय नहीं हैं। ऐडम ने लिखा था कि 'यद्यपि मेरा विश्वास है कि जहां तक उन विवरणों का संबंध है जो मभ्ते प्राप्त हैं वे सामान्य रूप से विश्वसनीय हैं। तो भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि वे सदोष नहीं हैं। किसी जिले से गुजरते हुए मेरे प्रतिनिधि उस जिले के सभी ग्रामों की यात्रा नहीं कर सके क्योंकि ग्रामों की संख्या कई हजार थी। जांच की समस्त उचित सीमाओं का उल्लंघन किए बिना इस कार्य को संपन्न करना असंभव था। अतः ये प्रतिनिधि अपनी वैयक्तिक जानकारी या उन सूचनाओं पर निर्भर होने पर मजबूर थे जो अन्य लोगों से उन स्थानों के बारे में जहां विद्यालय मौजद थे प्राप्त की जा सकती थी। इनमें से प्रत्येक स्थान पर वे लोग निश्चित रूप से गए थे और उन्होंने जांच की थी। परंतू इस बात की पूब्टि करने का मैं साहस नहीं कर सकता हं कि 'कहीं भी किसी ग्राम संस्था को अनदेखा नहीं किया गया है। वस्तूत: मुफ्ते कभी-कभी ऐसे दष्टांत मिले हैं जिनमें उन संस्थाओं की ओर आरंभ में घ्यान नहीं दिया गया था।" दूसरी बात यह है कि ऐडम को यह भी पता लगा था कि कभी-कभी लोग जांच से डर जाते थे और घर की स्तियों की असली संख्या नहीं बताते थे और बहुधा विद्यालय और महाविद्यालय भी 'आतंकपूर्ण सरकारी जांच से बचने के लिए अपने बारे में कोई जानकारी नहीं देते थे।'2 परंतू इन स्पष्ट आत्मस्वीकृतियों के होते हए भी, यह बात अवश्य स्वीकार की जानी चाहिए कि देशी शिक्षा के बारे में हमारे पास जितने भी आंकडे हैं उनमें एडम के आंकड़े सबसे विश्वसनीय हैं।

ऐडम द्वारा दिए गए सामान्य आंकड़ों को संक्षेप में निम्नलिखित सारिणयों में दिया गया है:

^{1.} ऐडम्स रिपोर्ट्स : कलकत्ता संस्करण, पृ० 219।

^{2.} वही, पृ० 220।

सारणी I-विद्यालय

| | | | | विद्यालय | विद्यालयों की संख्या | | | 3 | |
|-------------------------|----------------------|--------|-----------|----------|----------------------|-----------------|----------|----------|------------|
| जिला | बंगला | हिंदी | संस्कृत | फारसी | औपचारिक अरबी | अरबी | अंग्रेजी | लड्कियां | घोग |
| मूशिदाबाद | 62 | ر ب | 24 | 17 | l | 77 | 000 | | 113 |
| बारभूम बदंवान | 407 $629 + 1$ (52) | ر د | 56 190 | 93 | ا <i>س</i> | 71 & | 7 E | 4 | 931 |
| दक्षिणो बिहार तिरहुत | (हिं _स) | 286 | 27 56 | 279 |] | 12 4 | - | | 605 374 |
| योग | 1,099 | 376 | 353 | 694 | 8 | 28 | ∞ | 9 | 2,567 |

सारणी II विद्यार्थी

| जिला | | | | विद्यार्थियों की संख्या | | | |
|--|-----|--|-----------------------------------|-----------------------------------|-----------------------|-----------------|--|
| | | बंगला और हिंदी | संस्कृत | फारसी और अरबी | अंग्रेजी | लङ्कियां | योग |
| मुशिदाबाद बीरभूम बदंवान दक्षिणी बिहार तिरहुत | | 1,080 6,383 13,190 3,090 507 | 153 393 1,358 437 214 | 109 490 971 1,486 598 | 26 73 120 23 | 28 11 175 | 1,396 7,350 15,814 5,036 1,319 |
| | योग | 24,250 | 2,555 | 3,654 | 242 | 214 | 30,915 |

इन आंकड़ों में गृह शिक्षा के केंद्रों को शामिल नहीं किया गया है और यदि केवल इन आंकड़ों पर ही निर्भर करना है तो यह स्पष्ट है कि बंगाल में एक लाख विद्यालय होने का समाचार केवल एक मिथक ही हो सकता है। सर फिलिप हार्टोंग ने यथार्थतः यही युक्ति पेश की और उन्होंने निम्नलिखित आंकड़े दिए:

| क्षेत्र | जन संख्या | वस्तुतः विद्यमान विद्यालयों की संख्या | प्रति 400 व्यक्तियों के लिए एक विद्यालय के आधार पर विद्यालयों की प्राक्काल्पनिक संख्या |
|---------------|-----------|---|--|
| मुर्शिदाबाद | 1,86,841 | 113 | 467 |
| बीरभूम | 12,67,067 | 544 | 3,168 |
| बर्दवान | 11,87,580 | 931 | 2,969 |
| दक्षिणी बिहार | 13,40,610 | 605 | 3,352 |
| तिरहुत | 16,97,700 | 374 | 4,244 |

('सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एजूकेशन' के पृष्ठ 83 से लिया गया)

| | | | | विद्याल | विद्यालयों की संख्या | TI | | |
|--|--|----------------------------------|--|-------------------------------|----------------------|---|--|--|
| | जनसं ख्या | नगरों और ग्रामों की संख्या | प्रारंभिक विद्यालय (फारसी विद्यालय सम्मिलित) | उच्च शिक्षा के विद्यालय | अन्य विद्यालय | गृह शिक्षा के गैर- सरकारी विद्यालय | योग | प्रति 400 व्यक्तियों के लिए एक विद्यालय के आधार पर प्राक्कात्पनिक विद्यालयों की संख्या |
| मुशिदाबाद नगर थाना दौलत बाजार ,, नारिलया ,, खुलना ,, भावरा | 1,24,804 62,037 46,416 1,16,425 81,480 65,812 | 183 267 288 803 402 | 59 34 79 85 6 | 26 38 7 | e 2 1 | 216 254 207 475 360 235 | 304 279 243 594 452 248 | 312 155 116 291 203 164 |
| योग | 4,96,974 | 1,943 | 268 | 08 | 5 | 1,747 | 2,120 | 1,241 |

| उन्नीसवी शताब्दी के आरंभ में भारत | में | में देशी | शिक्षा |
|-----------------------------------|-----|----------|--------|
|-----------------------------------|-----|----------|--------|

स्पष्ट है कि ऐडम यह अवश्य देख सके होंगे कि बंगाल में एक लाख विद्यालयों के अस्तित्व संबंधी उनके पूर्ववर्ती विवरण और इन आंकड़ों के बीच भारी विसंगति है। एकमात्र तरीका जिसके द्वारा उनके इस मौन के बारे में स्पष्टीकरण दिया जा सकता है, यह मान लेना है कि वह यह जानते थे कि गृह शिक्षा केंद्रों को इन आंकड़ों से निकाल दिया गया है और वह यह भी जानते थे कि यदि उन्हें समाविष्ट कर लिया गया होता तो उनका पूर्ववर्ती प्रतिवेदन सही होता । उदाहरण के लिए, उन्होंने उपर्युक्त जिलों में से प्रत्येक जिले के एक थाने में गृह शिक्षा केंद्रों के आंकड़े एकत्र किए थे और उनके आंकड़े उनके पूर्ववर्ती विवरण की पूर्णतया पुष्टि करते हैं।

इसी प्रकार, यदि हम उस जनसंख्या का सही अनुमान लगाना चाहते हैं जो शिक्षा पा रही थी तो हमें गृह शिक्षा पाने वाले बालकों की संख्या को ध्यान में रखना होगा। उन छ: थानों के संबंध में जहां गहन अध्ययन किया गया था ऐडम ने निम्नलिखित आंकड़े दिए हैं:

| क्षेत्र | जनसंख्या | विद्यालय शिक्षण पाने वाले बालकों की संख्या | गृह शिक्षा पाने वाले बालकों की संख्या | गृह और विद्यालय शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की कुल संख्या |
|-------------------|----------|--|--|--|
| 1 | 2 | 3 | 4 | 5 |
| मुशिदाबाद नगर | 1,24,804 | 959 | 300 | 1,259 |
| थाना दौलतबाजार | 62,037 | 305 | 326 | 631 |
| ,, नांग्लिया | 46,416 | 439 | 285 | 724 |
| ं,, खुलन <u>ा</u> | 1,16,425 | 2,243 | 676 | 2,919 |
| ,, जहानाबाद | 81,480 | 366 | 539 | 905 |
| " भावरा | 65,812 | 60 | 288 | 348 |
| योग | 4,96,974 | 4,372 | 2,414 | 6,786 |

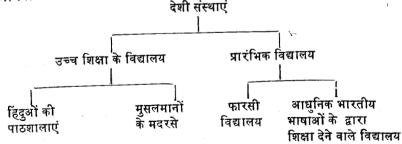
इन आंकड़ों से पता चलता है कि विद्यार्थियों का कुल जनसंख्या के साथ 1 और 73 का अनुपात था। यदि केवल पुरुष जनसंख्या को ही लिया जाए तो 1 और 36 का अनुपात होगा जो मूनरो द्वारा दिए गए अनुपात से थोड़ा ही कम है।

| | मुशिदाबाद नगर | थाना दौलत बाजार | थाना नांग्लिया | थाना खुलना | थाना जहानाबाद | थाना भावरा | पिछले छ: कालमों का योग |
|--|------------------|-----------------------|-------------------|---------------|------------------|---------------|------------------------------|
| प्रौढ़ जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की है और अध्यापन कार्य में लगे हुए हैं। | 33 | | 7 | 38 | 9 | 7 | 98 |
| प्रौढ़ जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की है और जो अध्यापन कार्य में नहीं लगे हैं। मौत निस्के जन्म पाल नहीं हह है | . 75 | 13 | 12 | 66 | 19 | 27 | 245 |
| अर जो केवल पढ़ने और लिखने के ज्ञान की तुलना में उच्चतर ज्ञान प्राप्त करके अध्यापन के कार्य में लगे हुए हैं। 4. प्रौढ़ जिन्हें न तो उच्च शिक्षा प्राप्त हुई है | 09 | 25 | 34 | 93 | 53 | . 9 | 271 |
| आर न हा व अध्यापन काथ म लग हुए ह परंतु जिन्हें केवल पढ़ने और लिखने के ज्ञान से उच्चतर ज्ञान प्राप्त है। 5. प्रौढ़ जो केवल पढ़ और लिख सकते हैं। | 4,767 | 555 614 | 352 593 | 2,424 2,304 | 992 | 425 303 | 9,515 6,275 |
| 6. प्रौढ़ जो सांकेतिक भाषा लिख पढ़ सकते हैं अथवा अपने हस्ताक्षर कर सकते हैं । | 715 | 595 | 620 | 2,350 | 1,004 | 265 | 5,519 |
| योग | 7,350 | 1,772 | 1,613 | 7,308 | 2,835 | 1,033 | 12,911 |
| िट्रपणी : यह सारणी आर॰ वी॰ परुलेकर द्वारा रिचत 'लिटरेसी आफ इंडिया इन प्रि-किटिश डेखे | । बत'लिटरेसीअ | फि इंडिया इन | प्र-िष्टिम डेब | | | | |

अब हम ऐडम द्वारा दिए गए साक्षरता के आंकड़ों को लेते हैं (पृष्ठ 23 पर सारणी देखिए) । वे 'भारत में साक्षरता की प्रथम व्यवस्थित जनगणना' के समकक्ष हैं। परंतु इन आंकड़ों के एक पहलू पर सर फिलिप जैसे विद्वानों को आपत्ति है। ऐडम ने अपने प्रौढ़ साक्षरों को छः श्रेणियों में विभाजित किया था और छठी श्रेणी में उन्होंने उन सभी व्यक्तियों की गणना की जो केवल 'सांकेतिक भाषा वाचन अथवा अपने हस्ताक्षर कर सकते थे। जनगणना कानून में साक्षरता की परिभाषा है 'पत्र पढ़ने और लिखने की योग्यता।' अतः इस दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त व्यक्तियों को साक्षर नहीं माना जा सकता है। इसलिए ऐडम के साक्षरता संबंधी आंकड़ों की तुलना करते समय सर फिलिप ने उन 5,519 व्यक्तियों को आंकड़ों से निकाल दिया है जो केवल 'सांकेतिक भाषावाचन अथवा अपने हस्ताक्षर कर सकते थे।' परंतु अन्य अध्येताओं को इस मत पर आपत्ति है। वह और उनसे सहमत अन्य व्यक्ति दृढ़तापूर्वक यह कह सकते हैं कि एक युग से दूसरे युग में उपलब्धि के मानदंडों में परिवर्तन हो जाना अनिवार्य है अतः एक शताब्दी .. बाद जिन मानदंडों को स्वीकार किया गया उन्हीं मानदंडों के अनुसार ऐडम के युग में कोई निर्णय करना गलत होगा। ऐडम के समय में न तो कोई समाचारपत्न थे, न मुद्रित पूस्तकें थीं और न डाकघर थे अत: साक्षरता संबंधी आंकड़ों की उत्तरकाल के आंकड़ों से ् तूलना करते समय हमें उन सभी व्यक्तियों को अवश्य शामिल करना चाहिए जिन्हें स्वयं ऐडम साक्षर मानते थे । अध्याय आठ में इस विषय पर और विस्तार से चर्चा की जाएगी। तो भी, यहां पर यह बता देना पर्याप्त होगा कि इन दोनों में से हम जो भी दृष्टिकोण स्वीकार करें इन आंकड़ों के मुख्य उपयोग अर्थात ब्रिटिश भारत के 1921 के साक्षरता संबंधी आंकड़ों के साथ इनकी तुलना पर उसका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में देशी शिक्षा पद्धित का विस्तार और स्वरूप: पिछले पृष्ठों में हमने देशी शिक्षा पद्धित विषयक सूचना के मुख्य स्रोतों पर केवल विहंगम दृष्टि डाली है। अब इस चर्चा को हम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में विद्यमान देशी शिक्षा के स्वरूप और विस्तार का संक्षिप्त वर्णन करके समाप्त कर देंगे।

(क) संस्थाओं की श्रेणियां: इस काल की देशी शिक्षा संस्थाओं को चार मुख्य श्रेणियों में निम्नलिखित ढंग से विभाजित किया गया था:



🚶 सर फिलिप हार्टोग : सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन, एजूकेशन, पृ० 84 ।

(ख) उच्च शिक्षा के विद्यालय: यद्यपि हिंदुओं और मुसलमानों के उच्च शिक्षा के विद्यालय अलग-अलग थे, तो भी इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में कई महत्वपूर्ण समान विशेषताएं पाई जाती थीं । उदाहरण के लिए, इन दोनों ही प्रकार की संस्थाओं को शासकों, सरदारों और समृद्ध अथवा धार्मिक नागरिकों से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी । दोनों में ही विद्वान अध्यापक कार्य करते थे जिनमें से कुछ विख्यात लेखक होते थे । परंतु इनमें से अधिकांश अध्यापकों को बहुत कम पारिश्रमिक मिलता था। दोनों ही प्रकार की संस्थाओं में शिक्षा अधिकांशत: नि:शुल्क दी जाती थी। दोनों का ही स्वरूप मध्यकालीन था, तथा दोनों में ही शिक्षा माध्यम के रूप में शास्त्रीय भाषा (एक में संस्कृत और दूसरे में अरबी या फारसी) का प्रयोग किया जाता था और शिक्षण परंपरागत आधारों पर होता था। दोनों में ही अध्यापकों को निम्नलिखित तरीकों में से एक या अनेक तरीकों से पारिश्रमिक मिलता था: शासकों द्वारा भूमि के अनुदान, विद्यार्थियों और जनता द्वारा यदाकदा स्वेच्छा से दिए जाने वाले उपहार, धनी नागरिकों द्वारा दिए गए भत्ते और भोजन वस्त्र अथवा अन्य वस्तुओं के रूप में भुगतान । अंतिम बात यह है कि दोनों ही प्रकार के विद्यालयों में कुछ ऐसे अध्यापक होते थे जो न केवल नि: शुल्क शिक्षा देते थे वरन अपने शिष्यों के लिए भोजन और आवास की व्यवस्था भी करते थे।

सामान्यत:, विद्यालयों के अपने निजी विशेष भवन नहीं होते थे। जहां कहीं ये भवन होते भी थे, वे या तो स्वयं अध्यापकों द्वारा बनवाए गए होते थे अथवा संरक्षकों और मित्रों के खर्च से या लोगों से चंदा लेकर बनवाए गए होते थे। तथापि अधिकांशत:, विद्यालय स्थानीय मंदिर में या मस्जिद में चलते थे। किसी स्थानीय विशिष्टजन, संरक्षक अथवा स्वयं अध्यापक के मकान में भी विद्यालय का चलना एक सामान्य बात थी। विद्यालयों में विद्यार्थी काफी छोटी आयु में प्रवेश करते थे और जब तक वे चाहते थे तब तक अध्ययन करते थे। बहुधा यह अवधि बारह वर्ष या उससे भी अधिक होती थी। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इन विद्यालयों के दिन प्रतिदिन के कार्य से राज्य को कोई सरोकार नहीं था। इन विद्यालयों को विद्वान व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से चलाते थे और उनके इस कार्य को करने का कारण आधिक कम और धार्मिक अधिक था।

हिंदुओं के उच्च शिक्षा के विद्यालयों का संचालन प्रायः अनन्य रूप से ब्राह्मण ही करते थे और उनमें पढ़ने वाले अधिकांश विद्यार्थी भी ब्राह्मण ही होते थे। उनमें न तो महिलाएं पढ़ती थीं और न उन अनेक समुदायों के व्यक्ति ही पढ़ते थे जिन्हें धार्मिक विद्या का अध्ययन करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। दूसरी ओर, फारसी और अरबी विद्यालयों में यद्यपि सामान्यतः मुसलमान अध्यापक होते थे, तथापि फारसी पढ़ाने वाले हिंदू अध्यापकों की भी कमी नहीं थी। इससे भी बढ़कर बात यह है कि अनेक हिंदू मुसलमानों द्वारा संचालित फारसी विद्यालयों में पढ़ते थे क्योंकि उस समय फारसी अदालती भाषा थी। बंगाल के कुछ जिलों में तो ऐडम को यह तक पता चला कि फारसी विद्यालयों में अधिकांश विद्यार्थी हिंदू थे।

(ग) देशी प्रारंभिक विद्यालय: इस काल के उच्च शिक्षा के विद्यालय आधुनिक महा-

विद्यालयों से मेल खाते थे। वे उस समय तक ज्ञात सर्वोच्च शिक्षा देते थे जिसका अर्थ, उस काल में अधिकांशत: धार्मिक शिक्षा होता था। उनका मुख्य उद्देश्य मौलवी और पंडित तैयार करना था और लोग मुख्यत: धार्मिक कारणों से ही उनकी सहायता करते थे। यद्यपि लोग इन विद्यालयों के प्रति भारी श्रद्धा रखते थे तथापि अपने अनन्य स्वरूप और रूढ़िवादी वातावरण और व्यवहारातीत आदर्शों एवं शिक्षण प्रणालियों के कारण वे वास्तव में शिक्षा पद्धति के दुर्वल और कम उपयोगी अंग थे।

देशी प्रारंभिक विद्यालय, जो कि सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार का मुख्य अभिकरण होता था, एक मामूली किंतु अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी संस्था थी। इसमें शिक्षण व्याव-हारिक ढंग का होता था और अधिकाशत: पढ़ने, लिखने और गणित तक ही सीमित रहता था। यह विद्यालय पुरोहित वर्ग की आवश्यकताओं को नहीं वरन छोटे जमींदार, बनिया और संपन्न किसान की सांसारिक आवश्यकताओं को पूरा करता था। इसके प्रति कोई धार्मिक श्रद्धा का भाव नहीं था और परिणामस्वरूप इसके लिए राज्य अथवा जनता से कोई धर्मदान भी प्राप्त नहीं होता था। इसके अध्यापक साधारण उपलब्धि वाले व्यक्ति होते थे और बहुधा उनका ज्ञान, जितना वे विद्यालयों में पढ़ाते थे उससे अधिक नहीं होता था। उनका पारिश्रमिक उच्च शिक्षा देने वाले विद्यालयों में मिलने वाले पारिश्रमिक से बहुत कम होता था और ऐसे मामखों को छोड़कर, जिनमें अध्यापक का भरण पोषण कोई धनी व्यक्ति करता था, यह पारिश्रमिक विद्यालय में पढ़ने वाले बालकों के माता पिता से वसूल की गई अल्प धनराशि अथवा मिलने वाला उपहार होता था। कभी कभी इन विद्यालयों के कुछ अध्यापक अपने भरण पोषण के लिए कुछ अन्य व्यवसाय अथवा व्यापार करते थे और विद्यालय का संचालन केवल एक अतिरिक्त व्यव-साय के रूप में करते थे। एक उल्लेखनीय विशेषता जो उच्च शिक्षा के विद्यालयों में नहीं थी यह है कि यद्यपि इन विद्यालयों में लड़कियां तथा अनेक अन्य समुदायों के लोग भी पढते थे, तथापि इनमें अधिक संख्या उच्च वर्गों के बालकों की ही होती थी।

इन देशी प्रारंभिक विद्यालयों की कुछ बातें बहुत रोचक हैं। उदाहरण के लिए, उनका साज सामान बहुत ही सादा होता था। उनके अपने भवन नहीं होते थे। कभी कभी वे विद्यालय के अध्यापक अथवा संरक्षक के मकान में चलाए जाते थे। परंतु बहुधा ये विद्यालय स्थानीय मंदिर में तथा सामान्यतः पेड़ों के नीचे चलाए जाते थे। उनमें मुद्रित पुस्तकें नहीं होती थीं, और विद्याधियों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली स्लेटें या पेंसिलें ऐसी होती थीं जिनका इलाके में ही आसानी से निर्माण किया जा सकता था। शिक्षण के समय और कार्य दिवसों का स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार अच्छी तरह समायोजन कर लिया जाता था। विद्यालयों का आकार सामान्यतः छोटा होता था। उनमें एक से लेकर पंद्रह विद्यार्थी तक होते थे। अतः उनमें कोई कक्षा अथवा दाखिले का कोई नियमित समय नहीं था। कोई छात्र किसी भी समय विद्यालय में भर्ती हो जाता था और क्वयं एक कक्षा बन जाता था। अध्ययन की गति भी उसकी अपनी होती थी और वह जितना ज्ञान प्राप्त करना चाहता था अथवा विद्यालय को उसे जितनी शिक्षा देनी होती थी उतनी शिक्षा अजित करने के बाद वह विद्यालय छोड़ देता था। बड़े विद्यालयों में एक

ऐसी पद्धित प्रचलित थी जिसमें किनष्ठ छात्रों को पढ़ाने के लिए वरिष्ठ छात्रों को नियुक्त किया जाता था। इस पद्धित ने मद्रास के प्रदेश धर्माधिकारी डा० बेल का ध्यान अपनी ओर खींचा था और उन्होंने इसे निर्धन व्यक्तियों को शिक्षा देने की सस्ती और कुशल प्रणाली के रूप में इंग्लैंड में प्रारंभ किया था। बाद में इंग्लैंड में यह पद्धित मानीटर पद्धित अथवा मद्रास पद्धित के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसकी पाठ्यचर्या बहुत ही सीमित थी और उसमें पढ़ना, लिखना, अंकगणित (लिखित और मौखिक दोनों) और हिसाब किताब शामिल थे। आज फीस से हमारा जो आशय होता है इस तरह की इनमें कोई भी फीस नहीं ली जाती थी, परंतु अपने बालक को विद्यालय में भेजने वाले प्रत्येक माता पिता अध्यापक को कुछ भुगतान करते थे। यह भुगतान नकदी या माल के रूप में होता था। भुगतान की राशि माता पिता की क्षमता पर निर्भर करती थी और यह भुगतान वे अपनी सुविधानुसार किसी समय और किसी भी रूप में कर सकते थे।

देशी प्रारंभिक विद्यालय पद्धित के मुख्य गुण थे उसके विद्यालयों की स्थानीय पर्यान्वरण के अनुसार अपना रूपांतर कर लेने की क्षमता और विभिन्न प्रकार की आर्थिक परिस्थितियों अथवा राजनीतिक उलटफेर के बीच शताब्दियों तक कायम रहकर अजित की गई उनकी कार्य शक्ति तथा लोकप्रियता। किंतु उसमें मुख्य दोष यह था कि उसके विद्यालयों में लड़ कियों और हरिजन विद्याथियों को प्रवेश नहीं मिलता था। इसके अतिरिक्त इन विद्यालयों में निम्नलिखित अन्य दोष भी थे (यद्यपि इस प्रकार के निर्णय में यह दोष रहता है कि किसी पूर्वकाल के बारे में शिक्षा के आधुनिक संप्रत्ययों को आरोपित कर दिया जाता है)। उनके अध्यापकों का प्रशिक्षित अथवा समुचित रूप से शिक्षित न होना, उनकी संकीण और सीमिति पाठ्यचर्या तथा दंड देने के लिए अपनाए गए निर्दय तरीके।

(घ) सार्वजितक शिक्षा का विस्तार: ऐसा प्रतीत होता है कि देश के सभी भागों में विद्यालय, विशेषकर गृह शिक्षा केंद्र प्रचुर संख्या में विद्यमान थे और अत्यंत छोटे ग्रामों में भी, जहां वर्षों तक ब्रिटिश प्रशासन को एक भी प्राथमिक विद्यालय चलाना कठिन हो गया था, शिक्षण का कोई न कोई छोटा मोटा साधन अवश्य विद्यमान था। प्रौढ़ पुरुषों में 8 से 12 प्रतिशत तक और संपूर्ण जनसंख्या में 4 से 6 प्रतिशत तक लोग साक्षर थे कुछ ऊंची जातियों में सभी प्रौढ़ पुरुष साक्षर थे, जब कि सभी जातियों की स्त्रियां (बहुत कम अपवादों को छोड़कर)और अनेक नीची जातियों की संपूर्ण जनता पूर्णतया निरक्षर थी। (ङ) देशी शिक्षा की ह्रासोन्मुखी स्थित: मूल ग्रंथों के अध्ययन से एक और बात का पता चलता है वह यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में विद्यमान अराजकता ग्रथवा ब्रिटिश शासन के अधीन जनता की बढ़ती हुई निर्धनता के कारण देशी शिक्षा पद्धित का तेजी से ह्रास हो रहा था।²

^{1.} कलकत्ता रिव्यू, संख्या IV, पृ० 334।

^{2.} नुरुत्ला एंड नाइक : हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इंडिया ड्यूरिंग दि बिटिश पीरियड, पृ० 42-43

देशी शिक्षा पद्धति का उपयुक्त विस्तार और सुधार करके उसकी एक राष्ट्रीय शिक्षा पढित में विकसित करने की संभावनाएं : देशी शिक्षा पद्धति के स्वरूप और विस्तार संबंधी पूर्ववर्ती चर्चा के उपरांत अब हम इस अंतिम विषय पर आते हैं कि क्या इस पद्धति में वे संभावनाएं विद्यमान थीं जिनसे यह पद्धति उपयुक्त सुधार और विस्तार किए जाने पर राष्ट्रीय पद्धति के रूप में विकसित हो सकती थी । हमारी राय में उसमें निश्चित रूप से ये संभावनाएं थीं। हम इस निष्कर्ष पर दो सामान्य कारणों से पहुंचे हैं। पहला कारण यह है कि शैक्षिक दृष्टि से इस समय उन्नत अधिकांश देशों में उनकी राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का निर्माण परंपरागत पद्धति के आधार पर ही उसके अनेक एवं स्वीकृत दोषों के बावजद हआ था। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड में सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार पहले से ही विद्यमान दोषयुक्त दानाश्रित विद्यालयों का क्रमिक विस्तार और सुधार करके किया गया था। सर माइकेल सैंडलर जैसे महान अधिकृत विद्वान ने इसे दूरदर्शितापूर्ण कदम माना है । उनका कहना है कि 'यद्यपि नियमत: अध्यापक प्रशिक्षित नहीं होते थे और वे विद्यार्थियों को ज्ञान प्रदान करने में प्राय: असमर्थ रहते थे, भवन सामान्यत: विद्यालय के उपयुक्त नहीं होते थे, पुस्तकें भी संख्या में कम तथा घटिया किस्म की होती थीं और विद्यार्थियों की उपस्थिति बहुत अनियमित रहती थी तथापि पहला कदम न केवल उठा लिया गया था वरन बालकों को भी विद्यालय जीवन का आदी बना लिया गया था।'1 जो लोग सत्ता में थे यदि उन्होंने देशी विद्यालयों के अस्तित्व को कायम रखने तथा इनका विस्तार और सुधार करने में सहायता की होती तो इंग्लैंड में शिक्षा के लिए दानाश्रित विद्यालयों ने जो कार्य किया था, देशी विद्यालय भी संपूर्ण भारत में शिक्षा के लिए अवश्य ही वैसा कार्य कर सकते थे।

दूसरी बात यह है कि हमारे इस मत का समर्थन अनेक ब्रिटिश पदाधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा व्यक्त किए गए विचारों से भी होता है। उदाहरण के लिए, ऐडम को पूर्ण विश्वास था कि भारत में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का निर्माण देशी विद्यालयों की नींव पर किया जा सकता है। उन्होंने कहा था:

ऐसी संस्थाएं चाहे जिस सीमा तक और चाहे जिस स्थिति में विद्यमान हों, चाहे वे किसी भी प्रकार की उन्नित अथवा अवनित न कर रही हों, उन्नित कर रही हों या अवनित कर रही हों, वे ही ऐसी एकमात्र यथार्थ और निश्चित नींव हैं जिन्हें आधार बनाकर सामान्य अथवा राष्ट्रीय शिक्षा की किसी भी योजना का निर्माण किया जा सकता है। हम इन नींवों को और गहरा तथा विस्तृत कर सकते हैं, ऊपरी तामीर में सुधार कर सकते हैं और उसे ज्यादा बृहद एवं सुंदर बना सकते हैं परंतु वे नीवें यही हैं जिन पर हमें भवन निर्माण करना चाहिए। सभी व्यक्ति, विशेषकर अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित व्यक्ति, संरचनाओं को भी सार वस्तु के बराबर ही महत्व देते हैं। चूंकि संरचनाएं केवल रूढ़िगत होती हैं अतः सुधार कार्य में यह

वांछनीय है कि हम ऐसे विरोध से बचें जिसका मूल सिद्धांत प्राचीन संरचनाओं का विनाश करना हो और इन संरचनाओं का सतत प्रयोग किए जाने के पक्ष में जो पुर्वाग्रह हों उनसे काम लें। इसके अतिरिक्त एक संभावना यह भी है कि यदि प्रारंभिक रूप से अंगीकार किए जाने के समय नहीं, तो दीर्घकाल तक अपने लगातार प्रयोग के कारण ये संरचनाएं उन लोगों के शिष्टाचार, आदतों और सामान्य चरित्र के लिए उपयुक्त बन गई हों जिन्हें हम लाभ पहुंचाना चाहते हैं और अन्य कोई भी संरचनाएं, जिन्हें हम स्थापित करना चाहते हैं, वास्तव में उनकी तुलना में कम उपयुक्त हों। अतः सभी शिक्षा सुधार योजनाओं को सफल और स्थाई बनाने के लिए, उनका आधार देश की उन वर्तमान संस्थाओं को बनाया जाना चाहिए जो पूरातन काल से चली आ रही हैं और जो लोगों के सामान्य विचारों के अनुरूप हैं तथा उनके हृदयों में सम्मान एवं श्रद्धा उत्पन्न कर रही हैं। उनके लिए सफलतापूर्वक श्रम करने के लिए, हमें उनके साथ मिलकर श्रम करना चाहिए और उनके साथ सफलतापूर्वंक श्रम करने के लिए हमें उनसे हमारे साथ मिलकर इच्छापूर्वक और बुद्धिमत्ता के साथ श्रम कराना चाहिए। संक्षेप में, हम स्वयं उन्हें ही उनके अपने सुधार का साधन बनाएं। यह कार्य अपना और अपने सुधारों का उनके और उनकी संस्थाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करने के अतिरिक्त और किस प्रकार किया जा सकता है।1

अतः ऐडम ने सिफारिश की थी कि :

. उच्चतम हों अथवा निम्नतम, सभी प्रकार की और सभी श्रेणियों की विद्यमान देशी संस्थाएं ही जनता के चित्र को ऊंचा उठाने और सुधारने का सबसे उपयुक्त साधन हैं और सहज मन को वह प्रोत्साहन देने के लिए, जिसकी उसे शिक्षा के विषय में आवश्यकता है, और स्वयं देशवासियों से उनके सुधार के लिए प्रयास कराने के लिए, जिसके बिना अन्य सभी साधन निष्फल रहेंगे इन संस्थाओं का उपयोग किया जाना अत्यंत सरल, सुरक्षित, लोकप्रिय, सस्ता एवं अधिक फलदायक उपाय होगा…²

इन सामान्य उक्तियों के उपरांत ऐडम ने देशी विद्यालयों के सुधार की अपनी योजना के प्रस्तावित कार्यकरण का निम्नलिखित सात चरणों में वर्णन किया है:

- (क) पहला कदम एक या अधिक ऐसे जिलों को चुनना था, जिनमें प्रयोग के तौर पर योजना का परीक्षण किया जा सके।
- (ख) दूसरा कदम चुने हुए जिले अथवा जिलों का पूरी तरह शैक्षिक सर्वेक्षण करना था। यह सर्वेक्षण न्यूनाधिक उन्हीं आधारों पर होता जिन आधारों पर ऐडम ने अपनी जांच की थी।

^{1.} ऐडम रिपोर्ट्स, कलकत्ता संस्करण, पृ० Lviii-ix

^{2.} वही पृ० 349-50

- (ग) तीसरा कदम अध्यापकों और विद्यार्थियों के उपयोग के लिए आधुनिक भारतीय भाषाओं में पुस्तकों का एक सेट तैयार करना था।
- (घ) चौथा कदम प्रत्येक जिले में एक परीक्षक की नियुक्ति करना था। यह परी-क्षक उस जिले में योजना का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होता। उसका काम अपने क्षेत्र में सर्वेक्षण करना, अध्यापकों से भेंट करना, पुस्तकों की व्याख्या करना, परीक्षाएं चलाना, पारितोषिक देना और सामान्यतः योजना को सफलंतापूर्वक चलाने के लिए उत्तरदाई रहना था।
- (ङ) पांचवां कदम अध्यापकों को पुस्तकों वितरित करना और उनकी परीक्षाएं लेकर उन्हें उन पुस्तकों का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित करना तथा ऐसे अध्यापकों को पारितोषिक देना था जो उन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए होते। ऐडम ने यह भी सिफारिश की थी कि नार्मल स्कूल स्थापित किए जाएं जिनमें लगभग चार वर्ष तक प्रति वर्ष एक से तीन महीने तक के लिए देशी विद्यालयों के अध्यापकों को प्रोत्साहित किया जा सके जिससे वे अध्यापक अपने विद्याथियों को असुविधा पहुंचाए बिना ही अपनी अईताएं बढा सकें।
- (च) छठा कदम अध्यापकों को इस बात के लिए प्रोत्साहन देना था कि वे अपने छात्रों को इस नए अर्जित ज्ञान की शिक्षा दें। ऐसा उनके लिए परीक्षाओं का आयोजन करके और पारितोषिक देकर किया जाना था।
- (छ) सातवां कदम ग्राम विद्यालयों के लिए भूमि का दान देना था तािक अध्यापकों को ग्रामों में बसने और ग्राम बालकों को शिक्षा देने के लिए प्रोत्साहन दिया जा सके। ऐडम ने कई स्रोत बताए थे जिनसे भूमि दान में दी जा सकती थी अथवा सरकार प्राप्त कर सकती थी।

देशी संस्थाओं के विकास की अन्य योजनाएं मुनरो, ऐलिंफिस्टन, थामसन, लैंटनर जैसे अनेक प्रशासकों और शिक्षाविदों ने प्रस्तावित अथवा तैयार की थीं और उनका 1854 के आज्ञापत अथवा भारतीय शिक्षा आयोग, 1882-83 के प्रतिवेदन जैसे शिक्षा नीति संबंधी अनेक दस्तावेजों में विस्तार से उल्लेख किया गया था। इन पर यथा समय विचार किया जाएगा। परंतु अधिकांशतः इन प्रस्थापनाओं पर ध्यान नहीं दिया गया। शिक्षा विभाग के कर्मचारियों ने देशी पद्धित को काल के गर्त में समा जाने दिया और अपने समय और शक्ति को आरंभ से ही एक नई शिक्षा पद्धित का निर्माण करने में लगाया।

भारत में आधुनिक शिक्षा पद्धित का निर्माण देशी पद्धित की नींव पर किया जाना चाहिए था और हमारे शिक्षा प्रशासकों को देशी शिक्षा संस्थाओं को सुधारने तथा उन्हें आधुनिक शिक्षा पद्धित में समाविष्ट करने की दिशा में प्रयास करने चाहिए थे। परंतु ऐसा कभी नहीं किया गया। दूसरी ओर, उच्च शिक्षा के विद्यालयों को, जो देशी शिक्षा का एक कमजोर पहलू थे, प्रोत्साहन देने के लिए कुछ प्रयास किए गए परंतु ये प्रयास भी जल्दी ही छोड़ दिए गए। प्रारंभिक विद्यालयों के विशाल तंत्र पर सरकार ने कभी भी अपेक्षित मात्रा में ध्यान नहीं दिया। ऐडम, मुनरो और थामसन जैसे विचारकों के प्रबोधनों, 1854 के आज्ञापत्र के निदेशों और भारतीय शिक्षा आयोग की जोरदार सिफा-रिशों के बावजूद देशी प्रारंभिक विद्यालयों को या तो अविवेकपूर्ण ढंग से सुधार के प्रयास करके कालग्रस्त हो जाने दिया गया या जान-बूझकर उन्हें प्रतियोगिता द्वारा नष्ट कर दिया गया, अथवा बिल्कुल उपेक्षा करके उन्हें अपने आप समाप्त हो जाने दिया गया।

इस घटना के विनाशकारी परिणाम हुए हैं। यह सच है कि भारत में एक नई शिक्षा पद्धित को स्थापित करने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों और बाद में शिक्षा विभागों ने प्रयास किए थे। परंतु अनेक कारणों से यह प्रिक्रया धीमी रही और देशी विद्यालयों की क्षिति को पूरा नहीं कर सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1921 में भारत की शिक्षक स्थिति 1821 की स्थिति से अधिक अच्छी नहीं थी। इस बीच पूर्व और पश्चिम के अन्य राष्ट्रों ने, जिनकी शैक्षिक प्रगति 1821 में भारत के बराबर थी अथवा उससे कम थी, इतनी तेजी से प्रगति की कि शीघ्र ही भारत राष्ट्रमंडली में अपना उच्च स्थान खो बैठा और शैक्षिक दृष्टि से वह संसार का एक अत्यंत पिछडा देश बन गया।

मानीटर पद्धति: भारत की देशी शिक्षा पद्धति की इस चर्चा को समाप्त करने से पूर्व, हम गर्व के साथ यह बताना चाहेंगे कि इंग्लैंड के लिए मानीटर पद्धति की योजना भारत के देशी विद्यालयों की देन थी। इतिहासकार केवल इंग्लैंड द्वारा भारतीय शिक्षा को दी गई देन की बात कहते हैं और वे सामान्यत: उस महान देन की उपेक्षा कर देते हैं जो स्वयं इंग्लैंड के निर्धन वर्गों के बीच किए गए शिक्षा प्रसार कार्य को भारत ने दी थी। मद्रास के प्रदेश धर्माधिकारी डा० बेल प्रथम अंग्रेज थे जिन्होंने मानीटरों की सहा-यता से शिक्षा देने की भारतीय पद्धति के महत्व को समझा। यह पद्धति देशी विद्यालयों में व्यापक रूप से विद्यमान थी। डा० बेल इस बात को समझ गए थे कि इस पद्धति का मुख्य लाभ यह है कि अध्यापक एक ही समय में बहुत अधिक विद्यार्थियों की देखरेख कर सकता है जिससे शिक्षा का प्रसार बहत कम धन खर्च करके किया जास कता है। अत: उन्होंने 'एन एक्सपैरीमेंट इन एज्केशन मेड ऐट दि मेल एसाइलम ऐट मद्रास, सर्जिस्टिंग ए सिस्टम बाई व्हिच ए स्कूल आर ए फैमिली मे टीच इटसैल्फ अंडर दि सुपरिटेंडेंस आफ दि मास्टर आर पेरैंट (1798)' शीर्षक पुस्तक में इंग्लैंड में इस पद्धति के अपनाए जाने का समर्थन किया था। इस पुस्तक ने लोगों का ध्यान अपनी ओर बहुत अधिक खींचा और अंतत: इंग्लैंड में भारतीय पद्धति को प्राय: सार्वभौमिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। यह पद्धति जिसे बहुविध रूप से मद्रास पद्धति या मानीटर पद्धति कहा जाता है वह मुख्य प्रणाली थी जिसके द्वारा इंग्लैंड ने 1801 और 1845 के बीच बहुत कम धन खर्च करके प्राथमिक शिक्षा का विस्तार किया था। यह विधाता का अदृष्ट विधान है कि भारत के देशी विद्यालयों ने इंग्लैंड में शिक्षा के प्रसार में तो इस प्रकार योगदान दिया परंतु स्वयं भारत में सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार करने में वे किसी काम न आ सके।

2

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार (1600-1813)

ईस्ट इंडिया कंपनी के धर्मांतरण तथा शिक्षा संबंधी क्रियाकलाप (1600-1765) : इस कालावधि में ईस्ट इंडिया कंपनी मख्य रूप से एक वाणिज्यिक संस्था रही थी अत: यह आशा करना उचित नहीं है कि उसने भारतवासियों की शिक्षा के लिए कोई कदम उठाए होंगे। परंतु एन ० एन ० ला का यह कहना है कि इस आरंभिक काल में भी कंपनी अपने अधिकृत प्रदेशों में कुछ घर्मांतरण तथा शिक्षा संबंधी कियाकलापों को प्रोत्साहन देने के काम में लगी हुई थी। यहां तक कि भारत के देशवासियों के बीच शुभ संदेश का प्रचार करने के लिए भारतवासियों की भर्ती करने और जिन प्रयोजनों के लिए इन मिशनरियों को भर्ती किया जाए उन प्रयोजनों को प्रभावी रूप से पूरा करने में उन्हें समर्थ बनाने वाली शिक्षा सरकारी खर्च पर देने के लिए 1614 में ही कदम उठा लिए गए थे। इस बात् का भी उल्लेख मिलता है कि एक भारतीय नवयुवक को, जिसका किंग जेम्स I ने बपतिस्मा देते समय पीटर नाम रखा था, ईसाई मत की शिक्षा देने के लिए इंग्लैंड ले जाया गया था; यह ज्ञात नहीं है कि बाद में उसने क्या काम किया। 2 1659 में निदेशक मंडल ने स्पष्ट रूप से यह बात कही थी कि उसकी उत्कट इच्छा है कि भारत की जनता के बीच सभी संभव साधनों से ईसाई मत का प्रचार किया जाए और उसने मिशनरियों को कंपनी के जहाजों पर पोतारोहण करने की इजाजत दे दी थी। 3 इस धार्मिक उत्साह को समकालीन इंग्लैंड में समर्थन प्राप्त हुआ। इंग्लैंड में इस समय ईसाई समाज में फिर से धार्मिक सरगिमयां चल रही थीं। अतः जब 1698 में कंपनी के चार्टर का नवीकरण हुआ तो उसमें पालियामेंट ने प्रसिद्ध 'मिशनरी खंड जोड़ दिया। इस खंड में कंपनी को यह निदेश दिया गया था कि वह भारत में अपने कारखानों में पादरी रखें और 500

टन या इससे अधिक भार वाले प्रत्येक जहाज में एक धर्माधिकारी ले जाया जाए। पादिरयों के लिए पुर्तगाली भाषा सीखना आवश्यक था क्योंकि उस समय कारखानों के छोटे कर्मचारी आमतौर से पुर्तगाली भाषा समझ लेते थे। इन पादिरयों से यह भी अपेक्षा की जाती थी कि वे जिस क्षेत्र में उन्हें रहना होगा 'उस क्षेत्र की स्थानीय भाषा भी सीखें ताकि कंपनी अथवा उसके अभिकर्ताओं के कर्मचारी या सेवक बनने वाले हिंदुओं को प्रोटेस्टेंट धर्म की शिक्षा अधिक अच्छी तरह देने में समर्थ हो सकें। चार्टर में कंपनी को यह निदेश भी दिया गया था कि आवश्यकतानुसार वह अपनी सभी रक्षक सेनाओं और बड़े-बड़े कारखानों में विद्यालय चलाए। इस निदेश के प्रथम भाग का निहित अर्थ यह है कि कंपनी से यह आशा की गई थी कि वह यदि संपूर्ण जनता के बीच नहीं तो कम से कम कंपनी के समस्त हिंदू कर्मचारियों के बीच तो शुभ संदेश का प्रचार अवश्य करेगी।

प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्मांतरण के इन िक्रयाकलापों को भारत में कंपनी के शैक्षिक उद्यम का प्रारंभ माना जा सकता है। कुछ इतिहासकार समझते हैं कि ऐसा िक्या जा सकता है। परंतु भारतीयों की शिक्षा को और भारतीयों के ईसाई मत में धर्म परिवर्तन िकए जाने को एक ही चीज मानना गलत है। इस काल में मिशनिरयों और ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों का सामान्यतः यही विचार था। परंतु कोई भी शिक्षािवद इस विचार को कदािप स्वीकार नहीं करेगा। अतः यह मान लेना अधिक सही होगा िक कंपनी के धर्मांतरण संबंधी इन आरंभिक िक्याकलापों का भारतीय जनता की शिक्षा के साथ कोई संबंध नहीं था क्योंकि उन्होंने शिक्षा क्षेत्र में चलाए गए उस आधुनिक आंदोलन में कोई योगदान नहीं किया जो 1813 के चार्टर अधिनियम के साथ भारत में आरंभ हुआ था।

तब 1698 के चार्टर अधिनियम में दिए गए मिशनरी खंड का महत्व क्या है ? यह कहा जा सकता है कि इस खंड ने भारतीय लोगों की शिक्षा की नहीं वरन उन यूरोपीय लोगों और आंग्ल भारतीय बालकों की शिक्षा की नींव रखी थी जो कंपनी के अधिकृत क्षेत्रों में रहते थे। इस चार्टर के निदेशों के अनुसार तीनों प्रेसीडेंसी नगरों में धर्माधिकारी नियुक्त किए गए थे। इन धर्माधिकारियों ने ईसाई बालकों की शिक्षा और विशेषकर कंपनी के सैनिकों और उनकी भारतीय पित्नयों से उत्पन्न आंग्ल भारतीय बालकों के कल्याण और शिक्षा की देखभाल करना अपना पुनीत कर्तव्य समझा। ये बालक सामान्यतः उपेक्षित होते थे और धर्माधिकारी इस बात के लिए उत्सुक थे कि उन्हें ईसाई धर्म संघ में ले लिया जाए और उचित प्रकार से शिक्षित किया जाए। इस लक्ष्य को दृष्टिगत रखकर उन्होंने चंदा जमा किया और दानाश्रित विद्यालय स्थापित किए। इनका नाम इंग्लैंड के विद्यालयों के नाम पर रखा गया था। इस नाम से यह संकेत मिलता था कि इन

^{1.} एन० एन० ला : प्रोमोशन आफ लर्निंग इन इंडिया बाइ अलीं यूरोपियन सेटिलर्स, पृ० 7-8।

^{2.} वही, पृ० 7।

^{3,} डब्स्यू० एच० शार्प: सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, खंड I, पृ० 3।

^{1.} सर सी ॰ इल्बर्ट : गवर्नमेंट आफ इंडिया, पू॰ 29।

विद्यालयों को दान से चलाया जाता है और ये मुख्यत: निर्धन बालकों अथवा अनाथों के लिए हैं।

34

इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में भारत में चलने वाले सबसे महत्वपूर्ण दानाश्चित विद्यालय प्रारंभ हुए। उनके क्रियाकलाप के बारे में कुछ जानकारी एन० एन० ला द्वारा उनकी रोचक पुस्तक 'प्रमोशन आफ लर्निंग इन इंडिया बाई अर्ली यूरोपियन सैटिलर्स' में दिए गए विस्तृत विवरण से मिल सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 1698 के बाद अगले कुछ वर्षों तक कंपनी के धर्माधिकारियों ने चार्टर के उपबंधों का शब्दश: पालन किया था और विद्यालयों का संचालन पुर्तगाली भाषा में किया था जो कंपनी के कारखानों में उस समय संपर्क भाषा थी। परंतु उनका यह प्रयास कभी लोकप्रिय नहीं हुआ। उसे शीघ्र ही त्याग दिया गया और अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया गया। इस नए ढंग का सबसे पुराना दानाश्रित विद्यालय मद्रास का 'सेंट मेरीज चैरिटी स्कूल' था जिसे श्रद्धेय डब्ल्यू० स्टीवेंसन ने 1715 में स्थापित किया था। इसके लिए दान की व्यवस्था रिक्थों, दान और कंपनी से यदा कदा मिलने वाले अनुदानों द्वारा की जाती थी। 1719 में उपर्युक्त सिद्धांतों के आधार पर ही श्रद्धेय रिचर्ड काब ने बंबई में एक दानाश्रित विद्यालय स्थापित किया था। ऐसे ही एक अन्य दानाश्रित विद्यालय की स्थापना कलकत्ता के धर्माधिकारी बेनामी ने 1720 और 1731 के बीच की। इस बात का उल्लेख मिलता है कि इस विद्यालय के लिए 1739 में एक नया भवन बनवाया गया था। 1787 में मद्रास में एक महिला अनाथाश्रम खोला गया जिसका नाम गवर्नर की पत्नी लेडी कैंपबेल के नाम पर रखा गयो। लेडी कैंपबेल ने इसके लिए धन जमा करने में प्रमुख भाग लिया था। उसी वर्ष मद्रास में धर्माधिकारी श्रद्धेय डा० ऐंड्यूबेल ने पुरुषों के लिए एक अनाथाश्रम खोला। इस विद्यालय का बहुत ऐतिहासिक महत्व है क्योंकि इसी विद्यालय में डा० बेल ने मानीटर पद्धति का परीक्षण किया था जिसे बाद में उन्होंने इंग्लैंड में चालू किया।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने इन दानाश्रित विद्यालयों की विभिन्न प्रकार से सहायता की। उदाहरण के लिए, उसने इनके (क) रखरखाव के लिए आवर्ती अनुदान स्वीकृत किए; (ख) इनकी सहायता के लिए लाटरियों की अनुमित दी; (ग) भवनों के लिए अनावर्ती अनदान दिए अथवा स्थानों की व्यवस्था की; (घ) अपने अधिकारियों को धन संग्रह करने अथवा लेखाकारों या अन्य पदाधिकारियों के रूप में काम करने की छट दी; (ङ) यदा कदा विद्यालय भवनों की मरम्मत कराई; और (च) विद्यालयों की निधियों को अपेक्षाकृत ऊंची ब्याज दरों पर जमा के रूप में स्वीकार किया। परंतु जब ये सब बातें कही जा रही हैं, यह बात अवश्य स्वीकार की जानी चाहिए, कि इन विद्यालयों का रख-रखाव कंपनी द्वारा स्वीकृत अनुदानों की अपेक्षा चंदे और दान से ही अधिक किया जाता था।

1765 और 1813 के बीच कंपनी की शिक्षा नीति : 1765 के बाद जब कंपनी भारत में एक राजनीतिक शक्ति बन गई तो उसकी शिक्षा नीति भी बदल गई। अब तक कंपनी ने केवल यूरोपीय और आंग्ल-भारतीय बालकों की शिक्षा की ओर ही ध्यान दिया था। परंतु अब वह यह महसूस करने लगी कि उसे भारतीय जनता के लिए भी कुछ करना चाहिए। राजनीतिक रूप से वह उन हिंदू और मूसलमान शासकों की उत्तराधिकारिणी थी जिन्होंने शास्त्रीय भाषाओं की उच्च शिक्षा को निम्नलिखित ढंग से प्रोत्साहन दिया था: (क) मदरसों और पाठशालाओं की स्थापना करके, (ख) विद्वान पंडितों और मौलवियों को सम्मान चिह्न अथवा आर्थिक अनुदान देकर, अथवा (ग) उच्च धार्मिक अध्ययन के लिए शिक्षा संस्थाओं को दान देकर। अतः यह महसूस किया गया कि कंपनी को इन परंपराओं को अवश्य जारी रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कंपनी प्रभावशाली भारतवासियों के पुत्रों को सरकार के अधीन उच्च पदों पर कार्य करने के लिए शिक्षा देना चाहती थी ताकि इससे उच्च वर्गों का विश्वास प्राप्त कर लिया जाए और भारत में अपना शासन सुदृढ़ बनाया जा सके। अतः यह महसूस किया गया कि हिंदूओं और मुसलमानों के लिए कंपनी को उच्च शिक्षा के कुछ केंद्र स्थापित करने चाहिए। यह एक ऐसी इच्छा थी जिसके फलस्वरूप ऐसे विद्यालयों की स्थापना हुई जो दानाश्रित विद्यालयों से बिल्कूल भिन्न थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण विद्यालय कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज थे।

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व

कलकत्ता मदरसा की स्थापना वारेन हेस्टिंग्ज ने इसलिए की थी कि 'कलकत्ता के मुसलमानों को तुब्ट किया जाए ... भद्र मुसलमानों के पुत्रों को राज्य के उत्तरदायित्वपूर्ण और लाभकारी पदों के लिए अर्हतावान बनाया जाए और उन न्यायालयों के लिए, जिनमें पदों के रिक्त होने पर अर्हता का प्रमाणपत्र प्रस्तृत करने पर मदरसे के विद्यार्थियों को रखा जाना था, सक्षम अधिकारी तैयार किए जाएं। अारंभ के कुछ वर्षों में मदरसे की सहायता के लिए 29,000 रुपये की आय वाली जमीनें (मदरसा महल) दे दी गई। 1785 में इन जमीनों को सनद द्वारा मदरसे के प्रधान मुहम्मद मुईजुद्दीन और उनके उत्तराधिकारियों को दे दिया गया। परंतू लगातार अकुशलता और कुप्रबंध की शिकायतें होते रहने पर अंतत: संस्था पर नियंत्रण रखने के लिए एक यूरोपीय सचिव नियुक्त कर दिया गया और भूमि की जगह राजकोष से 30,000 रुपये का गारंटी प्रत्याभूत खर्च दिया जाने लगा।

बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना के भी राजनीतिक कारण वही थे जो कलकत्ता मदरसा की स्थापना के थे। कालेज का स्थापित किया जाना कंपनी के नए अजित क्षेत्रों की हिंदू जनता को तुष्ट करने का एक प्रयास था। इसकी संस्थापना 1791 में बनारस राज्य के रेजाडेंट जोनाथन डंकन ने की थी। उन्होंने इस परियोजना को आरंभ करने के निम्नलिखित कारण बताए थे:

ऐसी स्थापना से दो लाभ मिलते प्रतीत होते हैं। पहला लाभ ब्रिटिश ख्याति तथा राष्ट्र को पहुंच सकता है क्योंकि मूल निवासी हिंदुओं और उनकी व्यवस्थाओं की ओर उनके अपने देशी राजाओं की तूलना में अधिक ध्यान देकर हमारी सरकार को उनका प्रिय बना देने की प्रवृत्ति इसमें मौजूद है। इस संस्था से मिल सकने वाले

ए० हावेल : एज्केशन इन इंडिया, प० 1 ।

दूसरे प्रमुख लाभ की प्राप्ति ... हिंदू विधि के ज्ञान का परिरक्षण ग्रौर प्रसार करके तथा लोगों के लिए सही रूप में यथोचित, नियमित और समान न्याय की व्यवस्था करने में यूरोपीय न्यायाधीशों की सहायता करने के लिए हिंदू विधि के भावी विद्वानों और प्रतिपादकों की शिक्षण संस्था प्रमाणित करके ... मूल निवासियों पर पड़ने वाले इस संस्था के प्रभाव के फलस्वरूप होगी।

कालेज के लिए प्रथम वर्ष में 14,000 रुपये का अनुदान स्वीकृत किया गया और तत्पश्चात उसे बढ़ा कर 20,000 रुपये वार्षिक कर दिया गया। परंतु कालेज के साथ भी वहीं हुआ जैसा मदरसे के साथ हुआ था। पंडित इस कालेज का प्रबंध भली भांति नहीं करते थे जिसके परिणामस्वरूप उसका संचालन करने के लिए एक यूरोपीय अधीक्षक नियुक्त कर दिया गया।

कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज से ही शिक्षा नीति संबंधी प्राच्यवादी विचारधारा की शुरुआत हुई थी। इस विचारधारा के अनुयायियों का विश्वास था कि कंपनी को मिशनरी उद्यम और धर्मांतरण के कार्य का किसी भी प्रकार से समर्थन नहीं करना चाहिए और भारतीय जनता को पाइचात्य ज्ञान सिखाने के लिए कोई अविचारित प्रयास नहीं करने चाहिए। उनके अनुसार कंपनी का एकमात्र कर्तव्य हिंदू और मूसलमान शासकों के पदिचित्नों पर चलना और परंपरागत परिपाटी पर संस्कृत और अरबी की प्राचीन उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। उनका यह भी विश्वास था कि हिंदुओं और मुसलमानों को दाय में मिली शिक्षा की प्राचीन पद्धति उनके सभी कामों के लिए काफी अच्छी है। स्पष्ट है कि यह विचारधारा शिक्षा प्रधान न होकर राजनीति प्रधान थी और इसकी नीतियों का निर्णय धार्मिक तटस्थता अथवा लोगों को तुब्ट करने की राजनीतिक समीचीनता के आधार पर हुआ करता था। परंतु यह एक ऐसा काल था जब भारत में शिक्षा को नहीं वरन राजनीति को प्रमुखता दी जाती थी। अत: निदेशक मंडल ने प्राच्यवादियों के मत को त्रंत स्वीकार कर लिया। 1765 तथा 1813 के बीच कंपनी की शिक्षा नीति का प्रमुख लक्ष्य यह रहा कि संस्कृत और अरबी की परंपरागत प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाए। उसने शिक्षा पर जितनी धनराशि व्यय की उसमें से अधिकांश राशि केवल कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज के रख-रखाव पर व्यय की गई।

वे कारण जिनसे मिशनरियों को शैक्षिक कियाकलापों का भार अपने ऊपर लेना पड़ा: कंपनी की इन शैक्षिक गतिविधियों के साथ-साथ कंपनी की राजनीतिक सत्ता की छाया में काम करने वाले अनेक मिशनरियों ने भी शिक्षा संबंधी काम किया। आधुनिक भारत के शैक्षिक इतिहास में शिक्षा क्षेत्र में निजी उद्यम के अग्रणी के रूप में इन मिशनरी संस्थाओं का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है अतः इनका विस्तारपूर्वक वर्णन करने की आवश्य-कता है।

लेकिन इनके इतिहास पर विचार करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि मिशनरियों ने इन शैक्षिक कियाकलापों को भारत में अपने कार्य का अभिन्न अंग क्यों बनाया। मिशनरियों का सर्वप्रथम उद्देश्य यह था कि लोगों को ईसाई बनाया जाए। उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे शिक्षा संस्थाएं चालू करेंगे अथवा अध्यापकों के रूप में कार्य करेंगे। वास्तव में, पूर्वकालीन मिशनरी इतिहास में एक समय ऐसा भी था जब मिशनों के अपने देश की सरकारों ने शिक्षा संस्थाओं की सहायता करने से इंकार कर दिया था और यह राय प्रकट की थी कि पादरियों को यह अधिकार नहीं है कि वे विद्यालयों की स्थापना करें। परंतु पूर्वकालीन मिशनरियों के व्यावहारिक अनुभव ने उन्हें शीघ्र ही यह प्रतीति करा दी कि उन्हें धर्मांतरण के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में विद्यालय खोलने होंगे। जैसा अमरीकन बोर्ड के एक प्रसिद्ध मिशनरी श्रद्धेय डा० डी॰ ओ॰ एलेन ने कहा था:

सामान्यत: अपनी कार्रवाइयों को आरंभ करते समय, मिशनरियों ने विद्यालय स्थापित किए जाने के औचित्य और महत्व को समझा है। इनकी स्थापना क एक कारण यह है कि लोगों को शिक्षित किया जाए ताकि वे तथ्यों, साक्ष्यों और धर्मग्रंथों में वर्णित सिद्धांतों तथा कर्तव्यों को अधिक अच्छी तरह समझने और उनका गृण विवेचन करने में समर्थ हो सकें। दूसरा कारण यह है कि मिशनरियों को जनता में अपना प्रभाव बढ़ाना है। यह कार्य वे तभी कर सकते हैं जबकि लोगों को कुछ ऐसा लाभ पहुंचाएं जिसकी लोग सराहना कर सकें और साथ ही लोगों को यह भी दिखाएं कि ईसाई धर्म अपने सिद्धांतों की बुद्धिमत्तापूर्ण अनुभूति पर निर्भर करता है और उसके समस्त कर्तव्यों के निष्पादन के पीछे तर्क मौजूद है। ऐसी शिक्षा देने का एक अन्य कारण यह है कि इससे लोगों तक पहुंचने के लिए मार्ग खुलते हैं तथा साधन प्राप्त होते हैं। प्राय: मिशनरियों के मार्ग में एक भारी कठिनाई यह आती है कि लोगों तक किस प्रकार ऐसी परिस्थितियों में पहुंचा जाए जिनमें ईसाई धर्म को संपर्क अथवा वार्तालाप का विषय बनाया जा सके। ऐसी परिस्थितियों में जनता के विभिन्न वर्गों, बालकों एवं माता-पिता और स्त्री-पुरुषों के साथ संपर्क करने के एक साधन के रूप में विद्यालयों का महत्व बहुत बढ़ जाता है। विद्यालय भवन भी इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे लोगों से जान पहचान करने, सामाजिक संपर्क स्थापित करने और धार्मिक उपासना करने के स्थान हैं। मिशनरियों के नियंत्रण में ये विद्यालय ईसाइयों का पूजाघर बन जाते हैं। इस बात को प्रायः अधिक महत्व दिया जाता है कि इनका शिक्षा के लिए उपयोग करने के बजाथ उपर्युक्त प्रयोजन के लिए उपयोग किया जाए।1

इसी प्रकार शी घ्र ही यह बात भी समान रूप से स्पष्ट हो गई कि मिशनों को ये विद्यालय धर्म परिवर्तित व्यक्तियों के लिए चलाने हैं। प्रारंभ में जो लोग ईसाई बने वे

^{1.} डब्ल्यू० एच० शार्प: सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स खंड I, पृ० 11-12 ।

^{1.} आर० जी० वाइल्डर : मिशन स्कूल्स इन इंडिया, पृ० 36-37।

अधिकांशतः हिंदू समाज के सबसे निम्न वर्गों के लोग थे। ये सामान्यतः निरक्षर थे। चूंकि बाइबिल पढ़ना मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना जाता था अतः मिशनरियों से यह अपेक्षा की गई कि वे नए धर्म परिवर्तित व्यक्तियों को पढ़ने और लिखने की शिक्षा देने के लिए विद्यालयों की स्थापना करें। इसी कारण से उन्हें मुद्रणालय स्थापित करने और भारतीय भाषाओं में बाइबिल छापने के लिए भी विवश होना पड़ा। उन्हें व्यावसायिक विद्यालय भी खोलने पड़े और धर्म परिवर्तित व्यक्तियों को जीविका का साधन और समाज में प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए सरकार के अधीन नौकरी भी दिलानी पड़ी। वास्तव में, पूर्वकालीन मिशनरियों को यह पता लगा कि घर्म परिवर्तन के बाद उनका काम समाप्त नहीं वरन आरंभ होता था। उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि उनका मुख्य कार्य लोगों को ईसाई बनाने के बजाय धर्म परिवर्तित व्यक्तियों की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दशा को सुधारना था। यह सुधार उनकी शिक्षा के लिए विद्यालय चला कर ही किया जा सकता था। यह काम इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो गया कि देशी विद्यालय और सरकारी विद्यालय दोनों ही तमाम भारतीय ईसाई बालकों को दाखिल नहीं कर सकते थे। यदि मिशनरियों ने अपने निजी विद्यालय स्थापित न किए होते तो ये बालक बिना किसी शिक्षा के ही रह गए होते। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि मिशनरी शीघ्र ही इस बात को समझ गए कि विद्यालय धर्मांतरण का कार्य भी हैं और कारण भी, इसलिए शैक्षिक तथा मिशनरी कार्य को साथ साथ चलाना होगा। ु उनकी इसी समझ के फलस्वरूप आघुनिक भारत के मिशन विद्यालयों का जन्म हुआ । मद्रास में डेनमार्की मिशन का कार्य (1706-92) : ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्य क्षेत्र में कार्य करने वाली सबसे पहली प्रोटेस्टेंट मिशनरी संस्था डेनमार्की मिशन थी। इस मिशन के प्रसिद्ध अग्रणियों, जीगेनबल्ग और प्ल्यूशा, ने 1706 में दक्षिण भारत में डेन-मार्क की एक छावनी ट्रांक्यूबर में अपनी गतिविधियां आरंभ कीं । परंतु चूंकि डेनमार्कियों के पैर भारत में जम नहीं सके अतः इन अग्रणियों के स्थान पर आने वाले डेनमार्की मिशनरियों में से अधिकांश ने 'दक्षिण भारत की अंग्रेजी छावनियों के साथ महत्वपूर्ण रूप से अपना तादातम्य स्थापित कर लिया और जहां अंग्रेज सेनाएं रुकती थीं वहीं वे रुकते थे और जहां बढ़ती थीं वहां वे भी बढ़ते थे। 'व बाद में जो मिशन भारत आए उन्होंने इसी नीति का अनुसरण किया । रिचर ने ठीक ही कहा है : 'भारत में आधुनिक मिशनरी कार्य के विन्यास और पृष्ठभूमि में आंग्ल भारतीय साम्राज्य है; उसका इस साम्राज्य के प्रारंभिक विकास के साथ घनिष्ठ संबंध है : और इस साम्राज्य के साथ-साथ ही मिशनरी कार्य देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला है।"2

जीगेनबल्ग और उनके सहयोगियों ने यथेष्ट मिशनरी एवं शैक्षणिक कार्य किया। उदाहरण के लिए, 1713 में तमिल का एक मुद्रणालय स्थापित किया गया। 1716 में टांक्यबर में अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए एक संस्था स्थापित की गई और उससे अगले वर्ष मद्रास में दो दानाश्रित विद्यालय खोले गए, एक पूर्तगाली लोगों के लिए और दूसरा तमिल बालकों के लिए। जीगेनबल्ग की मृत्यू 1719 में हुई परंतु उनके कार्य को अन्य मिशनरियों ने जारी रखा जिनमें ग्रंडलर, कायरेंडर और श्वार्ज के नाम उल्लेखनीय हैं। ग्रंडलर ने 1717 से कुछ ही समय पूर्व मद्रास में 'गोरों की बस्ती में एक पूर्तगाली विद्यालय और काले लोगों की बस्ती में एक मलाबार विद्यालय खोला था। 1742 में कायरेंडर ने यरेशियाई लोगों और भारतीयों के लिए फोर्ट सेंट डेविड में और उसके आसपास दानाश्रित विद्यालय स्थापित किए। उनके इस कार्य को इतनी ख्याति मिली कि क्लाइव ने उन्हें कलकत्ता आमंत्रित किया जहां 1758 में उन्होंने एक दानाश्रित विद्यालय की स्थापना की । जीवनपर्यंत कायरेंडर बंगाल में ही कार्य करते रहे और इस प्रांत के लिए उन्होंने वही अग्रणी सेवा की जो जीगेनबल्ग ने मद्रास के लिए की थी। परंत् इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य श्वार्ज का था। इन्हें मद्रास प्रांत में शिक्षा का अग्रणी माना जाता है। मैसर के हैदर अली द्वारा भेंट की गई धनराशि से उन्होंने विचनापल्ली में (लगभग 1772 में) यूरोपीय तथा यूरेशियाई लड़कों के लिए एक विद्यालय स्थापित किया और तंजौर में एक अंग्रेजी दानाश्रित विद्यालय खोला । तंजौर स्थित रेजीडेंट जान सलीवान की सहायता से तंजौर, रामनाड और शिवगंगा में उन्होंने भारतीय बालकों को अंग्रेजी की शिक्षा देने के प्रयोजन से 1785 में तीन विद्यालय खोले। भारतवासियों को अंग्रेजी की शिक्षा देने के लिए खोले गए विद्यालयों में इन्हें सबसे प्राचीन विद्यालय कहा जा सकता है। सलीवान को आशा थी कि 'इनसे कंपनी और जनता को एक दूसरे को समझने में और परस्पर सभी प्रकार के लेन देन को सरल बनाने में 'सहायता मिलेगी। '(इन विद्यालयों में) ईसाई धर्म की न तो प्रकट रूप से शिक्षा दी जाती थी और न ईसाई धर्म के सिद्धांतों को धीरे-धीरे छात्रों के मन में बैठाने के लिए किन्हीं कपटपूर्ण रीतियों का ही प्रयोग किया जाता था। 3 निदेशक मंडल को इन विद्यालयों के प्रति दिलचस्पी थी और उसने 'इनमें से प्रत्येक के लिए 250 पगोडा वार्षिक अनुदान मंजूर कर दिया। 4

ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व

उपर्यक्त विवरण से यह ज्ञात हो गया होगा कि आज से इतने समय पूर्व भी मिशनरी भारत में अनेक शिक्षा संस्थाएं चला रहे थे और ये संस्थाएं कंपनी के धर्माधिकारियों द्वारा चलाई गई संस्थाओं से अनेक अर्थों में भिन्त थीं। मिशन विद्यालयों में भारतीय भाषाओं का शिक्षा माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाता था। ये विद्यालय केवल यूरोपीय तथा आंग्ल भारतीय बालकों के लिए ही नहीं वरन सामान्यतः धर्म परिवर्तित भारतीय बालकों के लिए भी थे। कुछ तो केवल भारतीय बालकों के लिए ही थे। उनका उद्देश्य

^{1.} जे॰ ए॰ रिचर : ए हिस्ट्री आफ मिशंस इन इंडिया, पृ० 27।

^{2.} बही, पू॰ 128।

^{1.} एन० एन० ला : प्रोमोशन आफ लिंग इन इंडिया बाइ अर्ली यूरोपियन सेटिलर्स, प० 74।

^{2.} वही, प्० 65।

^{3.} वही, पु० 68।

^{4.} डब्ल्यू० एच० शार्प: सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स खंड I, पृ० 3-4 ।

यह था कि शासकों और शासितों के मध्य संप्रेषण के साधन के रूप में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा दी जाए। इन स्पष्ट विशेषताओं के कारण इन पूर्वकालीन मिश्रनरियों का शैक्षिक उद्यम धर्माधिकारियों द्वारा किए गए उद्यम से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, पूर्वकालीन मिशनरियों ने ही भारत में मुद्रणालयों का सूत्रपात किया था और भारतीय भाषाओं में पुस्तकें छापना प्रारंभ किया था।

इस संपूर्ण अवधि में मिशनरी उद्यम के प्रति कंपनी का रवैया सहानुभृतिपूर्ण रहा। कुछ मामलों में उसने मिशन विद्यालयों को वित्तीय सहायता भी दी। परंतु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने इस प्रकार के सभी कियाकलापों को हितकारी संरक्षण दिया और उनके साथ सहानुभृति रखी। जैसा ला ने कहा है:

हम पाते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी में निदेशकों ने शैक्षिक कार्य में पहल की थी परंतू अठारहवीं शताब्दी में प्रारंभ में मिशनरियों का आगमन होने पर धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। निदेशकों ने अपने शैक्षिक कार्यों का भार अपने कंधों से उतार कर नवा-गंत्कों के कंधों पर रख दिया। तथापि इस बात में कोई संदेह नहीं है कि उन्होंने इस कार्य से पूरी तरह संबंध नहीं तोड़ा था। अठारहवीं शताब्दी के प्रथम 75 वर्षों में उन्होने विभिन्न प्रकार के विद्यालयों को विविध प्रकार से सहायता दी। उदाहरण के लिए, उन्होंने फोर्ट सेंट डेविड के अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे विद्या-लयों में लेखाकारों के रूप में कार्य करें और यदा कदा विद्यालय भवनों का जीर्णो-द्धार भी किया। तो भी, वे वास्तविक शैक्षिक कार्य में अपना दखल नहीं रखना चाहते थे जिसके कारण 1787 तक फोर्ट सेंट जार्ज के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर जो कुछ किया गया वह मिशनरियों द्वारा या तो मिशनरियों की हैसियत से अथवा रक्षक सेना या छावनी के धर्माधिकारियों की हैसियत से किया गया था।

बंगाल में सीरामपुर-त्रयी तथा अन्य लोगों का कार्य (1758-1813): अठारहवीं शताब्दी में जिन डेनमार्की मिशनरियों ने दक्षिण भारत में कार्य किया था वे वास्तव में भाग्यशाली थे क्योंकि उन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी से सहानुभृति और हितकारी संरक्षण प्राप्त हो गए थे। परंतु जिन मिशनरियों ने बंगाल में कार्य किया था वे अपेक्षाकृत बहुत कम भाग्यशाली थे। उन्हें कंपनी के प्रतिकूल रवैये के विरुद्ध कड़ा संघर्ष करना पड़ा और यदि सीरामपुर तथा चिनसुरा स्थित डच बस्तियों ने उन्हें संरक्षण न दिया होता तो संभवतः उन्हें रंचमात्र सफलता न मिली होती।

कायरेंडर के कार्य का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। वह बंगाल में न केवल एक अग्रणी मिशनरी थे वरन सौभाग्यवश उनके साथ कंपनी का व्यवहार भी सहानुभृति-पूर्ण था। उनके बाद 1793 में बैंप्टिस्ट मिशनरी सोसायटी के प्रतिनिधि डा॰ केरे आए। उन्होंने कुछ समय तक कलकत्ता में कार्य किया परंतु कठिनाइयां पैदा हो जाने के कारण अंत में मालदा चले गए जहां वह नील के एक कारखाने के अधीक्षक हो गए। यहां उन्होंने

अपने तमाम खाली समय का उपयोग न्यु टेस्टामेंट का बंगला में अनुवाद करने, शासक वर्ग के सेवकों के लिए प्रतिदिन उपासना कराने, आसपास के ग्रामीणों को धर्मीपदेश देने और अपने द्वारा स्थापित एक विद्यालय की देखरेख करने में किया। 1799 में दो अन्य मिशनरी वार्ड और मार्शमैन कलकत्ता पहुंचे। उनका मूल लक्ष्य उत्तरी बंगाल में केरे के साथ मिलकर कार्य करना था। परंतु उन्हें यह पता चला कि ईस्ट इंडिया कंपनी उन्हें ऐसा करने की अनुमति नहीं देगी। अत: उन्होंने केरे को अपने साथ काम करने के लिए . सहमत कर लिया और सीरामपुर की डच बस्ती में बसने का निश्चय किया। यह बस्ती कलकत्ता से लगभग 15 मील दूर थी। यहां डच गवर्नर ने उन्हें आवश्यक संरक्षण प्रदान किया। इस प्रकारं प्रसिद्ध 'सीरामपुर त्रयी' अस्तित्व में आई। वास्तव में ये तीनों मित्र मिशन कार्य के लिए बहत अच्छी त्रयी बन गए क्योंकि इसमें केरे महान प्रचारक थे, वार्ड मद्रक थे और मार्शमैन विद्यालय के अध्यापक थे। इन्होंने बाइबिल का अनेक भाषाओं में अनुवाद किया तथा उसे छापा। साथ ही उपयोगी विषयों पर अनेक पुस्तिकाएं भी प्रकाशित कीं। इस संबंध में शेरिंग ने कहा है:

इस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व

संसार के किसी भी देश में और ईसाई धर्म के इतिहास में किसी भी युग में पूनीत धर्मग्रंथों की मूल प्रतियों से अन्य भाषाओं में अनुवाद करने में इतनी अधिक कर्मठता कभी प्रदर्शित नहीं की गई जितनी वर्तमान शताब्दी के पहले दस वर्षों में कलकत्ता और सीरामपूर में रहने वाले इने-गिने उत्साही व्यक्तियों ने प्रदर्शित की थी। इनके निजी उद्योग से तथा अपने कार्य के लिए इनसे प्रेरणा लेने वाले अन्य लोगों द्वारा भारत के विभिन्न भागों में किए गए उद्योग से इस थोडी सी अवधि में बाइबिल, मुख्यत: न्यु टैस्टामेंट के अंशों का इकतीस भारतीय भाषाओं और बोलियों में अनुवाद कर लिया गया और उन्हें छाप दिया गया। इस कार्य की अति विशालता को देखकर चिकत और प्रायः भावाभिभूत हो जाना पड़ता है। यद्यपि इन प्रथम प्रयासों की उन अनुवादों से तूलना नहीं की जा सकती है जो इन भाषाओं में बाद में किए गए हैं तथापि इस तथ्य से हमारे मन में उस आदरभाव में कोई कमी नहीं होनी चाहिए जो इतना स्पष्ट ध्येय और कार्य संपादन करने की इतनी विस्मयकारी कर्मशक्ति रखने वाले व्यक्तियों के प्रति होना चाहिए। इस दिशा में अपने परिश्रम से संतुष्ट न रहकर, उन्होंने भारी संख्या में पुस्तिकाएं भी प्रकाशित की जिन्हें बीस भाषाओं में तो अकेले सीरामपूर प्रेस ने ही छापा। इसके अतिरिक्त उन्होंने विद्या-लयों और महाविद्यालयों के लिए पुस्तकों भी प्रकाशित कीं।1

बाइबिल का अनुवाद करने और छापने के इस कार्य के अतिरिक्त सीरामपुर त्रयी ने सीरामपुर, कलकत्ता और अन्य सीमावर्ती स्थानों पर लड़कों और लड़िकयों के लिए अनेक विद्यालय भी चलाए।

कूल मिलाकर सीरामपुर त्रयी का कंपनी के अधिकारियों से एक बार के अतिरिक्त

^{1.} एन० एन० ला : प्रोमोशन आफ लर्निंग इन इंडिया बाइ अर्ली यूरोपियन सेटिलर्स प० 33 ।

^{1,} एम० ए० श्रोरिंग : दि हिस्ट्री आफ प्रोटेस्टेंट मिशंस इन इंडिया, पू० 75।

कभी कोई गंभीर संघर्ष नहीं हुआ। 1808 में उन्होंने 'ऐड्रेसेज टु हिंदूज एंड महमडंस' नामक कुछ पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं। इनकी शब्दावली कुछ इस प्रकार की थी जिससे भारतीय जनता की धार्मिक भावना को ठेस पहुंचती थी। अत: कंपनी ने अपने राज्य क्षेत्र में इनकी बिक्री पर रोक लगा दी। वास्तव में कंपनी कोई अधिक कड़ी कार्रवाई करना चाहती थी अत: उसने निर्देश दिया कि इनके मुद्रणालय को कलकत्ता ले आया जाए जिससे कंपनी के अधिकारी उस पर उचित नियंत्रण रख सकें। इससे उनके कार्य को भारी धक्का लगा होता। परंतु डेनमार्की गवर्नर ने हस्तक्षेप किया और अंतत: उपर्युक्त आदेश वापस ले लिया गया। उसके स्थान पर सीरामपुर त्रयी को यह निर्देश दिया गया कि वे 'कंपनी के राज्य क्षेत्रों में बिक्री के लिए अभिप्रेत ग्रंथों को निरीक्षण के लिए कंपनी के अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत किया करें।' इस घटना से वे धर्मांतरण के कार्य में अधिक सावधानी बरतने लगे यद्यपि इससे उनके शैक्षिक क्रियाकलापों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा।

जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण में रिचर ने बतलाया है, 1813 में भी भारत में बहुत कम परिमाण में मिशन कार्य चल रहा था और उसका विस्तार भी बहुत कम था।

सब मिलाकर यह छोटे-छोटे कामों का युग था। 1812 के आसपास सीरामपुर में (जो अब भी डेनमार्कियों के अधिकार में था) मिशन केंद्र विद्यमान थे जहां से कलकत्ता में कार्य का संचालन किया जाता था। नील की खेती वाले जिले दीनाजपुर में बैंप्टिस्टों का मिशन केंद्र था जहां सीरामपुर में बसने से पहले केरे ने कार्य किया था। पूर्वी बंगाल के खूब वर्षा वाले डेल्टाई जिले जैसोर में एक अन्य मिशन केंद्र था। लंदन मिशनरी सोसायटी डच चिनसुरा में और विजगापट्टम में कार्यरत थी। मद्रास और तिमल प्रदेश में डेनमार्की मिशन के वयोवृद्ध पादिरयों के काम के साथ-साथ अभी तक कोई नया कार्य आरंभ नहीं हुआ था। कन्नड प्रदेश में केवल बिलारी में एक केंद्र था जिसे 1812 में स्थापित किया गया था। बंबई में एक गैर अंग्रेजी सोसायटी 'अमरीकी बोर्ड' के प्रथम मिशनरी भारी दुश्चिता के बाद अभी अपने पैर जमा ही पाए थे। बीज रूप में एकमाव कार्य, जो आशाजनक रूप से प्रस्फुटित होता प्रतीत हो रहा था, दक्षिणी ट्रावनकोर में रिगलटोंवे का कार्य था। 2

मिशनरी उद्यम के प्रति कंपनी के रवैये में परिवर्तन: 1813 से पहले मिशनरी उद्यम की संवृद्धि धीमी गित से होने के कई कारण थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रतिकूल रवैया था। जैसा पूर्वोल्लिखित परिच्छेद 2 में पहले ही बताया जा चुका है, 1765 से पूर्व कंपनी का रवैया सामान्यत: मिशनरी उद्यम के अनुकूल था। परंतु जैसे ही कंपनी भारत में एक राजनीतिक शक्ति बन गई वैसे ही उसके रवैये में परिवर्तन होने लगा। प्रभुसत्ता प्राप्त होने पर कंपनी पूर्ण धार्मिक तटस्थता बनाए रखने

के राजनीतिक महत्व के बारे में सचेत हो गई और अब तक धर्मांतरण के प्रति उसका जो भुकाव था तथा मिशनरी उद्यम के प्रति जो सहानुभूति थी उसका कंपनी ने परित्याग कर दिया। जैसे-जैसे कंपनी का साम्राज्य बढ़ता गया, धार्मिक तटस्थता बनाए रखने और मिशनरी उद्यम से अपने तमाम संबंधों को समाप्त कर देने की ओर कंपनी उत्तरोत्तर अधिक घ्यान देती गई। बेल्लूर के सैनिक विद्रोह जैसी घटनाओं ने कंपनी के इन विचारों को और भी पक्का कर दिया। 1800 के लगभग ईस्ट इंडिया कंपनी धर्मांतरण के सभी प्रयासों की कट्टर विरोधी बन गई और प्रयत्न करने लगी कि जहां तक हो सके मिशनरियों को कंपनी के राज्य क्षेत्रों से बाहर ही रखा जाए। इसी प्रकार 1781 और 1791 के बीच शिक्षा में प्राच्यवादी नीति अपनाई जाने से मिशन विद्यालय उस सहानु-भृति और समर्थन से वंचित हो गए जो उस समय तक उन्हें कंपनी से मिलते रहे थे।

मिश्रनिरयों ने इन परिवर्तनों को पसंद नहीं किया। उन्होंने नई नीतियों की आलोचना तथा पुरानी नीतियों को फिर से अपनाने का पक्ष समर्थन करना आरंभ कर दिया। यहां तक कि बहुत पहले 1793 में भी जब कंपनी के चार्टर पर नवीकरण के संबंध में विचार किया गया तो विल्बरफोर्स ने हाउस आफ कामंस में निम्नलिखित संकल्प उपस्थित किया था:

ब्रिटिश विधानमंडल का यह विशिष्ट और अनिवार्य कर्तव्य है कि वह समस्त उचित एवं सिविवेक उपायों द्वारा भारत में ब्रिटिश डोमिनियनों के निवासियों के हित और प्रसन्तता का संवर्धन करे और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ऐसे उपाय किए जाने चाहिए जिनसे धीरे धीरे धार्मिक एवं नैतिक सुधार हो तथा उनके ज्ञान में वृद्धि होने लगे।

परंतु विरुवरफोर्स इस बात को समझ गए थे कि इस जैसे नेक संकल्प का कोई प्रशासनिक महत्व नहीं है। इसीलिए उन्होंने कंपनी के चार्टर में निम्नलिखित आशय का खंड जोडने का प्रस्ताव किया:

कंपनी के निदेशक मंडल को यह शक्ति और अधिकार होंगे कि वह समय समय पर पर्याप्त संख्या में ऐसे कुशल और उपयुक्त व्यक्तियों को मनोनीत और तैयार करे जो विद्यालयों के अध्यापकों के एवं मिशनरियों के रूप में अथवा अन्य रूपों में कार्य करके उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करेंगे।

निदेशक मंडल ने इसका तीव्र विरोध किया। वह अब इस बात को पूरी तरह समझ गया था कि भारत में उसके साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए धार्मिक तटस्थता की नीति कितनी महत्वपूर्ण है। वह यह भी जानता था कि मिशनरी धर्म परिवर्तन कराने के अपने अत्यधिक उत्साह में निश्चित रूप से भारतीय जनता से झगड़ा मोल लेना था। विल्बरफोर्स जिस ढंग से चाहते थे उस ढंग से धार्मिक पथ प्रदर्शन करने की तो बात ही क्या, भारतीय

^{1.} एम० ए० शेरिंग : ए हिस्ट्री आफ प्रोटेस्टेंट मिशंस इन इंडिया, पृ० 71।

^{2.} जे ० ए ० रिचर : ए हिस्ट्री आफ मिशंस इन इंडिया, पू॰ 49।

^{1.} जे॰ ए॰ रिचर : ए हिस्ट्री आफ मिशंस इन इंडिया पृ॰ 149।

^{2.} उपर्युक्त, पू॰ 150 ।

जनता को शिक्षा देने का काम भी अपने हाथ में लेने के लिए निदेशक मंडल स्पष्टतः उत्कंठित नहीं था। अतः राजनीतिक और वित्तीय कारणों से उसने इस बात पर जोर दिया कि 'हिंदुओं की धर्म और सदाचार संबंधी व्यवस्था अधिकांश जातियों के समान ही अच्छी है। उनके धर्म परिवर्तन का प्रयास करना अथवा उन्हें और अधिक शिक्षा देना या उनके पास पहले से ही जो विद्या है उसके अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार की विद्या सिखाना पागलपन होगा।' विल्बरफोर्स के प्रस्ताव को ब्रिटिश संसद ने अस्वीकार कर दिया।

इस पराजय से मिशनरी उद्यम को भारी धक्का लगा। मिशनरी समस्या के बारे में कंपनी की स्थित अब बहुत दृढ़ हो गई थी और उसके डोमिनियनों में जो मिशनरी काम करते थे उनके मार्ग में वह सभी प्रकार के रोड़े अटकाने लगी। कंपनी के इस सिक्रय विरोध से मिशनरी क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने बदले में न केवल कंपनी की मिशनरी विरोधी नीति की आलोचना करनी आरंभ कर दी वरन वे उसके राजनीतिक और वाणिज्यिक उपक्रमों और उसके कर्मचारियों की वैयक्तिक आचरण की भी आलोचना करने लगे। रिचर के निम्नलिखित उद्धरण से पाठक को इस आलोचना के स्वरूप का ज्ञान हो जाएगा:

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि प्राय: निरपवाद रूप से सभी अंग्रेज कर्मचारियों ने ईसाई नैतिकता के सिद्धांतों का परित्याग कर दिया था। यहां तक कि वारेन हेस्टिग्ज जैसे गवर्नर जनरल और उनके अयोग्य प्रतिद्वंद्वी फिलिप फ्रांसिस को खुलेआम जार कर्म करते हुए जीवन बिताने में कोई शर्म महसूस नहीं हुई। चर्च के साथ उनका केवल इतना ही संबंध रहा कि वर्ष में एक बार किसमस या ईस्टर पर वे प्रार्थना सभा में बड़ी शान शौकत के साथ उपस्थित होते थे ... इससे भी बढकर बात यह है कि अति उत्साही प्राच्यवादी लोग प्राच्य देशों के धर्मों का, विशेषकर उन भारतीय धर्मों और दर्शन पद्धतियों का गुणगान करते थे जिनका उन्हें उस समय नया नया पता चला था। यदि उनमें से बहुत से व्यक्तियों ने यह घोषणा नहीं भी की कि ये धर्म ईसाई धर्म से अच्छे और सच्चे हैं तो भी आम राय यही थी कि ये धर्म हिंदुओं के लिए बिल्कूल ठीक और धर्म के पाश्चात्य रूपों की अपेक्षा उनकी आवश्यकता के अधिक अनुकूल हैं। इन सब बातों के अतिरिक्त कंपनी ने यह संकीण दुष्टिकोण अपना लिया कि उसके अपने राज्य क्षेत्रों में ऐसा कोई यूरोपीय नहीं रहेगा जो कंपनी की सेवा में संलग्न न हो या जिसके पास कंपनी का पासपोर्ट न हो। यदि ऐसे किसी व्यक्ति को अनुमति दी जाती तो संभवत: वह छिपकर व्यापारिक संबंध कायम कर कंपनी के लाभों को घटा सकता था अथवा वह स्वदेश लौटने पर कंपनी की औप-निवेशिक शासन प्रणालियों की चर्चा कर सकता था। बहुत सी बातें ऐसी थीं जिन्हें यूरोपीय लोगों से छिपाना आवश्यक था।2

अतः 1793 के बाद मिशनरियों और कंपनी के कर्मचारियों के संबंध अत्यंत तनावपूर्ण हो गए।

यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि 1793 और 1813 के बीच कंपनी ने अपने राज्य क्षेत्रों में कार्य करने के लिए मिशनरियों को सामान्यतः परिमट नहीं दिए। अनेक मिशनरियों को तो उनके सिक्तय होते ही और लोगों का धर्म परिवर्तन कराने का प्रयत्न करते ही निष्कासित कर दिया गया। कंपनी ने मिशनरियों के मार्ग में हर प्रकार के रोड़े अटकाए। यहां तक कि उसने मिशन विद्यालयों को भी कोई सहायता नहीं दी। भारत में मिशनरियों में इतनी शक्ति नहीं थी कि वे इस नीति के विषद्ध संघर्ष कर सकें अतः उन्होंने और उनके मित्रों ने ब्रिटिश संसद को इस बात पर सहमत करने के लिए इंग्लैंड में भारी आंदोलन शुरू कर दिया कि संसद इस विषय पर विधान बनाकर मिशनरियों को आवश्यक स्वतंत्रता और सहायता प्रदान करे। जिन लोगों ने इस प्रकार का आंदोलन किया था उनमें भारत में आधिनक शिक्षा के जनक चार्ल्स ग्रांट सबसे अग्रणी थे।

ग्रांट के विचार : भारतीयों की शिक्षा के विषय में ग्रांट के विचार ठेठ मिशनरी थे। उनकी पुस्तक 'आब्जर्वेशंस आन दि स्टेट आफ सोसायटी अमंग दि एशियाटिक सब्जेक्ट्स आफ ग्रेट ब्रिटेन, पिंटकुलरली विद रेस्पेक्ट टूमारल्स एंड दीमींस आफ इंप्रूर्विग इट' के निम्नलिखित उद्धरण से उनके विचारों का भली प्रकार पता चल सकता है। उन्होंने अपने शोध प्रबंध में सबसे पहले अंग्रेज जनता को यह समझाने का प्रयत्न किया था कि भारतीय समाज बहत ही अनैतिक और दीन स्थित में है। उन्होंने लिखा था:

यूरोप के निकृष्टतम भागों में भी निस्संदेह भारी सख्या में ऐसे लोग हैं जो निश्छल, ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ हैं। बंगाल में तो सत्यवादी एवं ईमानदार मनुष्य का मिलना एक महान घटना ही है। हमें ऐसा लगता है कि अपने संपूर्ण आचरण में अंतिविवेक रखने वाले मनुष्य यहां नहीं हैं "हिंदुस्तान के मूल निवासी को सौंपी गई शक्ति का अधिकांशत: अत्याचारपूर्ण रीति से प्रयोग किया जाता है, या उसका दुरुपयोग अन्याय करने के लिए होता है। सभी प्रकार की और सभी श्रेणियों की सरकारी या दफ्तरी नौकरियों का धनापहरण के साधन के रूप में उपयोग किया जाता है "न्याय वितरण सामान्य रूप से अर्थक्रेयता का व्यवसाय बन गया है। मुकदमे में प्रबल पक्ष को भी सफलता के लिए धन देने पर बाध्य होना पड़ता है और अत्यंत कमजोर पक्ष को न्याय खरीदने का अवसर रहता है "धन की इतनी शक्ति है कि कोई भी अपराध इतना सामान्य नहीं है और इतना छोटा नहीं समझा जाता है, जितना शपथ लेकर मिथ्या साक्ष्य देने का अपराध है "हिंदू अपने से असबद्ध सभी व्यक्तियों और हितों को जिस उदासीन भाव से देखता है उससे यूरोपीय लोगों के मन में रोष उत्पन्न होता है "हिंदुस्तान में देशभिक्त नाम की कोई चीज नहीं है।

^{1.} सिलेक्शंस फाम एजूकेशलन रिकार्ड्स, खंड I, पृ० 17।

^{2.} जे० ए० रिचर : ए हिस्ट्री आफ मिशंस इन इंडिया, पू० 132 ।

^{1.} एम० आर० परांजपे : ए सोर्स बुक आफ मार्डन इंडियन एजूकेशन, पृ० VIII-IX ।

क्या ये सब बातें अक्षरशः सत्य हो सकती हैं ? यह सच है कि अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में स्थित अच्छी नहीं थी। उस समय देश भर में अराजकता फैली हुई थी जिसके परिणामस्वरूप मुगल साम्राज्य का पतन हुआ। 'यह ऐसा काल था जब मानव जीवन और संपत्ति को सदा खतरा बना रहता था और अपने अत्यंत प्रिय मित्र अथवा संबंधी पर भी विश्वास करना खतरे से खाली नहीं था। उस समय शिक्षा की मांग नहीं थी। देश में भयावह अज्ञान तथा अंधविश्वास फैला हुआ था और जनता को ठग, पिंडारी अथवा विदेशियों की नौकरी करने वाले भाड़े के टट्टू परेशान कर रहे थे। इस दुःखद पृष्ठभूमि के बावजूद भी यही महसूस होता है कि ग्रांट बुराइयों को अतिरंजित करके पेश कर रहे हैं। ऐसा सोचना अधिक सहज है क्योंकि ऐल्फिस्टन, मुनरों और मेटकाफ जैसे कुशाग्र बुद्धि प्रेक्षकों ने, जिनका भारतीय समाज के सभी वर्गों से संपर्क रहा था, सामान्य भारतीय के सदाचार की कहीं भी व्यापक रूप से निदा नहीं की है। तो भी ग्रांट की अत्युक्तियों को क्षमा किया जा सकता है क्योंकि उन्होंने यह कार्य सद्प्रयोजन से किया था। उन्होंने विद्यमान परिस्थितियों के बारे में केवल इसलिए अतिरंजना की थी कि वह इस बात के लिए उत्कंठित थे कि उदासीन ब्रिटिश जनता को भारतीय जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने के परम महत्व के बारे में जागृत किया जाए।

भारतीय समाज की पतित दशा का यह अतिरंजित चित्र खींचने के बाद ग्रांट ने पतन के कारणों का विश्लेषण किया है और इस स्थित को समाप्त करने के उपाय बताए हैं। ग्रांट के अनुसार भारतीय जनता की दयनीय स्थित के दो कारण थे: अज्ञान, और उपयुक्त धर्म का अभाव। अतः उन्होंने महसूस किया कि स्थित को तभी सुधारा जा सकता है जब भारतीयों को पहले तो शिक्षित किया जाए और फिर अंततः उन्हें ईसाई बना लिया जाए। उन्होंने कहा:

अधकार को दूर करने का वास्तिविक उपाय प्रकाश का समावेश करना है। हिंदू गलती करते हैं क्योंकि वे अज्ञानी हैं और उनकी गलितियों को कभी ठीक तौर से उनके सामने नहीं रखा गया है। यदि हम अपने प्रकाश और ज्ञान को उन तक पहुंचा दें तो उनके विकारों का यह सबसे अच्छा उपचार होगा। इस उपचार का प्रस्ताव इस पूर्ण विश्वास के साथ किया जा रहा है कि यदि इसे विवेकसम्मत रूप से और धैर्यपूर्वक किया गया तो हिंदुओं पर इसके भारी और सुखद प्रभाव पड़ेंगे। ये प्रभाव हमारे लिए सम्मानप्रद और लाभकर होंगे।

अब स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न पैदा हुआ कि वह कौन सा माध्यम हो जिसके द्वारा इस पाश्चात्य प्रकाश और ज्ञान को भारतीय जनता तक पहुंचाया जाए ? ग्रांट ने सुझाव दिया कि अंग्रेजी भाषा को शिक्षा माध्यम स्वीकार किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा:

इस संप्रेषण के दो तरीके हैं। पहला तरीका यह है कि यह संप्रेषण उन्हीं देशों की

भाषाओं के माध्यम से हो। दूसरा तरीका यह है कि हमारे अपने माध्यम द्वारा हो। सामान्यत:, जब भी किसी देश के निवासियों को विदेशी अध्यापकों ने शिक्षण देने का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने इस सहज और आवश्यक कारण से उस राष्ट्र की मात-भाषा का ही प्रयोग किया कि उन्हें यह आशा नहीं थी कि वे उस देश के निवासियों के लिए संप्रेषण के किसी अन्य साधन को बोधगम्य बना सकेंगे। पर्वी देशों में हमारे अधीन जो राज्य हैं उनके बारे में ऐसी बात नहीं है। वे हमारे अपने हैं और दीर्घकाल · से उन पर हमारा कब्जा है। वहां के मूल निवासियों के बीच बहत से अंग्रेज रहते हैं। हमारी भाषा वहां कोई अज्ञात भाषा नहीं है तथा इसका अधिक व्यापक रूप से प्रसार कर सकना व्यवहार्य है। अतः हमें इनमें से किसी भी पद्धति को चनने की छुट है। हमें यह विचार करने की स्वतंत्रता है कि किसे अधिमान्यता दी जाए ... संस्कारी व्यक्तियों के लिए विदेशी भाषा का ज्ञानार्जन कर लेना बहत कठिन काम नहीं है। अतः हमारी भाषा में शिक्षा पाने के लिए जितनी अविध में भारतवासी तैयार हो सकेंगे उससे कम समय में अंग्रेज अध्यापकों को देशी भाषाओं में शिक्षण देने के लिए अर्हतावान किया जा सकता है। इसलिए अन्य प्रणालियों की अपेक्षा इस प्रणाली से अधिक गति से कार्य होगा और इसमें यह भी लाभ होगा कि शिक्षण का विषय अधिक सावधानी से छाटा जा सकेगा। परंतू यह प्रणाली अधिक परिरुद्ध तथा कम फलदायक होगी। इसे बीजलेखवाचन का एक रूप ही कहा जा सकता है। बीजलेखवाचक से यह अपेक्षा की जा सकती है कि जो कुछ पहले प्रच्छन्न था उसे वह बोधगम्य शब्दों में प्रकट करेगा। प्रत्येक नए अवसर पर उसे सदृश श्रम करना पड़ता है और उससे जो सुचना प्राप्त होती है वह उस समय किए गए केवल एक ही संप्रेषण तक सीमित रहती है। उसी लिपि के अन्य सभी लेख उन लोगों के लिए किर भी अज्ञात रहते हैं जिन्हें उस लिपि का ज्ञान नहीं होता। परंतु यदि इन लोगों को लिपि की भी शिक्षा दी जाए तो वे ऐसे प्रत्येक लेख को तूरंत पढ सकते हैं जिसमें उस लिपि का प्रयोग किया गया हो। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा का प्रयोग अंतिम लाभ की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होता है। इसी आधार पर हम इस विधि को अधिमान्यता देते हैं और प्रस्ताव रखते हैं कि हमारे ज्ञान का संप्रेषण हमारी अपनी भाषा के माध्यम से किया जाएगा...

फिर हमारा यह कहना है कि हमारा देश इस बात की पूरी सामर्थ्य रखता है कि यह धीरे धीरे हिंदुओं को अपनी भाषा की शिक्षा दे दे, उसके पश्चात इसी भाषा के माध्यम द्वारा उन्हें विविध विषयों से संबंधित अपनी सुबोध साहित्यिक रचनाओं से परिचित करा दे और जल्दबाजी में अवमान की भावना को उद्दीप्त न करते हुए उन्हें शनैं: अपने कला, दर्शनशास्त्र, और धर्म से परिचित कराए। इस ज्ञानो-पार्जन से त्रुटिपूर्ण संरचना, बिना किसी शोरगुल के दुर्बल होने लगेगी और अंत में नष्ट हो जाएगी। हमारा ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार के परिवर्तन के बारे में जो आपत्तियां उठाई जा सकती हैं उनका युक्तियुक्त उत्तर दिया जा सकता है ...

सरकार के लिए यह कार्य अत्यंत सरल होगा कि वह अंग्रेजी पढ़ने और लिखने की

^{1.} एम० आर० परांजपे : ए सोर्स बुक आफ माडर्न इंडियन एजूकेशन, पृ० VIII-IX।

^{2.} सैयद महमूद : हिस्ट्री आफ इंग्लिश एजूकेशन इन इंडिया, पृ० 11 ।

नि:शुल्क शिक्षा देने के लिए विद्यालय स्थापित करे। उनमें भारी भीड, विशेषकर नवयुवकों की भीड़ आएगी और अध्यापन के लिए उपयोग में लाई जाने वाली सुबोध पुस्तकों से विभिन्न विषयों के बारे में प्रत्यक्ष सत्यों का संप्रेषण हो सकता है। अध्यापक ज्ञानी, सदाचारी और विवेकशील व्यक्ति होने चाहिए। ऐसे चरित्र वाले व्यक्ति बातचीत के दौरान अपने छात्रों को अधिक उपयोगी सचना दे सकते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति को सरल बनाने के लिए वे आरंभ में बंगला भाषा का कुछ सीमा तक उपयोग कर सकते हैं। शीघ्र ही हिंदू स्वयं अंग्रेजी के अध्यापक बन जाएंगे। सरकारी कार्य में हमारी भाषा का प्रयोग होने से दूसरी पीढ़ी में यह देश भर में बहुत आम भाषा बन जाएगी। इस बात के लिए सबल राजनीतिक कारण मौजूद हैं कि सरकारी कार्य में हमारी भाषा का प्रयोग किया जाए। यदि इस योजना की सफलता के लिए किसी अन्य बात की कमी है तो वह सरकार के हार्दिक संर-क्षण की है। यदि सरकार चाहे कि यह योजना सफल हो तो यह सफल हो सकती है और अवश्य होनी चाहिए। राजस्व, प्रशासन, न्यायिक कार्रवाइयों और अन्य सरकारी कार्यों में जहां इस समय फ़ारसी का प्रयोग किया जाता है, अंग्रेजी का प्रयोग आरंभ करने और अंग्रेजी शिक्षण के लिए नि:शूल्क विद्यालयों की स्थापना करने से इसका देश भर में प्रसार हो जाना सुनिश्चित हो जाएगा । जैसा पहले बताया जा चका है, मूल निवासियों का हित उन्हें अंग्रेजी का ज्ञानार्जन करने के लिए प्रेरित करेगा। इस प्रकार के परिवर्तन से आरंम में भी अधिक भ्रम नहीं फैलेगा क्योंकि प्रांतों में इस समय भारी संख्या में ऐसे पूर्तगाली और बंगाली लिपिक मौजूद है जो हिंदुस्तानी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाएं समझ लेते हैं। यदि उन्हें सरकार अथवा उसके अधिकारियों को देने के लिए याचिकाएं तैयार करने के काम में लगा दिया जाए तो उन निर्धन व्यक्तियों को कोई अतिरिक्त कठिनाई नहीं होगी जिनकी इस समय फारसी लिपिक इसी प्रकार से सहायता करते हैं। अन्य लोगों के लिए, जिनके पास पर्याप्त फालतू समय हो, सरकारी भाषा को नि:शुल्क सीखने का अवसर प्रदान कर देना एक ऐसा लाभ होगा जो मुसलमान शासकों के अधीन कभी नहीं मिला था।

हमारी भाषा के साथ बहुत शी घ्र ही हमारा बहुत सा उपयोगी साहित्य भी संप्रेषित हो सकता है और हो जाएगा। मुद्रण कला की सहायता से हम अपनी रचनाओं का इस प्रकार से प्रसार कर सकेंगे जैसा फारस के लोग कभी भी नहीं कर सकते थे, यद्यपि उनकी रचनाएं हमारी रचनाओं की भांति ही प्रचुर संख्या में थीं। हम तमाम विषयों और तमाम कार्यों में जो तक बुद्धि का भारी उपयोग करते हैं उसे हिंदू देखेंगे। इसके फलस्यरूप वे भी तर्क करना सीख जाएंगे और अपनी जाति के इतिहास से परिचित हो जाएंगे तथा संसार की अतीतकालीन एवं वर्तमान स्थिति से अवगत हो जाएंगे। उनके भाव धीरे धीरे विभिन्न चित्ताकर्षक कार्यों से संबद्ध हो जाएंगे और सद्गुण को अच्छा समझने तथा दुर्गुण का निवारण करने के लिए सुस्थिर हो जाएंगे। उनके आम विचार परिशुद्ध हो जाएंगे। इससे भी अधिक

महत्वपूर्श बात यह है कि वे सिद्धांतों एवं सदाचार की एक अधिक अच्छी व्यवस्था को देखेंगे। तर्कशील व्यक्तियों के रूप में उन्हें कर्तव्य के प्रति नई दृष्टि प्राप्त होगी और वे दीर्घकाल से जिस मानसिक बंधन में बंधे हुए हैं वह धीरे धीरे टूट जाएगा।

ग्रांट ने शिक्षण के विषयों के संबंध में जो सुझाव दिए थे उनमें से कुछ उपर्युक्त उद्धरण में मिल सकते हैं। इनके अतिरिक्त ग्रांट ने यह भी सुझाव दिया था कि इस बात पर विशेष बल दिया जाना चाहिए कि जनता में फैले अंधविश्वासों को समाप्त करने के लिए प्राकृतिक विज्ञान और देश का कृषि तथा औद्योगिक विकास करने के लिए यांत्रिक आविष्कारों के उपयोग की शिक्षा दी जाए।

भारतीय जनता की शिक्षा संबंधी इस योजना को प्रस्तुत करने के बाद ग्रांट ने भिविष्य में इस योजना के विरुद्ध उठाई जा सकने वाली कुछ आपित्तयों का उत्तर दिया था। सबसे पहली आपित्त यह हो सकती थी कि अंग्रेजी शिक्षा राजनीतिक रूप से खतरनाक है और यिद भारतीय जनता को अंग्रेजी भाषा और विचारों की शिक्षा दी गई तो वह विद्रोह कर देगी, अधीनता के अपने जुए को उतार फेंकेगी और स्वाधीनता के लिए आग्रह करेगी। ग्रांट ऐसी संभाव्य घटना से डरते नहीं थे और वह इस बात से सहमत भी नहीं हुए होते कि भारतीय जनता को केवल इसलिए अज्ञान के अंधकार में रखा जाए कि उसकी गुलामी को शाश्वत रूप से कायम रखा जा सके। वह यह महसूस करते थे कि भारतीयों को शिक्षा देना इंग्लैंड का स्पष्ट कर्तव्य है। वह यह भी मानते थे कि वास्तव में यह काम स्वयं इंग्लैंड के सर्वोपिर हित में होगा कि हिंदुओं और मुसलमानों को शिक्षा दी जाए। ऐसी शिक्षा से शासकों और शासितों के बीच अधिक अच्छी समझ पैदा होगी, भारतीय जनता कृतज्ञ हो जाएगी और भारत में अंततः ब्रिटिश वाणिज्य का और अधिक विस्तार हो जाएगा। अतः उनका मत था कि इस कार्य के बारे में कोई भी संशय उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए और कर्तव्य तथा आत्महित के आधार पर अंग्रेजों को बड़े से बड़े पैमाने पर भारतीयों की शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

प्रांट की प्रस्थापनाओं की आलोचना: कुल मिलाकर ग्रांट की पुस्तक पढ़ने में रोचक नहीं है। इस पुस्तक के अधिकांश भाग में तत्कालीन भारतीय समाज का चित्रण किया गया है परंतु अतिरंजनाओं तथा कुल चित्रण में अपनाए गए एकपक्षीय दृष्टिकोण के कारण इसका ऐतिहासिक और शैक्षिक महत्व नहीं है। इसी प्रकार, कोई भी भारतीय ग्रांट के इस मत से सहमत नहीं होगा कि भारतीय समाज तभी पुनरुज्जीवित हो सकता या यदि लोगों को बड़े पैमाने पर ईसाई बना लिया जाता। इसी तरह ग्रांट के इस विचार को भी पिछले 150 वर्षों के इतिहास ने गलत सिद्ध कर दिया है कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार होने पर धीरे-धीरे किंतु अनिवार्य रूप से भारतीय जनता ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेगी। अंतिम बात यह है कि उन लंबी और विस्तृत चर्चाओं को अब कोई महत्व

नहीं दिया जा सकता है जिनमें ग्रांट ने यह बताने के लिए हास्यास्पद युक्तियां पेश की हैं कि अंग्रेजी शिक्षा देने से अथवा धर्मांतरण से कोई राजनीतिक खतरा पैदा नहीं होता। उदाहरण के लिए, उनमें से कुछ युक्तियां इस प्रकार हैं: 'ईसाई शिक्षा यह चाहती है कि लोगों में विनयशीलता और सुन्यवस्था हो'; 'ईसाई धर्म प्राच्य वातावरण के अशक्त करने वाले प्रभावों को दूर नहीं कर सकता'; 'हिंदुओं के शाकाहारी भोजन करने और उनमें सामुद्रिक अभिष्ठिच का अभाव होने से स्वाधीनता के उग्र इरादों पर रोक लगी रहेगी'; 'भारत के दब्बू लोगों के बीच राजनीतिक स्वतंत्रता पनप नहीं सकती है'; इत्यादि।

परंतु ग्रांट ने भारतीय जनता की शिक्षा व्यवस्था के संबंध में जो सुझाव दिए हैं उसका भारी ऐतिहासिक महत्व है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि बहुत पहले 1792 में ही ग्रांट ने भारतीय शिक्षा के भावी घटनाक्रम का इतने स्पष्ट रूप में पूर्वानुमान कर लिया था। उन्होंने सरकारी भाषा के रूप में अंग्रेजी को न्वीकार करने का सुझाव दिया था और अंततः लगभग चालीस वर्ष बाद बेंटिक ने यही निर्णय लिया। ग्रांट ने यह भी सुझाव दिया था कि अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम स्वीकार कर लिया जाए। यह शैक्षिक रूप से दोषपूर्ण परंतु असाधारण रूप से भविष्यबोधक प्रस्थापना थी जिसे मैकाले द्वारा योग्यतापूर्वक पक्ष समर्थन किए जाने पर बाद में स्वीकार कर लिया गया। अंग्रेजी भाषा सीखने की भारतीय जनता की उत्कंटा का ग्रांट ने ठीक निदान किया था और यह सही भविष्यवाणी की थी कि अंग्रेजी विद्यालयों में नवयुवकों की भीड़ आएगी और बहुत शीघ्र ही स्वयं भारतीय लोग अंग्रेजी के अध्यापक बन जाएंगे। इन्हीं व्यावहारिक और भविष्य-बोधक सुझावों के कारण ग्रांट की पुस्तक में लोगों की अभिष्वि अभी तक बनी हुई है और इन्हीं के कारण ग्रांट को कभी कभी आधुनिक भारतीय शिक्षा का जनक कहा जाता है।

इस विषय पर सामियक अंग्रेजों की राय को बनाने और ब्रिटिश संसद को यह ज्ञान कराने में 'आब्जर्वेशंस' ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1797 में यह पुस्तक प्रकाित हुई और इसकी प्रतियां प्रसारित हुई। मिशनरियों के मिल्लों ने इसे अपने आंदोलन का आधार बनाया और यह युक्ति पेश की कि कंपनी अपने राज्य क्षेत्रों में मिशनरियों को कार्य न करने देकर एक गलत और गैर ईसाई नीति पर चल रही है। इस पुस्तक का इस कारण और भी महत्व बढ़ गया कि ग्रांट की एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा थी जिसको भारत के बारे में प्रत्यक्ष ज्ञान था, और जो कंपनी का निदेशक रहा था और संसद सदस्य भी था। अंततः ग्रांट की इस प्रतिष्ठा ने 1813 के चार्टर अधिनियम के शैक्षिक खंडों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

कंपनी के कर्मचारियों द्वारा आंदोलन : मिटो का विवरण पत्र : जब कंपनी की शिक्षा नीति में परिवर्तन कराने के लिए इंग्लैंड में मिशन री इस प्रकार से आंदोलन कर रहे थे, भारत में कंपनी के कर्मचारी भी यह आंदोलन कर रहे थे कि प्राच्य शिक्षा का प्रसार करने के लिए और अधिक साहस पूर्वक कार्रवाई की जाए। वे यह समझते थे कि कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज का चलाते रहना समुद्र में एक बूद के सदृश है। हिंदू और मुस्लिम उच्च शिक्षा का जो ह्रास हो चुका था उससे वे दु:खी थे। वे अधिक धन मांगते थे और इस प्राचीन देश की शास्त्रीय शिक्षा को पुनर्जीवित करने और सुधार के लिए अधिक प्रबल अभियान चलाने को कहते थे। यहां पर लार्ड मिटो के विवरण पत्र का हवाला दिया जा संकता है जो इस विषय से संबंधित एक विशेष प्रकार का विवरण पत्र है। लार्ड मिटो 1806 से 1813 तक भारत के गवर्नर जनरल थे। वह व्यक्तिगत रूप से प्राच्य साहित्य के प्रशंसक थे और यह समझते थे कि इसका अध्ययन स्वयं पिष्टमी राष्ट्रों के लिए लाभदायक रहेगा। अतः वह इस बात के लिए उत्कंठित थे कि अंग्रेज भारतीय संस्कृति के अध्ययन तथा परिरक्षण के कार्य को यथासंभव प्रोत्साहन दें। 6 मार्च, 1811 के एक विवरण पत्र में उन्होंने लिखा था:

यह बात सामान्य रूप से कही जाती है कि भारत के मूल निवासियों में विज्ञान और साहित्य के ज्ञान का क्रमिक रूप से ह्रास होता जा रहा है। इस रोचक विषय के बारे में मैं जितनी भी जांच कर पाया हूं उससे यह उपर्युंक्त विचार मुफ्ते बहुत तर्क-संगत प्रतीत होता है। विद्वानों की संख्या न केवल घट गई है वरन जो लोग अब भी इस कार्य में संलग्न हैं उनके बीच भी विद्वत्ता का दायरा काफी संकुचित हो गया प्रतीत होता है। अमूर्त विज्ञानों का परित्याग कर दिया गया है, परिमार्जित साहित्य की अवहेलना कर दी गई है और लोगों के विशिष्ट धार्मिक सिद्धांतों से संबंधित शिक्षा के अतिरिक्त उच्च शिक्षा की अन्य किसी शाखा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। इस स्थित का तात्कालिक परिणाम यह हुआ है कि बहुत सी बहु मूल्य पुस्तकों को अब उपयोग में नहीं लाया जाता है। यहां तक कि अनेक बहु-मूल्य पुस्तकों को अब उपयोग में नहीं लाया जाता है। यहां तक कि अनेक बहु-मूल्य पुस्तकों वास्तव में लुप्त भी हो गई हैं। यह आशंका की जाती है कि यदि सरकार ने प्रतिपालक बनकर हस्तक्षेप नहीं किया तो शीघ्र ही पुस्तकों की कमी अथवा उनकी व्याख्या करने में समर्थ व्यक्तियों के अभाव के कारण इस साहित्य को पुनरुजीवित करना संभव नहीं रह जाएगा।

भारत में साहित्य की वर्तमान उपेक्षापूर्ण स्थिति का मुख्य कारण यह है कि इस समय उस प्रोत्साहन की कभी है जो पूर्व काल में नरेश, सामंत और देशी सरकारों के अधीन समृद्ध व्यक्ति दिया करते थे। अध्ययन और साहित्यिक आयास के लिए भारी प्रेरणा के रूप में ऐसा प्रोत्साहन सदैव मिलना चाहिए परंतु विशेषकर भारत में, जहां विद्वत्ता संबंधी वृत्तियों के लिए यदि कोई अन्य सहायता प्राप्त हो रही है तो वह थोड़ी है...

यह अत्यंत शोचनीय बात है कि जो राष्ट्र अपने साम्राज्य के अन्य भागों में अपने साहित्य प्रेम और साहित्य के सफल परिष्करण के लिए विशेष रूप से प्रख्यात है, उसने न तो हिंदुओं के साहित्य की प्रतिपालक देखभाल की है और न उस साहित्य 52

के भंडार के द्वार यूरोपीय विद्वानों के लिए खोल देने में ही सहायता की है।

अतः कंपनी के कर्मचारियों ने अपना जोर बिल्कुल विपरीत दिशा में लगाया और एक उग्र विवाद छिड़ गया जिसमें एक ओर मिश्रनों के मित्र एवं समर्थक थे दूसरी और प्राच्यविद अथवा कंपनी के कर्मचारी थे।

1813 का चार्टर अधिनियम: उपर्युक्त पृष्ठभूमि में ही 1813 में कंपनी के चार्टर पर नवीकरण के लिए विचार किया गया। अन्य विषयों के साथ-साथ इस अवसर पर चिंत अत्यंत महत्वपूर्ण गैक्षिक विषय निम्नलिखित थे:

- (क) क्या मिशनरियों को भारत जाने दिया जाए और भारतीय जनता की शिक्षा और धर्मांतरण के लिए कंपनी के राज्य क्षेत्रों में कार्य करने दिया जाए ?
- (ख) क्या कंपनी को भारतीय जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिए? यदि स्वीकार करना चाहिए तो कंपनी के शैक्षिक क्रियाकलापों का स्वरूप और विषय क्षेत्र क्या हो?

इनमें से पहले प्रश्न के बारे में मिशनरियों और उनके मित्नों को स्पष्ट विजय मिली। जैसा कि रिचर ने कहा है:

तेरहवा संकल्प जिसमें वस्तुतः संपूर्ण मिशनरी प्रश्न अंतर्ग्रस्त था, इस प्रकार है: 'संकल्प किया गया कि इस सिमिति की राय है कि हमारे देश का यह कर्तं व्य है कि वह भारत में ब्रिटिश डोमीनियनों के मूल निवासियों के हितों और आनंद का संवध्यन करे, और ऐसे उपाय किए जाएं जिनसे उन्हें लाभप्रद ज्ञान प्राप्त होने लगे तथा उनका नैतिक सुधार हो। उपर्युक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए, ऐसे व्यक्तियों को कानून द्वारा पर्याप्त सुविधाएं दी जाएंगी जो उन हितकारी अभिप्रायों को पूरा करने के लिए भारत जाने अथवा वहां रहने के इच्छुक होंगे।' इसका अर्थ यह था कि मिशनरियों को भारत में प्रवेश करने और वहां रहने की अनुमति दी जानी थी; वे धर्म प्रचार कर सकते थे, गिरजाधर स्थापित कर सकते थे और समस्त आध्याित्मक कर्तं व्यों का पालन कर सकते थे; संक्षेप में वे अपने मिशनरी व्यवसाय को उसके पूर्णतम और व्यापकतम अर्थ में चला सकते थे…।²

जहां तक दूसरे प्रश्न का संबंध है, उत्तरदायित्व स्वीकार करने के मुझाव का मुख्य रूप से निदेशकों ने विरोध किया। उस काल में इंग्लैंड तक में शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य का नहीं माना जाता था अत: यह अत्यंत स्वाभाविक ही था कि ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। दूसरी बात यह है कि कंपनी परोपकारी प्रयोजनों की अपेक्षा वित्तीय प्रयोजनों को अधिक महत्व देती थी। अत: उसने ऐसे सभी प्रयासों का प्रतिरोध किया जिनसे उसके ऐसे दायित्वों में वृद्धि हो

सकती थी और जो उसके लाभांशों में कटौती कर देते। तीसरी बात यह है कि स्वयं भारत की जनता इस विषय में उदासीन थी। मुगल साम्राज्य का पतन होने के पश्चात जो अराजकता फैली उससे उत्पीड़ित होने पर उसके लिए इस बात की भारी आवश्यकता थी कि विधि और व्यवस्था की स्थापना हो। अपने शासकों से कोई और चीज मांगने का न तो उसके पास समय ही था और न शक्ति ही थी। अतः कंपनी से यह स्वीकार करवा लेने का कार्य बहुत ही कठिन था कि वह भारतीय जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं संभालेगी। परंतु मिशन खंडों का विरोध करने वाले लोग यह महसूस करते थे कि मिशनरी उद्यम के परिणामों को निष्फल करने के लिए भारतीय शिक्षा में एक शक्तिशाली और प्रतिस्पर्धी अभिकरण बनाने की तुरंत आवश्यकता है। अतः उन्होंने एक संकल्प उपस्थित किया और उसे सफलतापूर्वक स्वीकृत करवा लिया। बाद में यह संकल्प चार्टर की 43वीं धारा बन गया। इसे नीचे उदधत किया जाता है:

सपरिषद गर्वार जनरल के लिए यह बात वैध होगी कि वह निदेश दें कि लगान और राजस्व की राशि और उपर्युक्त राज्य क्षेत्रीय अर्जनों से मिलने वाले लाभों की धनराशि में से सैनिक, असैनिक और वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों के खर्चों तथा ऋण के ब्याज का भुगतान कर देने के बाद जो अधिशेष बचेगा उसमें से, आगे बताई गई रीति से, प्रत्येक वर्ष कम से कम एक लाख की घनराशि अलग रख दी जाएगी और उसका विनियोग साहित्य का पुनरुत्थान एवं सुधार करने, भारत के विद्वान मूल निवासियों को प्रोत्साहन देने तथा भारत में ब्रिटिश राज्य क्षेत्रों के निवासियों के बीच विज्ञान का परिचय तथा तत्संबंधी ज्ञान का संवर्धन करने के लिए किया जाएगा।

स्पष्ट है कि इस धारा के प्रायोजक प्राच्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे क्योंकि वे साहित्य (जिसका संबंध संस्कृत और अरबी के प्राचीन साहित्य से था) का पुनरुत्थान एवं सुधार करने तथा भारत के विद्वान मूल निवासियों को प्रोत्साहन देने की बात कहते थे। परंतु वे पाश्चात्य विज्ञान की शिक्षा देने को भी उत्कंठित थे क्योंकि उस समय के भारतीयों को उसका बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था। वे यह भी चाहते थे कि इस बात के लिए प्रयास किए जाने चाहिए कि भारत के ब्रिटिश राज्य क्षेत्रों के निवासियों के बीच विज्ञान विषयक शिक्षा का संवर्धन हो। इस खंड की खास मंशा यह थी कि कंपनी एक लाख रुपये की इस राशि को खर्च करने के लिए अपना निजी अभिकरण स्थापित करे और मिशनरियों की क्रांतिकारी और धर्मांतरण की प्रस्थापनाओं के विपरीत, भारत की जनता को धर्म निरपेक्ष तथा संरक्षी रीति से शिक्षा देने का प्रयत्न करे। इस संकल्प के समर्थकों का यह विश्वास था कि 'प्राच्य एवं पाश्चात्य विज्ञान दोनों को ही प्रोत्साहन देकर… मिशनरी उद्यम के संभावित महाप्रलय के विष्द एक विश्वसनीय प्रतितोल, एक संरक्षी तरंगरोध' का निर्माण कर लिया जाएगा। उन्होंने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि

^{1.} रिपोर्ट आफ दि सिलेक्ट कमिटी आफ दि हाउस आफ कामंस आन दि अफेयर्स आफ दि ईस्ट इंडिया कंपनी (1832), परिशिष्ट 1, पृ० 325-27।

^{2.} जे० ए० रिचर : पूर्वोक्त कृति, पू० 150-51 ।

^{1.} डब्ल्यू० एच० शार्प: पूर्वोक्त कृति, पृ० 22।

^{2.} जे० ए० रिचर : पूर्वोक्त कृति, पृ० 152।

अधिनियम की तरह यह धारा भारत में एक ऐसी राजकीय शिक्षा पद्धित की नींव रख रही है जो कालांतर में सरकारी तथा मिशनरी दोनों ही प्रकार के विद्यालयों को एक ही सामान्य ढांचे में संयोजित कर देगी।

अतः 1813 का चार्टर अधिनियम शिक्षा के इतिहास में एक मोड़ है। गांट और विल्बरफोर्स लगभग बीस वर्ष तक जिस आंदोलन को चलाते रहे थे वह इस अधिनियम के बनने पर सफल हुआ। भारतीय जनता की शिक्षा को निश्चयात्मक रूप से कंपनी के कर्तव्यों में समाविष्ट कर दिया गया। शैक्षिक क्रियाकलापों के लिए प्रति वर्ष अपेक्षाकृत धनराशि प्राप्त कर ली गई। मिशनरी भारत में भारी संख्या में आकर अंग्रेजी विद्यालय स्थापित करने लगे और इस प्रकार भारत की आधुनिक शिक्षा पद्धित की नींव रख दी गई।

3

शिक्षा में सरकारी प्रयोग

इस काल की सामान्य विशेषताएं (1813-53): 1813 के चार्टर अधिनियम ने ईस्ट इंडिया कंपनी को केवल इस बात के लिए विवश किया था कि वह भारतीय जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार कर ले। परंतु 1854 के आज्ञा पत्न में भारत के लिए विस्तार से शिक्षा नीति निर्धारित कर दी गई। इन दोनों के बीच के 40 वर्षों का समय ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में शिक्षा के इतिहास का दूसरा महत्वपूर्ण काल है। इस काल की मुख्य घटनाओं को इस अध्याय तथा अनुगामी अध्यायों में वर्णन किया जाएगा। परंतु इन घटनाओं को उनके उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इस काल की कुछ महत्वपूर्ण सामान्य विशेषताओं का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

- (क) वास्तव में यह काल मुख्यतः भारत में ब्रिटिश शक्ति की विजय और दृढ़ीकरण का काल था। अतः इस सपूर्ण काल में निदेशक मंडल अथवा ब्रिटिश संसद का ध्यान राजनीतिक विषयों की ओर ही लगा रहा। इनमें से कुछ विषय ये थे: भारतीय नरेशों के साथ संबंध, युद्ध छेड़ना और संधियों पर हस्ताक्षर करना, नए जीते गए क्षेत्रों में विघि और व्यवस्था बनाए रखने की दृष्टि से पुलिस और सैनिक प्रशासन की स्थापना करना। शिक्षा एक ऐसा विषय था जिस पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। इस पर असमान अंतरालों पर चर्चा की जाती थी और इसके लिए कुल प्रशासनिक व्यय का बहुत थोड़ा सा भाग ही निर्धारित किया जाता था। भारतीय शिक्षा की प्रगिब धीमी होने का प्रमुख कारण निदेशक मंडल और ब्रिटिश संसद द्वारा की गई भारतीय शिक्षा की यह सामान्य उपेक्षा ही है।
- (ख) इस काल की दूसरी विशेषता यह है कि इस काल में भारतीय शिक्षा की समस्याओं को निपटाने के लिए शिक्षाविद नहीं थे। उस समय शिक्षा विभागों का भी अस्तित्व नहीं था। उनकी स्थापना 1854 में हुई थी। अतः भारतीय शिक्षा सबंधी समस्याओं को गवर्नर जनरलों, राज्यपालों अथवा उस समय तक स्थापित किए जा चुके शिक्षा बोडों, परिषदों और समितियों के सदस्य ही निपटाया करते थे। ये लोग अधिकांशतः ऐसे सैनिक अथवा असैनिक अधिकारी होते थे जिन्हें कोई व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था। बहुधा शिक्षा की ओर उनकी अभिरुचि भी नहीं थी। यह सच

शिक्षा में सरकारी प्रयोग

है कि इनमें से कुछ लोग व्यापक सहानुभूति रखने वाले और मानवोचित संस्कृति वाले व्यक्ति थे तथा अपनी सहज सामान्य बुद्धि से उन्होंने इतनी व्यापक आधार वाली और त्रृटिरिहत शिक्षा नीतियां निर्धारित कीं जिनसे किसी भी व्यावसायिक शिक्षाविद को श्रेय प्राप्त हो सकता था। परंतु इन अपवादों से केवल नियम सिद्ध ही होता है और इस बात का खंडन नहीं किया जा सकता है कि भारत की शैक्षिक समस्याओं को सुलझाने का कार्य अधिकांशत: अवैतिनक रूप से कार्य करने वाले अव्यवसायी लोगों अर्थात कंपनी के सैनिक और असैनिक पदाधिकारियों ने किया था। इस काल में शिक्षा को वृत्तिक रूप से प्रशिक्षित एवं पूर्णकालिक नौकरशाही के लाभों से वंचित रखा गया। इस काल के शैक्षिक विवादों के अत्यंत कटुतापूर्ण, दीर्घकालिक और बहुधा गलत निर्णीत रहने का यह भी एक प्रमुख कारण है।

(ग) तीसरी विशेषता यह है कि इस काल में नई शिक्षा पद्धित का निर्माण करने में भारतीयों की भूमिका बहुत ही गौण रही। जिस स्तर पर नीतियों का प्रारूपण किया जाता था उस स्तर पर भारतीयों के मत को कोई महत्व ही नहीं दिया जाता था। यह सच है कि नीति प्रारूपण में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर अथवा जगन्नाथ शंकर सेठ जैसे लोगों ने भाग लिया था और कुछ विषयों में, एक दो मुद्दों पर उन्हें सफलता भी मिली थी। परंतु ऐसे दृष्टांत उपलब्ध होने के बावजूद, यह कहना सही होगा कि 1854 से पहले भारत में शिक्षा नीतियों पर चर्चा अथवा उनका निर्णय अनन्य रूप से प्रायः कंपनी के कर्मचारी अथवा मिशनरी ही किया करते थे। इस संबंध में और कोई चारा भी नहीं हो सकता था क्योंकि शिक्षित भारतीयों (अर्थात आधुनिक पद्धित के अनुसार शिक्षित व्यक्तियों) की संख्या बहुत थोड़ी थी और प्रबुद्ध भारतीय मत का अभी अस्तित्व ही नहीं था।

(घ) इस काल की चौथी विशेषता यह है कि इस समय भारी संख्या में विवाद चल रहे थे। वास्तव में, इसे उपलब्धियों के युग के बजाय विवादों का युग कह सकते हैं। यह दुखद परिणाम आंशिक रूप से उपर्युक्त तीन विशेषताओं और अंशतः स्वयं 1813 के चार्टर अधिनियम के अस्पष्ट होने के कारण हुआ था। इस अधिनियम के रचिताओं के सामने ऐसी कोई नजीर नहीं थी जिसका वे अनुगमन करते क्योंकि उस समय इंगलैंड तक में न कोई शिक्षा विभाग था और न कोई राजकीय शिक्षा नीति ही थी। अतः वे भारत में शिक्षा नीति के लक्ष्यों को बताकर, अर्थात, 'साहित्य की पुनष्त्थान एवं सुधार करने', 'भारत के विद्वान मूल निवासियों को प्रोत्साहन देने', और 'भारत के ब्रिटिश राज्य क्षेत्रों के निवासियों के बीच विज्ञान के परिचय तथा संवर्धन' की बात कहकर ही संतुष्ट हो गए। उन्होंने इस संबंध में कोई निदेश ही नहीं दिए कि इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कौन सी प्रणालियां काम में लाई जाएंगी। अतः यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था कि इस विषय पर विवाद उत्पन्न हों। 1813 के चार्टर अधिनियम के आगामी 40 वर्षों की घटनाओं से यह पता चलता है कि ये विवाद चार मुख्य विषयों के संबंध में उत्पन्न हुए जो निम्नलिखत थे: शिक्षा नीति के लक्ष्य, शिक्षा माध्यम, शिक्षा संस्थाओं की व्यवस्था करने के

लिए अभिकरण और जनता के बीच शिक्षा का प्रसार करने के लिए अपनाई जाने वाली प्रणालिया।

शिक्षा नीति के लक्ष्यों के बारे में जो विवाद थे वे गंभीर नहीं थे। वे मुख्यतः शैक्षिक प्रयास के विभिन्न उद्देश्यों पर दिए जाने वाले बल के संबंध में थे। एक विचार संप्रदाय यह कहता था कि इंग्लैंड का यह कर्तव्य है कि वह अपनी भारतीय प्रजा को शिक्षित करे। दूसरा विचार संप्रदाय इस बात पर जोर देता था कि भारतीय जनता के बीच पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान के प्रवेश तथा प्रसार के कार्य को सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए। तीसरा विचार संप्रदाय मुख्यतः इस उपयोगितावादी उद्देश्य की बात करता था कि कंपनी की सेवा में अधीनस्थ पदों को संभालने के लिए भारतवासियों को प्रशिक्षित किया जाए।

शिक्षा संस्थाओं की व्यवस्था करने के लिए उपयोग में लाए जाने वाले अभिकरणों के संबंध में काफी मतभेद था। कुछ लोग इंग्लैंड में दानाश्चित विद्यालयों की दिए जाने वाले संसदीय अनुदानों के सादृश्य पर मिशनरी उद्यमों को प्रोत्साहन देने के पक्ष में थे। चूंकि मिशनरियों का सर्वप्रथम उद्देश्य लोगों का धर्म परिवर्तन करना था इसलिए कुछ अन्य लोग इस प्रस्थापना पर राजनीतिक कारणों से तथा धार्मिक तटस्थता के सिद्धांत के आधार पर आपित करते थे और स्वयं भारतीय जनता द्वारा चलाए जा रहे देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन देने की सिफारिश करते थे। एक तीसरा दृष्टिकोण रखने वाले लोग देशी विद्यालयों को यह मानकर अनुपयोगी घोषित करते थे कि वे अक्षम तथा अयोग्य हैं। उनकी यह सलाह थी कि ऐसे नए विद्यालयों की स्थापना की जाए जिनमें उचित रीति से प्रशिक्षित अध्यापक हों और जो कंपनी के सीधे नियंत्रण में कार्य करें।

जनता में शिक्षा का प्रसार करने के लिए अपनाई जाने वाली प्रणालियों के संबंध में दो विचारधाराएं थीं। एक विचार संप्रदाय का विश्वास था कि शिक्षा सदैव उच्च वर्गों से छन छन कर ही सर्वसाधारण तक पहुंचती है। अतः उसका विचार था कि कंपनी को केवल समाज के उच्च वर्गों को शिक्षात करने की आवश्यकता है और सर्वसाधारण में शिक्षा के प्रसार का काम उच्च वर्गों के ऊपर छोड़ देना चाहिए। यही प्रसिद्ध अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत था। दूसरा विचार संप्रदाय यह समझता था कि अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत भारत में उपयोगी नहीं होगा और उसकी सलाह थी कि सर्वसाधारण को शिक्षित करने के लिए कंपनी को सीधे प्रयास करने चाहिए। तो भी, सबसे उग्र विवाद शिक्षा माध्यम के विषय में उत्पन्न हुए। इस संबंध में तीन विचारधाराएं थीं:

- (1) पहली विचारधारा को मानने वाले लोगों में कंपनी के बंगाल के ऐसे पुराने कर्मचारी थे जिनका सामान्यतः यह विश्वास था कि शिक्षा नीति के संबंध में वारेन हेस्टिग्ज और मिटो की नीतियां निर्णयात्मक थीं। उन्होंने संस्कृत और अरबी के अध्ययन को प्रोत्साहन देने का पक्ष समर्थन किया और सुझाव दिया कि भारत में पाश्चात्य विज्ञान और ज्ञान का प्रसार इन्हों भाषाओं के माध्यम में किया जाए।
- (2) दूसरी विचारघारा को मानने वालों में मुनरोऔर ऐलफिस्टन जैसे ब्यक्ति थे जो आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा को प्रोत्साहन देने में विश्वास रखते

थे। उनका कहना था कि पाश्चात्य ज्ञान केवल इसी तरीके से जनता तक पहुंच सकता है।

(3) तीसरी विचारधारा को मानने वाले ऐसे व्यक्ति थे जो ग्रांट की सलाह में निहित समझदारी में विश्वास करते थे और अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार किए जाने का पक्ष समर्थन करते थे। इस विचार संप्रदाय में मिश्चनरी और कंपनी की नौकरी करने वाले नवयुवक असैनिक थे। यद्यंपि आरंभ में उनकी आवाज में बल नहीं था तथापि मैंकाले के भारत आने और इन लोगों का नेतृत्व ग्रहण कर लेने पर उनकी आवाज को भारी बल मिला।

यह घ्यान रखना चाहिए कि ये सब विवाद एवं विचारधाराएं अधिकांशतः कंपनी के यूरोपीय कर्मचारियों के बीच पाए जाते थे। उस समय भारतीय मत प्रायः अस्तित्वहीन था। पहली बात तो यह है कि जो भारतीय लोग शिक्षा नीतियों से संबंधित चर्चा में भाग ले सकते थे उनकी संख्या बहुत ही कम थी। दूसरी बात यह है कि जिन थोड़े से भारतीयों को इस विषय पर बोलने का अधिकार प्राप्त था और जो अपना प्रभाव भी रखते थे वे सामान्यतः यूरोपीय अधिकारियों के किसी न किसी दल का अनुसरण करते थे और अभी तक अपनी निजी नीति तैयार नहीं कर पाए थे। अंतिम बात यह है कि भारतीय मत का कंपनी पर कोई प्रभाव नहीं था और शिक्षा नीतियां केवल कंपनी के यूरोपीय कर्मचारियों के दलो के उत्थान और पतन के अनुसार ही बनती और रह होती रहती थीं।

जैसी प्रत्याशा की जा सकती है, इन विवादों को केवल निदेशक मंडल ही शांत कर सकता था। यदि उसने इस विषय में कोई निश्चित विनिर्णय दिया होता तो उसे स्वीकर करने के लिए कंपनी के सभी कर्मचारी विवश हो गए होते और भारत में शिक्षा का विकास अधिक तेजी से तथा सामंजस्यपूर्ण हुआ होता। ऐसा प्रतीत होता है कि 1853 से पहले निदेशक किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचने के इच्छुक नहीं थे। वस्तुतः वे प्रत्येक विचारधारा से सहमत भी थे और उन सबसे उनका मतभेद भी था। प्रायः यह कहा गया है कि इस नीति के होने अथवा कोई भी नीति न होने का कारण उदासीन भाव था। परंतु यह निष्कर्ष उचित प्रतीत नहीं होता है। हम तो इसका कारण यह मानेंगे कि निदेशक यह चाहते थे कि प्रत्येक प्रणाली का परीक्षण किया जाए। 1854 के आज्ञापत्र ने इन तमाम विवादों के बारे में निश्चित विनिर्णय दिया और इन्हें लगभग अंतिम रूप से हल कर दिया।

(ङ) इस काल की एक अन्य सामान्य विशेषता भी उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम बात यह है कि यह प्रयोगों का काल था। भारतीय शिक्षा की समस्याएं ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए नई नहीं थीं। इसलिए वह सामान्य प्रयत्न बुटि प्रणाली के द्वारा एक व्यवहार्य सूत्र पर पहुंचने का प्रयत्न कर रही थी। निदेशक मंडल ने इस विषय में कोई पूर्वग्रह नहीं रखा और आरंभिक चरणों में जो भी प्रस्थापना उसके सामने आई, उसे मंजूरी दे दी। इसलिए हम भारत में विभिन्न शैक्षिक प्रयोगों को एक साथ चलता हुआ पाते हैं। उत्तर-पिचमी-प्रांत में थामसन देशी विद्यालयों की नींव पर सार्वजनिक शिक्षा पद्धित का निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे थे जबिक बंबई शिक्षा बोर्ड देशी विद्यालयों को अन्ययोगी घोषित कर रहा था और उनके स्थान पर सरकारी विद्यालयों का जाल

बिछाने का प्रयत्न कर रहा था। बंगाल में भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की जा रही थी और शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी को अपनाया जा रहा था जबिक बंबई में यह प्रयास हो रहा था उच्चतम शिक्षा भी विद्यार्थियों की मातृभाषा में ही दी जाए। ऊपरी तौर से देखने पर ये नीतियां एक दूसरे की विरोधी प्रतीत होती हैं परंतु ऐसा प्रयोग करना निश्चित रूप से आवश्यक था। विवादास्पद प्रश्नों के संबंध में अंतिम निर्णयों पर पहुंचने में इससे प्रचर सहायता मिली।

कंपनी ने भारत के लिए एक शिक्षा पद्धित का निर्माण करने के लिए जो प्रयोग किए थे उन्हें इस पृष्ठभूमि में देखा और समझा जाना चाहिए कि उस समय एक ऐसी स्थिति विद्यमान थी जिसमें सामान्य उदासीनता फैली हुई थी, समस्याओं को शौकिया ढंग से हल किया जा रहा था, भारतीय दृष्टिकोण की पूर्ण अवहेलना की जाती थी (बल्कि एक प्रकार से भारतीय दृष्टिकोण का अभाव था) और कितपय विवाद पूरे जोर से छिड़े हुए थे।

भारत में राजकीय प्रयास (1813-23): इन आरंभिक टिप्पणियों के बाद अब हम विचाराधीन काल की घटनाओं का उल्लेख करेंगे। पहले कंपनी के राजकीय प्रयासों और उसके बाद मिशनरी एवं गैर मिशनरी दोनों ही प्रकार के गैर सरकारी प्रयासों का वर्णन किया जाएगा।

जैसा पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, निदेशक मंडल ने विल्बरफोर्स द्वारा प्रस्तावित सुधारों के विरुद्ध जी तोड़ संघर्ष किया था और वह हार गया था। अत: शिक्षा पर 1813 के चार्टर अधिनियम द्वारा अपेक्षित एक लाख रूपये की धनराशि खर्च करने के लिए वह अधिक उत्सुक नहीं था। परंतु अंशत: इस कारणवश कि कंपनी के कर्मचारियों और मिशनरियों द्वारा लगातार आंदोलन चलाए जा रहे थे और अंशत: इस काल में अंग्रेजों के जीवन को प्रभावित करने वाली उदार भावना के प्रभाव के कारण, राजकीय शिक्षा पद्धित को गठित करने का काम तीनों प्रेसीडेंसियों में लगभग एक साथ 1823 के आसपास आरंभ हुआ और 1833 तक उसका विस्तार होता गया। ब्रिटेन में शिक्षा के लिए दिए गए प्रथम संसदीय अनुदान के उदाहरण का अनुमान करते हुए 1833 में भारत के शिक्षा अनुदान की राशि भी एक लाख रुपये से बढ़ाकर दस लाख रुपये वार्षिक कर दी गई।

1823 और 1853 के बीच भारत में राजकीय शिक्षा उद्यम: 1853 में भारत के ब्रिटिश राज्य क्षेत्रों को पांच प्रांतों में विभक्त कर दिया गया। ये प्रांत थे: बंगाल, बंबई और मद्रास की प्रेसीडेंसियां तथा संयुक्त प्रांत (जिसे उस समय उत्तर-पश्चिमी प्रांत कहा जाता था) और पंजाब प्रांत। अतः 1823 और 1853 के बीच भारत में राजकीय शिक्षा उद्यम की प्रमुख युग प्रवर्तक घटनाओं का वर्णन प्रांतों के अनुसार सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

बंगाल प्रेसीडेंसी: यह पहला प्रांत था जिसने शैक्षिक पुनर्गठन के उस कार्य को अपने हाथ में लिया जिसे 1823 के लगभग निदेशक मंडल द्वारा अपनाई गई उदार अभिवृत्ति ने संभव बना दिया था। 17 जुलाई, 1823 के एक संकल्प द्वारा सपरिषद गवर्नर जनरल ने बंगाल प्रेसीडेंसी के लिए एक लोक शिक्षा सामान्य समिति नियुक्त की। इस सिमिति के दस सदस्य थे। इनमें से एक सदस्य एच० टी० प्रिसेप थे जिन्हें बाद में मैकाले का विरोध करने के कारण प्रसिद्धि मिली। एक अन्य सदस्य एच० एच० विल्सन थे जो महान प्राच्य विद्वान थे। 1813 के चार्टर अधिनियम द्वारा उपबंधित एक लाख रुपये के अनुदान को व्यय करने का अधिकार भी इसी समिति को दे दिया गया।

इस समिति में अधिकांशतः ऐसे व्यक्ति थे जो संस्कृत और अरबी साहित्य से बहुत अनुराग रखते थे। अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि समिति ने यह निर्णय किया कि लार्ड मिटो के विचार को माना जाए और प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाए। 1823 और 1833 के बीच इस समिति ने जो कार्य किए वे इस प्रकार हैं:

- (क) कलकत्ता मदरसा एवं बनारस संस्कृत कालेज का पुनर्गठन किया;
- (ख) 1824 में कलकत्ता में एक संस्कृत महाविद्यालय स्थापित किया;
- (ग) आगरा और दिल्ली में दो अन्य प्राच्य महाविद्यालयों की स्थापना की;
- (घ) बड़े पैमाने पर संस्कृत और अरबी ग्रंथों के मुद्रण एवं प्रकाशन का कार्य हाथ में लिया, और
- (ङ) उपयोगी ज्ञान की अंग्रेजो पुस्तकों का प्राच्य क्लासिकी भाषाओं में अनुवाद करने के लिए प्राच्य विद्वान नियुक्त किए।

परंतु अपनी स्थापना के बाद बहुत शीघ्र ही सिमिति को यह पता चल गया कि उसके इन कार्यों का काफी विरोध हुआ है। पहली चोट राजा राममोहन राय के नेतृत्व में कुछ प्रबुद्ध भारतीयों ने की थी। उन्होंने 11 दिसंबर, 1823 को गवर्नर जनरल को एक अभ्यावेदन दिया और आग्रह किया कि कलकत्ता में संस्कृत महाविद्यालय स्थापित करने की प्रस्थापनाओं का परित्याग कर दिया जाए और सरकार 'एक अधिक उदार एवं प्रबुद्ध शिक्षा पद्धित का विकास करे जिसमें गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन शास्त्र, शरीर रचना विज्ञान एवं अन्य उपयोगी विज्ञान हों। प्रस्तावित धनराशि से इस कार्य को सरकार यूरोप में शिक्षित कुछ गुणी तथा विद्वान व्यक्तियों को नियुक्त करके और आवश्यक पुस्तकों, औजारों एवं अन्य उपकरणों से युक्त महाविद्यालयों की व्यवस्था करके कर सकती है।' यह अभ्यावेदन उस समय की प्रवृत्तियों का अच्छा संकेत देता है। यह बताता है कि भारतीयों में अंग्रेजी शिक्षा पाने की इच्छा किस प्रकार बढ़ रही थी। परंतु इस अभ्यावेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और कलकत्ता में संस्कृत महाविद्यालय स्थापित करने की योजना को कार्यान्तित कर दिया गया।

समिति के कार्य पर इससे भी अधिक भीषण प्रहार निदेशक मंडल ने किया। 18 फरवरी, 1824 को एक आज्ञापत्न में उसने लिखा :

हमें आशंका है कि इस समय हम जिन संस्थाओं के सुधार की ओर ध्यान दे रहे हैं उनकी योजना मूल रूप से गलत थी। हमारा महान लक्ष्य हिंदू विद्या पढ़ाना न होकर उपयोगी विद्या पढ़ाना होना चाहिए था। यह उचित होता कि हिंदुओं अथवा मुसलमानों को उपयोगी विद्या पढ़ने में हिंदू माध्यमों अथवा मुसलमान माध्यमों का उस हद तक उपयोग किया जाता जिस हद तक वे अत्यंत फलदायक पाए जाते और हिंदू एवं मुसलमान पूर्वग्रहों को ध्यान में रखते हुए, हिंदू अथवा मुसलमान साहित्य में जो भी चीजें उपयोगी हैं उन्हें रहने देते। मर्यादा में रहकर एक ऐसी शिक्षण पद्धित को आरंभ करने में किसी प्रकार की दुस्तर किठनाई नहीं हुई होती जिससे हमें भारी लाभ हो सकता था। इसके बजाय केवल हिंदू अथवा मुसलमान साहित्य के अध्यापनार्थ शिक्षालयों की स्थापना की बात कहने से आप बहुत सी निर्थंक चीजों को पढ़ाने के लिए बाध्य हो गए। इन चीजों का अधिकांश भाग सारहीन था और इनमें उपयोगी अंश बहुत कम था।

इस आज्ञापत के फलस्वरूप समिति ने इस विषय में विचार करना आरंभ कर विया। 'निदेशकों ने साहसपूर्वक आगे बढ़ने का आग्रह किया था और गवर्नर जनरल ने इसका समर्थन किया था, यद्यपि यह समर्थन अधिक उत्साह के साथ नहीं किया गया था। चूंकि समिति जनता की बहुसंख्यक राय और पंडितों के विचारों को बहुत अच्छी तरह से जानती थी अतः इतने बड़े पैमाने पर एक नवीन प्रक्रिया को आरंभ करने में हिचकिचाई।'' उसने निम्निलखित अनुरोध किया: हिंदू और मुसलमानों में अब भी यूरोपीय शिक्षा के प्रति 'भारी पूर्वग्रह' हैं; प्राच्य साहित्य की एकदम निदा नहीं करनी है; इसकी अपनी उपयोगिता है; शिक्षा माध्यम के रूप में किसी शास्त्रीय भाषा का प्रयोग अपरिहार्य है; इस समय ऐसे माध्यम से यूरोपीय विज्ञानों की शिक्षा देने के लिए न तो पुस्तकों हैं और न अध्यापक ही उपलब्ध हैं; सिमिति इस प्रकार की पुस्तकों को तैयार करने और अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की ओर ध्यान दे रही है; और शीघ्र ही निदेशकों के अनुदेशों का पूरी तरह पालन किया जाएगा। निदेशकों ने इस तर्क को स्वीकार कर लिया और सिमिति ने क्लासिकी शिक्षा को प्रोत्साहन देने का अपना कार्य जारी रखा।

परंतु अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में तेजी से जनमत बढ़ रहा था। इसके कई कारण थे। मिशनरियों के कार्य ने अंग्रेजी शिक्षा को बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया था। दूसरी बात यह है राजा राममोहन राय जैसे भारतीय नेता भी अपने देशवासियों से यह आग्रह कर रहे थे कि वे इंग्लैंड की भाषा और साहित्य का अध्ययन करें और इस अध्ययन के द्वारा पाश्चात्य विज्ञान की शाखाओं का ज्ञानार्जन करें। तीसरी बात यह है कि शासकों की भाषा के रूप में अंग्रेजी का राजनीतिक महत्व बढ़ रहा था और सरकार के अधीन प्रलाभी पदों को प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों को यह पता चल गया था कि अंग्रेजी को बोलने और लिखने की क्षमता से उन्हें अपना लक्ष्य पूरा करने में प्रचुर सहायता मिलती है। वास्तव में अंग्रेजी का अध्ययन एक ऐसा राजमार्ग बनता चला जा रहा था

^{1.} सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, खंड I, पृ० 101 ।

^{1.} सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, पृ० 91-92।

^{2.} वही, पु॰ 81।

जिस पर चलकर लोग अच्छी आय और समाज में महत्वपूर्ण दर्जा प्रदान करने वाला व्यवसाय अपना सकते थे। अतः यदि उस पीढ़ी के बहुत से भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षा को अपनी तमाम बीमारियों का इलाज समझा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

लोक शिक्षा सामान्य समिति अंग्रेजी शिक्षा की इस बढ़ती हुई मांग की अधिक समय तक उपेक्षा नहीं कर सकती थी और इसे कूछ सीमा तक पुरा करने के लिए कदम उठाने पड़े। 1833 तक समिति ने आगरा स्थित महाविद्यालय और कलकत्ता मदरसा में अंग्रेजी की कक्षाएं खोल दी थीं। दिल्ली और बनारस में जिला अंग्रेजी विद्यालय स्थापित कर दिए गए। परंतु इन अधुरी कार्रवाइयों से जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति होने की आशा नहीं की जा सकती थी। 1823 में इस डर से कि भारतीय जनता को कोई ठेस न पहुंचे, समिति का क्लासिकी शिक्षा को ही आरंभ रखने का कदम संभवत: उचित ही था। परंतू जनता की विपरीत मांग हो जाने पर भी अपनी इसी नीति को जारी रखने से समिति में दो मत हो गए। समिति के दस सदस्यों में से पांच ने प्राच्य साहित्य को प्रोत्साहन देने की नीति का समर्थन किया अतः उन्हें प्राच्य दल के नाम से पूकारा जाने लगा। समिति के शेष सदस्य अंग्रेजी शिक्षा माध्यम स्वीकार करने के पक्ष में थे अतः उन्हें आग्लिक दल कहा जाने लगा। प्राच्य दल का नेतृत्व एच बटी बिप्सेप ने किया जो कि उस समय शिक्षा विभाग में बंगाल सरकार के सचिव थे। इस दल में कंपनी के पुराने लोग थे। अंग्रेजी दल का कोई निश्चित नेता नहीं था। इसमें अधिकांशत: कंपनी के अपेक्षाकृत नए कर्मचारी थे जो समर्थन के लिए मैंकाले की ओर देखते थे। मैंकाले उस समय लोक शिक्षा सामान्य समिति के अध्यक्ष और गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परि-षद के विधि सदस्य थे। समिति में दलों के इस समान विभाजन के कारण शिक्षा कार्य को चलाना अत्यंत कठिन हो गया। बैठकों में 'आवर्ती और असुविधाजनक चर्चाएं होती थीं। चर्चा के लिए जो विषय रखे जाते थे, लगभग उन सभी पर चर्चा के समय बूनियादी मतभेद उभर कर सामने आ जाते थे। अनेक बार तो कोई निर्णय ही नहीं हो सका। यदि संयोगवश विरोधी पक्ष का कोई सदस्य अनुपस्थित हो गया तो बहुधा दूसरे दल के पक्ष में निर्णय हो जाता था। अनेक बार तो यह भी होता था कि जब किसी अन्य बैठक में इस दूसरे दल के सदस्य अल्प संख्या में उपस्थित रहते थे तो उपर्युक्त निर्णय को उलट दिया जाता था। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। 1835 के आरंभ में समिति के दोनों दलों ने अपने विवाद को आदेशों के लिए सपरिषद गवर्नर जनरल के समक्ष प्रस्तुत करने का निश्चय किया।

अनेक वर्षों तक जो विवाद चलता रहा, इस समय उसके विस्तार में जाना बिल्कुल अनावश्यक ही होगा। यहां केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि हम यह बता दें कि एच० टी० प्रिसेप के नेतृत्व में कार्य कर रहे प्राच्य दल के विचार क्या थे और उसके बाद इस विषय पर मैंकाले के विवरण पत्न का विश्लेषण करके अन्य पक्ष को प्रस्तुत कर दें।

(क) प्राच्यवादी दृष्टिकोण: प्राच्य दल ने 1813 के चार्टर अधिनियम की 43वीं धारा के निर्वचन को ही अपनी सबसे महत्वपूर्ण युक्ति का आधार बनाया। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, इस धारा में निदेश दिया गया था कि 'साहित्य का पुनरुत्थान

एवं सुधार करने, भारत के मूल निवासियों को प्रोत्साहन देने तथा भारत के ब्रिटिश राज्य क्षेत्र के निवासियों के बीच विज्ञान की शिक्षा का संवर्धन करने' के लिए प्रत्येक वर्ष कम से कम लाख रुपया व्यय किया जाएगा। इस धारा में उल्लिखित प्रथम दोनों लक्ष्यों के संबंध में प्राच्य दल ने निम्नलिखित युक्ति प्रस्तुत की:

जिस साहित्य का इस प्रकार पुनक्त्थान किया जाना था और प्रोत्साहन दिया जाना था, वह जनता के दो बड़े वर्गों, मुसलमानों और हिंदुओं का साहित्य था ''साहित्य का पुनक्त्थान पहले से विद्यमान शिक्षालयों को सहायता देकर, नए शिक्षालय स्थापित करके, तथा इसी प्रकार उन गौरवग्रंथों का मुद्रण और प्रकाशन करके किया गया है जिनकी अब तक केवल पांडुलिपियां ही मिलती थीं। इन प्रयोजनों के लिए नियत निधियों के कुछ भाग का उपयोग किया जा सकता है। अगली बात विद्वान व्यक्तियों को प्रोत्साहन देने के संबंध में है। इस कार्य को शिक्षा संस्थाओं में तथा प्रकाशन के लिए ग्रंथों के अधीक्षण और तैयारी के कार्य में उनकी सहायता करके तथा अपनाई गई पद्धित के प्रसंग में प्राप्त होने वाले अन्य लाभों द्वारा किया गया है। इनमें एक लाभ यह भी है कि होनहार विद्यार्थियों को वजीफा देकर दीर्घकालीन अध्ययन कराया जाए और यह उपबंध भी कम फलदायक नहीं है। यह सब मूल निवासियों और उनके साहित्य के लिए किया गया है।

जहां तक तीसरे लक्ष्य अर्थात विज्ञान के परिचय तथा संवर्धन का संबंध है, यह युक्ति प्रस्तुत की गई थी कि यूरोपीय ज्ञान और विज्ञान के प्रति भारतवासी पूर्वग्रह रखते हैं। अतः जब तक उन्हें इस ज्ञान और विज्ञान को किसी ऐसी शास्त्रीय भाषा के माध्यम से नहीं पढ़ाया जाएगा जिसका वे आदर करते हैं और उनके पूर्वजों की संस्कृति के साथ, जिससे उनका भावपूर्ण संबंध है, प्रस्तुत नहीं किया जाएगा तब तक वे इसे कतई स्वीकार नहीं करेंगे। अतः यह कहा गया कि समिति ने उपयोगी पुस्तकों का अंग्रेजी से अरबी और संस्कृत में अनुवाद कराने का जो कार्य किया वह बिल्कुल उचित था। प्राच्य दल इस बात पर अड़ा रहा कि उसने पूरी तरह 1813 के चार्टर अधिनियम के अंतर्गत कार्य किया है और उसकी नीति को तब तक नहीं बदला जा सकता है जब तक चार्टर अधिनियम को स्वयं ब्रिटिश संसद संशोधित न करे।

दूसरी बात यह है कि प्राच्य दल उन विद्यमान प्राच्य उच्च शिक्षा संस्थाओं का परिरक्षण करने के लिए अत्यंत उत्सुक था जिन्हें आंग्लिक दल समाप्त करना चाहता था। विवाद का वास्तविक विषय यही था। प्राच्य दल अपनी स्थिति की कमजोरी को जानता था और यह सुझाव रखकर समझौता करने को तैयार था कि सरकार इस बात को विद्यार्थी के ऊपर छोड़ दे कि वह शास्त्रीय या अंग्रेजी शिक्षा में से जिस प्रकार की शिक्षा चाहता हो, चुन ले। परंतु वह प्राच्य संस्थाओं को समाप्त कर देने के विचार से सहमत नहीं था। उसके विचार से ऐसा कदम उठाना जनता को तुष्ट करने की सरकारी नीति

^{1.} सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, खंड I, पृ० 135-36।

64

के पूर्णतया विरुद्ध और असिहब्णुता का कार्य होता। प्रिसेप कलकत्ता मदरसा के बारे में विशेष रूप से उत्सुक थे। उनकी युक्ति थी कि मदरसा:

50 वर्ष से भी अधिक समय पूर्व वारेन हेस्टिग्ज की दानिनिधि था। इसकी सहायता के लिए कुछ निधियों को, अर्थात महरुस मुहाल का लगान, विशेष रूप से नियत कर दिया गया। इस महरुस मुहाल का एक भाग बैरकपुर पार्क में शामिल है। पहले तो हेस्टिग्ज ने एक मुल्ला को इस संस्था का अध्यक्ष बनाकर इसका प्रबंध अनियंत्वित रूप से उसके हाथों में छोड़ दिया। परंतु मुहाल राजस्व बोर्ड के खास प्रबंध में रहा और उससे बसूल की गई घटती-बढ़ती धनराशि को खर्च करने के लिए मौलवी को सौंपा जाता रहा। जब बाद में निदया के राजा को उसकी जागीर वापस दिलाई गई तो निश्चित जमा पर यह मुहाल उसे लौटा दिया गया क्यों कि यह मुहाल उस जागीर का एक अंग था। अतः सिवाय इसके कि इन जमीनों का सीधा प्रबंध महाविद्यालय के प्रधानाचार्य, प्रोफेसरों और अध्येताओं के हाथों में नहीं था, यह मदरसा ठीक उसी प्रकार से पूर्ण दानिनिधि था जिस रूप में आक्सफोर्ड और कैंब्रिज का कोई महाविद्यालय या लंदन का ब्लू कोट स्कूल दान निधि होने का गर्व कर सकता है।

अतः उन्होंने यह युक्ति प्रस्तुत की कि यदि वर्तमान प्राच्य संस्थाओं को समाप्त करने का निर्णय कर भी लिया जाए तो भी:

कई ऐसे कारण हैं जिनसे कम से कम इस समय तो मदरसे को नष्ट नहीं किया जाना चाहिए। यह एक मात्र कड़ी है जिसके द्वारा इस समय बंगाल के मुसलमान युवकों की शिक्षा से सरकार का कुछ संबंध बना हुआ है। यह हाल में स्थापित उन अस्थाई संस्थाओं में से नहीं है जिनकी सहायता के लिए ब्रिटिश संसद द्वारा नियत एक लाख रुपये की धनराशि में से धन दिया जाता है। यह पृथक रूप से दान किया हुआ एक सुस्थापित महाविद्यालय है और दान निधि के उद्देश्यों को कार्यकुशलता के साथ पूरा कर रहा है।²

प्राच्य दल द्वारा प्रस्तुत की गई अन्य युक्तियों में जान नहीं है। उदाहरण के लिए, एक युक्ति यह प्रस्तुत की गई थी कि भारतवासी अंग्रेजी भाषा में कभी भी निष्णात नहीं हो सकते हैं और लोगों पर अंग्रेजी भाषा लादे जाने पर उनके मन में रोष उत्पन्न होगा। भाषा इन युक्तियों से उस समय की सरकार सहमत नहीं हो सकती थी। भारतवासी अंग्रेजी भाषामें निष्णात होने की अपनी सामर्थ्य का दिन पर दिन अधिक प्रमाण दे रहे थे और बेंटिक जैसा गवर्नर जनरल, जिसने निर्मम सती प्रथा को समाप्त कर दिया था, ऐसे किसी भी कार्य को संपन्न करने में जन रोष के भय से हतोत्साहित नहीं हुआ होता जिसे वह जनहित का कार्य मानता था।

(ख) मैकाले का विवरण पत्र: अब हम इस मामले से संबंधित दूसरे पक्ष को लेते हैं और देखते हैं कि मैकाले ने आंग्लिक दल की किस प्रकार वकालत की थी। उन्होंने लोक शिक्षा सामान्य समिति की बैठकों में होने वाले वाद-विवाद में कोई भाग नहीं लिया क्योंकि वह जानते थे कि कार्यकारिणी परिषद का सदस्य होने के नाते यह मामला पुनः उनके सामने उपस्थित होगा। अतः जब इस विवाद से संबंधित कागजात परिषद के सामने पेश किए गए तो मैकाले ने नई शिक्षा नीति संबंधी अपना प्रसिद्ध विवरण पत्र लिखा। यह 2 फरवरी, 1835 का है और इस दस्तावेज का भारी ऐतिहासिक महत्व है।

1813 के चार्टर अधिनियम की धारा 43 के निर्वचन को मैकाले ने अपने विवरणपत्न में चर्चा का प्रथम विषय चुना। मैकाले ने यह युक्ति प्रस्तुत की कि इस धारा में आने वाले शब्द साहित्य' का तात्पर्य अंग्रेजी साहित्य ही हो सकता है और 'भारत का विद्वान मूल निवासी' विशेषण पद किसी ऐसे व्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है जो लाक के दर्शन एवं मिल्टन के काव्य का अच्छा ज्ञाता हो अतः विज्ञान की जानकारी के संवर्धन करने का लक्ष्य अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम स्वीकार करके ही पूरा किया जा सकता है। यदि इस निर्वचन को स्वीकार नहीं किया जाता तो मैकाले चार्टर की धारा 43 का विखंडन करने वाला एक अधिनियम प्रस्तावित करने के लिए तैयार थे। स्पष्ट है कि मैकाले की इस युक्ति के लिए कोई ठोस आधार नहीं है। उनका यह निर्वचन यदि वास्तव में गलत नहीं तो निश्चित रूप से खींचतान करके किया गया निर्वचन अवश्य है।

प्राच्य उच्च शिक्षा संस्थाओं को जारी रखने के संबंध में भी मैकाले का प्राच्य दल से मतभेद था। उनका विचार था कि इन्हें समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि इनसे कोई लाभप्रद प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है। उन्होंने कहा:

प्राच्य शिक्षा पद्धित के प्रशंसकों ने एक और युक्ति प्रस्तुत की है जिसे यदि हम मान्य मान लें तो हम कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकेंगे। इन लोगों का विचार है कि जनता का विश्वास वर्तमान पद्धित में ही है और अरबी तथा संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए अब तक जो निधियां खर्च की गई हैं उनमें से किसी भी निधि के विनियोजन में परिवर्तन करना स्पष्ट रूप से लूट होगी। यह समझना सरल नहीं है कि तर्क की किस प्रिक्तिया द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुंच सके होंगे। साहित्य के प्रोत्साहन के लिए सरकारी कोष से जो अनुदान दिए जाते हैं वे उन अनुदानों से किसी भी अर्थ में भिन्न नहीं हैं जो उसी कोष से वास्तिवक अथवा अनुमित उपयोगिता वाले अन्य प्रयोजनों के लिए दिए जाते हैं। हम एक ऐसे स्थान पर आरोग्याश्रम की स्थापना करते हैं जिसे हम स्वास्थ्यवर्धक समझते हैं। इसके द्वारा क्या हम साथ ही यह भी प्रण कर लेते हैं कि यदि परिणाम हमारी प्रत्याशाओं को पूरा न भी करें तो भी हम आरोग्याश्रम को उसी स्थान पर कायम रखेंगे? हम एक स्तंभ खड़ा करना शुरू कर देते हैं। यदि बाद में हमें यह विश्वास करने का कोई कारण दिखाई दे कि भवन बेकार रहेगा तो क्या निर्माण कार्य को बंद कर देना जनता के विश्वास का उल्लंबन करना होगा?

^{1,} सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, खंड I, पृ० 199 ।

^{2.} वही, पृ० 128-29 ।

इसके पश्चात मैंकाले ने शिक्षा माध्यम की समस्या पर समीचीनता एवं वांछनीयता के आधार पर विचार किया है। स्पष्ट है कि सरकार निम्नलिखित तीनों भाषाओं में से कोई भी एक भाषा चुन सकती थी: लोगों की मातृभाषा, कोई प्राच्य शास्त्रीय भाषा अथवा अंग्रेजी। परंतु यह अत्यंत दुर्भाग्य की बात है कि मातृभाषा के दावों की दोनों ही दलों ने उपेक्षा कर दी। उदाहरण के लिए, मैंकाले ने कहा:

सभी दल इस एक बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि भारत के इस भाग के मूल निवासियों के बीच सामान्य रूप से बोली जाने वाली बोलियों में साहित्यिक एवं वैज्ञानिक जानकारी का अभाव है तथा वे इतनी अपरिष्कृत एवं अविकसित हैं कि जब तक उन्हें किसी अन्य स्नोत से संपन्न नहीं किया जाएगा उनमें सुगमता से किसी भी महत्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद नहीं हो सकेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी पक्ष इस बात को स्वीकार करते हैं कि जनता के जिन वर्गों के पास उच्च शिक्षा जारी रखने के साधन मौजूद हैं उनका बौद्धिक सुधार इस समय किसी ऐसी भाषा के माध्यम से ही हो सकता है जो उनकी मातुभाषा न हो।

जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं की इस निंदा के पश्चात यह स्वाभाविक ही था कि शिक्षा माध्यम के लिए एक ओर संस्कृत तथा अरबी और दूसरी ओर अंग्रेजी में से किसी एक को ही चुना जाता । मैंकाले को न अरबी का ज्ञान था और न संस्कृत का । परंतु उन्होंने यह घोषित कर दिया कि प्राच्यवादियों की यह सुविचारित राय है कि 'एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की केवल एक ही अलमारी भारत और अरब के संपूर्ण देशी साहित्य के बराबर मूल्यवान थी।' अंग्रेजी की उपयोगिता एवं महत्व के बारे में उन्होंने लिखा था कि:

हमारी अपनी भाषा के दावों को दोहराने की संभवतः आवश्यकता नहीं है। यह भाषा पाश्चात्य भाषाओं में भी सर्वोपरि है। इसमें ऐसे कल्पनाशील ग्रंथ प्रचुर संख्या में हैं जो उन उत्कृष्ट ग्रंथों से किसी प्रकार भी हीन नहीं हैं जो युनान ने हमें उत्तरदान दिए हैं। इसमें वाग्मिता के हर प्रकार के नम्ने हैं। इसमें ऐसी ऐतिहा-सिक रचनाएं हैं जिन्हें यदि केवल आख्यान मान लिया जाए तो उनसे बढ़कर श्रेष्ठ रचनाएं शायद ही मिलें; यदि नैतिक एवं राजनीतिक शिक्षा के साधन के रूप में देखें तों हम पाएंगे कि श्रेष्ठता में कोई अन्य साहित्य इनकी कभी बराबरी नहीं कर सका है। इसमें मानव-जीवन और मानव स्वभाव को उचित और सजीव ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें तत्व मीमांसा, सदाचार, शासन, न्याय शास्त्र और व्यापार पर अत्यंत गंभीर परिकल्पनाएं हैं। इसमें स्वास्थ्य की रक्षा तथा सुख की वृद्धि करने वाले अथवा मनुष्य की बुद्धि को बढ़ाने वाले प्रत्येक प्रयोगात्मक विज्ञान के संबंध में पूर्ण और सही जानकारी है। जिसे इस भाषा का ज्ञान है, वह सुगमता से उस विशाल बौद्धिक संपत्ति को प्राप्त कर सकता है जिसे विश्व के सबसे बुद्धिमान राष्ट्रों ने रचा है और नब्बे पीढ़ियों के दौरान संग्रहीत किया है। यह बात निरापद रूप से कही जा सकती है कि इस भाषा में इस समय जो साहित्य विद्यमान है वह उस तमाम साहित्य से कहीं अधिक मूल्यवान है जो तीन सौ वर्ष पहले संसार की समस्त भाषाओं में कुल मिलाकर विद्यमान था । भारत में अंग्रेजी भाषा शासक वर्ग द्वारा बोली जाने वाली भाषा है। राजधानियों में इस भाषा को उच्च वर्ग के मूल निवासी बोलते हैं। पूर्व के समुद्रों में इसके वाणिज्य की भाषा बन जाने की संभावना है।

अंग्रेजी की इस प्रशस्ति के उपरांत जो सारांश निकाला गया है वह अंग्रेजी की विशेषता है। आश्वस्तता और उसी के तुल्य अज्ञानता के साथ एवं शक्तिशाली शैली में वह पूछते हैं:

अब हमारे सामने प्रश्न केवल यह है कि जबिक इस भाषा की शिक्षा देना हमारी शिक्त में है तो क्या हम ऐसी भाषाओं को पढ़ाएंगे जिनमें किसी भी विषय पर ऐसी पुस्तकों नहीं हैं जिनकी हमारी अपनी पुस्तकों से तुलना तक की जा सकती हो। जब हम उन्हें यूरोपोय विज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं तो क्या हम उन्हें ऐसी पद्धितयों की शिक्षा देंगे जिनमें जहां कहीं भी यूरोपीय पद्धितयों से अंतर पाया जाता है, बहुत दोष है। जबिक हम विशुद्ध दर्शन और वास्तविक इतिहास के अध्ययन को प्रोत्साहन दे सकते हैं तो क्या हम सरकारी खर्च पर निम्निलिखित विषय पढ़ाए जाने का अनुमोदन करेंगे: चिकित्सा सिद्धांत जिन पर अंग्रेजी पशु चिकित्सकों को लज्जा आएगी; ज्योतिष, जिस पर अंग्रेजी छात्रावास विद्यालयों की बालिकाएं हंस पड़ेंगी; इतिहास जिसमें तीस फुट लंबे राजाओं और तीस हजार वर्ष तक चलने वाले राज्यकालों की भरमार है; और भूगोल जिसमें शीरे तथा मक्खन के समुद्रों का वर्णन है।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रति भारतीय जनता के कथित पूर्वग्रहों का वर्णन करते हुए मैंकाले ने यह युक्ति प्रस्तुत की कि इंग्लैंड का यह कर्तव्य है कि वह भारतीयों को उनकी रुचि के अनुसार शिक्षा न देकर ऐसी शिक्षा दे जो उनके स्वास्थ्य के लिए अच्छी हो। यह मानते हुए भी कि जनता की रुचि का ध्यान रखा जाना चाहिए, मैंकाले ने कहा कि भारतवासी अंग्रेजी के प्रति अपने प्रेम का पर्याप्त प्रमाण दे चुके हैं। इसके समर्थन में उन्होंने कहा कि जबिक लोक शिक्षा समिति को अपने प्राच्य प्रकाशनों को बेचने में किठनाई हो रही है, कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी की अंग्रेजी पुस्तकें हजारों की संख्या में बिक रही हैं और उनसे भारी लाभ कमाया जा रहा है। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि जबिक मदरसा और संस्कृत महाविद्यालय के विद्यार्थियों को वृत्तिका देनी पड़ती है, अंग्रेजी विद्यालयों के विद्यार्थी इन विद्यालयों में प्राप्त होने वाली शिक्षा के लिए शुल्क देने को भी तैयार हैं।

इस युक्ति के संबंध में कि अरबी और संस्कृत भाषाओं का जनता के धर्म और कानून की भाषाओं के रूप में अध्ययन किया जाना चाहिए, मैंकाले ने कहा कि सरकार के लिए सबसे अच्छा रास्ता यह होगा कि वह हिंदू और मुसलमान कानूनों को अंग्रेजी में संहिताबद्ध कर दे और प्राच्य संस्थाओं के रख रखाव पर भारी खर्च न करे।

इन तथा अन्य आधारों पर मैकाले ने जोरदार सिफारिश की कि भारत में शिक्षा नीति का लक्ष्य अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार करना होना चाहिए। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि प्राच्य शिक्षा की वर्तमान संस्थाओं का अंग्रेजी शिक्षा के संवर्धन के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

(ग) लार्ड विलियम बेंटिक विवरण पत्र को स्वीकार करते हैं: मैकाले द्वारा अपने मत के समर्थन में प्रस्तुत की गई युक्तियों को लार्ड विलियम बैंटिक ने तुरंत ही स्वीकार कर लिया और उन्होंने 7 मार्च, 1835 के अपने संकल्प में निम्नलिखित आदेश दिए:

भारत के सपरिषद गवर्नर जनरल ने लोक शिक्षा समिति के सचिव से प्राप्त हुए 21 और 22 जनवरी के दोनों पत्नों और उनमें उल्लिखित कागजातों पर ध्यानपूर्वक विचार किया है।

प्रथम: सपरिषद लार्ड महोदय की राय है कि ब्रिटिश सरकार का महान लक्ष्य भारत के मूल निवासियों के बीच यूरोपीय साहित्य और विज्ञान का संवर्धन करना होना चाहिए। अतः शिक्षा के प्रयोजनार्थ विनियोजित तमाम निधियों को केवल अंग्रेजी शिक्षा के काम में ही लाना ज्यादा अच्छा होगा।

दितीय: परंतु सपरिषद लार्ड महोदय का यह अभिप्राय नहीं है, जबिक देशी जनता की प्रवृत्ति शिक्षा देने वाले महाविद्यालयों अथवा विद्यालयों द्वारा मिलने वाले लाभों को प्राप्त करने की प्रतीत हो; तब भी देशी शिक्षा के किसी महाविद्यालय अथवा विद्यालय को समाप्त कर दिया जाए। संपरिषद लार्ड महोदय निदेश देते हैं कि समिति के अधीक्षण में चलने वाली तमाम संस्थाओं के समस्त वर्तमान प्रोफेसरों और विद्यार्थियों को उनको वृत्तिकाएं मिलती रहेंगी। परंतु ऐसे किसी भी विद्यार्थी को वृत्तिका नहीं दी जाएगी जो एतत्पश्चात इनमें से किसी भी संस्था में प्रवेश करेगा। जब प्राच्य उच्च शिक्षा का कोई प्रोफेसर अपने पद को छोड़ेगा तो समिति कक्षा की छात्र संख्या और दशा के बारे में सरकार को प्रतिवेदन देगी ताकि सरकार उत्तराधिकारी की नियुक्ति की समीचीनता के बारे में निर्णय कर सके।

तृतीय: सपरिषद गवर्नर जनरल को यह ज्ञात हुआ है कि सिमिति ने प्राच्य कृतियों के मुद्रण पर भारी धनराणि व्यय की है। सपरिषद लार्ड महोदय निदेश देते हैं कि भिवष्य में निधियों के किसी भी भाग को इस प्रकार से काम में नहीं लाया जाएगा। चतुर्थ: सपरिषद लार्ड महोदय यह निदेश देते हैं कि इन सुधारों के बाद सिमिति के पास जो निधियां बचेंगी, अब भिवष्य में मूल निवासियों को अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान के ज्ञान की शिक्षा देने के कार्य में लगाया जाएगा। सपरिषद लार्ड महोदय सिमिति से यह निवेदन करते हैं कि वह इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए शीघ्र ही एक योजना सरकार के समक्ष प्रस्तुत करें।

(घ) इस विवाद के महत्व को बहुधा अतिरंजित कर दिया जाता है। हम समझते हैं कि जिस विषय पर विवाद चल रहा था वह बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं था। वस्तुतः दोनों ही दल गलत रास्ते पर थे। इस समस्या का सही हल यह था कि भारतीय भाषाओं को

शिक्षा माध्यम स्वीकार कर लिया जाता। उन्हें 'अपरिष्कृत एवं अविकसित' तथा वैज्ञा-निक अथवा साहित्यिक विचारों को व्यक्त करने में असमर्थं बताकर एकदम त्याग देना एक गलती थी। यदि संस्कृत तथा अरबी को शिक्षा माध्यम बनाए रखने के लिए संघर्षं करके क्लासिकी दल गलती कर रहा था तो अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा को शिक्षा माध्यम स्वीकार करने का सुझाव देकर मैंकाले ने भी समान रूप से गलती की थी। हमारी राय में वह विवाद अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है जो बंबई में उठा था। इसमें एक और भारतीय भाषाओं और दूसरी ओर अंग्रेजी के बीच संघर्ष था।

(ङ) भारतीय शिक्षा को मैकाले का योगदान: स्वयं मैकाले की भूमिका के बारे में लोगों की विभिन्न प्रकार की धारणाएं हैं। कुछ लोग उन्हें 'प्रगति पथ का मशालबरदार' मानते हैं। एक दूसरा वर्ग, जो यह कहता है कि भारत के बाद में फैलने वाले असंतोष और राजनीतिक अशांति का कारण अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार ही था, संपूर्ण आपदा का कारण मैकाले को ही मानता है। कुछ लोग भारतीय भाषाओं, संस्कृति और धर्म की मैकाले द्वारा की गई अज्ञानजन्य एवं उग्र निंदा के कारण उनसे घृणा करते हैं। कुछ अन्य लोग शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग किए जाने से भारतीय भाषाओं की जो उपेक्षा हुई उसके लिए मैकाले को उत्तरदायी मानकर उन्हें दोषी ठहराते हैं।

गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि उपर्युक्त धारणाएं गलत और अनुचित हैं। मैकाले को 'प्रगति पथ का मशालबरदार' कहना उनकी उस भूमिका को अतिरंजित करके बताना होगा जो उन्होंने वास्तव में अदा की थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा की इच्छा उत्पन्न नहीं की थी। यह इच्छा पहले से ही विद्यमान थी। यह उन महत्वपूर्ण लोगों के कारण उत्पन्न हुई थी जिनका उस समय अंग्रेजी के ज्ञान से अभिन्न संबंध था। मैकाले आंग्लिक दल के संगठनकत्ता भी नहीं थे क्योंकि जब वह भारत में आए तो यह दल पहले से ही मौजूद था। वस्तूत: जब मैकाले 1834 में भारत आए तो पूराने और नए का संघर्ष पहले से ही पूरे जोर से चल रहा था। लोग अंग्रेजी शिक्षा चाहते थे और उसे कंपनी से न पा सकने के कारण अपनी पिपासा को मिशनरी विद्यालयों में जाकर शांत करते थे। मन में सुधार करने का जोश लिए असैनिकों की नई पीढी अंग्रेजी शिक्षा आरंभ करने के लिए उत्सुक थी। परंतु इन दोनों शक्तियों के चढ़ते हुए ज्वर को ऐसे सेवारत पूराने राजनीतिज्ञ आगे बढ़ने से रोक रहे थे जो यह समझते थे कि हेस्टिंग्ज और मिटो की नीति सदा के लिए अच्छी है। इन राजनीतिज्ञों का समर्थन भारतीयों की रूढिवादी और प्रतिक्रियाबादी शक्तियां कर रही थीं। ऐसे ही समय मैकाले रंगमंच पर आए और उन्होंने अपनी वाग्मिता की शक्ति से रूढ़िवादिता के तालों को तोड दिया और नए विचारों के प्रकाश को अंदर आने दिया। वह केवल एक ऐसे विवाद का शीघ्र निर्णय करने के लिए उत्तरदायी थे जो अन्यथा चार वर्ष तक चलता रहता परंत फिर भी शास्त्रीय भाषाओं के पक्ष में निर्णीत नहीं हुआ होता।

लोक सम्मान की दृष्टि से मैकाले को जितना ऊंचा स्थान मिलना चाहिए, उनके प्रशंसक उन्हें उससे बहुत ऊंचा स्थान दे देते हैं। हमें उनकी इस उदारता पर आपित्त नहीं करनी चाहिए। परंतु यह निश्चय ही खेद की बात है कि उनके कार्यों के लिए भी अनुचित

ह्ण से उनकी निंदा की जाती है, जिनके लिए वह वास्तव में उत्तरदायी नहीं थे। मैंकाले के विवरण पत्र में एकमात्र दोष यह है कि उसमें प्राच्य साहित्य एवं धर्म की निंदा की गई है। परंतु अब जबिक इन बातों के लिखे जाने के पश्चात एक सौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, हमारे लिए सबसे अच्छा यही होगा कि मैंकाले के लेख के इस अंश की उपेक्षा कर दें। आखिरकार उनके उद्देश्य निंद्य नहीं थे और भूल जाना तथा क्षमा कर देना हमेशा ही अच्छा होता है। मैंकाले की जो अन्य आलोचनाएं की गई हैं वे अनुचित हैं। उदाहरण के लिए, भारतीय भाषाओं की उपेक्षा के लिए मैंकाले को दोष देना बिलकुल उचित नहीं है। शिक्षा माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं के स्वीकार किए जाने के महत्व को मैंकाले अच्छी तरह समझते थे। परंतु इस विवाद से संबंधित दोनों पक्षों के स्थानीय लोगों ने स्पष्ट रूप से मैंकाले को यह परामर्श दिया था कि भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम स्वीकार करना संभव नहीं है। अत: उनकी बात को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने के लिए मैंकाले को दोष नहीं दिया जा सकता है।

जो लोग यह मानकर मैंकाले की निंदा करते हैं कि बाद में उत्पन्न होने वाले समस्त राजनीतिक असंतोष का कारण मैंकाले ही थे, वे संभवतः सबसे कम उदार हैं। पहली बात तो यह है कि हमें इसमें संदेह है कि अंग्रेजी शिक्षा के न होने पर यह राजनीतिक आंदोलन आरंभ नहीं हो सकता था। परंतु यदि वह इस शिक्षा के परिणामस्वरूप ही आरंभ हुआ था तो यह एक ऐसी बात है जिस पर इंग्लैंड भी गर्व कर सकता है। यह रोचक बात है कि स्वयं मैंकाले भी इस बात को समझते थे कि ऐसा परिणाम निकलेगा और उन्होंने उसे 1833 के चार्टर अधिनियम पर हाउस आफ कामंस में दिए गए भाषण में गौरव का विषय बताया था।

(च) बंगाल में आंग्लिक श्रेष्यवादी विवाद का अंत 1839: यह मानना गलत होगा कि बैंटिक सरकार के उपर्युक्त संकल्प के साथ ही विवाद समाप्त हो गया। यह विवाद लग-भग पांच वर्ष तक चलता रहा और अंतत: उसे भारत के गवर्नर जनरल लार्ड आकर्लंड के 24 नवंबर, 1839 के एक विवरण पत्र ने अंतिम रूप से समाप्त कर दिया। यह विवरण पत्र शिक्षा के इतिहास का महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। इसमें कई विषयों को लिया गया है परंतु विशेषकर आंग्लिक श्रेष्यवादी विवाद, देशी शिक्षा के सुधार के बारे में ऐडम की सिफारिशों और माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा माध्यम की समस्या पर विचार किया गया है।

1839 तक संघर्ष की अधिकांश गर्मागर्मी समाप्त हो गई थी। मैकाले भारत से चले गए थे। प्राच्य दल अंग्रेजी के प्रसार का प्रतिरोध करने की निरर्थकता को महसूस करने लगा था और तदनुसार उसने अपनी मांग को संयत कर लिया था। वह अब केवल विद्यमान प्राच्य शिक्षा संस्थाओं को कायम रखने और बहुमूल्य प्राच्य पुस्तकों के प्रकाशन के लिए कुछ निधियां ही मांगता था। अतः समझौते के लिए पूरी तरह से आधार तैयार

था। जब लार्ड विलियम बैंटिक के स्थान पर लार्ड आकलैंड गवर्नर जनरल बने तब यह विवाद संभवतः दोनों ओर से किसी न किसी रूप में काफी कटुता के साथ पुनः छिड़ गया। परंतु लार्ड आकलैंड ने बुद्धिमतापूर्वक इस संघर्ष के वास्तविक कारण का पता लगा लिया और विवाद का अंत कर दिया। उन्होंने संकट का जो निदान किया उसे उन्हों के शब्दों में व्यक्त करना उचित होगा:

मेरी राय में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि शिक्षा के प्रश्न पर जो उग्र विवाद उठ खडे हए हैं उनके मुख्य कारणों में से एक यह है कि लोक शिक्षा के प्रयोजनार्थ राज्य द्वारा अपर्याप्त निधियां नियत की गई थीं। यदि प्राच्य साहित्य के परिष्करण के लिए पहले से विनियोजित निधियों को खर्च कर दिया गया होता तथा अंग्रेजी शिक्षा के संवर्धकों के हाथों में अन्य साधन दे दिए गए होते, तो सब लोगों की सद्भावना प्राप्त करके वे अपने लक्ष्य की ओर बढ गए होते। मुफ्ते प्रसन्नता है कि मेरे सामने जो कागजात हैं उनसे पता चलता है कि प्रिसेप के प्रमाण ग्रंथ से भी मेरी राय का समर्थन होता है। यद्यपि बंगाल प्रेसीडेंसी का राज्य क्षेत्र बहुत बड़ा है और लगभग एक करोड़ 30 लाख रुपये राजस्व के रूप में प्राप्त होते हैं तो भी शिक्षा पर सरकार प्रतिवर्ष 24,000 पौंड या 2, 40,000 रुपये से कुछ ही अधिक धनराशि खर्च करती है। मुझे यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि भारत जैसे देश में जनता को उन्नत शिक्षा के अर्जन की सुविधाएं पाने के लिए किस प्रकार मुख्यत: सरकार से ही आशा करनी चाहिए । तूरंत जितनी राशि को खर्च किया जा सकता था वह सीमित राशि थी। जो दल ज्ञान का विभिन्न रूपों में प्रसार करना चाहते थे उन्होंने व्यग्रतापूर्वक संघर्ष किया। इनमें से एक दल ने इस बात के लिए संघर्ष किया कि उस घनराशि को अपनी योजनाओं के लिए प्रति-धारित कर ले, दूसरे दल ने उसे अपनी योजनाओं के लिए प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया।

उस समय नई विचारधारा प्रवाहित होने लगी थी और यदि कुछ और धनराशि तुरंत प्राप्त की जा सकी होती तो हो सकता था कि किसी को भी उस धनराशि को नए विचारों के संबंध में पूर्ण और निष्पक्ष प्रयोग करने के लिए खर्च किए जाने पर आपत्ति न हुई होती। इन तथ्यों और प्रेक्षणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धिमतापूर्ण उदारता के उस सिद्धांत को मौन स्वीकृति मिल जाने की संभावना है जो किसी ऐसे लक्ष्य में, जिसकी उचित रूप से सिफारिश की जा सकती हो, बाधा न डाल कर सबको समायोज्य एवं विभेदक प्रोत्साहन देता हो। यह आशा की जा सकती है कि ऐसा सिद्धांत उस कटुता की स्मृति को मिटा देगा जो विगत कार्यवाहियों के दौरान लोक कल्याण के लिए अत्यंत हानिकर रही है। इसका स्पष्ट उपाय यह था कि अतिरिक्त निधियां नियत कर दी जातीं ताकि दोनों

पक्ष संतुष्ट हो जाते। लार्ड आकलैंड ने ठीक यही कदम उठाया। उन्होंने आदेश जारी किए जिनके द्वारा:

- (i) प्राच्य शिक्षा की विद्यमान संस्थाओं को जारी रखने और 'सर्वश्रेष्ठ प्रोफेसरों' के सत्कार के लिए तथा विद्यार्थियों को पर्याप्त छात्रवृत्तियां देने के लिए पर्याप्त अनुदान देने की गारंटी दी गई थी।
- (ii) प्राच्य भाषाओं में शिक्षण की उपयोगी पुस्तकों की रचना तथा प्रकाशन को प्रोत्साहन दिया गया था, परंतु व्यय को मंजूर की गई निधियों तक ही सीमित रखा जाना था; और
- (iii) यह भी निर्देश दिया गया था कि प्राच्य महाविद्यालयों का पहला कर्तव्य प्राच्य शिक्षा देना है और यदि आवश्यक हो तो इस कर्तव्य का उचित रीति से पालन करने के पश्चात वे अंग्रेजी कक्षाएं चला सकते हैं।

इन आदेशों से प्राच्य दल पूरी तरह संतुष्ट हो गया। उपर्युक्त प्रस्थापनाओं की कुल अतिरिक्त लागत लगभग 31,000 रुपये वार्षिक थी और लार्ड आकलैंड गर्व के साथ यह प्रतिवेदित कर सके कि निदेशक मंडल 'विधित व्यय की इस सीमित धनराशि की मंजूरी के साथ ही हमारे द्वारा इन विवादों को समाप्त कर दिए जाने का अनुमोदन' करेगा।

दूसरी ओर, लार्ड आकलैंड ने आंग्लिक दल की मांगों को भी पूरा कर दिया। पहली बात यह है कि उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए एक लाख रुपये से भी अधिक धनराशि नियत कर दी।

दूसरी बात यह है. कि उन्होंने अपने विवरणपत्न में भारतीय शिक्षा के संपूर्ण प्रश्न पर पुनर्विचार किया और निम्नलिखित निर्णय किए जिनमें आंग्लिक दल के विचारों का पूरी तरह समर्थन किया गया है:

- (i) संस्कृत तथा अरबी के माध्यम से यूरोपीय विज्ञान की शिक्षा देने के प्रयासों से केवल आंशिक और अपूर्ण परिणाम निकलने की ही आशा की जा सकती है।
- (ii) शिक्षा नीति का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि अंग्रेजी भाषा के द्वारा अधिक से अधिक संख्या में ऐसे विद्यार्थियों को यूरोपीय साहित्य, दर्शनशास्त्र और विज्ञान की पूर्ण शिक्षा दी जाएं जो उसे ग्रहण करने के लिए तैयार हों।
- (iii) सरकार को समाज के केवल उन उच्च वर्गों तक ही उच्च शिक्षा का विस्तार करने के लिए प्रयास करने चाहिए जिनके पास अध्ययन के लिए फालतू समय हो और जिनकी संस्कृति छन-छनकर सर्वसाधारण के पास पहुंचेगी। यही पुराना प्रसिद्ध अधोमुखी निस्यंद सिद्धांत था और लार्ड आकर्लेंड द्वारा इसका अनुमोदन किया जाना इसको सरकार द्वारा राजकीय स्वीकृति प्रदान करना था। इसके पश्चात यह सिद्धांत राजकीय शिक्षा नीति बन गया और लगभग 1870 तक शिक्षा में सरकारी प्रयत्नों पर इसका प्रभाव रहा।

कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि लार्ड आकलैंड ने श्रेण्यवादियों को पूर्ण विनाश से बचा लिया, और इतना ही श्रेण्यवादी चाहते भी थे, तथापि उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार को भारी प्रोत्साहन दिया।

आकलैंड के विवरण पत्र से यह भी प्रतीत होता है कि यद्यपि मैकाले को आधूनिक भारतीय भाषाओं के अविकसित होने की बात को लिखे हए उस समय संभवत: पांच वर्ष ही बीते थे तथापि अनेक क्षेत्रों की ओर से उस समय भी यह सुझाव दिया जा रहा था कि कम से कम माध्यमिक विद्यालयों में तो इन भाषाओं का शिक्षा माध्यमों के रूप में प्रयोग किया ही जाना चाहिए। यह कहा गया था कि विशेषकर यदि अच्छी पाठ्य-पस्तकों तैयार कर ली जाएं और अध्यापकों को उचित रीति से प्रशिक्षित करने की व्यवस्था हो जाए तो इन विद्यालयों के सीमित पाठ्य विवरणों को भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा सरलता से पढ़ाया जा सकता है। यह युक्ति भी प्रस्तृत की गई थी कि इस प्रकार की कार्रवाई से भारतीय भाषाओं के साहित्य को प्रोत्साहन मिलेगा और यह कहा गया था कि बंबई में इस प्रकार के अधिकांश विद्यालयों में वस्तृत: शिक्षा माध्यमों के रूप में भारतीय भाषाओं का ही प्रयोग हो रहा है। परंतु यह खेद की बात है कि भारतीय भाषाओं के शिक्षा माध्यम बनाए जाने के पक्ष में इतनी बातें होने के बावजद लार्ड आकलैंड ने इस हितकारी सुझाव को स्वीकार नहीं किया। उस समय जो जिला विद्यालय विद्यमान थे उनमें शिक्षा माध्यम के रूप में पहले से ही अंग्रेजी का प्रयोग किया जा रहा था और आकलैंड ने यह नहीं सोचा कि विद्यमान स्थिति में परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त कारण मौजद हैं। यह निर्णय इसलिए और भी अधिक खेदजनक है कि 1833 के चार्टर अधिनियम द्वारा किए गए केंद्रीकरण के कारण गवर्नर जनरल के विचार अब अन्य प्रेसी-डेंसियों को भी बहत हद तक प्रभावित कर सकते थे।

लार्ड आकर्लंड के विवरण पत्न के पश्चात बंगाल के विकास के बारे में कोई उल्लेख-नीय घटना नहीं हुई। 1842 में लोक शिक्षा सामान्य समिति का स्थान शिक्षा परिषद ने ले लिया। 1844 में सरकार ने शिक्षित भारतीयों को सरकारी नौकरी देकर उन्हें सभी प्रकार का प्रोत्साहन देने की नीति की घोषणा की। 1845 में शिक्षा परिषद ने कलकत्ता में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। परंतु निदेशक मंडल ने उसे इस आधार पर रद्द कर दिया कि यह प्रस्ताव कालपूर्व है। 1854 तक शिक्षा परिषद ने 151 शिक्षा संस्थाएं चलाई जिनमें 13,163 विद्यार्थी थे और कुल खर्च 5,94,428 रुपये वार्षिक था।

बंबई प्रेसीडेंसी: 1818 में पेशवा का शासन समाप्त हो गया। उसी वर्ष उसके स्थान पर बंबई प्रांत का उस रूप में निर्माण कर दिया गया जिस रूप में वह आजकल मौजूद है (केवल एक छोटे क्षेत्र को छोड़कर जिसे बाद में जोड़ा गया था)। पेशवा ब्राह्मणों को 5,00,000 रुपये वार्षिक दक्षिणा में देता था। अब यह निर्णय किया गया कि इस खर्च को बंद कर दिया जाए और उसका एक भाग हिंदू उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए व्यय किया जाए। अतः बनारस संस्कृत कालेज के नमूने पर 1821 में पूना संस्कृत कालेज स्थापित किया गया। 1823 में संपूर्ण भारत के संबंध में एक अधिक प्रबल शिक्षा नीति अपनाए जाने के समय तक सरकार का मुख्य शैक्षिक कियाकलाप इस महाविद्यालय का रखरखाव करना ही रहा।

इस समय प्रेसीडेंसी के गवर्नर माउंट स्टुअर्ट ऐलिफिस्टन थे जिनकी देशी शिक्षा

संबंधी जांच का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। मुख्यतया उनके द्वारा दिए गए प्रोत्साहन के कारण ही भारतीय जनता के बीच आधुनिक शिक्षा का प्रसार करने के उद्देश्य से बंबई में बंबई देशी शिक्षा समिति (दि बांबे नेटिव एजूकेशन सोसायटी) नामक एक संस्था स्थापित की गई। इस समिति का विस्तृत इतिहास अगले अध्याय में दिया जाएगा। यहां पर इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि ऐलिफिस्टन की सिफारिश पर निदेशक मंडल ने इस समिति के लिए एक सहायता अनुदान मंजूर कर दिया और जनता के बीच शिक्षा का प्रसार करने के लिए मुख्य अभिकरण स्वीकार कर लिया। इस राजकीय समर्थन ने समिति को भारी प्रोत्साहन दिया और उसे इतना समर्थ बना दिया कि वह 1823 और 1840 के बीच शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी शैक्षिक कार्य कर सकी। समिति द्वारा 1840 में संचालित संस्थाओं के निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण से उसकी शिक्षा नीति की मुख्य विशेषताओं का पता चल जाएगा:

- (क) जिला अंग्रेजी विद्यालय: यह समिति बंबई, थाना, पनवेल और पूना में चार अंग्रेजी विद्यालयों का संचालन करती थी। इन सभी विद्यालयों का प्रबंध यूरोपीय प्रधाना-ध्यापकों के हाथों में था।
- (स) जिला प्राथमिक विद्यालय: मुफिस्सिल में प्राथमिक विद्यालयों के संचालन को सिमिति अपेक्षाकृत बहुत अधिक महत्व देती थी। उस काल में प्राथमिक शिक्षा पद का अर्थ मातृभाषा के द्वारा पाश्चात्य विज्ञान तथा ज्ञान का प्रसार होता था। इसिलए सिमिति के प्राथमिक विद्यालय आज के प्राथमिक विद्यालयों से बहुत भिन्न थे। उदाहरण के लिए, एक प्राथमिक विद्यालय के पाठ्य विवरण में निम्नलिखित विषयों का अध्ययन होता था, पढ़ना, लिखना, अंकगणित, इंग्लैंड तथा भारत का इतिहास, भूगोल, खगोल विज्ञान, भौतिक विज्ञान, बीजगणित, यूक्लिड की ज्यामिति और विक्रोणमिति। कक्षाओं की संख्या छः से दस तक होती थी। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये विद्यालय आधुनिक अर्थ में प्राथमिक विद्यालय न होकर मातृभाषा के माध्यम से अध्ययन करने वाले माध्यमिक विद्यालय थे।

1822 और 1840 के बीच बंबई देशी शिक्षा सिमित ने ऐसे ही विद्यालयों के विकास की ओर ध्यान दिया। परंतु प्रगित धीमी रही क्योंकि सिमित के पास धनराशि सीमित थी और इन विद्यालयों के लिए अध्यापकों को विशेष रूप से प्रशिक्षण देना पड़ता था। तो भी सिमित ने अपना प्रयास जारी रखा और 1840 में इस प्रकार के 115 प्राथमिक विद्यालयों का संचालन किया।

जहां तक शिक्षा माध्यम का संबंध है, सिमिति का विचार था कि 'भारतवासियों के मानसिक और नैतिक सुधार के लिए' अंग्रेजी का अध्ययन 'गौण महत्व' रखता है। यद्यपि उसने कुछ अंग्रेजी विद्यालय इसलिए चलाए कि 'वह उन थोड़े से विद्वानों को तैयार कर सके जिनकी अंग्रेजी भाषा की ओर प्रवृत्ति हो और जिनके पास उसका अध्ययन जारी रखने के लिए फालतू समय हो और जो साहित्य और विज्ञान के सभी प्रकार के ग्रंथों को समझने की क्षमता रखते हों' तथापि उनका विचार था कि जनता के बीच पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से नहीं किया जा सकता है। 1825-26 के अपने

प्रतिवेदन में उसने अपनी नीति को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया था :

इन विचारों को (अर्थात पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञान के नए विचारों को) प्रत्येक छात्र की मातृभाषा के द्वारा बोधगम्य बना दिया जाएगा। अतः यह बात असंदिग्ध है कि यदि इन अपरिहार्य व्याख्याओं को देशी भाषाओं में लिखे गए ग्रंथों में पहले ही समाविष्ट कर दिया जाए तो अध्यापक और छात्र दोनों के ही समय और श्रम की काफी बचत होगी। इस प्रकार पुनः यह प्रतीत होता है कि एक समुदाय निकाय के रूप में देशवासियों को यूरोप के साहित्य, विज्ञान और नैतिकता संप्रेषित करने के लिए अंग्रेजी अत्यंत सहज साध्य एवं सफल माध्यम कभी नहीं बन सकती है।

बंबई देशी शिक्षा समिति के प्रबंध में चलने वाली उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त दो महाविद्यालयों का संचालन स्वयं करती थी, पूना में संस्कृत महाविद्यालय तथा बंबई में ऐलिफिस्टन इंस्टीट्यूशन। 1827 में जब ऐलिफिस्टन सेवा निवृत्त हुए तब प्रांत के प्रति उनकी सेवाओं को स्मरण रखने के लिए बंबई की जनता ने दो लाख रुपये का चंदा जमा किया। निदेशक मंडल ने भी इतनी ही धनराशि दी और 1834 में बंबई में ऐलिफिस्टन इंस्टीट्यूशन स्थापित किया गया। निदेशक आशा करते थे कि इसके द्वारा वे 'ऐसे लोगों का एक वर्ग' तैयार कर सकेंगे 'जो भारत के असैनिक प्रशासन में ऊंचे पदों पर काम करने के लिए बुद्धि और सदाचार की दृष्टि से योग्य होंगे।' भारतीय समुदाय, जिसने इसके लिए चंदा दिया था, यह आशा करता था कि इससे जनता की भाषाओं का अध्ययन होगा और वे समृद्ध होंगी। इस महाविद्यालय के लिए छात्र बंबई देशी शिक्षा सिमिति द्वारा संचालित केंद्रीय अंग्रेजी विद्यालय से आते थे।

बंबई की संस्थाओं के उपर्युक्त विवरण से पता चलेगा कि सरकार ने संस्कृत, अंग्रेजी और आधुनिक भाषाओं के अध्ययन को एक साथ प्रोत्साहन दिया था। कप्तान कैंडी के प्रतिवेदन के निम्नलिखित उद्धरण से इस नीति के अंतर्निहित सिद्धांत स्पष्ट हो जाते हैं:

मुफ्ते ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के बौद्धिक और नैतिक उत्थान की योजना में अंग्रेजी के अध्ययन को न तो बहुत अधिक प्रोत्साहन ही दिया जा सकता है और न बहुत अधिक महत्व। मैं समझता हूं कि इसका स्थान शिक्षा माध्यम के रूप में नहीं वरन विचार तथा शिक्षा की विषय वस्तु प्रदान करने वाली भाषा के रूप में है। जिस माध्यम से विशाल जनसमूह को शिक्षा दी जानी है वह अंग्रेजी अथवा संस्कृत न होकर निश्चित रूप से लोगों की मातृभाषा ही होनी चाहिए। मैं समझता हूं कि संस्कृत एक ऐसा विशाल मंडार है जिससे देशी भाषाएं शक्ति और सौंदर्य प्राप्त कर सकती हैं। इसलिए इसकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। परंतु यह अपने मंडार से शिक्षा की विषय वस्तु नहीं दे सकती है और न यह कभी अधिक लोगों का शिक्षा माध्यम ही बन सकती है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि ज्ञान अंग्रेजी भाषा के भंडार से लिया जाना चाहिए, उसके संप्रेषण के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए और देशी भाषाओं को सुधारने और उन्हें संप्रेषण के प्रयोजन के हेतु उपयुक्त बनाने के लिए संस्कृत का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाना चाहिए। मैं समझता हूं कि जिस भारतीय को अपनी मातृभाषा का, संस्कृत

का और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान है वह अपने देशवासियों का अपार हित करने की शक्ति रखता है। 1

अप्रैल, 1840 में बंबई सरकार ने निर्णय किया कि भारतीयों की तमाम शिक्षा संस्थाओं का प्रबंध करने के लिए एक अभिकरण गठित किया जाए। उसने सात सदस्यों का एक शिक्षा बोर्ड स्थापित किया जिनमें से तीन सदस्य समिति द्वारा नाम निर्देशित होते थे। बंबई देशी शिक्षा समिति को समाप्त कर दिया गया। तीन भारतीयों को शिक्षा बोर्ड का सदस्य नाम निर्देशित करना उसका अंतिम कार्य था। शिक्षा बोर्ड 1855 तक कार्य करता रहा। तत्पश्चात 1855 में प्रथम लोक शिक्षा निदेशक ने कार्य भार संभाल लिया।

बोर्ड को उत्तराधिकार में न केवल देशी शिक्षा समिति द्वारा संचालित सभी संस्थाएं मिलीं वरन पूना महाविद्यालय और ऐलिंफस्टन इंस्टीट्यूशन भी मिले। 1842 में उसने प्रांत को तीन शिक्षा प्रभागों में बांट दिया। प्रत्येक प्रभाग में एक यूरोपीय निरीक्षक को प्रभारी बना दिया और उसे एक भारतीय सहायक दे दिया। अंग्रेजी और प्राथमिक विद्यालयों के प्रबंध के लिए बोर्ड ने नियम बनाए। उसने 2,000 से अधिक जनसंख्या वाले प्रत्येक गांव में एक प्राथमिक विद्यालय स्थापित करने का काम अपने हाथ में लिया। विद्यालय स्थापित करने के लिए एक शर्त यह थी कि लोग विद्यालय के लिए बिना किराए के मकान की व्यवस्था कर दें और प्रति छात्र एक आना मासिक शुल्क देने के लिए सहमत हों। इससे ज्ञात होता है कि बोर्ड ने बंबई देशी शिक्षा समिति की नीति को जारी रखा था। उसके 1845 के प्रतिवेदन से उद्धृत किए गए निम्नलिखित आंकड़ों से पता चलता है कि बंगाल और बंबई में शिक्षा के संबंध में कितना अंतर था:

| | बंगाल | बंबई |
|----------------------------------|-------------|-------------|
| 1. जनसंख्या | 3,70,00,000 | 1,05,00,000 |
| 2. शिक्षा पर व्यय | 4,77,593 হ৹ | 1,68,226 হ৹ |
| 3. सरकारी विद्यालयों में पढ़ने | | |
| वाले छात्रों की संख्या | 5,570 | 10,616 |
| 4. अंग्रेजी विद्यालयों में पढ़ने | | |
| वाले छात्रों की संख्या | 3,953 | 761 |

1845 और 1848 के बीच बंबई में भी बंगाल की भांति ही शिक्षा माध्यम के संबंध में विवाद उठ खड़ा हुआ। परंतु इन विवादों का स्वरूप एक दूसरे से बुनियादी तौर पर भिन्न था। बंगाल में, एक ओर शास्त्रीय भाषाओं और दूसरी ओर अंग्रेजी के बीच संघर्ष हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि दोनों दलों में से किसी एक के भी प्रबल समर्थकों ने मातृभाषा के पक्ष में कुछ नहीं कहा। परंतु बंबई में शास्त्रीय और आधुनिक भारतीय भाषाओं के झगड़े को उन मध्ययुगीन संतों ने वर्षों पहले निबटा दिया था जिन्होंने अपनी

1 रिपोर्ट आफ दि बोर्ड आफ एजूकेशन, 1840-41, पृ० 35।

रचनाएं जनता द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा में लिखी थीं। अतः बंबई का जनमत मैंकाले द्वारा बाद में रखे गए इस विचार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था कि 'भारत के इस भाग के निवासियों में सामान्य रूप मे बोली जाने वाली बोलियों में एक तो साहित्यिक और वैज्ञानिक ज्ञान कोष का अभाव है, साथ ही वे इतनी अविक-सित और गंवारू हैं कि जब तक उन्हें किसी बाह्य भंडार से संपन्न नहीं किया जाएगा उनमें किन्हीं महत्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद कर देना सरल नहीं होगा।' इसके विपरीत, बंबई का जनमत यह था कि सरकार को मातृभाषा के द्वारा शिक्षा का प्रसार करने की ओर ध्यान देना चाहिए और शिक्षा माध्यम के रूप में किसी शास्त्रीय भाषा को स्वीकार करने का तो किसी ने सुझाव तक नहीं दिया। परिणामस्वरूप जब बंबई में शिक्षा माध्यम के संबंध में संघर्ष छिड़ा तो मातृभाषा और अंग्रेजी के बीच छिड़ा न कि बंगाल की तरह शास्त्रीय भाषा और अंग्रेजी के बीच।

1843 में उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश सर असंकिन पैरी शिक्षाबोर्ड के अध्यक्ष बने। वह अंग्रेजी का शिक्षा माध्यम के रूप में प्रयोग करने के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने बंबई देशी शिक्षा समिति की इस पूर्ववर्ती नीति का (जिसे शिक्षा बोर्ड ने बिना किसी परिवर्तन के जारी रखा था) कर्ताई अनुमोदन नहीं किया कि जहां तक संभव हो सके उच्च शिक्षा भारतीय भाषाओं के द्वारा ही दी जाए। उन्होंने बोर्ड के समक्ष प्रस्ताव रखा कि बंबई को बंगाल का अनुसरण करना चाहिए और समस्त उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी का शिक्षा माध्यम स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रस्ताव का तुरंत कड़ा विरोध हुआ। कर्नल जीवस और बोर्ड के तीन भारतीय सदस्यों का विचार था कि शिक्षा बालकों की मानुभाषा के द्वारा दी जाने चाहिए। वे सोसायटी को पूर्ववर्ती नीति को त्यागने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। उन्होंने सर असंकिन पैरी के विचारों को स्वीकार करने से बिल्कुल इंकार कर दिया। इस प्रकार एक संघर्ष छिड़ गया जो लगभग दो वर्ष तक बोर्ड से कटुता के साथ चलता रहा। अंत में, बंगाल की भांति इस मामले को आदेश के लिए सरकार के पास भेज दिया गया।

यहां इस बात पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि सर पैरी के नेतृत्व में चलने वाले आंग्लिक दल की इस मामले में क्या स्थिति थी। यह बात स्पष्ट है कि उसे बंगाल से प्रेरणा मिली थी और मैंकाले तथा आकर्लैंड के विवरण पत्नों में प्रस्तुत की गई युक्तियों के अतिरिक्त उसे कोई नई बात नहीं कहनी थी। परंतु बंबई में भिन्न स्थिति होने के कारण उसने निम्नलिखित तीन युक्तियों पर जोर दिया:

- (I) अंग्रेजी का अध्ययन करने के लिए भारतीय स्वयं उत्सुक हैं;
- (II) यूरोपीय ज्ञान और विज्ञान की पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करना बेहद खर्चीला और कठिन कार्य होगा: और
- (III) भारतीयों को अंग्रेजी का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित करना राजनीतिक रूप से समीचीन है। चूंकि यह एक नया पहलू है इसलिए सर अर्सकिन पैरी के ही शब्दों को उद्धृत कर देना अच्छा होगा:

इस बात में तिनक भी संदेह नहीं हो सकता है और सरकार इस बात को पूरी तरह

समझती है कि शासकों और शासितों के बीच जितना ही निकट संपर्क होगा दोनों पक्षों के लिए उतनी ही अच्छी बात होगी। केवल पारस्परिक निकट संपर्क होने पर ही शिकायतें सूनी जाती हैं तथा दूर की जाती हैं, सरकार के सामान्य सुधार संबंधी विचारों की सराहना की जा सकती है और मध्यवर्ती अभिकरण के भ्रष्टा-चार तथा बलात ग्रहण को रोका जा सकता है। इन बातों का स्पष्ट ज्ञान होने के कारण ही सरकार इस बात पर अत्यधिक एवं उचित बल देती है कि उसके यूरोपीय कर्मचारी देशी भाषाओं में निष्णात हों। परंतू यदि यहां के देशवासी अंग्रेजी भाषा का ज्ञान ऑजत कर लें तो भी ऐसे ही अच्छे परिणाम निकल सकते हैं और अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी ढंग से निकल सकते हैं। यह बात अच्छी तरह विदित है कि अंग्रेज अच्छे भाषाविद नहीं हैं और इस संबंध में स्काटलैंडवासियों की स्थिति तो और भी बुरी है। तिस पर वे प्राच्य भाषाओं का अध्ययन ऐसे काल में आरंभ करते हैं जब वाग्यंत्र कुछ कड़े हो जाते हैं। परंतु यहां के मूल निवासी भाषा के संबंध में आश्चर्यजनक अभिक्षमता रखते हैं। किसान की श्रेणी से ऊपर का प्रत्येक व्यक्ति कम से कम दो भाषाएं जानता है। अंग्रेजी के विषय में तो ऐसा है कि जो लोग इसका अध्ययन करते हैं वे उसे ऐसे काल में आरंभ करते हैं जो किसी विदेशी भाषा को सीखने के लिए अत्यंत उपयुक्त हैं। इस समय यद्यपि यूरोपीय असैनिक कर्मचारियों के लिए देशी भाषाओं का ज्ञान होना अपरिहार्य है और यद्यपि सरकार ने देशी लोगों को अंग्रेजी के अध्ययन के लिए कोई उल्लेखनीय प्रोत्साहन नहीं दिया है तो भी मुहावरेदार मराठी अथवा गूजराती में व्याकरण सम्मत पत्र लिख सकने वाले एक असैनिक के स्थान पर पचास ऐसे देशी लोग पेश कर सकता हं जो बिना किसी तैयारी के शुद्ध अंग्रेजी में पत्र लिख सकते हैं। मैं यह बिल्कुल नहीं चाहता हूं कि भारतीय भाषाओं को सीखने की युरोपीय कर्मचारियों की जिम्मेदारी में कोई कमी कर दी जाए। परंतु मेरा निवेदन है कि अच्छी नीति यही होगी कि देशी लोगों को भी सदृश प्रोत्साहन दिया जाए जिससे उनका तथा सरकार का और अधिक निकट संबंध स्थापित हो सके।1

दूसरे पक्ष को कर्नल जिंवस और जगन्नाथ शंकर सेठ ने बहुत योग्यता से प्रस्तुत किया। कर्नल जिंवस ने इस विषय पर जो उत्कृष्ट दृष्टिकोण अपनाया उसका पता उनके 24 फरवरी, 1847 के विवरण पत्र के निम्नलिखित उद्धरण से चलता है:

यह बात निश्चित रूप से स्वीकार की जानी चाहिए कि सामान्य शिक्षा केवल उसी भाषा के माध्यम से दीं जा सकती है जिससे मस्तिष्क परिचित हो। परंतु उपर्युक्त विचारों के अनुसार अंग्रेजी ही भारतवासियों की बौद्धिक उन्नति के लिए शिक्षा का अनिवार्य माध्यम बनेगी। भले ही अत्यंत सामान्य बुद्धि रखने वाले व्यक्ति को यह बात चौंका देने वाली प्रतीत हो, तथापि उपर्युक्त विचारों का संगत परिणाम यह होगा कि इस देश के निवासियों को कोई भी शिक्षा तब तक नहीं दी जाएगी जब तक वे अनिवार्य रूप से अपनी भाषा को त्यागकर अंग्रेजी भाषा से इतने परिचित न हो जाएंगे कि प्रत्येक व्यक्ति अंग्रेजी में बोल सके और बातचीत कर सके। यह विचित्त बात है कि इस बात का गंभीरता के साथ प्रतिपादन किया गया है कि अंग्रेजी को हमारी भारतीय प्रजा की एकमात्र भाषा बना दिया जाए। ऐसे अतिवादी विचारों के मात्र काल्पनिक स्वरूप के बारे में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। परंतु यह निष्कर्ष अकाट्य प्रतीत होता है कि हम शिक्षा को जिस हद तक अंग्रेजी भाषा के माध्यम तक सीमित रखेंगे उसी हद तक शिक्षा भी सरकारी और गैर सरकारी कार्यालयों के अनेक लिपिकों तथा अवर अभिकर्ताओं एवं थोड़े से प्रबुद्ध व्यक्तियों तक ही सीमित रह जाएगी। ये प्रबुद्ध व्यक्ति अपनी विशेष योग्यता के कारण अपने देशवासियों से विलग हो चके होंगे।

हमारा प्रयास है कि मूल निवासियों के लिए एक प्रमुख और अनिवार्य अर्हता यह रखी जाए कि उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान होना चाहिए । परंतु इस विषय में हम यूरोप के तीन सौ वर्ष के अनुभव से होने वाले लाभ की उपेक्षा कर रहे हैं। हम उसी काल में वापस लौट रहे हैं जबिक लैटिन ही साहित्य की एकमात्र भाषा थी जिसके परिणाम-स्वरूप आध्यात्मिक एवं ऐहिक दोनों ही प्रकार का ज्ञान केवल कुछ साधुओं, कुछ धर्मोपदेशकों, थोड़े से विद्वानों तक ही सीमित था। जब तक ऐसे अनन्य अभि-करण को समाप्त नहीं कर दिया गया अर्थात जब तक यूरोप की आधुनिक भाषाओं को मुक्ति नहीं दिला दी गई तब तक लोग अपने को कभी नहीं जान सके। जनता की भाषा का प्रयोग आरंभ होने पर लैटिन भाषा का अनन्य प्रयोग समाप्त कर दिया गया । इससे ज्ञानार्जन सबके लिए सुगम हो गया । अभिजात व्यक्ति से लेकर कारीगर तक सभी व्यक्तियों को शिक्षा दी जा सकती थी। यरोप में ऐसा परिवर्तन होने से नैतिकता एवं साहित्य की कितनी आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। तब क्या हम आज यहां उस सबक को बिल्कूल भूल जाएं और अपने लाखों देशवासियों पर मुटठी भर शासकों की विदेशी भाषा का बोझ लादने के लिए इतना आग्रह करें ? इसके विपरीत, हमारा यह परम कर्तव्य है कि स्थानीय बोलियों को विकसित करें और वे अब तक जिन बंधनों में जकड़ी हुई हैं उनसे उन्हें मुक्त करने के लिए सभी प्रकार के प्रयास करें। उनमें अभी प्रचुर शब्दावली नहीं है। अपनी सजात शास्त्रीय भाषाओं (संस्कृत आदि) की सहायता से उनमें शब्दावली की प्रचुरता हो जाएगी। तब वे निर्भरता, संबंध, विचारों की सूक्ष्म विविधता तथा संक्रमण और तर्क-संगत निगमन की प्रक्रिया के विभिन्न चरणों को प्रकट कर सकेंगी। वे अत्यंत परिपक्व हो जाएंगीं। तब उनमें मस्तिष्क के प्रत्येक किया व्यापार को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए भाषा की वे सर्वोच्च शक्तियां विकसित की जाएंगी जो सरलतम से लेकर अत्यंत सूक्ष्तम तक सभी प्रकार की होंगी।

हमारे मार्ग निर्देशन में ऐसे लोकप्रिय मुहावरों को एकत्र किया जाना चाहिए जिनका

सर अर्सिकन पैरीज नोट आन एजूकेशन, पैरा 25, दि रिपोर्ट आफ दि बांबे बोर्ड आफ एजूकेशन,
 1849 के परिशिष्ट के रूप में मुद्रित ।

अभी तक केवल इतिहासकारों तथा चारणों की थोड़ी सी नीरस रचनाओं में प्रयोग किया गया है। इससे ये मुहावरे नई भूमिका अदा करेंगे और नई स्थिति के योग्य बन जाएंगे। हमें यह प्रयास करना चाहिए कि देशी भाषा समिति के आसपास नैतिकता और साहित्य का एक नया संसार निर्मित कर दिया जाए। हमें यह भी प्रयास करना चाहिए कि हमारी अंग्रेज सरकार के संरक्षण और अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा जो बंधन लगाए जाएं. समिति की प्रगति केवल उन्हीं बंधनों की सीमाओं में अवरुद्ध न हो जाए। विल्सन ने कहा है: 'भारत की जनता को हम अंग्रेजी भाषा से प्रबुद्ध नहीं कर सकते हैं। यह कार्य भाषा के केवल उन्हीं रूपों द्वारा किया जा सकता है जिन्हें वे पहले से ही समझते हैं और उनका प्रयोग करते हैं। इस प्रयोजन के लिए उनका प्रयोग या तो सीधे अनुवाद द्वारा अथवा युरोपीय तथ्यों, मतों और मनोभावों को देशी पोशाक में प्रस्तृत करके किया जाना चाहिए। इनमें से दूसरा तरीका अधिक अच्छा है। सुधार की आरंभिक अवस्थाओं में केवल पहले तरीके से ही काम निकलने की आशा की जा सकती है; इसके बाद उसका स्थान दूसरा तरीका ले लेगा और भारत की जनता को उसका अपना साहित्य प्रदान करेगा। यह साहित्य अंग्रेजी की वैध संतति, सजीव प्रतिरूप होगा, यद्यपि यह अपने जनक अंग्रेजी साहित्य की तुच्छ अनुकृति नहीं होगा।'

80

अंग्रेजी सूती वस्त्रों के साथ अंग्रेजी साहित्य का भारत में आयात करने और उसका सार्वदेशिक उपयोग किए जाने की परियोजना को हर विवेकशील व्यक्ति एकदम काल्पनिक एवं उपहासास्पद मान लेगा। यदि लोगों को कोई साहित्य रखना ही है तो वह उनका अपना ही साहित्य होना चाहिए। वस्त्र काफी हद तक यूरोपीय हो सकता है, परंतु उसे स्वदेशी सामग्री मिलाकर तैयार किया जाना चाहिए और उसका स्वरूप तो अवश्य ही एशियाई होना चाहिए।

1 मई, 1847 को जगन्नाथ सेठ शंकर सेठ ने निम्नलिखित विवरण पत्न लिखा था और शिक्षा बोर्ड के दो अन्य भारतीय सदस्य फामजी कावसजी और मुहम्मद इब्राहीम मकबा उससे सहमत थे। यह विवरण पत्न उन लोगों के वास्तविक उद्देश्य को बताता है जिन्होंने ऐलिफिस्टन निधि में चंदा दिया था। यह इस युक्ति का एक अच्छा जवाब है कि स्वयं भारतीय ही इस बात के लिए उत्सुक थे कि अपनी मातृभाषा की अवहेलना करके अंग्रेजी का अध्ययन किया जाए।

मुझे विश्वास है कि यदि पश्चिम भारत के लोगों को लाभप्रद ज्ञान का संप्रेषण करने के लिए अंग्रेजी के बजाए स्थानीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम बनाया जाए तो अधिक लाभ हो सकता है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि लोगों को अपनी भाषा में जो कुछ बताया जाएगा उसे समझने में उन्हें कम कठिनाई होगी। जब किसी मूल निवासी का रुझान अंग्रेजी का अध्ययन करने की ओर हो तो पहले उसकी अपनी भाषा में नींव पक्की कर देने से वह अधिक तेजी से प्रगति करेगा और दगना लाभ उठा सकेगा। उसके लिए उपयोगिता में वृद्धि इसलिए होगी कि उसने जो कुछ ज्ञान ऑजित किया होगा उसे अपने देशवासियों को वह केवल इसी प्रकार से तैयारी करके देशी भाषा के माध्यम से प्रदान कर सकता है। भारत की विशाल जनता को अंग्रेजी जैसी भाषा की शिक्षा दे सकना असंभव है क्योंकि यह उसकी अपनी भाषाओं से बहत अधिक भिन्न है। मैं यह भी बता दं कि जब देशी सरदारों और अन्य लोगों ने ऐलिफिस्टन आचार्य पदों की स्थापना के लिए भारी धनराशि चंदे में दी थी तो उन्होंने धनराशि यह समझकर दी थी कि देशी भाषाओं की उपेक्षा न करके उन्हें सावधानीपूर्वक प्रोत्साहन दिया जाएगा तथा सुधारा जाएगा और उनका प्रयोग विशाल जनसमुदाय को लाभप्रद ज्ञान प्रेषित करने के लिए किया जाएगा। बंबई में लोगों ने देशी भाषाओं की बहुत उपेक्षा की है। बंबई ऐसा केंद्र होने के कारण, जहां से हम ज्ञान की किरणें फैलाने की आशा करते हैं, ये भाषाएं हमारे द्वारा प्रोत्साहन पाने की विशेष अधिकारी हैं। देशी भाषा समिति ने अपने आरंभिक प्रयत्न इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर किए थे। ऐलर्फिस्टन की समस्त योजनाओं का लक्ष्य भी यही था। कुछ समय के लिए इन प्रयासों को काफी सफलता मिली परंतु बाद में वे खटाई में पड़ गए। आज वे जिस स्थिति में हैं वह यद्यपि पहले से कुछ सुधरी हुई है तथापि स्थिति को और अधिक सुधारने के लिए बहुत कड़ा परिश्रम करने की आवश्यकता है ताकि मूल निवासियों को यूरोपीय ज्ञान प्रदान करने के लिए इन भाषाओं को सक्षम माध्यम बनाया जा सके। हमारे सुयोग्य अध्यक्ष ने कहा है कि कर्नल जीवस के समान ही बोर्ड भी इस बात की आवश्यकता को मह-सस करता है कि लोगों की शिक्षा का माध्यम देशी भाषाओं को बनाया जाए, देशी भाषाओं के साहित्य की संबृद्धि की जाए और विद्यालयों की तुरंत व्यवस्था की जाए। यह सच है और मुभे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मूल निवासियों ने अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य का ज्ञान अजित करने की बहुत अधिक और प्रबल इच्छा व्यक्त की है। यह बात उन प्रयत्नों से स्पष्ट है जो माता पिता अपने पुत्रों को देशी भाषा विद्यालयों से यथाशी झ हटाकर अंग्रेजी विद्यालयों में भेजने के लिए करते हैं : इस ज्ञानोपार्जन के पीछे उनका जो अभिप्राय है वह स्पष्ट है। वे सरकारी रोजगार चाहते हैं और युरोपीय लोगों के साथ संसर्ग की सुविधा चाहते हैं। परंतु यह विचार निरर्थक प्रतीत होता है कि हम कभी किसी संपूर्ण देश की भाषा को बदल सकते हैं। वास्तव में कूल जनसंख्या का एक नगण्य भाग ही ऐसा है जिसका अंग्रेजों से परिचय होने की संभावना या साधन मौजूद हैं। यदि हमारा उद्देश्य यह है कि ज्ञान का प्रसार किया जाए और एक कौम के रूप में भारतवासियों का बौद्धिक विकास किया जाए, तो मेरी राय में यह कार्य उनकी अपनी भाषा में ही उनको ज्ञान प्रदान करके किया जाना चाहिए। अन्य किस माध्यम से हम यह आशा कर सकते हैं कि सामान्य रूप से हमारी महिलाएं भी शिक्षा के इन लाभों को प्राप्त कर सकेंगी? मैं इस बात को दोहराता हूं कि यद्यपि मैं अंग्रेजी अध्ययन को हतोत्साहित नहीं करना चाहता हूं

तथापि मैं उसे जनसाधारण की पहुंच से बाहर समझता हूं। साथ ही मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि हम देशी भाषाओं की शिक्षा को जो प्रोत्साहन देते हैं वह उसकी अपेक्षा कहीं कम है जितना कि देशी शिक्षा के हित में दिया जाना चाहिए। अध्यापक का वैतन बहुत कम है और हमने अभी तक देशी भाषाओं के विद्यार्थियों को कोई छात्रवृत्ति नहीं दी है। ये मनोभाव नए नहीं हैं। बोर्ड के 1845 के प्रतिवेदन के संबंध में कर्नल जिंवस, मुहम्मद इब्राहीम मकबा और मैंने जो विरोध पन्न दिया था उसमें इनका उल्लेख था।

1848 तक यह विवाद कटुतापूर्ण बन गया अत: संपूर्ण मामले को आदेश के लिए सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया गया। ये आदेश 5 अप्रैल, 1848 को दिए गए परंतु अत्यंत अनिश्चित थे। सर असंकिन पैरी ने लिखा था:

सरकार ने इस प्रकार आदेश दिया है कि वर्तमान व्यवस्था को कायम रखा जाए। यह आदेश श्री एसकोंबे, डा॰ मेकलेनन और मेरे विचारों के अनुरूप है। परंतु उनसे कर्नल जीवस के विचारों के अनुरूप भी राय कायम की जा सकती है। अत: यह बात स्पष्ट है कि जिन परस्पर विरोधी सिद्धांतों से पहले ही काफी असुविधा हो चुकी है उन्हें समय समय पर फिर से उठाया जाएगा और प्रत्येक दल इस सरकारी पत्र का उल्लेख अपने विचारों के पक्ष में एक प्रमाण के रूप में करेगा।

चूंकि बंगाल से बार बार दबाव पड़ रहा था और आदेश अनिर्णीत थे अतः बंबई में मातृभाषा के द्वारा शिक्षा की संवृद्धि करना संभव नहीं रहा। केंद्रीकरण के उस जमाने में व्यय की नई मदों के लिए बंगाल सरकार से स्वीकृति लेना आवश्यक था। अतः जब भी बंबई सरकार प्राथमिक शिक्षा के विस्तार की प्रस्थापनाएं पेश करती थी तो बंगाल सरकार उन्हें सामान्यतः इस आधार पर स्वीकृति नहीं देती थी कि व्यय बहुत अधिक है। कभी कभी तो बंगाल सरकार ने बंबई सरकार को यह भी सलाह दी कि वह अंग्रेजी शिक्षा पर ध्यान दे क्योंकि उसमें सरकार को कम खर्च करना पड़ेगा। अतः इस विवाद का एक निश्चित परिणाम यह हुआ कि महाविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी को शिक्षा का एकमात्र माध्यम स्वीकार कर लिया गया। कर्नल जिंवस तथा अन्य लोगों के प्रयासों को केवल माध्यमिक स्तर पर शिक्षा माध्यम के रूप में मातृभाषा का प्रयोग जारी रखने में सफलता मिली। जैसा कि हम देखेंगे यह एक ऐसी स्थिति थी जिसे 1854 के आज्ञापत्न में भी स्वीकार कर लिया गया।

1848 और 1853 के बीच बोर्ड के जो क्रियाकलाप रहे उनका यहां संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है। 1851 में पूना संस्कृत महाविद्यालय को पूना अंग्रेजी विद्यालय में मिला दिया गया। और इसका नाम पूना महाविद्यालय कर दिया गया। बाद में यह दिक्षण महाविद्यालय के नाम से विख्यात हुआ। बोर्ड ने अपनी इस नीति को जारी

रखा कि प्रत्येक जिले में एक अंग्रेजी विद्यालय स्थापित किया जाए और जिले के बड़े बड़े गांवों में जहां संभव हो प्राथमिक विद्यालय स्थापित किए जाएं। बोर्ड ऐलिफिस्टन इंस्टीट्यूशन में प्राथमिक विद्यालय के अध्यापकों के लिए नार्मल कक्षा का भी संचालन करता था।

मद्रास प्रेसीडेंसी: अन्य प्रेसीडेंसियों की अपेक्षा बाद में मैदान में उतरी। देशी शिक्षा के बारे में मुनरों ने 1822 में जो जांच की थी उसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। इस जांच के परिणामस्वरूप मुनरों को यह पता चला था कि प्रांत में शिक्षा इसलिए हीन अवस्था में है कि एक तो उसके लिए सरकार से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता है; दूसरे जनता गरीब है। 10 मार्च, 1826 के अपने विवरण पत्र में मुनरों ने प्रस्ताव रखा कि देशी विद्यालयों का सुधार करके जनता को शिक्षित करने का प्रयास किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि इस प्रयोजन के लिए पहली जरूरी आवश्यकता यह है कि अच्छी किस्म के अध्यापक रखे जाएं। ऐसे अध्यापकों को तैयार करने के लिए उन्होंने प्रांत की प्रत्येक कलक्टरी में दो विद्यालय (एक हिंदुओं के लिए और एक मुसलमानों के लिए) तथा प्रत्येक तहसील में एक विद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। उनकी प्रस्थापनाओं पर कुल 50,000 रुयये खर्च होने का अनुमान था।

मुनरो की प्रस्थापनाओं को निदेशक मंडल ने 1828 में मंजूरी प्रदान की। परंतु दुर्भाग्यवश मुनरो 1827 में ही इस दुनिया से चल बसे। उसके बाद जो लोग आए उनमें न तो मुनरो जैसी सहानुभूति थी और न दृष्टि अत: यह प्रयोग पूरे मनोयोग से नहीं किया गया। 1830 तक केवल लगभग 70 तहसीलदारी विद्यालय स्थापित किए गए और इस योजना पर कार्य होने से पहले ही, 29 सितंबर, 1830 को निदेशकों ने यह लिख भेजा कि यह ज्यादा अच्छा होगा कि मद्रास सरकार जनसमूह के बीच शिक्षा का प्रसार करने के बजाय अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान दे। मुनरो द्वारा स्थापित विद्यालय इस पत्न से एकदम खत्म नहीं हो गए। उनका महत्वहीन अस्तित्व तो 1836 तक कायम रहा परंतु उनका फलदायक रूप से विस्तार होना बंद हो गया। इसके परिणामस्वरूप मद्रास में जनशिक्षा को भारी धक्का लगा और 1868 तक उसकी उपेक्षा होती रही।

मुनरो के देहांत के पश्चात, मद्रास में शिक्षा संबंधी राजकीय प्रयत्नों का इतिहास कष्टप्रद है। जैसा रिची ने बताया है इसमें अधिकांशत: निम्नलिखित चीजें हैं:

क्रमिक रूप से मद्रास का राज्यपाल बनने वाले लोगों, लार्ड ऐलिफिस्टन, लार्ड ट्वीडडेल और हेनरी पौटिंजर के विवरण पत्र जिनमें ऐसी नीतियां निर्धारित की गई थीं जिन्हें पूर्ण रूप से कभी भी स्वीकार नहीं किया गया। स्थानीय सरकार के आदेश जिनके द्वारा ऐसे नए शिक्षा प्राधिकरणों का गठन किया गया था जिनमें से प्रत्येक बहुत थोड़े समय तक ही कायम रहा; शिक्षा बोर्ड के प्रतिवेदन जिनमें ऐसी योजनाएं प्रस्तुत की गई थीं जिन्हें कभी कार्यान्वित नहीं किया गया। इनके साथ ही निदेशक मंडल के आज्ञापत्र हैं जिनमें सरकार द्वारा तैयार की गई नीतियों की आलोचना की गई थी, शिक्षा बोर्ड द्वारा प्रस्तुत की गई योजनाओं को अस्वीकृत किया गया था और स्थानीय सरकार द्वारा गठित नए शिक्षा प्राधिकरणों को भंग

^{1.} सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, खंड ृII, पृ० 16-17।

^{2.} वही पृ० 22।

किया गया था। उदाहरण के लिए, हम पाते हैं कि 1836 के लोक शिक्षा बोर्ड का देशी शिक्षा सिमित के रूप में पुनर्गठन किया गया था जिसका स्थान 1841 में विश्यविद्यालय बोर्ड ने ले लिया। 1845 में इस बोर्ड को समाप्त करके शिक्षा परिषव बना दी गई जिसे निदेशक मंडल के कहने पर 1847 में भंग कर दिया गया। उसके कार्यों की जिम्मेदारी पुन: विश्वविद्यालय बोर्ड ने ले ली। सर हेनरी पौटिंजर ने 1848 में शिक्षा परिषद को पुनर्जीवित किया परंतु 1851 में उसका स्थान राज्यपाल बोर्ड ने ले लिया। इस बोर्ड ने अपना कार्य 1854 में स्थापित किए गए लोक शिक्षा विभाग को सौंप दिया।

स्थानीय सरकार की नीति में तथा इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए जिम्मेदार प्राधिकरण के कर्मचारी वृंद में जो लगातार परिवर्तन होते रहे थे उनको ध्यान में रखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मद्रास सरकार के शैक्षिक कियाकलापों से कोई लाभप्रद परिणाम नहीं निकले और 1852 में प्रेसीडेंसी के केवल एक ही विद्यालय की स्थापना की गई थी अथवा सरकार के तात्कालिक नियंत्रण में केवल एक विद्यालय था।

अतः इस विषय पर जो विस्तृत पत्न व्यवहार उपलब्ध है यहां उसकी विस्तार में चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे प्रयोजन के लिए घटनाओं का निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त होगा:

- (क) मद्रास में देशी विद्यालयों को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया गया।
- (ख) मुनरो द्वारा स्थापित जिला तथा तहसीलदारी विद्यालयों को 1836 में बंगाल सरकार के आदेशों के परिणामस्वरूप बंद कर दिया गया। इन आदेशों में यह सिफारिश की गई विद्यालयों को सहायता देना बंद कर दिया जाए, मद्रास में एक ग्रंग्रेजी विद्यालय खोला जाए और यदि धन बचे तो प्रांत के अंदरूनी भागों में कुछ महत्वपूर्ण स्थानों पर प्रांतीय अंग्रेजी विद्यालय स्थापित किए जाएं।
- (ग) 1841 में मद्रास में एक उच्च विद्यालय स्थापित किया गया जो उस समय 'विश्वविद्यालय' कहलाया।
 - (घ) 1853 में मद्रास विश्वविद्यालय में एक महाविद्यालयी विभाग बनाया गया।
- (ङ) यद्यपि मद्राम में शिक्षा के लिए स्वीकृत आवंटित धनराशि 50,000 रुपये वार्षिक थी तथापि यह पूरी राशि कभी भी खर्च नहीं की गई। 1853 तक 3,00,000 रुपये से अधिक धनराशि शेष बच रही थी।

इस स्थिति में एकमात्र संतोषप्रद बात यह थी कि मद्रास में मिश्रनरी कियाकलाप बहुत बड़े पैमाने पर चल रहे थे। इसके परिणामस्वरूप वहां अंग्रेजी शिक्षा बंबई की अपेक्षा, जहां सरकार प्रांत के लगभग प्रत्येक जिले में एक अंग्रेजी विद्यालय चला रही थी, बहुत अधिक व्यापक रूप से दी जा रही थी। भारतीय शिक्षा आयोग, 1882 ने कहा

है कि 1854 में लगभग 30,000 लड़के मिशनरी समितियों द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों में शिक्षा पा रहे थे और लगभग 3,000 लड़के असंकीर्ण प्राथमिक शिक्षा को तो अंग्रेजी में ही प्राप्त कर रहे थे।¹

उत्तर पश्चिमी प्रांत में शिक्षा के राजकीय प्रयत्न: आगरा व अवध के उत्तर पश्चिमी प्रांत में शिक्षा संस्थाओं का नियंत्रण 1843 में बंगाल सरकार से हटा कर प्रांतीय सरकार को दे दिया गया। उस समय प्रांत में आगरा, बनारस और दिल्ली में तीन महाविद्यालय थे और नौ आंग्ल देशी भाषा विद्यालय सरकार चला रही थी।

प्रांतीय सरकार के आरंभिक निर्णयों में से एक यह था कि लोगों को शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से न देकर उनकी मातृभाषा के माध्यम से दी जाए। यह निर्णय मुख्यतः थामसन के कारण किया गया था। थामसन उस समय प्रांत के उपराज्यपाल थे और सार्वजनिक शिक्षा तथा देशी विद्यालयों के भारी समर्थक के थे। निम्नलिखित तीन महान विचारों के लिए हम उनके ऋणी हैं: (1) राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित में देशी विद्यालयों को शामिल करने की आवश्यकता; (2) एक शिक्षा विभाग का बनाया जाना; और (3) शैक्षिक प्रयोजनों के लिए स्थानीय उपकर लगाया जाना। 1843 और 1853 के बीच उत्तर पश्चिमी प्रांत के शैक्षिक घटनाक्रम का इतिहास भारतीय सार्वजनिक शिक्षा के विद्याथियों को रुचिकर होगा। तो भी, इसका बाद में विस्तार से अनुच्छेद 12 में वर्णन किया जाएगा।

पंजाब में शिक्षा के लिए राजकीय प्रयत्न : पंजाब प्रांत का 1849 में गठन किया गया था। 1854 से पूर्व इस प्रांत में केवल एक ही राजकीय संस्था थी और यह थी अमृतसर में एक विद्यालय जिसमें अरबी, फारसी, हिंदी, संस्कृत और गुरुमुखी विभाग थे।

भारत में राजकीय शिक्षा नीतियां (1833-53): ऊपर 1833 और 1853 के बीच भारत में राजकीय शैक्षिक उद्यम की मुख्य युगांतरकारी घटनाओं का जो पुनरीक्षण किया गया है उससे उस काल की शिक्षा विषयक राजकीय नीतियों पर चर्चा करने के लिए आधार तैयार हो जाता है। इन पर निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत सुविधापूर्वक चर्चा की जा सकती है:

- (क) शिक्षा नीति के उद्देश्य;
- (ख) अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत;
- (ग) देशी भाषाओं के प्रति रवैया; और
- (घ) स्त्री शिक्षा।

शिक्षा माध्यम की समस्या पर पहले अनुच्छे इ 4 और 5 में चर्चा की जा चुकी है। शिक्षा नीति के उद्देश्य: आधुनिक शिक्षा पद्धति का निर्माग करने में जिन समस्याओं पर चर्चा हुई उनमें पहली समस्या यह यी कि शिक्षा नीति के उद्देश्य नया हो। इस

विषय पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है: (1) सांस्कृतिक, (2) राज-नीतिक एवं प्रशासनिक।

सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल की शैक्षिक विचारधारा को मोटे तौर से तीन निश्चित दृष्टिकोणों में बांटा जा सकता है: पहला डंकन और हेस्टिग्ज जैसे व्यक्तियों का दृष्टिकोण है अथवा यह कहना ज्यादा अच्छा होगा कि यह मिटो, प्रिसेप, एच० एच० विल्सन और उन जैसे अन्य प्राच्यवादियों का दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण जिन बातों पर बल देता है वे ये हैं: (क) हिंदुओं और मुसलमानों के प्राचीन साहित्यों की उपयोगिता, (ख) हिंदुओं और मुसलमानों द्वारा उसका उचित अध्ययन किए जाने की आवश्यकता तथा महत्व, (ग) पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी इस साहित्य का सावधानी पूर्वक अध्ययन किए जाने की उपयोगिता और (घ) शाही संरक्षण न मिलने से हिंदुओं और मुसलमानों की प्राचीन संस्कृति का जो तेजी से ह्वास हो रहा था उससे इस संस्कृति के परिरक्षण की वांछनीयता। हम यह नहीं कहते कि इन लोगों ने पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार का विरोध किया था। परंतु उन्होंने प्राच्य संस्कृति के परिरक्षण तथा विकास को स्पष्ट रूप से बहत अधिक महत्व दिया था।

दूसरा दृष्टिकोण सामान्यः मिशनरियों और चार्ल्स ग्रांट तथा मैकाले जैसे व्यक्तियों का था जो प्राच्य संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति लाने में विश्वास करते थे। यह दूसरी चरम सीमा थी। प्राच्य संस्कृति के प्रति उनके मन में भारी अवमान की भावना थी। ग्रांट के आब्जर्वेशंस से यह बात सिद्ध हो जाती है और मैकाले ने भी अस्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि 'एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की केवल एक अलमारी भारत तथा अरब के संपूर्ण देशी साहित्य के बराबर मूल्यवान थी।' ग्रांट का यह विश्वास था कि पाश्चात्य प्रकाश तथा ज्ञान को प्राच्य संस्कृति तथा धर्म का स्थान ले लेना चाहिए। परंतु मैकाले ऐसे व्यक्तियों का एक वर्ग तैयार करने की बात कहते थे जो 'रक्त तथा रंग से भारतीय हों परंतु रुचि, विचार, आचार और बुद्धि से अंग्रेज हों।'

तीसरा दृष्टिकोण रखने वाले लोग इन दोनों चरम सीमाओं के बीच का मार्ग अपनाना चाहते थे। उनका कहना था कि यदि भारतीयों को केवल प्राच्य साहित्य का ही अध्ययन कराया गया तो उन्हें भारी हानि होगी तथा एक संस्कृति के स्थान पर दूसरी संस्कृति स्थानापन्न करना मनोवैज्ञानिक रूप से असंभव होगा। उनके विचार से हम समस्या का एकमात्र व्यावहारिक और वास्तविक हल यह था कि प्राच्य पद्धित की तमाम अच्छाइयों को परिरक्षित करते हुए और पाश्चात्य पद्धित की तमाम अच्छाइयों को परिरक्षित करते हुए और पाश्चात्य पद्धित की तमाम अच्छाइयों को प्राच्य पद्धित करते हुए इन दोनों संस्कृतियों का समन्वय कराया जाए। इस दृष्टिकोण के अच्छे प्रवक्ताओं में प्रबुद्ध भारतीयों में से राजा राममोहन राय जैसे लोग थे और कर्नल जिंवस जैसे उदारम्मा अंग्रेज थे। जिंवस का कहना था कि 'यदि लोगों को कोई साहित्य रखना ही है तो वह उनका अपना साहित्य होना चाहिए। वस्त्र काफी हद तक यूरोपीय हो सकता है परंतु उसे स्वदेशी सामग्री मिलाकर तैयार किया जाना चाहिए और स्वरूप तो अवश्य ही एशियाई होना चाहिए'। यही बातें

संस्कृति के उस सामान्य स्वरूप के बारे में कही जा सकती हैं जिसका जीवस जैसे व्यक्तियों ने निर्माण करने का प्रयत्न किया था।

यह दुर्भाग्य की बात है कि विचाराधीन काल में शिक्षा प्रशासकों ने इस मध्य मार्ग को पूरी तरह नहीं समझा। 1833 से पहले प्राच्यवादी विचारधारा का प्राधान्य रहा। उसके बाद दूसरा पक्ष जोर पकड़ गया और इस विचार को प्रधानता दी जाने लगी कि प्राच्य संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति को स्थानापन्न कर दिया जाए। ये दोनों चरम सीमाएं संभवतः अपरिहार्य थीं क्योंकि इन प्रयत्न तृटि के तरीकों से ही बाद में अंतिम सत्य का ज्ञान हुआ। तो भी, इन चरम सीमाओं का होना दुर्भाग्यपूर्ण बात थी और इनका उन नवयुवकों पर यथेष्ट अव्यवस्थित सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा जो इस काल की आधुनिक शिक्षा संस्थाओं में पढ़ने आए।

जहां तक इस समस्या के राजनीतिक एवं प्रशासनिक पहलुओं का संबंध है, इस काल में भारतीय जनता के बीच शिक्षा के प्रसार का दो अन्य आधारो पर भी पक्ष समर्थन किया जाता था: समाज के उच्च वर्गों का विश्वास प्राप्त करने के लिए और सरकारी सेवा के अधीनस्थ पदों के लिए कम खर्च पर कर्मचारी प्राप्त करने के लिए। इनमें से पहले उद्देश्य पर अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत के अंतर्गत अगले परिच्छेद में विस्तार से चर्चा की जाएगी। दूसरा उद्देश्य कंपनी का राज्य क्षेत्र बढ़ने के साथ साथ अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। जब तक कंपनी केवल व्यापारिक संस्था बनी रही उसने प्राय: केवल अंग्रेजों को ही नौकरी में रखा; जैसे ही वह एक राजनीतिक शक्ति बन गई उसने भारतीय कर्मचारियों को बड़ी संख्या में नौकरियां दीं। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि सरकार के अधीन किसी भी पद पर भारतीय कर्मचारियों की नियुक्ति न किए जाने से भारी असंतोष फैल जाता । दूसरा कारण यह था कि पूरी तरह से अंग्रेजों को ही नौकरी देना न तो व्यवहार्य था और न वित्तीय रूप से साध्य था। अत: स्वाभा-विक रूप से शिक्षित भारतीयों की मांग उत्पन्न हुई। निदेशक मंडल इस बात के लिए अत्यंत उत्सुक था कि भारत में शिक्षा का ऐसे ढंग से विकास किया जाए जिससे सरकार की अधीनस्थ सेवाओं का द्रुत गित से भारतीयकरण किया जा सके और इस प्रकार प्रशासन व्यय को सारभूत रूप से कम किया जा सके। निस्संदेह भारतीयकरण के इस विचार की ओर कभी भी अधिक ध्यान नहीं दिया गया । किसी भी भारतीय का कोई प्रधान पद देने की तो कोई बात ही नहीं हुई (संभवत: 1833 के चाटेंर अधिनियम पर हुई सैद्धांतिक संसदीय चर्चा के दौरान कही गई किसी बात को छोड़ कर)। सभी प्रधान मेवाएं अंग्रेजों के लिए ही परिरक्षित रहीं। परंतु इस परिसीमा के होते हुए भी, भारतीयों को सरकारी नौकरी पाने की गुंजाइश बहुत अधिक थी। अक्सर यह युक्ति प्रस्तुत की जाती थी कि नई शिक्षा पद्धति को चाहिए कि वह भारतीयों को ऐसी नौक-रियों के लिए प्रशिक्षित करे जो उनके लिए हैं।

तीसरे दृष्टिकोण का स्वरूप अर्धराजनीतिक एवं नैतिक था। यह दृष्टिकोण यदा कदा प्रस्तुत किया जाता रहा। इसके अनुसार शासक के रूप में कंपनी का यह कर्तव्य था कि भारत के लोगों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करे। आंशिक रूप से इस दृष्टिकोण का हिंदू

^{1.} सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, खंड II, पृ० 13

और मुसलमान शासकों की परंपरा से समर्थन होता था। अंशत: इस पर इंग्लैंड का प्रभाव था जहां 1833 से ब्रिटिश संसद ने शिक्षा का दायित्व स्वीकार कर लिया था। इसके अतिरिक्त आंशिक रूप से इस पर अनेक उदारमना अंग्रेजों के इस विचार का भी प्रभाव पड़ा था कि अंग्रेजों की भारत विजय का एकमात्र औचित्य यही होगा कि इसे समस्त भारतीय जनता के सांस्कृतिक विकास का साधन बनाया जाए। यह दृष्टिकोण ग्रांट, मूनरो, मैकाले और मैटकाफ जैसे व्यक्तियों की रचनाओं में मिलता है।

अत: इस काल के दस्तावेजों के अध्ययन सेपता चलता है कि भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति के अत्यंत सामान्य रूप से चर्चित उद्देश्य तीन थे: (क) पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करना, (ख) देश के लोक प्रशासन के लिए उचित रीति से प्रशिक्षित कर्मचारी प्राप्त करना, और (ग) भारतीय प्रजा के प्रति सम्राट का कर्तव्य पालन करना। ये सभी दिष्टकोण हर समय मौजूद थे और विभिन्न श्रेणियों के पदाधिकारी और शैक्षिक कार्यकर्ता उन पर अलग अलग प्रकार से जोर देते थे। यहां तक कि एक ही दल के पदाधिकारियों अथवा कार्यकत्तीओं का दृष्टिकोण भी स्वयं इंग्लैंड के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार बदल जाता था। उदाहरण के लिए पहला दिष्टिकोण रखने वाले लोग सामान्यतः मिशनरी तथा कंपनी के वे पदाधिकारी थे जिनके मन में मिशनरी जोश था। दूसरा दुष्टिकोण निदेशक मंडल के आज्ञापत्नों में अत्यंत सामान्य रूप से पाया जाता है। साहकार एवं व्यापारी होने के नाते निदेशक मंडल देश के लोक प्रशासन के लिए सस्ते और दक्ष कर्मचारी भर्ती करने पर जोर देता था। तीसरा दिष्टकोण मैकाले, मृनरो और मैटकाफ जैसे व्यक्तियों की रचनाओं में मिलता है। यदि हम कालक्रम के अनुसार देखें तो हम पाएंगे कि 1823-33 के दौरान हुई चर्चाओं में दूसरे दृष्टिकोण की प्रधानता रही थी जबकि 1733-53 में पहले दृष्टिकोण का प्राधान्य रहा। इसका स्पष्ट कारण यह है कि पूर्ववर्ती काल में कंपनी की वित्तीय दशा खराब थी और प्रशासनिक खर्च को कम करने के लिए अविरत प्रयास करने पड़े थे जबकि उत्तरवर्ती काल में अंग्रेजों के जीवन में उदार विचारों का प्राधान्य हो गया था।

कभी कभी यह कहा जाता है कि भारत में अंग्रेजों की शिक्षा नीति का उपर्यक्त उद्देश्यों में से कोई एक ही उद्देश्य था परंतु पूर्वोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह बात ऐतिहासिक रूप से गलत है। ब्रिटिश प्रशासन के सामने कई उद्देश्य थे। अतः इस विषय में केवल यह कहना उचित होगा कि कभी कभी किसी विशेष उद्देश्य पर दूसरे उद्देश्यों की अपेक्षा अधिक जोर दे दिया जाता था। यदि इस बुनियादी संप्रत्यय को स्वी-कार कर लिया जाए तो आगे यह दलील दी जा सकती है कि भारत में उदार शिक्षा पद्धति को पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार पर जोर देते हुए संगठित किया गया था जबकि वत्तिक एवं व्यावसायिक शिक्षा पद्धति को संगठित करने का प्रमुख उद्देश्य सरकारी सेवा के लिए भारतीयों को प्रशिक्षित करना था। इनमें से पहले कथन के संबंध में दो अकाटय यक्तियां ये हैं कि विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई थी और स्त्रियों को शिक्षित बनाने ं के लिए प्रयास किए गए थे । सरकारी सेवा के लि**ए कर्मचारी प्राप्त करने के** लिए इनमें

से कोई भी कार्य आवश्यक नहीं था। शासकीय नीति में इन्हें शामिल करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार पर जोर दिया गया था। आगामी परिच्छेदों में वत्तिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के इतिहास का जो वर्णन किया जाएगा उससे दूसरे कथन का औचित्य पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाएगा।

शिक्षा में सरकारी प्रयोग

शैक्षिक एवं राजनीतिक चर्चाओं के दौरान बहधा यह बात कही जाती है कि भारत में आधनिक शिक्षा पद्धति का एकमात्र उद्देश्य सरकार के लिए कर्मचारी प्राप्त करना था। यह ऐतिहासिक घटनाओं को सही रूप देखना नहीं है। मूनरो और ऐलिफस्टन के विवरण पत्रों, 1833 के चार्टर अधिनियम के संबंध में दिए गए मैकाले के भाषणों और लार्ड हार्डिंग के 1844 के संकल्प का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से पता चलेगा कि इन अग्रणियों का यह विचार नहीं था कि लोगों को इसलिए शिक्षा दी जानी चाहिए कि सरकार को कर्मचारियों की आवश्यकता है। इसके विपरीत उनका विश्वास या कि सरकारी नौकरी का उपयोग एक ऐसे समाधान के रूप में किया जाना है जो उस संदेह का निवारण करे जिसका रूढिवादी लोगों के मन में किसी विदेशी सरकार की नए स्वरूप की संस्थाओं के प्रति उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उनका यह भी विश्वास था कि सरकारी सेवा का उपयोग उच्च वर्गों के नवयुवकों को प्राच्य साहित्य से हटा कर पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन की ओर लाने के लिए एक प्रलोभन के रूप में और उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए किया जा सकता है जो पाश्चात्य संस्कृति रूपी निर्भर का जल पीने वाले लोगों के मन में उत्पन्न होगी। यह कहना भारतीय शिक्षा पद्धति के इन अग्र-णियों के कार्य के बारे में गलत अनुमान लगाना होगा कि लोक प्रशासन के लिए कर्मचारी प्राप्त करना उनके प्रयासों का मूख्य उद्देश्य था।

अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत: आधुनिक शिक्षा पद्धति के निर्माताओं के सामने जो एक अन्य समस्या यह आई कि उन्हें आरंभ में ही इस बात का निर्णय करना पड़ा कि वे किसी एक वर्ग को ही शिक्षा देंगे या संपूर्ण जनता को देंगे।

इस विषय पर बहुत समय पहले यह विचार व्यक्त किया गया था कि सरकार समाज के केवल उन्हीं वर्गों को शिक्षा दे जिन्हें सरकार बदलने से सबसे अधिक हानि पहुंची है। यह दावा किया गया था कि इस शिक्षा के साथ साथ सरकार की अधीनस्थ सेवाओं में नौकरियां दिए जाने से ये वर्ग वफादार हो जाएंगे और भारत में बिटिश शासन को सुदढ बनाने में सहायता मिलेगी। इसी अभिप्राय से बंगाल में मुसलमानों को, उत्तर पश्चिमी प्रांत में हिंदुओं को और बंबई में ब्राह्मणों को शिक्षा देना आरंभ किया गया था। परंतू इस द्ब्टिकोण को शीघ्र ही त्याग दिया गया क्योंकि जिस राजनीतिक स्थिति के कारण इस द्ब्टिकोण का जन्म हुआ था, वह संबंधित क्षेत्र को अंग्रेजों द्वारा जीत लेने के सामा-न्यत: कुछ वर्षों के भीतर ही समाप्त हो गई।

इस द्बिटकोण का स्थान एक अन्य द्बिटकोण ने लिया जो अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत के नाम से विख्यात है। यह नीति तीन विभिन्न रूपों में विणित पाई जाती है जिसमें एक दूसरे से काफी अंतर है। पहले रूप के अनुसार इंग्लैंड के अभिजात वर्गों के सादश्य पर, कंपनी यह चाहती थी कि समाज के केवल उच्च वर्गों को ही शिक्षा दी जाए जिससे भारत में एक ऐसा शासक वर्ग पैदा किया जा सके जिनमें सरदार, नवाब, राजा और ऐसे ही अन्य अभिजात वर्ग हों। शिक्षा का प्रसार करने के लिए जो पूर्वकालीन राजकीय प्रयास किए गए उनके बारे में यह विचार सही नहीं है। यह सच है कि समाज के जिन वर्गों पर सरकार बदलने का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था उन वर्गों को कुछ पूर्वकालिक प्रशासक पहले उन्हें शिक्षा देकर और उसके बाद उन्हें कंपनी के अधीन कितपय कार्यालयों में नौकरी देकर शांत कर देना चाहते थे। यदि हम यह मान भी लें कि ऐसा प्रयास सफल हो गया होता तो भी इसे शासक वर्ग उत्पन्न करने का प्रयास बताना सही नहीं होगा। उसके बजाय यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह बहुत छोटे मोटे अनुग्रह करके वफादार बना लेने का प्रयास था। परंतु यह निश्चित है कि यह प्रयास सफल नहीं हुआ। अभिजात वर्गों को शिक्षा देने के बजाय, कंपनी को समाज के उन सब वर्गों को शिक्षा देनी पड़ी जिन्होंने नई शिक्षा पद्धित से प्राप्त हो सकने वाले सांसारिक लाभों को समझ लेने में शीझता दिखाई। उदाहरण के लिए, जब वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता मदरसा चालू किया तो उनका मंतव्य मुसलमान सज्जनों के पुत्रों को शिक्षा देने का था। परंतु नए शासन के अधीन दिए गए इन शैक्षिक सुयोगों का सबसे अधिक लाभ बंगाल में भद्रलोक ने उठाया।

अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत का दूसरा रूप वह है जिसमें सबसे पहले समाज के उच्च अथवा प्रभावशाली वर्गों को शिक्षा देने का प्रस्ताव किया गया था क्योंकि यह युक्ति प्रस्तुत की गई थी कि इन वर्गों की संस्कृति बाद में स्वाभाविक रूप से निम्न वर्गों तक पहुंच जाएगी। उदाहरण के लिए, निदेशक मंडल ने 29 सितंबर, 1830 को मद्रास सरकार को निम्नलिखित बात लिखी थी:

तो भी, जनता की नैतिक एवं बौद्धिक दशा सुधारने के लिए ऐसे उच्च वर्ग के लोगों की शिक्षा में सुधार करना अधिक फलदायक होगा जिनके पास फालतू समय है और जिनका अपने देशवासियों के हृदय पर नैसिंगक प्रभाव है। आप बहुसंख्यक वर्ग को सीधे शिक्षा देकर समुदाय के विचारों और भावनाओं में जितने परिवर्तन की आशा कर सकते हैं, इन वर्गों की शिक्षा का स्तर ऊंचा करके आप अंतत: उसकी अपेक्षा अधिक भारी और लाभकारी परिवर्तन ला सकेंगे।

इस मत का ऐसे समाज में कुछ औचित्य हो सकता है जिसमें उसके विभिन्न वर्ग काफी गितशील हो सकें। अनेक धर्म व जातियां होने के कारण भारतीय समाज पृथक खंडों में बंटा हुआ था। अत: इस प्रकार के अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत को ग्रहण करने का यहां कोई औचित्य ही नहीं था। इस काल के कर्मचारियों द्वारा इस सिद्धांत को स्वीकार किए जाने से शैक्षिक प्रगति को निश्चय ही धक्का लगा।

अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत का तीसरा रूप भारतीय शिक्षा के इतिहास के विद्या-थियों के लिए अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। इस रूप के अनुसार कंपनी से यह आशा की जाती थी कि वह थोड़े से व्यक्तियों को अच्छी शिक्षा देगी और जनता को (आधुनिक भाषाओं के द्वारा) शिक्षित करने का कार्य इन व्यक्तियों के लिए छोड़ देगी। यह आव-श्यक नहीं था कि ये थोड़े से व्यक्ति उच्च वर्गों के ही हों और अच्छी शिक्षा का अर्थ उन दिनों अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देना था। शिक्षा क्षेत्र में किए गए अधिकांश पूर्वकालीन राजकीय प्रयास इस विचार को लेकर नहीं किए गए थे कि भारत में शासक वर्ग पैदा किया जाए वरन वे उपर्युक्त दृष्टिकोण से किए गए थे। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कंपनी ने 1854 तक जनता की शिक्षा का कोई सीधा उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं किया था। ऐसा करने का अनिवार्य रूप से यह अर्थ होता कि भारतीय भाषाओं के द्वारा शिक्षा दी जाए। इसके विपरीत, उसने यह निश्चय किया कि लोगों के एक वर्ग को अंग्रेजी में शिक्षा दी जाए जो अंतत: जनता को भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दे।

सबसे पहले इस मत का प्रतिपादन बंबई की राज्यपाल परिषद के सदस्य, वार्डेन की रचनाओं में मिलता है। इसी मत को बाद में मैंकाले ने व्यक्त किया जबिक उन्होंने लिखा था:

एक बात में मैं उन सज्जनों से पूर्णतया सहमत हूं जिनके विचारों का मैं विरोधी हूं। उनके साथ मैं भी यह महसूस करता हूं कि चूंकि हमारे साधन सीमित हैं अत: जनसमूह को शिक्षत करने का प्रयास करना हमारे लिए संभव नहीं है। हमें इस समय एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और उन लाखों लोगों के बीच दुभाषिया बन सकें जिन पर हम शासन करते हैं। यह ऐसे लोगों का एक वर्ग होगा जो कि रंग रूप में भारतीय होंगे परंतु रुचि, विचार, नैतिकता और बुद्धि से अंग्रेज होंगे। यह कार्य हम इसी वर्ग के लिए छोड़ सकते हैं कि वह देश की स्थानीय बोलियों को परिष्कृत करे, पाश्चात्य पारिभाषिक शब्दावली से वैज्ञानिक शब्दावली को लेकर उन बोलियों को संपन्न करें और उन्हें धीरे इस योग्य बनाएं कि वे विशाल जनता तक ज्ञान पहुंचा सकें।

वस्तुत: इस काल में अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत का विकास इस अर्थ में पहुंचा हुआ था कि कुछ लोगों को अंग्रेजी में अच्छी शिक्षा दी जाए ताकि वे अंतत: जनसमूह को भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दे सकें।

यह घ्यान रखना चाहिए कि अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत का स्वीकार किया जाना इसलिए अनिवार्य हो गया था कि शिक्षा व्यय के लिए केवल अल्प धनराशि मंजूर की गई थी। अतः इस बात के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल के शिक्षा प्रशासकों को दोष नहीं दिया जा सकता है कि उन्होंने अपने कियाकलापों का लक्ष्य केवल थोड़े से लोगों को अच्छी शिक्षा देना ही रखा। उनसे लाखों व्यक्तियों को ऐसी अनेक भाषाओं में शिक्षा देने के भारी कार्य को संपन्न करने की मांग की गई थी जिनसे वे बहुत कम परि-चित थे। उनके पास उपयुक्त व्यक्ति नहीं थे और साधन बहुत ही कम थे। अतः उनकी

कठिनाइयों का एकमात्र हल यही था कि वे इसी प्रकार का आदर्श अपनाते । तो भी. इस गलत बात के लिए उन्हें दोषी ठहराया जा सकता है कि उन्होंने यह मान लिया था कि प्राचीन काल के महान आर्किमिडीज की भांति समस्त शिक्षित भारतीय तरंत खब ऊंचे स्वर में 'यरेका' कहते हुए अंग्रेजी महाविद्यालयों और विद्यालयों से बाहर निकल आएंगे। बहरहाल, मैकाले के विवरण पत्र के लिखे जाने के लगभग पचास वर्ष बाद तक ऐसा नहीं हुआ और जैसा पहले अनेक बार हो चका था, इन भारतीय शिक्षकों की मुव्यवस्थित योजनाएं गलत सिद्ध हुईं। ये योजनाएं दो कारणों से असफल हुईं। पहली बात यह है कि चंकि अंग्रेजी विद्यालयों में प्रशिक्षित प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को सरकार के अधीन रोजगार मिल गया इसलिए उसे अपने देशवासियों को पढाने का अवसर नहीं मिला। दूसरी बात यह है कि अंग्रेजी विद्यालयों में जिस व्यक्ति ने भी शिक्षा पाई वह अपने ही लोगों की सहानुभृति खो बैठा और उसकी विचारधारा उनसे पृथक हो गई। अंग्रेजी जानने वाला व्यक्ति स्वयं एक अलग वर्ग बन गया और आम जनता के साथ, जो कि अंग्रेजी नहीं जानती थी, कोई रिश्ता अथवा सहानुभूति रखने से उसने इंकार कर दिया। यह दुखद परिणाम दो कारणों से निकला। पहला कारण यह था कि प्राच्य संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति लाने का प्रयास किया गया। दूसरा कारण यह था कि शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग किया गया। अत: अधोमखी निस्यंदन सिद्धांत दीर्घकाल तक अपने प्रवर्तकों के विचारों के अनरूप संतोषजनक ढंग से नहीं चला।

तो भी, अंततः इस सिद्धांत ने वांछित रूप में कार्य किया। सरकार (अथवा मिश-नरियों) द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाएं अल्पसंख्या में ही रहीं और उन्होंने कूल जनसंख्या के बहुत थोड़े भाग को अंग्रेजी में उच्च शिक्षा दी। परंतू बाद के वर्षों में राष्ट्र की शिक्षा के लिए अधिकांश कार्यकर्ता इन्हीं व्यक्तियों के बीच से निकले। इस टोली के अग्र भाग में ऐसे अनेक उदात्त व्यक्ति थे जिन्होंने सरकारी सेवा की ओर से मंह मोड लेने का निश्चय कर लिया था जबिक केवल कह देने मात्र से ही उन्हें नौकरी उपलब्ध हो सकती थी। उन्होंने अपना जीवन अपने भाइयों के बीच शिक्षा प्रसार करने के काम में लगा दिया। शिक्षा में निजी भारतीय उद्यम की उत्पत्ति तथा विकास के लिए हम इन्हीं देश-भक्त तथा बलिदानी कार्यकर्ताओं के ऋणी हैं। इसके अतिरिक्त आज जो हम अपने बीच अधिकांश महाविद्यालयी तथा माध्यमिक शिक्षा पाते हैं उसके लिए भी इन्हीं कार्यकर्ताओं के आभारी हैं। शीघ्र ही ऐसी स्थिति आ गई जब शिक्षा संस्थाओं से पढ लिखकर निकलने वाले छात्रों की संख्या सरकारी सेवा की नई भर्ती करने की क्षमता से अधिक हो गई। इसके परिणामस्वरूप अनेक शिक्षित व्यक्तियों ने शिक्षा प्रसार के कार्य को अपनी आजीविका का साधन बना लिया। अतः पूर्ववर्ती अग्रणियों की कतारों में और अधिक वद्धि हो गई और निजी भारतीय उद्यम जनता के बीच माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षा का प्रसार करने के लिए शीघ्र ही एक प्रमुख अभिकरण बन गया। तीसरी बात यह है कि अंग्रेजी में शिक्षित इन्हीं थोड़े से व्यक्तियों के श्रम से भारतीय भाषाओं में आधुनिक साहित्य तैयार हुआ और आधुनिक भारतीय प्रेस अस्तित्व में आया । अत: जैसी मूलत: प्रत्याशा की गई थी भारतीय भाषाओं में और साहित्य द्वारा सार्वजिनक

शिक्षा का कार्य मुख्यत: उन्हीं थोड़े से व्यक्तियों ने किया है जिन्हें पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य की शिक्षा दी गई थी। परंतु ये परिणाम बहुत धीरे घीरे निकल रहे थे और बीसवीं शताब्दी आरंभ होने के समय तक अधिक सुस्पष्ट नहीं हए थे।

देशी शिक्षा संस्थाओं के प्रति कंपनी का रवेया: तो भी, जहां तक तात्कालिक परिणामों का संबंध है अधोमुखी निस्यंदन से कोई लाभ नहीं हुआ। इसके विपरीत सार्वजनिक शिक्षा के कार्य को क्षित पहुंचा कर और देशी विद्यालयों की अवहेलना करवा कर इसने भारी नुकसान पहुंचाया। मिटो, ऐलिफिस्टन और ऐडम के प्रयासों का जो हाल हुआ उसका अध्ययन करने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। इस बात का परिच्छेद 6 में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि तहसीलदारी और कलक्टरी विद्यालयों को स्थापित कर देशी विद्यालयों का सुधार करने के लिए मिटो के प्रयास असफल रहे थे। अब हम यहां पर अन्य दो प्रयासों का विवेचन करेंगे।

- (क) सार्वजितक शिक्षा के संबंध में ऐलिंफस्टन द्वारा प्रस्तावित प्रस्थापनाएं: माउंट स्टुअर्ट ऐलिंफिस्टन 1819 से 1827 तक बंबई के राज्यपाल रहे थे। वह पहले प्रांतीय राज्यपाल थे जिन्होंने यह प्रस्ताव रखा कि कंपनी देशी संस्थाओं को प्रोत्साहन देकर जनसाधारण के बीच शिक्षा का प्रसार करने का प्रयास करे। जब बंबई देशी शिक्षा सिमिति ने उनसे सहायता अनुदान मांगा तो उन्होंने इस अवसर का उपयोग अपने शिक्षा संबंधी विचारों को विस्तारपूर्वक एक विवरण पत्न में स्पष्ट कर देने के लिए किया। उन्होंने सिमिति के सामने स्वीकरण के लिए निम्नलिखित सात बातें रखीं:
 - (i) देशी विद्यालयों में अध्ययन की पद्धित को सुधारा जाए और विद्यालयों की संख्या में वृद्धि की जाए; (ii) उन्हें स्कूली किताबें दी जाए; (iii) निचले वर्गों के लोगों को कुछ प्रोत्साहन दिया जाए ताकि वे इस प्रकार से प्रदत्त शिक्षा के साधनों का लाभ उठा सकें; (iv) यूरोपीय विज्ञानों की शिक्षा देने और उच्च शिक्षा शाखाओं में सुधार करने के लिए विद्यालय स्थापित किए जाए; (v) देशी भाषाओं में नीतिशास्त्र एवं भौतिक विज्ञान की पुस्तकें तैयार करने की व्यवस्था की जाए; (vi) जो लोग अंग्रेजी का क्लासिकी भाषा के रूप में अध्ययन करने की इच्छा रखते हों उन्हें अंग्रेजी की शिक्षा देने के लिए तथा यूरोप में की गई खोजों के बारे में ज्ञानार्जन करने के एक साधन के रूप में विद्यालयों का स्थापना की जाए; (vii) जो मूल निवासी ज्ञान की अंतिम शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हों उन्हें प्रोत्साहन दिया जाए।

ऐलिफिस्टन जानते थे कि उपर्युक्त प्रस्थापनाओं को कार्यान्वित करने पर सरकार को काफी खर्च करना पड़ेगा। परंतु उनका यह विचार था कि निर्धन व्यक्तियों की शिक्षा का बोझ अधिकांशत: सरकारी राजस्व पर पड़ना चाहिए और उन्होंने यह युक्ति प्रस्तुत की कि उनकी प्रस्थापनाओं के कारण जो भारी खर्ची होगा उसकी प्रतिपूर्ति उनके उद्देश्य

^{1.} ऐलफिस्टन मिनिट आफ एजूकेशन, अनुच्छेद 7।

की महत्ता के कारण हो जाएगी। उन्होंने कहा:

किसी ऐसे कार्य की कल्पना करना कठिन है जिससे हमारे कर्तव्य, हमारे हित और हमारे सम्मान का इतना निकटतम संबंध हो। यह सर्वविदित है कि सभी देशों में निर्धन व्यक्तियों की खुशी बहुत हद तक उनकी शिक्षा पर निर्भर करती है। केवल शिक्षा के द्वारा ही वे अपने अंदर व्यवहारकूशलता एवं आत्मसम्मान की वे प्रवृत्तियां उत्पन्न कर सकते हैं जिनसे अन्य तमाम सद्गुण उत्पन्न होते हैं। यदि कोई ऐसा देश है जहां इस प्रकार की प्रवृत्तियों की आवश्यकता है तो वह यही है।1

ऐलफिस्टन की प्रस्थापनाओं की कुछ विशेषताओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इनसे यह पता चलता है कि वह मातृभाषा के माध्यम से सार्वजनिक शिक्षा देने के पक्ष-पाती थे। उन्होंने अपने कार्यक्रम में देशी विद्यालयों के सुधार एवं विस्तार के कार्य को पहला स्थान दिया था। दूसरी बात यह है कि उन्होंने अंग्रेजी की शिक्षा शास्त्रीय ढंग से देने का सुझाव दिया था और उसका शिक्षा के एकमात्र माध्यम के रूप में उपयोग किए जाने का आग्रह नहीं किया था। वह इस विचार के विरोधी नहीं थे कि अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाए। परंतु वह यह महसूस करते थे कि यदि अंग्रेजी का इस प्रयोजन के लिए प्रयोग किया गया तो उसके प्रति लोगों की ठीक प्रतिक्रिया नहीं होगी। उन्होंने लिखा था:

यदि अंग्रेजी का ऐसे लोगों के बीच प्रसार किया जा सका जिनके पास विमर्श के लिए सबसे कम समय हो तो ज्ञान की प्रगति का अनुपात दस गुना अधिक हो सकता है क्योंकि उस ज्ञान को ऐसा प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा में अपने देशवासियों तक पहुंचा सकेगा जो अंग्रेजी के द्वारा किसी विज्ञान का ज्ञान प्राप्त कर चका हो। परंतू इस समय ऐसे किसी विचार से अंग्रेजी सीखने की इच्छा लोगों में कम ही है। इस प्रकार की इच्छा पैदा करने की दिशा में पहला कदम बंबई में एक विद्या-लय की स्थापना करना होगा जिसमें अंग्रेजी को शास्त्रीय ढंग से पढ़ाया जा सके और उसी भाषा में इतिहास, भूगोल और विज्ञान की अन्य लोकप्रिय शाखाओं की शिक्षा दी जा सके।2

जब इस विवरण पत्न को राज्यभाल परिषद के समक्ष उपस्थित किया गया तो परि-षद के तत्कालीन सदस्य वार्डेन ने ऐलिफिस्टन की प्रस्थापनाओं का तीव्र विरोध किया। वह इस विचार से सहमत नहीं थे कि सरकार जनसाधारण की शिक्षा का कोई उत्तरदायित्व स्वीकार करे। वह अधोम्खी निस्यंदन सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले आरंभिक कर्म-चारियों में से थे। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा को भी परम महत्व दिया था और जिस तरीके से ऐलफिस्टन ने उसे प्राथमिक शिक्षा से दूर रखकर उसका अनुवर्ती बना दिया था उसे उन्होंने पसंद नहीं किया । उन्होंने लिखा :

यह ज्यादा अच्छा और सुरक्षित तरीका होगा कि बहुत थोड़े लोगों को थोड़ा

ज्ञान कराने के बजाय थोड़े से लोगों को काफी अच्छा ज्ञान करा कर कार्यारंभ किया जाए, अच्छी इमारत की नींव रखकर संतोष कर लिया जाए और जो काम एक शताब्दी का है उसे एक दिन में परा कर लेने की इच्छा की जाए। परंतू थोड़े से लोगों को काफी अच्छा ज्ञान करा देने का लक्ष्य शिक्षा की ज्यादा अच्छी पद्धति द्वारा ही पुरा हो सकता है। ज्यादा अच्छी पद्धाति का प्रसार करने का सबसे निश्चित तरीका यह है कि मूल निवासियों की शिक्षा में अंग्रेजी भाषा के अध्ययन की ओर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाए, गौण रूप से नहीं।

शिक्षा में सरकारी प्रयोग

ऐलिफिस्टन और वार्डेन के बीच यह मतभेद होने के कारण निदेशक मंडल ने ऐलिफिस्टन की तमाम प्रस्थापनाओं को स्वीकृति प्रदान नहीं की । उसने प्रांत में शिक्षा के प्रबंध के लिए बंबई देशी शिक्षा समिति को अपना अभिकर्ता स्वीकार कर लिया अत: बंबई में लोक शिक्षा समिति नियुक्त नहीं की गई। उसने बंबई देशी शिक्षा समिति के लिए 600 रुपये मासिक का एक अनुदान भी मंज्र कर दिया और उसकी स्कूली पूस्तकों के संकलन एवं मुद्रण के खर्च को वहन करने की भी जिम्मेदारी ले ली। इस प्रकार, ऐलिफिस्टन की प्रस्थापनाओं को कार्यान्वित नहीं किया गया और जब वह 1827 में बंबई से रवाना हुए तो उन्हें इस बात का बहुत अफसोस था कि उनकी परिषद में मतभेद होने के कारण वह शिक्षा प्रसार की दिशा में कोई महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाए। इस प्रकार, सार्वजनिक शिक्षा विकास करने का जो यह आरंभिक प्रयास किया गया था उसे विफल कर देने के लिए मुख्य रूप से यह अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत ही उत्तरदाई है।

(ख) बंगाल में देशी शिक्षा के विकास के लिए ऐडम की प्रस्थापनाएं : देशी संस्थाओं का विकास किस प्रकार किया जा सकता है इस विषय में ऐडम द्वारा प्रस्तुत प्रस्थापनाओं का पहले ही अध्याय एक में उल्लेख किया जा चुका है। ऐडम जानते थे कि अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत के कारण उनकी योजनाएं स्वीकृत नहीं होंगी। अत: उन्होंने इस सिद्धांत से होने वाली हानियों को बताने का प्रयत्न किया और सिफारिश की इस सिद्धांत को त्याग दिया जाए। उन्होंने लिखा:

देशी समाज की निचली श्रेणियों के लिए चलने वाले विद्यालयों से प्रारंभ करने के बजाय, सरकारी संस्थाओं की ऐसी प्रणाली का पक्ष समर्थन किया जा सकता है जो प्रथमतः, उच्च वर्गों के लिए इस सिद्धांत के आधार पर उपबंध करेगी कि ज्ञान की प्रवृत्ति अवरोहण की है, आरोहण की नहीं। इस दृष्टि से हमें इस समय प्रत्येक जिला केंद्र में एक विद्यालय स्थापित करने की चेष्टा करनी चाहिए, उसके बाद पर-गना विद्यालय और सबसे बाद में ग्राम विद्यालय स्थापित करने चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे इस प्रक्रिया में शिक्षा के प्रसार के लिए अधिक संख्या में तब अधिक अच्छे स्थान प्राप्त हो जाएंगे। इस योजना के बारे में मुख्य आपत्ति यह है कि यह उन देशी हिंदू और मुसलमान शिक्षा संस्थाओं की संपूर्ण प्रणालियों को नजर-अंदाज करती है जो हमारे शासन से बहुत पहले विद्यमान थीं और जो हमसे और

रिपोर्ट आफ दि सेलेक्ट कमेटी आफ दि हाउस आफ कामंस, 1832, परिशिष्ट I (लोक), पृ० 384 ।

^{1.} ऐलिफिस्टन मिनिट आफ एजुकेशन, अनुच्छेद, 43।

^{2.} वही, 43।

96

हमारी परियोजनाओं से संबंध न रखते हुए हमारे शासन में भी विद्यमान हैं और उत्तरोत्तर पीढ़ियों में देशी चरित्र को बनाती और संवारती रहती हैं। इस सहज ग्राह्य तथ्य के होते हुए भी इस योजना में इस बात को मान लिया गया है कि यह देश विद्यालयों, अध्यापकों, पुस्तकों, अपने नैतिक एवं बौद्धिक सुधार के लिए आवश्यक हर चीज के लिए हमारा ऋणी होगा और अपने विचारों को जारी रखते हुए, हमें इस देश की प्राचीन संस्थाओं और जनता की वास्तविक उपलब्धियों से जनता की उन्नति के लिए मिलने वाली कोई सहायता नहीं लेनी है। हमें इस देश में मुख्यत: हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कार्य करना है। हिंदू संसार की सबसे प्राचीन सभ्य जातियों में से हैं और मुसलमान अपने इतिहास के कुछ शानदार युगों में विज्ञान के विशिष्ट उन्नायक रहें हैं। ये दोनों ही सभ्यता की अपनी वर्तमान अवस्थाओं में भी उन्हीं संस्थाओं द्वारा पुष्ट किए गए ज्ञान के प्रति अब भी गहरा प्रेम और श्रद्धा रखते हैं जिनका मैं उल्लेख कर चुका हूं और जिनकी अवहेलना करना समान रूप से हमारे लिए अद्रदर्शिता और उनके लिए अपमानजनक होगा।

फिर, यदि हम इस सिद्धांत वाक्य के अनुसार चलें कि ज्ञान की प्रवृत्ति अवरोहण की है, आरोहण की नहीं तो हमें पहले जिला फिर परगना और उसके बाद ग्राम विद्यालय स्थापित करने चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक हमारे यहां प्रांतीय महाविद्यालय न हों तब तक हम जिला विद्यालय भी स्थापित न करें। इसी प्रकार प्रांतीय विद्यालयों को तब तक स्थापित न करें जब तक हमारे यहां राष्ट्रीय विश्वविद्यालय न हों, और राष्ट्रीय विश्वविद्यालय तब तक न हों जब तक एक विश्वजनीन विश्वविद्यालय न हो। परंतु ऐसा करना इस सिद्धांत वाक्य की भावना के अनुरूप नहीं होगा । उन्नति व्यक्ति से आरंभ होती है और जनसमृह तक उसका विस्तार हो जाता है। जो व्यक्ति जनसमूह को उद्दीपन देते हैं वे निस्संदेह समाज के उच्च, अर्थात चितक वर्ग के होते हैं जिसमें विशेषकर इस देश में, अनन्य रूप से केवल वही लोग नहीं है जो सबसे उच्च पदों पर हैं अथवा जिनके पास सबसे अधिक धन है। इस सिद्धांत वाक्य का सत्य यह अपेक्षा नहीं करता कि जो कारवाई को जाने वाली है। वह पहले बड़ी और बाद में छोटी बस्तियों में ऋमिक अवरोहण के अनुसार हो। इसके विपरीत, संस्था की प्रत्येक उत्तरोत्तर उच्च श्रेणी में सिवाय इस तरीके के अन्य किसी भी प्रकार से कुशलता नहीं लाई जा सकती है कि उसमें अगली निचली श्रेणी से पढ कर निकले छात्रों को लिया जाए । इसका अर्थ यह हुआ कि इस निचली श्रेणी की ओर पहले ध्यान दिया जाना चाहिए। बालक महा-विद्यालयों में वर्णमाला सीखने के लिए न जाएं। इमारत को ऊंची और पुरुता बनाने के लिए नींव चौड़ी और गहरी होनी चाहिए। इस प्रकार नींव की ओर से निर्माण करने से ही सभी श्रेणियों की संस्थाओं और प्रत्येक कोटि की शिक्षा को संयोजित किया जा सकता है और उनका सामंजस्यपूर्ण एवं लाभदायक प्रभाव पड़ सकता है। परंतु इस वाग्मितापूर्ण पक्षपोषण से भी कोई लाभ नहीं हुआ और लार्ड आकलैंड ने उनके प्रतिवेदन पर कोई भी कार्रवाई न करने का निश्चय किया। अत: ऐडम की प्रस्थापना का भी वही हाल हुआ जो ऐलिंफस्टन और मुनरो की प्रस्थापनाओं का हुआ था और यह हाल लगभग एक जैसे कारणों से हुआ। अत: तीनों प्रेसीडेंसियों में देशी संस्थाओं को कंपनी से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला और उसके अधिकारियों ने जन-साधारण की शिक्षा का कोई सीधा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने के बजाय कुछ थोड़े से अच्छे लोगों को ही अच्छी शिक्षा देने के लिए प्रयास किए।

(ग) थामसन की योजना: उत्तर पश्चिमी प्रांत के लेफ्टीनेंट गवर्नर थामसन द्वारा तैयार की गई योजना ही सार्वजनिक शिक्षा के विकास के संबंध में एक ऐसा प्रयोग थी जिसका अन्य योजनाओं जैसा हाल नहीं हुआ। यह सामान्यतः थामसन योजना के नाम से प्रसिद्ध है और इस पर सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

1845 में जिला अधिकारियों के नाम जारी किए गए एक परिपत्र में थामसन ने लिखा था कि जनता को शिक्षित करने के साधन उन देशी विद्यालयों में मौजूद हैं जो देश भर में फैंले हुए हैं। हो सकता है कि इस समय वे अधिक संख्या में न हों और उनमें दी जाने वाली शिक्षा गंवारू और अरिभक समझी जाती हो। परंतु उनकी संख्या को बढ़ाया जा सकता है और उनमें दी जाने वाली शिक्षा को सुधारा जा सकता है। स्पष्ट है कि ये वही मनोभाव हैं जो ऐडम, मुनरो और ऐलिफिस्टन के थे। परंतु सौभाग्यवश थामसन को गवर्नर जनरल और निदेशक मंडल का अच्छा समर्थन मिला। उनकी प्रस्थापनाओं को न केवल अस्वीकृत नहीं किया गया वरन उनकी भारी प्रशंसा की गई। थामसन को उत्तर-पश्चिमी प्रांत में अपने अनुसार शिक्षा का विकास करने की खुली छूट दे दी गई थी। यह एक सुखद आश्चर्यजनक घटना है और संभवतः इसका कारण यह है कि अब अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत को छोड़ा जा रहा था और थामसन का समर्थन करने के लिए डलहौजी जैसे उदारमना व्यक्ति गवर्नर जनरल थे। अतः इस बात का श्रेय थामसन को ही प्राप्त है कि उन्होंने केंद्रीय सरकार और निदेशक मंडल से यह सिद्धांत स्वीकार करवा लिया कि जनता के बीच शिक्षा प्रसार करने के साधन के रूप में देशी विद्यालय का विकास किया जाए और उन्हें सुधारा जाए।

थामसन की दूसरी बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने प्राथमिक विद्यालयों की सहायता के लिए एक उपकर लगाया। विद्यालय के प्रयोजनार्थ कर लगाए जाने का विचार उस समय भारत के लिए नया था। इंग्लैंड में भी 1870 तक कोई उपकर नहीं लगाया गया था। परंतु थामसन ने 1851 में ही प्राथमिक विद्यालयों की सहायता के लिए उपकर लगाना प्रारंभ कर दिया। विद्यालय के रखरखाव के लिए भूमि के लगान पर आधा प्रतिशत कर स्वेच्छा से देने के लिए भूस्वामियों को सहमत कर लेने से उन्हों कानून बनाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। बाद में उन्होंने निदेशक मंडल से यह

स्वीकृति ले ली कि सरकार की ओर से इस कार्य के लिए समतुल्य धनराशि दी जाए। अतः थामसन भारत में पहले अधिकारी थे जिन्होंने विद्यालयों के लिए एक स्थानीय उपकर लगाया और उन्हें राजकोष से सहायता अनुदान दिया। इस प्रकार से प्राप्त धनराशि को हलकाबंदी विद्यालयों पर व्यय किया गया। हलका एक सर्किल या गांवों का समूह होता है। इन विद्यालयों की व्यवस्था के बारे में निम्नलिखित उदाहरण से अच्छी जानकारी मिल जाती है:

हलकाबंदी अथवा सर्किल विद्यालय की पद्धति की प्रकल्पना 1854 से पूर्व, कृषक जनता की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए की गई थी। इस पद्धति में शिक्षा के प्रयोजनार्थ अनेक समीपवर्ती गांवों को समूहबद्ध करके ऐसे केंद्र स्थान पर एक विद्यालय स्थापित कर दिया जाता है जो हलके के किसी भी गांव से दो मील से अधिक दूरी पर नहीं होता। इन विद्यालयों की सहायता के लिए, भू स्वामियों से इस बात की सहमित लेनी होती थी कि सरकारी राजस्व की राशि का एक अल्प प्रतिशत इसी मद पर विनियोजित किया जाएगा। एक प्रतिशत धनराशि दी जाने पर, उसकी आधी राशि भू स्वामी देंगे और आधी सरकार देगी। यह विहित कर दिया गया कि किसी भी स्थान पर इस पद्धति को चालू करने के लिए यह अनिवार्य शर्त होगी कि भू स्वामी इसके लिए स्वेच्छा से जमीन प्रदान करें। 1857 में उत्तर पश्चिमी प्रांतों में लड़ाई छिड़ने के समय तक, अनेक जिलों में इस योजना को अपे-क्षित अनुमति मिल चुकी थी और स्वदेश सरकार ने स्थानीय सरकार की इस प्रस्थापना को (1856 में) मंजूरी दे दी थी कि भू राजस्व की पुनर्व्यवस्था में नई योजना को सार्वाधिक रूप से लागृ किया जाए और तमाम जिलों में सरकारी मांग का एक प्रतिशत इस हलकाबंदी पद्धति की सहायता के लिए अलग रख दिया गया। 1 तीसरी बात जिसके लिए हम थामसन के ऋणी हैं एक नियमित शिक्षा विभाग का गठन किया जाना है। देशी विद्यालयों के निरीक्षण और सुधार की उनकी योजना को सबसे पहले 1850 में आठ जिलों में प्रायोगिक कार्रवाई के रूप में आरंभ किया गया था। इसे इस प्रकार बताया गया है:

प्रत्येक तहसीलदार के सदर मुकाम पर एक सरकारी ग्राम विद्यालय होगा। प्रत्येक दो या तीन तहसीलदारियों में एक परमना कुलाध्यक्ष होगा और इन सब के ऊपर संपूर्ण प्रांत के लिए एक और महाकुलाध्यक्ष होगा।²

अतः उपर्युक्त व्यवस्थाएं उस शिक्षा विभाग की पुरोवर्ती थीं जिसे 1854 के बाद गठित किया गया था।

इन तीनों महान देनों (जो थामसन योजना का अंग है) के कारण शैक्षिक इतिहास के विद्यार्थी के लिए थामसन का कार्य अत्यंत बहुमूल्य और रोचक हो जाता है।

स्त्री शिक्षा: इस काल का महत्वपूर्ण विवाद स्त्री शिक्षा की समस्या के संबंध में था। यह पहले ही उल्लेख किया जा चका है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल में भारतीय समाज में स्त्री शिक्षा का लगभग पूर्ण अभाव था। जैसा कि ऐडम के द्वितीय प्रतिवेदन से पता चलता है बंगाल में स्थिति विशेष रूप से खराब रही थी (देखिए अध्याय I)। यहां तक कि ऐडम ने साक्षरता के बारे में जो जनगणना कराई थी उसमें कूल जनसंख्या 4,96,974 थी जिसमें से (21,907 पूरुषों के मुकाबले) केवल चार स्त्रियां साक्षर मिलीं। बंबई में भी हालत इससे ज्यादा अच्छी प्रतीत नहीं होती। वहां न तो 1823-25 की और न 1829 की जांच में ही देशी विद्यालयों में किसी छात्रा के उपस्थित रहने की सुचना मिली थी (देखिए अध्याय I)। यह सही है कि जिंदस ने कुछ मुसलमान परिवारों में लडिकयों को गह शिक्षा दिए जाने की बात कही है और इस बात के कुछ प्रमाण भी मिल चके हैं कि ऊंची जाति के कुछ हिंदू परिवारों में वैसी ही प्रथा थी। परंत् इस प्रकार से शिक्षित स्त्रियों की वास्तविक संख्या अवश्य ही बहुत थोड़ी रही होगी। मद्रास में स्थिति स्पष्ट रूप से अच्छी थी। वहां मूनरो को यह पता चला था कि 'राजवंश और हिंदुओं की कुछ अन्य जनजातियों की स्त्रियों को सामान्यत: शिक्षा दी जाती थी और देशी विद्यालयों के विवरणों से यह पता चला था कि कूल 1,84,110 नामदर्ज विद्यार्थियों में से 5,480 बालिकाएं थीं (देखिए अध्याय I)। पंजाब से प्राप्त प्रतिवेदन इससे भी अच्छा है। उसमें अध्यापिकाओं की देखरेख में चलने वाले विशेष कन्या विद्यालयों के मौजूद होने की बात कही गई है। शेष भारत के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। अतः कुल मिला कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन बहुत थोड़ी सी महिलाओं को छोड़कर जिन्हें या तो घर पर या विद्यालयों में सामान्य अथवा विशेष प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त हुई थी। देश की लगभग तमाम स्त्रियां औपचारिक शिक्षा से वंचित रहीं।

स्त्रियों की सामाजिक स्थिति भी संतोषजनक नहीं थी। मुसलमानों में यद्यपि स्त्रियों को संपत्ति का अधिकार प्राप्त था और विवाह तथा विवाह विच्छेद के संबंध में उदार कानून मौजूद थे तथापि पर्दे की बुराइयां तथा पृथक्करण उनकी प्रगति में मुख्य रूप से बाधक रहे। हिंदुओं में बाल विवाह की प्रथा बहुत सामान्य थी। स्त्रियों को संपत्ति का बहुत सीमित अधिकार प्राप्त था और विवाह कानून स्त्रियों में बहुत प्रतिकृत्व थे। उच्च वर्ग की स्त्रियों को इसलिए कष्ट सहने पड़ते थे क्योंकि उनमें सती प्रथा विद्यमान थी, विवाह विच्छेद नहीं होता था और विधवाओं को मजबूरन यतिधर्म का पालन करना पड़ता था। नीची जातियों में कुछ हद तक देवदासी प्रथा तथा बालिका हत्या की प्रथा प्रचलित थी। इन सबसे बढ़कर बात यह है कि सभी वर्गों के पुरुषों में स्त्री शिक्षा के विरुद्ध भारी सामाजिक पूर्वग्रह विद्यमान था। संभवतः यह सबसे बड़ी रुकावट थी जिसे दूर करके ही स्त्रियों के बीच शिक्षा का प्रसार किया जा सकता था।

इस काल के ब्रिटिश अधिकारियों के सामने प्रश्न यह था कि ईस्ट इंडिया कंपनी भारत की स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार करने और उनकी स्थिति को सुधारने के लिए कोई कार्य करे या नहीं। कंपनी के अनुदार लोगों का कहना था कि इस विषय से कंपनी का कोई संबंध नहीं है। उन्होंने कहा कि कंपनी की नीति पूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक

^{1.} डिस्पैच आफ 1859, पैरा 19 ।

^{2.} सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स, खंड II, पृ० 249 ।

तटस्थता की हैं और लोगों के मन में स्त्री शिक्षा के विरुद्ध जो पूर्वग्रह हैं वे उनके सामा-जिक एवं राजनीतिक जीवन में इतनी गहरी जड़ें जमाए हुए हैं कि स्त्रियों को शिक्षित करने का कोई प्रयास किए जानें से बहुत क्षोम उत्पन्न होगा। उन्होंने यह भी कहा कि कंपनी के प्रथम प्रयास केवल प्रूषों की शिक्षा तक ही सीमित रहने चाहिए और बाद में किसी समय ये लोग स्वयं ही अपने स्वी समुदाय को शिक्षा देने का काम करने लगेंगे। इस अनुदार दिष्टिकोण को बदलने का श्रेय लार्ड बेटिक और लार्ड डलहौजी को है। बेंटिक ने निर्मम सती प्रथा को साहसपूर्वक समाप्त कर दिया जबिक डलहौजी ने यह निर्णय किया कि स्त्री शिक्षा को सरकार खुला संरक्षण दे। 11 अप्रैल, 1850 के उनके आदेश के निम्नलिखित उदाहरण से इस विषय में उनके दिष्टकोण का पता चलता है।

2. सपरिषद गवर्नर जनरल की यह राय है कि लोगों की आदतों में किसी भी एक परिवर्तन से उतने महत्वपूर्ण और लाभदायक परिणाम निकलने की संभावना नहीं है जितने उनकी बालिकाओं को शिक्षा देने से निकल सकते हैं। सामान्य प्रथा यह है कि वे पूर्ण अज्ञान की स्थिति में पलकर बड़ी होती हैं। उनके धर्म के अनसार यह प्रथा न तो अपेक्षित है और न धर्म उसकी स्वीकृति ही प्रदान करता है। वास्तव में जो लोग अपने घरों पर विशेष शिक्षक बुलाने का खर्च बर्दाश्त कर सकते हैं उनके महिला रिश्तेदारों को कुछ अंश तक अब शिक्षा दी भी जाती है...

सपरिषद गवर्नर जनरल निवेदन करते हैं कि शिक्षा परिषद को यह सुचित कर दिया जाए कि अब भविष्य में उसके कार्यों में देशी स्त्री शिक्षा का अधीक्षण करना शामिल होगा और जब कभी भी देशी लोग महिला विद्यालय स्थापित करने का रुझान दिखाएंगे तो शिक्षा परिषद का यह कर्तव्य होगा कि उन्हें हर प्रकार से प्रोत्साहन दे। वह ऐसे हर संभव उपाय से उनकी योजनाओं को सहायता दे जो उसके प्रबंध में पहले से ही विद्यमान संस्थाओं की कार्यक्शालता से असंगत न हो। संपरिषद गवर्नर ज़नरल की यह इच्छा भी है कि इसी आशय की सूचना मुफस्सिल के मुख्य असैनिक अधिकारियों को दी जाए। सूचना में इन अधिकारियों का ध्यान महिला विद्यालय स्थापित करने के लिए देशी लोगों की बढ़ती हुई चित्तवृत्ति की और आकर्षित किया जाए और उन्हें यह निर्देश दिया जाए कि इन संस्थाओं को प्रोह्साहन देने और लोगों को सामान्य रूप से यह बताने के लिए वे सभी संभव उपाय करें कि सरकार इन संस्थाओं का भारी समर्थन करती है।

जैसा कि हमें आगे पता चलेगा बाद में 1854 के आज्ञापत्र द्वारा इस विचार की पृष्टि कर दी मई।

आदेशों के बावजूद 1853 तक स्त्री शिक्षा के संबंध में सरकारी प्रयासों की गति बहुत धीमी रही।

सरकारी तंत्र के पूर्जे हमेशा धीमी गति से कार्य करते हैं। डलहौजी के उपर्युक्त

निष्कर्ष: पूर्ववर्ती चर्चा से यह पता चलेगा कि यह उपलिब्ध्यों के बजाय विवादों का युग था। ईस्ट इंडिया कंपनी वाणिज्य, नए क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने और राज्य को सदढ बनाने के कार्यों में लगी हुई थी। अतः यदि कंपनी के निदेशकों और कर्मचारियों ने शिक्षा कार्य के लिए पर्याप्त धन नहीं दिया और न उसकी ओर पर्याप्त ध्यान ही दिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उनका अधिकांश समय शिक्षा के लक्ष्यों, नियोजित किए जाने वाले अभिकरणों और शिक्षा माध्यम पर चर्चा करने में ही बीत गया। विशाल जनसंख्या और शिक्षा में उसके पिछड़ेपन को देखते हुए वास्तविक उपलब्धि नगण्य रही। यहां तक कि 1855 तक में कंपनी के प्रबंध में चलने वाली अथवा कंपनी द्वारा सहायता प्राप्त अथवा उसके द्वारा निरीक्षण की जाने वाली शिक्षा संस्थाओं की संख्या केवल 1.474 थी। उनमें कूल 67,569 विद्यार्थी थे। शिक्षा पर कूल व्यय कूल राजस्व का एक प्रतिशत भी नहीं होता था। इस स्थिति में उद्धार करने वाली केवल दो बातें थीं: मिशनरी शैक्षिक उद्यम का भारी विस्तार और आधुनिक शिक्षा पद्धति में भारतीय निजी उद्यम का थोड़ा बहुत बहुमूल्य प्रारंभ । इन विषयों पर अगले अध्याय में विचार किया जाएगा।

4

शिक्षा में गैर सरकारी उद्यम: 1813-53 और बुड का शिक्षा घोषणापत्र: 1854

पिछले अध्याय में उन सरकारी प्रयासों का इतिहास बताया गया था जो 1813 के चार्टर अधिनियम तथा 1854 के वुड के शिक्षा घोषणा पत्र के बीच की अवधि में भारतीय जनता को शिक्षित करने के लिए किए गए थे। अब हम शिक्षा के क्षेत्र में (1813-53 में) किए गए गैर सरकारी प्रयासों का वर्णन करेंगे और 1854 के शिक्षा घोषणा पत्र के मुख्य निवेशों का सारांश देकर और मूल्यांकन करके इस काल के अध्ययन को समाप्त कर देंगे। यह आज्ञापत्र कंपनी के शिक्षा संबंधी दस्तावेजों में सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज है और कुछ इतिहासकारों ने तो इसे 'भारत में शिक्षा का मेग्नाकार्टा' भी कहा है।

इस अवधि के गैर सरकारी प्रयासों को चार मुख्य भागों में बांटा जा सकता है:
(क) मिशनरियों द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाएं; (ख) कंपनी के कर्मचारियों द्वारा व्यक्तिगत रूप से संचालित अथवा भारत में रहने वाले गैर सरकारी अंग्रेजों द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाएं; (ग) स्वयं भारतीयों द्वारा संचालित आधुनिक ढंग की शिक्षा संस्थाएं; और (घ) देशी शिक्षा संस्थाएं। अंतिम प्रकार की शिक्षा संस्थाओं का विस्तार करने तथा उनका सुधार करने के लिए जो सरकारी प्रयास किए गए थे उनका पिछले अध्याय में पहले ही अध्ययन किया जा चुका है। अब हम शेष तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाओं का कुछ विस्तार से विवेचन करेंगे।

मिशनरी शंक्षिक उद्यम (1813-33): अध्याय दो में यह बताया गया था कि 1813 के चार्टर अधिनियम ने मिशनरी संस्थाओं के लिए भारत के द्वार खोल दिए थे। इसके परिणामस्वरूप, 1813 से 1833 तक के काल में कंपनी के आधिपत्य वाले सभी भागों में मिशनरी कियाकलाप बड़े जोरों से चले। भारत में जो मिशनरी संस्थाएं पहले से कार्य कर रही थीं उन्होंने अपने कियाकलापों का विस्तार किया तथा नई संस्थाएं भी मैदान में आ गईं। इन नई संस्थाओं में जनरल बेप्टिस्ट मिशनरी सोसायटी, लंदन मिशनरी सोसायटी, चर्च मिशनरी सोसायटी, बैसलियन मिशन और स्काच मिशनरी सोसायटी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

1. सिलेक्शंस फाम एजूकेशनल रिकार्ड्स खंड II, पृ० 364।

मिशनरियों के शैक्षिक कार्य के संबंध में तीन बातों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पहली बात यह है कि यह स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षा मिशनरियों का मुख्य लक्ष्य कभी नहीं रही। उनका लक्ष्य धर्म परिवर्तन करना था और धर्म परिवर्तन व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा करने तथा विशेषकर अपने धर्म परिवर्तन संबंधी कियाकलापों के लिए भारतीय सहायकों को प्रशिक्षित करने के लिए वे शैक्षिक कार्य आरंभ करने के लिए बाध्य थे। दूसरी बात यह है कि पूर्वकालीन मिशनरियों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन को जो महत्व दिया वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन मिशनरियों को समाज के उन सबसे निचले वर्गों के बीच काम करना पडा था जो अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा को समझ ही नहीं सकते थे। इसलिए मिशनरियों ने भारतीय भाषाओं का जट कर अध्ययन किया, शब्दकोष तैयार किए, व्याकरण पर पुस्तकों लिखीं और बाइबिल का इन भाषाओं में अनुवाद किया। यह वात ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश पर्वकालीन मिशन विद्यालय छात्रों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देते थे और भारतीय मिशनरियों के दिमाग में यह बात कभी आई ही नहीं कि वे यह कहें कि 'देशी लोगों के बीच बोली जाने वाली वोलियां इतनी अविकसित और गंवारू हैं कि ... उनमें किन्हीं महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद कर देना सरल नहीं होगा।' परंतू इसके विपरीत कंपनी के कर्मचारियों को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि उपर्युक्त कथन सही है। अतः भारतीय भाषाओं में विद्यालयों की पहली पाठ्य पुस्तकों का संकलन करने का श्रेय मिशनरियों को ही है। तीसरी बात यह है कि स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरियों ने अत्यंत मृल्यवान अग्रणी कार्य किया। इस क्षेत्र को खतरनाक समझा गया था और कंपनी के इस काल के कर्मचारियों ने इस क्षेत्र में कार्य करने से इंकार कर दिया। मिश-रियों की पित्नयों और कुछ मिशनरी कार्यकर्तियों ने इस मामले में पहल की और स्त्री शिक्षा के प्रसार का कार्य आरंभ किया। यह कार्य तीन प्रकार से किया गया: (क) भारतीय बालिकाओं के लिए दिवा विद्यालय खोलकर, (ख) अनाथालयों की स्थापना करके, और (ग) मध्यवर्गीय तथा उच्चवर्गीय परिवारों को गृह शिक्षा अथवा जनानी शिक्षा देकर।

इस काल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना यह थी कि कंपनी तथा मिशनरियों के पारस्परिक संबंधों में धीरे-धीरे और स्थिर रूप से सुधार होने लगा। 1793 और 1813 के दौरान उनके बीच जो तनावपूर्ण संबंध विद्यमान थे उनका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। परंतु 1813 के चार्टर अधिनियम ने एक नया अध्याय खोल दिया। कर्मचारी अब यह महसूस करने लगे कि मिशनरियों को सहन करते हुए उन्हें कार्य करने देना चाहिए। दूसरी ओर, ऐसा प्रतीत होता है कि मिशनरियों ने धर्मांतरण के अपने कार्य में अधिक चतुराई और विवेक से कार्य लिया। इसके परिणामस्वरूप कंपनी के कर्मचारियों और मिशनरियों के पारस्परिक संबंध यथेष्ट रूप से सुधर गए। कंपनी ने मिशनरियों के शैक्षिक कार्य की उपयोगिता को न केवल स्वीकार कर लिया वरन समय समय पर उसके लिए सहायता अनुदान भी स्वीकृत किए। भारतीय जनता के बीच शिक्षा प्रसार के लिए स्थापित की गई संस्थाओं में कंपनी के कर्मचारियों ने बहुधा मिशनरियों के साथ

मिलजुल कर कार्य किया। कुल मिलकर, यह कहा जा सकता है कि पूर्वकाल में मिशनरियों के प्रति अविश्वास तथा शत्रुता का जो शासकीय रवैया था वह बहुत समय पूर्व समाप्त हो चुका था।

मिशनरी शैक्षिक उद्यम (1833-53): 1813 के चार्टर अधिनियम द्वारा दी गई स्वतंत्रता का अब तक मुख्य रूप से यूनाइटेड किंगडम की मिशनरी संस्थाओं ने ही लाभ उठाया-था। परंतु 1833 के चार्टर के अधिनियम के फलस्वरूप अन्य देशों से आने वाले मिशन भी मैंदान में उतर आए। वे बेसल मिशन सोसायटी ने 1834 में मंगलौर में कार्य आरंभ किया और अपने कियाकलापों को शीघ्र ही कन्नड़ तथा मलयालम राज्य क्षेत्र में काफी हद तक बढ़ा लिया। अन्य महत्वपूर्ण जर्मन संस्थाओं के नाम थे 'प्रोटेस्टेंट लूथरन मिशनरी सोसायटी' (जो 1836 में ड्रेसडन में स्थापित हुई थी) और 'पूर्व में स्त्री शिक्षा महिला संघ (विमेन्स एसोसिएशन आफ एजूकेशन आफ फीमेल्स इन दि ओरियंट जिसे 1842 में बिलन में स्थापित किया गया था)। इन दोनों ही संस्थाओं ने भारत में यथेष्ट मिशनरी कार्य किया। 'पर्याप्त कार्यकर्ताओं और प्रचुर धन' वाली अमरीकी संस्थाओं का कार्य भी समान रूप से महत्वपूर्ण था इन संस्थाओं में अमरीकी बेप्टिस्ट यूनियन, अमरीकी बोर्ड और अमरीकी प्रेस्विटेरियन मिशन बोर्ड नार्थ उल्लेखनीय हैं।

1833 से पूर्व मिशनरी शैक्षिक उद्यम अधिकांशतः आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने वाले प्रारंभिक विद्यालयों तक ही सीमित रहा था। परंतु 1833 और 1853 के बीच मिशनरियों ने पुरानी नीति छोड़ दी और वे अंग्रेजी के द्वारा शिक्षा देने वाले माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयों पर जोर देने लगे। यह परिवर्तन दो कारणों से हुआ। पहला कारण उनका यह पूर्वोल्लिखित विश्वास था कि पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप लोग अनिवार्य रूप से ईसाई बनने लगेंगे। दूसरा कारण उनकी यह कामना थी कि हिंदू समाज के उच्च वर्ग के लोगों का धर्म परिवर्तन किया जाए। मिशनरी इस बात को जानते थे कि उच्च वर्गों के लोग अंग्रेजी का अध्ययन इसलिए करना चाहते थे कि उससे उन्हें सांसारिक लाभ प्राप्त होंगे। वे यह भी जानते थे कि इसके लिए इन लोगों को अंग्रेजी सीखने के लिए मिशन विद्यालयों में (जिनको वे नापसंद करते थे) दाखिला लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी। अतः बाइबिल की अनिवार्य शिक्षा देते हुए, मिशन विद्यालयों तथा महाविद्यालयों ने इन मिशनरियों को उच्च वर्गों के लड़कों और लड़कियों से संपर्क स्थापित करने और उन्हें ईसा मसीह के शुभ संदेश की शिक्षा देने का उत्तम और संभवतः एकमात्र अवसर प्रदान किया। इस दिशा में मार्गदर्शन

एलेक्जेंडर डफ ने किया। वह इस काल के सबसे महान मिशनरी थे और उन्होंने स्वयं 1830 में कलकत्ता में एक अंग्रेजी विद्यालय चालू किया था। अंग्रेजी शिक्षा की धर्म परिवर्तन कराने की संभाव्य शक्ति के प्रति डफ के विश्वास ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में काम करने वाले लगभग सभी मिशनरियों को प्रेरणा दी और 1830 के बाद, मिशनरियों द्वारा संचालित अंग्रेजी विद्यालयों की संख्या में बहुत तेजी से वृद्धि होने लगी। उस समय भी यह बात महसूस कर ली गई थी कि भारतीय छात्र मिशनरी विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए नहीं, वरन सरकारी नौकरी पाने के लिए अंग्रेजी सीखने आते थे। इस बात का भी शीघ्र ही पता चल गया कि बाइबिल की शिक्षा के अनिवार्य घंटे को एक मजबूरी समझकर छात्र गम खा जाते थे परंतु सामान्यत: वे ईसा की शिक्षाओं के प्रति कोई रुचि नहीं ररखे थे। परंतु अनंत धैर्य और शंकातीत आशावादिता के साथ, जो कि मिशनरी भावना की विशेषताएं हैं, भारतीय मिशनों के कार्यकर्ताओं ने अंग्रेजी विद्यालयों में इस आशा से कठोर परिश्रम किया कि 'कम से कम कुछ बीज तो अवश्य अंकुरित होंगे।' यह भ्रम बाद में लगभग 1870 में टूटा। परतु जहां तक विचाराधीन काल का संबंध हैं, अंग्रेजी विद्यालयों द्वारा धर्म परिवर्तन रूपी अच्छी फसल काटने की आशाएं इस काल में बहत अधिक थीं। इसके परिणामस्वरूप,

1830 से 1857 तक की लगभग चौथाई शताब्दी को हम 'मिशन विद्यालय यूग' कह सकते हैं। इस काल में, बेंटिक के सदाशय के बावजूद, सरकार वास्तव में उदासीन रही। यह समझ पाना हमारे लिए असंभव है कि ऐसा किस कारण से हुआ। तीन वर्ष के लिए गवर्नर जनरल के पद पर लार्ड एलेनबरा पदासीन रहे। वह एक ऐसे व्यक्ति थे जो यह मानते थे कि हिंदुओं को शिक्षा देने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि अंग्रेजी की शक्ति राजनीतिक रूप से नष्ट हो जाएगी। अत: उस समयमिशन विद्यालयों का भारतीय विचारधारा पर इतना गहरा प्रभाव था कि उसका आजकल अनमान लगाना कठिन है। बंबई में डा॰ जान विल्सन (डफ के बाद उस समय के सबसे प्रतिभाशाली स्काच मिशनरी) ने एक शानदार महाविद्यालय की स्थापना की जिसका नाम बाद में उन्हीं के नाम पर रख दिया गया। मद्रास में एंडरसन और ब्रेडवड ने 1837 में महासभा (जनरल असेंबली) का विद्यालय खोला जो इस समय जीवित अत्यंत प्रसिद्ध शैक्षिक मिनरी डा० मिलर के प्रतिभाशाली निदेशन में चल कर 'ईसाई महाविद्यालय' (किश्चियन करलेज) बन गया है। स्टीफन हिस्लोप ने 1844 में अपनी संस्था के महाविद्यालयों में से चौथा महाविद्यालय मध्य भारत में नागपूर में खोला। 1853 में चर्च मिशन सोसायटी ने आगरा सेंट जांस महाविद्यालय की स्थापना की जिसके प्रथम प्रधानाचार्य भावी बिशप फेंच थे। 1841 में रावर्ट नोविल ने मछलीपट्टम में 'नोबिल महाविद्यालय' खोला। उपर्यक्त महाविद्यालय उन महाविद्यालयों में से सबसे प्रसिद्ध थे जिन्हें डफ के प्रत्यक्ष प्रभाव और प्रेरणा के फलस्वरूप द्रुत गति से देश के अलग अलग भागों में एक एक करके स्थापित किया गया था। स्काटलैंड की राष्ट्रीय चर्च (नेशनल चर्च आफ स्काटलैंड) द्वारा

^{1 &#}x27;इसके साथ ही, भारत का द्वार संपूर्ण संसार के लिए खोल दिया गया और अब जो भी ईमान-दार व्यक्ति वहां बसना चाहता था, बस सकता था। इसी प्रकार इस उपबंध ने अन्य राष्ट्रों के मिशनरी कियाकलाप के लिए भी भारत का द्वार खोल दिया। गैर अंग्रेज मिशनरी संस्थाओं का भारत में मिशनरी कार्य इसी वर्ष आरंभ हुआ।'—रिचर: ए हिस्ट्री आफ मिशस इन इंडिया, पु० 192।

कलकत्ता, मद्रास और बंबई में स्थापित किए गए महाविद्यालयों जैसे अन्य महाविद्यालयों का तो कहना ही क्या है। 1

इस काल में कंपनी के कर्मचारियों और मिशनरियों के बीच जो मैत्नीपूर्ण संबंध रहे उनके परिणामस्वरूप, मिशनरी उद्यम में यह संवद्धि करना सरल हो गया था, चाहे यह संवद्धि धर्मांतरण के क्षेत्र में हुई हो अथवा शिक्षा के क्षेत्र में । ऐसा दो कारणों से हुआ। पहली बात तो यह है कि 1833-53 का काल इंग्लैंड के सामाजिक जीवन में महान सुधारों एवं उदार विचारों का काल था। इसके परिणामस्त्ररूप, कंपनी के बहुत से कर्मचारियों में भी मिशनरी जोश मौजद था। दूसरी बात यह है कि इस काल में इस खतरे को गंभीर नहीं समझा गया कि धार्मिक संस्थाओं में हस्तक्षेप किए जाने से हिंदू और मूसलमानों में भारी रोष उत्पन्न होगा। पूर्ववर्ती दशकों में मूख्यत: इसी भय के कारण घार्मिक तटस्थता की नीति अपनाई थी। सती प्रथा को समाप्त करके इस संबंध में एक परीक्षण किया गया था। इस सुधार का विरोध करने वालों की युक्ति यह थी कि इस प्रकार का प्रयास किए जाने से विद्रोह होने लगेंगे। परंतू सती प्रथा समाप्त करने पर ऐसी कोई घटना नहां हई। बल्कि प्रबुद्ध हिंदुओं ने इस सुधार का समर्थन किया तथा सरकार को धन्यवाद दिया। धार्मिक संस्थाओं के कार्य में सफल हस्तक्षेप का दूसरा उदाहरण यह है कि धनाढ्य मंदिरों और धार्मिक मेलों का प्रबंध कंपनी ने अपने हाथों में ले लिया। परंत इस कार्र-वाई का कोई विरोध नहीं हुआ और कंपनी को इस कार्रवाई से कुछ आर्थिक लाभ भी हुआ। अत: इस काल के कर्मचारी मिशनरियों के साथ मिलकर खुलेआम काम करने और उनके प्रयासों को प्रोत्साहन देने से डरते नहीं थे। 1833 और 1853 के बीच कंपनी के कर्मचारियों और मिश्चनरियों के संबंध अत्यंत मैत्रीपूर्ण रहे। यह उससे एक बिल्कुल विपरीत स्थित है जो 1793 से 1813 के बीच के दो दशकों में रही थी। उन दो दशकों में स्नेहपूर्ण भावना का अभाव था।

मिशनरी कियाकलाप के संबंध में काफी विशद आंकड़े उपलब्ध हैं। उनसे यह पता चलता है कि यदि हम केवल प्रोटेस्टेंट संस्थाओं को ही लें तो पाएंगे कि शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरी कियाकलाप प्रायः राजकीय उद्यम के बराबर ही रहा था। राजकीय उद्यम में 1,474 संस्थाएं थीं जिनमें 67,569 छात्र पढ़ते थे। परंतु शिक्षा के क्षेत्र में प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथोलिक दोनों को मिलाकर कुल मिशनरी कियाकलाप अवश्य ही राजकीय उद्यम से अधिक रहा होगा। अतः यह कहना सही होगा कि 1854 में भारत में (देशी विद्यालयों को छोड़कर) जो शैक्षिक उद्यम था उसमें अधिकांश भाग मिशनरियों का था कंपनी का नहीं। इन आंकड़ों से यह भी पता चलता है कि मिशनरी किलाकलाप सभी प्रांतों में एक सा नहीं रहा। यह मद्रास में अत्यंत व्यापक और जोरदार रहा। ऐसा दो कारणों से हुआ।

पहला कारण यह था कि वहां पर मिशनरी कियाकलाप बहुत पहले (1706 में) आरंभ हुआ था। दूसरा कारण यह था कि दक्षिण में हरिजनों की भारी दुर्दशा से धर्म परिवर्तन के लिए परिस्थिति अधिक अनुकूल थी। पंजाब में मिशनरी कियाकलाप सबसे कम था, उससे अधिक मध्य भारत में था और उत्तरपश्चिमी प्रांत, बंबई और बंगाल में कमशः और भी बढ़ता चला गया था।

मिशनरी उद्यम के दावे: जब 1813 के चार्टर अधिनियम की धारा 43 पारित की गई थी तो ब्रिटिश संसद का लक्ष्य यह नहीं था कि मिशनरी शिक्षा संस्थाओं के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त की जाए (जैंसा कि कुछ मिशनरी सोचते थे) उसका लक्ष्य कंपनी द्वारा अथवा भारतीय जनता द्वारा संचालित संस्थाओं का एक प्रतिस्पर्धी ढांचा तैयार करना था तािक मिशनरी उद्यम की संभावित महाप्रलय के विरुद्ध 'एक विश्वसनीय प्रतिसंतोल, एक संरक्षी तरंगरोध' बन जाए। 1818 और 1853 के बीच इस लक्ष्य को सामान्यतः ध्यान में रखा जाता था। कंपनी ने एक लाख रुपए (1833 से दस लाख रुपए) के वािषक अनुदान को अपनी संस्थाओं के रख रखाव पर ही खर्च किया और मिशन विद्यालयों को यदाकदा ही सहायता अनुदान दिए। इसके परिणामस्वरूप आधुनिक विद्यालयों की वित्तीं अर्थात (क) बाइबिल शिक्षा का आग्रह करने करने वाले मिशन विद्यालयों की पद्धति और (ख) कंपनी द्वारा संचािलत अनन्य रूप से धर्मनिरपेक्ष विद्यालयों की पद्धति, 1813 और 1853 के बीच एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र रहकर विकसित हई।

यह बात शीघ्र ही स्पष्ट हो गई थी कि कंपनी के विद्यालय मिशन विद्यालयों के भारी प्रतिस्पर्धी सिद्ध होंगे। कंपनी के विद्यालय धर्मनिरपेक्ष थे। अतः वे मिशन विद्यालयों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय थे। इसका कारण यह था कि मिशन विद्यालय धर्मीतरण और बाइबिल शिक्षा पर अधिक जोर देते थे जिसे भारतीय जनता नापसंद करती थी और उससे डरती भी थी। इसके अतिरिक्त, कंपनी के विद्यालयों को भारी वित्तीय संसाधन उपलब्ध थे। मिशन अपने पास इतने वित्तीय संसाधन होने की कभी आशा भी नहीं कर सकते थे। अतः मिशनरी इस बात को जान गए कि जब तक उनके और कंपनी के विद्यालयों के बीच प्रतियोगिता समाप्त नहीं होगी और जब तक उनके अपने वित्तीय संसाधन नहीं बढ़ेंगे तब तक भविष्य में उनके उत्तरजीवी रहने की कोई संभावना नहीं है। अतः उन्होंने निम्नलिखित दावे पेश किए:

- (क) कंपनी के विद्यालय धर्मनिरपेक्ष अर्थात सामान्य मिशनरी भाषा में 'ईश्वर-विहीन' अथवा 'काफिर' हैं। ऐसे विद्यालय निश्चय ही हानिप्रद हैं अतः कंपनी के सभी विद्यालयों में बाइबिल अवश्य पढ़ाई जानी चाहिए;
- (ख) यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि यदि राजनीतिक आधार पर ऐसा करना संभव न हो तो कंपनी को सीधे शैक्षिक उद्यम को त्याग देना चाहिए और इस क्षेत्र को मिशन विद्यालयों के लिए छोड़ देना चाहिए;
- (ग) यह युक्ति भी प्रस्तुत की गई कि कंपनी के विद्यालय निश्चय ही अधिक खर्चीले हैं अत: बुद्धिमानी का काम यह होगा कि उपलब्ध सीमित संसाधनों को राजकीय संस्थाओं

^{1.} रिचर : ए हिस्ट्री आफ मिणंस इन इंडिया, पृ० 183-84।

^{2.} देखिए नूरुल्ला एंड नायक : हिस्ट्री आफ मिशंस इन इंडिया ड्यूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड, पृ० 177-8।

के रख रखाव पर खर्च करने के बजाए मिशन विद्यालयों को सहायता अनुदान देने में खूर्च किया जाए;

- (घ) यह दावा किया गया कि मिशनों को सदैव यह नैतिक अधिकार प्राप्त है कि वे कंपनी से सहायता अनुदान प्राप्त करें। अतः यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि इस नैतिक अधिकार को एक ऐसी सहायता अनुदान सहिता पारित करके कानूनी अधिकार बना दिया जाए जिसके अधीन प्रत्येक मिशन विद्यालय को पर्याप्त वित्तीय सहायता का आश्वासन मिले;
- (ङ) अंत में यह दावा किया गया कि भारत में आदर्श स्थिति वह होगी जिसमें कंपनी सीधे शैक्षिक उद्यम को पूरी तरह छोड़ देगी और देश के द्वारा अपेक्षित समस्त संस्थाओं की व्यवस्था मिशनों द्वारा सहायता अनुदान के आधार पर की जाएगी।

इन दावों में निजी भारतीय उद्यम की बिल्कुल ही उपेक्षा कर दी गई थी। वे इस भ्रांत धारणा पर आधारित थे कि मिणन भारत में वह कार्य कर सकते हैं जो इंग्लैंड में निर्धन व्यक्तियों के धार्मिक संघों ने किया था। परंतु कुछ वर्षों में उनके ये भ्रम टूट गए। तो भी, उस समय इंग्लैंड और भारत में मिशनरी प्रभाव इतना जबर्दस्त था और कंपनी के कर्मचारियों तथा मिशनरियों के बीच इतने अधिक मैत्रीपूर्ण संबंध थे कि इन तमाम दावों को 1854 के आज्ञापत्र में सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया गया।

ब्रिटिश कर्मचारियों तथा गैर सरकारी ब्रिटिश लोगों द्वारा निजी शैक्षिक उद्यम : हमने मिशनरी उद्यम पर इसलिए पहले चर्चा की थी कि आधनिक शिक्षा के क्षेत्र में यह सबसे पूराना और जहां तक विचाराधीन काल का संबंध है, सबसे बड़ा गैर सरकारी अभिकरण था। परंतु मिशनरी ही एकमात्न यूरोपीय नहीं थे जिन्होंने भारत में आधुनिक शिक्षा के लिए कार्य किया था। उनके साथ हमें कुछ और लोगों को भी जोड़ देना चाहिए। इन लोगों में एक तो भारी संख्या में कंपनी के ऐसे अंग्रेज कर्मचारी थे जिन्होंने व्यक्तिगत रूप में कार्य किया था। दूसरे कुछ ऐसे अंग्रेज और गैर सरकारी लोग मुख्यत: व्यापारी थे जिन्होंने या तो शगल के तौर पर या समाज सेवा के रूप में शिक्षा की उन्नति के लिए कार्य किया था। इनमें से कुछ लोग मिशनरी आदर्शों और पद्धतियों से सहमत थे और वे मिशनरियों की सहायता करते थे। उनके कार्य के बारे में यहां चर्चा करने की आवश्य-कता नहीं है क्योंकि उसने पूर्णतया उन मिशनरी प्रयासों का स्वरूप ग्रहण किया था जिनकी पहले चर्चा की जा चुकी है। परंतु अनेक ऐसे अंग्रेज सरकारी तथा गैर सरकारी लोग भी थे जो मिशनरियों का समर्थन नहीं कर सकते थे क्योंकि या तो वे धर्म निरपेक्ष विद्यालयों में विश्वास करते थे अथवा वे स्वयं भारतीय जनता के बीच निजी उद्यम को प्रोत्साहन देना चाहते थे। अंग्रेज सरकारी तथा गैर सरकारी लोगों के इस छोटे से समह का कार्य माता में मिशनरियों के कार्य से बहत कम होते हुए भी उसकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है अतः उसका सूक्ष्म विश्लेपण करने की आवश्यकता है।

यह विचित्र बात है कि जिस अग्रणी अंग्रेज सज्जन ने भारत में मिशनिरयों की योजना से भिन्न योजना के आधार पर नई शिक्षा पद्धित का निर्माण करने का प्रयत्न किया था, वह कलकत्ता के साधारण घड़ी साज एवं सर्राफ डेविड हेयर (1775-1842)

थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा संतोषजनक ढंग से नहीं हई थी। अतः वह यद्यपि सामान्यतः स्विज्ञ थे और उन्होंने सर्वश्रेष्ठ अंग्रेज लेखकों में से कुछ की रचानाएं पढ़ी भी थीं तो भी सामान्य रूप से स्वीकृत अर्थ में वह 'विद्वान नहीं' थे। पर्ण विनम्नता के साथ, वह अपने को 'शिक्षा का शूर्भाचतक अशिक्षित व्यक्ति' कहते थे। वह 1800 में भारत आए थे और 1815 तक उम्होंने काफी धन कमा लेने के बाद अपना पेशा छोड दिया। परंतू इंग्लैंड लौट जाने के बजाय उन्होंने कलकत्ता में ही रहने और अपना शेष जीवन भारतीय जनता की समुम्तित के कार्य में लगा देने का निश्चय किया। उनकी सबसे अधिक रुचि शिक्षा के प्रसार में थी। मिशनरियों की भांति हेयर को भी विश्वास था कि हिंदू समाज के पूनरुद्धार के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान और अंग्रेजी साहित्य का परिचय होना अत्यावश्यक है। परंत् स्वयं धर्म निरपेक्ष होने के कारण, वह धार्मिक शिक्षा के विषय में मिशनरियों से सहमत नहीं हो सके। उनका यह विचार था कि भारत को ऐसे धर्म निरपेक्ष विद्यालयों और महाविद्यालयों की आवश्यकता है जो मानुभाषा तथा अंग्रेजी की शिक्षा दें और जनता के बीच अंग्रेजी साहित्य का प्रसार करें। उन्हें संस्कृत से घगा थी और वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उनके मन में कोई अधिक सम्मान नहीं था। अत: इन दोतों ही विषयों को उन्होंने अपने कार्यक्रम में से प्रायः परी तरह निकाल दिया था। ऐसे प्रयोग की उपयोगिता और व्यावहारिकता दिखाने के लिए ही उन्होंने जीवन भर उत्साह के साथ कार्य किया और अपनी सबसे अधिक महत्वपूर्ण शिक्षा परियोजना हिंदू विद्यालय अथवा महाविद्यालय को पूरा किया। इस संस्था का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य हिंदू सज्जनों के पूत्रों को अंग्रेजी की अच्छी शिक्षा देना था। यह दो प्रकार से अद्वितीय थी। एक तो इसका संचालन यूरोपीय तथा भारतीय लोगों की एक सिमति करती थी। दूसरे, शुद्धतः धर्म निरपेक्ष आधार पर पाश्चात्य ढंग की महाविद्यालयी शिक्षा देने का यह पहला प्रयास था। परंतू बाद में वित्तीय कठिनाई के कारण इस विद्यालय का प्रबंध कंपनी को सौंप दिया गया और 1854 में यह प्रेसीडेंसी महाविद्यालय बन गया। परंतू इसके प्रारंभिक इतिहास का भारी ऐति-हासिक महत्व है क्योंकि उससे यह पता चलता है कि धर्म निरपेक्ष शिक्षा की व्यवस्था करने के प्रयास भारतीय जनता में किस प्रकार अधिक लोकप्रिय हो गए थे और किस प्रकार उन्हें जनता का सभी प्रकार से स्वेच्छापूर्ण सहयोग मिलने लगा था।

अधि निक शिक्षा के लिए हेयर का मुख्य योगदान धर्म निरपेक्षता का सिद्धांत है। उन्होंने देखा कि उनके समय के तमाम शैक्षिक उद्यम में धर्म का प्राधान्य था। कंपनी द्वारा संचालित संस्थाओं (जैसे बनारस संस्कृत कालेज या कलकत्ता मदरसा) में हिंदू धर्म और इस्लाम की शिक्षा का प्राधान्य था जबिक मिशनरी संस्थाओं में ईसाई धर्म की शिक्षा का प्राधान्य था जबिक मिशनरी संस्थाओं में ईसाई धर्म की शिक्षा का प्राधान्य था। हेयर का विश्वास था कि ये दोनों ही प्रकार की संस्थाएं संतोष-जनक नहीं हैं। उन्होंने एक नई पद्धित निकाली जिसमें संस्कृत और अरबी के बजाए बंगला और अंग्रेजी पढ़ाई जानी थी और समस्त धार्मिक शिक्षा को निश्चय ही त्याग

^{1.} एच० वी० हैंपटन : बायोग्राफिकल स्टड़ीज इन मार्डन इंडियन एजुकेशनल, पृ० 60 ।

दिया जाना था। उनके मन में संस्कृत के प्रति घणा होने के कारण प्राच्य अध्ययन को र्वाजत कर दिया गया और उनमें विद्वता की कमी होने के कारण विज्ञान की शाखाओं की अवहेलना हुई। अतः इस संस्था का एकमात्र लक्ष्य अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन पर बल देता रहा। आरंभ में कई क्षेत्रों में इस संस्था का कड़ा विरोध किया गया । प्राच्य अध्ययन को वर्जित कर देने से रूढ़िवादी भारतीय ऋढ़ हो उठे । विज्ञान के अध्ययन पर बल न दिए जाने से अन्य लोगों की सहानुभूति प्राप्त न हो सकी। मिशनरियों ने समस्त धार्मिक शिक्षा को वर्जित कर देने की वांछनीयता को चनौती दी। परंत् बहुत शीघ्र ही हेयर के संप्रत्यय का व्यावहारिक लाभ स्पष्ट हो गया और हिंदू विद्यालय के नमुने को कंपनी और भारतीय निजीं उद्यम ने सामान्यतः स्वीकार कर लिया। कंपनी को यह पता चल गया कि धर्म निरपेक्षता के सिद्धांत से वह अपनी धार्मिक तटस्थता की नीति को कायम रख सकती है जबिक अंग्रेजी भाषा एव साहित्य के अध्ययन पर जोर देने से वह उन विभागों के लिए कर्मचारी प्राप्त कर सकती है जिनमें अंग्रेजी को कामकाज की भाषा के रूप में अपनाया जा रहा है। गैर सरकारी भारतीय उद्यम ने भी हिंद विद्यालय के नमने का अनुकरण करना सुविधाजनक समझा क्योंकि एक तो धर्म निरपेक्ष शिक्षा नीति से कोई प्रशासनिक समस्याएं पैदा नहीं होती थीं; दूसरे, वैज्ञानिक अध्ययन को गौणत्व दिए जाने से संस्थाओं का संचालन कम खर्चीला और कम कठिन हो गया। अतः आगामी अनेक वर्षों तक कंपनी अथवा निजी भारतीय संस्थाओं ने अपनी आधनिक शिक्षा संस्थाओं को हेयर के हिंदू विद्यालय के नमृते पर ही चलाया अर्थात उन्हें ऐसी धर्म निरपेक्ष शिक्षा संस्था बनाए रखा गया जिनका मुख्य लक्ष्य विद्यार्थियों को अंग्रेजी भाषा और साहित्य से परिचित कराना था। वैज्ञानिक एवं प्राच्य अध्ययन को बाद में कमोवेश रूप में सम्मिलित कर लिया गया और उस हद तक यह कहा जा सकता है कि हेयर के मूल डिजाइन में बाद के घटनाक्रम द्वारा संशोधन कर लिया गया। परंतु आज भी हेयर का धर्म निरपेक्षता का संप्रत्यय सभी सरकारी संस्थाओं की (और अधि-कांश निजी भारतीय संस्थाओं की भी) प्रमुख विशेषता है।

डेविड हेयर एक गैर सरकारी व्यक्ति थे अतः वह अपनी नीति स्वतंत्रतापूर्वक तैयार कर सकें। दूसरी ओर, कंपनी के कर्मचारियों को अनेक सीमाओं में रहकर कार्य करना पड़ा था। इस कारण वे कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते थे जिसका कंपनी सीधा विरोध करती थी। परंतु व्यक्तिगत रूप में वे अवश्य किसी भी ऐसे क्रियाकलाप में संलग्न हो सकते थे जिस पर कंपनी को आपित्त तो नहीं थी परंतु जिसे, किसी न किसी कारणवश कंपनी स्वयं नहीं कर सकती थी। अतः कंपनी के अनेक उदार कर्मचारियों ने व्यक्तिगत रूप में, ऐसी शिक्षा परियोजनाओं को चालू किया या उन्हें सहायता दी जिन्हें कंपनी तो स्वीकृति अथवा समर्थन प्रदान नहीं करती परंतु जो उनकी राय में भारत की प्रगति के लिए अत्यावश्यक थीं। इस प्रकार के कार्य का एक अच्छा उदाहरण जे० ई० डी० बेथून (1801-51) के जीवन से मिलता है। वह गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के कानून सदस्य थे और 1848 से 1851 तक शिक्षा परिषद के अध्यक्ष रहे थे। स्त्री शिक्षा में उनकी गहरी रुचि थी परंतु चूंकि स्त्री शिक्षा के किसी भी प्रयत्न को कंपनी स्वीकृति

देने को तैयार नहीं थी अतः राजकीय उद्यम का माध्यम उनके लिए बद था। बेथून का यह भी विश्वास था कि मिशनरियों द्वारा घार्मिक शिक्षा का आग्रह किए जाने के कारण सम्मानित हिंदू अपनी पुत्रियों को कभी भी मिशन विद्यालयों में शिक्षा नहीं दिलाएंगे। अतः उन्होंने भारतीय बालिकाओं के लिए व्यक्तिगत रूप से धर्म निरपेक्ष विद्यालय स्था-पित करने और उसका सारा खर्च वहन करने का निश्चय किया।

इस विद्यालय ने मई, 1849 से कार्य करना आरंभ किया और उसे विलक्षण सफलता प्राप्त हुई। थोड़े ही समय में इसमें बालिकाएं काफी बड़ी संख्या में पढ़ने आने लगीं। बेथून की राय में इन बालिकाओं की ज्ञानार्जन की लालसा, विनेयता और आशुप्राहिता लड़कों के समान ही थी। यहां तक कि उनमें ये गुण 'उसी आयु की यूरोपीय बालिकाओं में पाए जाने वाले' इन्हों गुणों से अधिक थे। परंतु दो अन्य परिणाम इससे भी अधिक महत्वपूर्ण थे। इस प्रयोग का समर्थन करने के लिए प्रबुद्ध भारतीय तुरंत आगे आए और इस विद्यालय की नकल अन्यत्र भी की जाने लगी। वेथून का देहांत 1851 में कलकत्ता में हुआ और अपनी वसीयत द्वारा उन्होंने नगर की अपनी सारी भूमि और संपत्ति विद्यालय को दे दी। इसके बाद इसका दायित्व लार्ड डलहौजी ने ले लिया और वह तब तक अपनी जेब से इसको धन देते रहे जब तक कंपनी ने इसे अपने हाथ में न ले लिया। इस महान व्यक्ति के प्रति उचित श्रद्धांजिल के रूप में, इस विद्यालय का नाम स्थाई रूप से उनके नाम पर रख दिया गया और वह भारतीय महिलाओं की शिक्षा की एक महत्वपूर्ण एवं अग्रणी संस्था 'बैंथून महाविद्यालय' वन गया।

यह प्रयोग अंग्रेज कर्मचारियों द्वारा व्यक्तिगत रूप में किए गए अनेक प्रयोगों में से केवल एक उदाहरण है। इस प्रकार की पुस्तक में सभी प्रयोगों का उल्लेख कर पाना कठिन है क्योंकि उनकी संख्या बहुत अधिक है। ये प्रयोग केवल शिक्षा के संबंध में ही नहीं वरन समाज सेवा की अन्य शाखाओं में भी हुए थे। (अतः वेथून के विद्यालय को केवल एक व्यक्टि संस्था नहीं वरन ऐसी संस्थाओं के) समूह का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था माना जाना चाहिए जिन्हें कर्मचारियों ने इसलिए व्यक्तिगत रूप में चालू किया था और इनमें रुपया लगाया था कि उनके विचार कंपनी अथवा मिशनरियों किसी को स्वीकार्य नहीं थे। इन प्रयासों का, उनके विमल, सद्भावपूर्ण और धर्मनिरपेक्ष स्वरूप के कारण भारतीयों के मन पर उन प्रयासों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा जो कंपनी द्वारा अथवा धर्मांतरण करने वाले मिशनरियों द्वारा किए गये थे।

बंबई में माउंट स्टुअर्ट ऐलिफिस्टन द्वारा किया गया प्रयोग इससे भिन्न प्रकार का था। जब वह 1819 में प्रांत के गवर्नर बने तो उन्होंने देखा कि (मिशनों को छोड़कर) बंबई शिक्षा समिति ही एकमात्र ऐसी गैर सरकारी संस्था थी जो लोगों को आधुनिक शिक्षा देने का प्रयत्न कर रही थी। इसे इंग्लैंड की चर्च के बंबई निवासी सदस्यों ने 1815 में स्थापित किया था और उनका प्रमुख लक्ष्य आंग्ल भारतीय अथवा निर्धन यूरोपीय

^{1.} सिलेक्शंस फ्राम एजूकेशनल रिकार्ड्स खंड II, पृ० 53।

बालकों को प्रशिक्षित करना था। इस समिति ने माननीय रिचर्ड कोब्बे द्वारा 1719 में बंबई में स्थापित दानाश्रित विद्यालय को अपने हाथ में लेकर तथा अन्य विद्यालयों को स्थापित करके अपने कियाकलाप आरंभ किए। चंकि यह समिति अपने विद्यालयों में भारतीय बालकों को भी धार्मिक शिक्षा की कक्षा में उपस्थित रहने के लिए मजबूर किए बिना ही दाखिल कर लेती थी अतः बहुत से हिंदू, पारसी और मुसलमान बालक भी उन विद्यालयों में पढ़ने आए। 1820 तक सिमिति भारतीय बालकों के लिए चार विद्यालयों का संचालन करने लगी थी जिनमें 250 छात्र पढ़ते थे। उसी वर्ष शिक्षा समिति ने एक विशेष समिति नियुक्त की। इस समिति के दो लक्ष्य थे। पहला लक्ष्य था भारतीय बालकों के विद्यमान विद्यालयों का स्धार करना और आवश्यकतानुसार नए विद्यालय स्थापित करना या उन्हें सहायता देना । दूसरा लक्ष्य था शिक्षा पाने वाले भारतीय बालकों के उपयोग के लिए पुस्तकों तैयार करना। शिक्षा सिमति भारतीय बालकों के लिए जो कार्य कर रही थी वह 1822 तक काफी बढ़ गया था। अत: सिमति ने यह ठीक ही महसस किया था कि वह ऐसे कार्य कर रही है जिनका उसके मूल उद्देश्यों से कोई संबंध नहीं है। अतः दो वर्ष पूर्व भारतीय बालकों की शिक्षा की देखभाल के लिए उसने जो सिमिति नियुक्त की थी उसे अब बंबई देशी विद्यालय पुस्तक एवं विद्यालय समिति नाम से एक पुथक सिमति बना दिया गया (1827 में उसे एक ज्यादा अच्छा नाम दे दिया गया और वह बंबई देशी शिक्षा समिति कहलाने लगी)। मूल समिति ने अपने क्रियाकलापों को केवल यूरोपीय अथवा आंग्ल भारतीय बालकों की शिक्षा तक ही सीमित रखा। बंबई देशी शिक्षा समिति की यह स्वतंत्र संस्था मुख्यत: माउंट स्ट्अर्ट ऐलिफिस्टन के प्रोत्साहन और पथ प्रदर्शन के कारण ही बनी। वह इसके अध्यक्ष बनने के लिए भी सहमत हो गए और निदेशकों से इस समिति के लिए सहायता अनुदान स्वीकृत करवा दिया। उनके कहने से निदेशकों ने इस समिति को भारतीय जनता के बीच शिक्षा प्रसार का प्रमुख अभिकरण भी स्वीकार कर लिया। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि ऐलिफस्टन की इसी पितृतूल्य रुचि के कारण बंबई देशी शिक्षा समिति एक महान संस्था बनी और अपने क्रियाकलापों के द्वारा भारतीयों को इस विषय में व्यावहारिक प्रशिक्षण दे सकी कि शिक्षा के प्रसार के लिए संघों का गठन और संचालन किस प्रकार करना चाहिए।

ऐलिफिस्टन के इन प्रयत्नों से पता चलता है कि इस काल के कुछ उदार कर्मचारियों ने किस प्रकार आधुनिक शिक्षा में गैर सरकारी भारतीय उद्यम का विकास करने का प्रयत्न किया। इन कर्मचारियों को इस बात का विश्वास था कि मिशनरी अथवा कंपनी इस देश के लिए आवश्यक तमाम शिक्षा संस्थाओं का उपबंध नहीं कर सकते हैं। वे यह भी समझते थे कि आखिरकार जनता को स्वयं को अवश्य शिक्षित बनाना चाहिए। उनका यह भी विश्वास था कि स्वयं को शिक्षित बनाने के लिए प्रयास करना भी स्वयं एक ऐसी महत्वपूर्ण सामाजिक शिक्षा है जिसे जनता कभी भी किसी ऐसी बनी बनाई विद्यालय पद्धित द्वारा प्राप्त नहीं कर सकती है जो विदेशी अभिकरण द्वारा प्रदान की गई हो। इसके साथ ही वे यह भी मानते थे कि अंतत: गैर सरकारी भारतीय उद्यम का विकास किया जाना चाहिए तांकि भारी संख्या में ऐसी नई शिक्षा संस्थाओं का प्रबंध

किया जा सके जिनकी देश का पुनरुद्धार करने के लिए आवश्यकता हो। अतः उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में गैर सरकारी भारतीय उद्यम को प्रारंभ और विकसित करने के लिए कार्रवाई की। सहकारी एवं संगठित शैक्षिक उद्यम से इस काल के भारतीय अनिभन्न थे और उन्हें दीक्षा एवं पथ प्रदर्शन दोनों की ही आवश्यकता थी। यह दीक्षा और पथ प्रदर्शन उन्हें कंपनी के उन प्रबुद्ध कर्मचारियों से प्राप्त हुए जिनके मन में इस देश के प्रति कर्तव्यपालन की भावना मौजूद थी। इन कर्मचारियों ने प्रमुख भारतीयों से संपर्क स्थापित किया, उन्हें आधुनिक ढंग के गैर सरकारी शैक्षिक उद्यम की आवश्यकता के बारे में समझाया और यह बताया कि इस प्रयोजन के लिए किस प्रकार संस्थाएं बनाई जाएं और किस प्रकार उनका संचालन किया जाए। ऐसा पथ प्रदर्शन आवश्यक और बहुमूल्य दोनों ही था। मिशनरी इस कार्य को इसलिए नहीं कर सकते थे कि एक तो वे इस क्षेत्र में एकाधिकार स्थापित करने की इच्छा रखते थे; दूसरे, वे बाइविल शिक्षा दिए जाने का आग्रह करते थे। यदि इन कर्मचारियों ने व्यक्तिगत रूप से कार्य न किया होता तो शिक्षा में गैर सरकारी भारतीय उद्यम को विकसित होने में बहुत अधिक समय लग गया होता।

शिक्षा में गैर सरकारी भारतीय उद्यम (1813-53): 1854 से पूर्व शिक्षा में गैर सर-कारी भारतीय उद्यम के कारण दो बिल्कूल भिन्न प्रकार की गतिविधियां चलीं। इनमें से पहला कार्य यह था कि उन उच्चतर और प्रारंभिक देशी विद्यालयों का संचालन किया गया जो देश में अब भी बहुत व्यापक रूप से और भारी संस्था में फैले हए थे तथा जनता की शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण साधन थे। परंतू कंपनी ने न तो इन्हें मान्यता दी थी और न वह इन्हें सहायता देती थी। जहां तक आधुनिक शिक्षा पद्धति के विकास का संबंध है गैर सरकारी भारतीय उद्यम के इस व्यापक कियाकलाप की हमें उपेक्षा कर देनी होती। दूसरे प्रकार का गैर सरकारी भारतीय उद्यम वह था जिससे भारत में आध्निक शिक्षा पद्धति का निर्माण हआ। यह एक ऐसा कार्य था जिसमें भारतीयों ने 1854 से पहले बहुत छोटी भूमिका अदा की थी। ऐसा विभिन्न परिस्थितियों के कारण हुआ। पहली बात यह है कि रूढ़िवादी लोगों की राय नई शिक्षा पद्धति के बिल्कूल खिलाफ थी। धर्मपरायण माता पिताओं ने अपने बालकों को अंग्रेजी विद्यालयों में भेजने से इंकार कर दिया क्योंकि उन्हें यह डर था कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके नवयूवक अपने पूर्वजों के धार्मिक विश्वासों और आचरणों के प्रति विश्वास खो बैठते हैं। यह डर पूर्णतया आधार-हीन भी नहीं था। इन माता पिता को पाश्चात्य ज्ञान से उत्पन्न होने वाले उन विचारों पर भी आपत्ति थी जिन्हें नए प्रकार के प्राथमिक विद्यालयों में भारतीय भाषाओं के माध्यम से फैलाया जा रहा था। उन्हें यह आशंका थी कि यह तमाम नई शिक्षा उनके धर्म को भ्रष्ट करने की किसी गुप्त योजना का अंग थी। इन परिस्थितयों में जो लोग नई शिक्षा की उपयोगिता बताने अथवा नए आदर्शों पर आधारित संस्थाओं का संचालन करने के लिए मैदान में आते उनमें भारी नैतिक साहस होना आवश्यक था और बहुत कम व्यक्ति ही इतना साहस कर सकते थे। दूसरी बात यह है कि आधुनिक ढंग की शिक्षा संस्थाओं का संचालन केवल ऐसे व्यक्ति ही कर सकते थे जो इस पद्धति में शिक्षा

प्राप्त कर चुके हों। ऐसे भारतीयों की संख्या बहुत कम थी और उनमें से अधिकांश व्यक्तियों को आसानी से किसी महत्वपूर्ण सरकारी विभाग में ऐसा काम मिल सकता था जिससे उन्हें धन, समाज में ऊंचा दर्जा और अधिशासी प्राधिकार तूरंत प्राप्त हो सकते थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वे निजी विद्यालय खोलने और चलाने के इच्छुक नहीं थे क्योंकि आज की ही तरह उस समय भी यह इस प्रकार की समाज सेवा थी जिसमें पूरा प्रतिफल नहीं मिलता है। तीसरी बात यह है कि उस समय कुछ ऐसे संप्रत्यय फैले हुए थे जिनसे भारतीय गैर सरकारी उद्यम के लिए विशेष कठिनाइयां उत्पन्न हुईं। उदा-हरण के लिए, लोगों का यह विश्वास था कि अंगेजी विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्रधानाचार्यं यूरोपीय ही होने चाहिए। कंपनी अथवा मिशनरी इस मांग को सरलता से पूरा कर सकते थे। परंत् भारतीय यदि आवश्यक धनराशि जमा कर भी लेते तो भी अपने विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के अधीक्षण के लिए यूरोपीय कर्मचारी नहीं पा सकते थे । यह संभवतः सबसे बड़ा रोड़ा था और यह तभी दूर हुआ जबिक सरकार ने विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के प्रधानाचार्यों के पद पर यूरोपीय लोगों को नियुक्त किए जाने की मांग करनी बंद कर दी और इस प्रकार के पदों पर काम करने के लिए सक्षम भारतीयों का एक दल तैयार हो गया। परंत्र यह बात 1880 में अथवा उसके बाद ही संभव हो सकी। जहां तक विचाराधीन काल का संबंध है, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी संस्थाओं के संचालन में भारतीय गैर सरकारी उद्यम को एक भारी बाधा का सामना करना पडा। अंतिम बात यह है कि शिक्षा संस्थाओं की सहकारी व्यवस्था भारतीयों के लिए नई चीज थी और वे अभी जहां तहां कुछ उदार सरकारी कर्मचारियों एवं गैर सरकारी लोगों से आध्निक शिक्षा संस्थाओं का संचालन करने का पहला सबक सीख ही रहे थे। इस क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण फल प्राप्त करने के लिए उन्हें अभी पर्याप्त अनुभव नहीं हो पाया था । अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि 1854 में भी भारतीयों द्वारा संचालित आधुनिक शिक्षा संस्थाओं की संख्या कंपनी अथवा मिशनरियों द्वारा संचालित संस्थाओं की अपेक्षा बहुत कम थी। इसलिए इतिहास के विद्यार्थियों के लिए भारतीय गैर सरकारी उद्यम के परिमाणात्मक पहलू नहीं वरन गुणात्मक एवं सैद्धांतिक पहलू महत्वपूर्ण हैं। इन्हें राजा राममोहन राय के जीवन चरित द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट किया जासकता है।

राजा राममोहन राय (1772-1833): राजा राममोहन राय का जन्म राधानगर में हुआ था। उन्हें आधुनिक भारत का जन्मदाता कहा जाता था जो उचित ही था। वह एक प्राचीन एवं सम्मानित ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और सोलह वर्ष की आयु से पूर्व ही उन्होंने संस्कृत, फारसी एवं अरबी का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सूफी दर्शन एवं कुरान का अध्ययन करने से उनके विचारों में भारी परिवर्तन आ गया था। इसके परिणामस्वरूप अपने पिता के साथ उनके इतने अधिक विवाद उत्पन्न हो गए थे कि उनका कोई अंत ही नहीं था। वह घर छोड़ कर चले गए तथा तीन या चार वर्ष तक लोगों के धार्मिक विश्वासों और सामाजिक प्रथाओं का अध्ययन करते हुए भारत भ्रमण करते रहे। परंतु शीघ्र ही पिता से समझौता हो गया और वह घर वापस लौट आए।

1796 में वह अंग्रेजी का अध्ययन आरंभ कर चुके थे और बाद में न्यू और ओल्ड टैस्टा-मेंटो के मूल पाठ का अध्ययन करने के लिए उन्होंने हिब्बू और ग्रीक का भी अध्ययन किया। 1803 में उनके पिता का देहांत हो गया और अगले वर्ष उन्होंने कंपनी में नौकरी कर ली। अपने उद्योग एवं योग्यता के द्वारा शीझ ही उन्हें दीवान का पद मिल गया। यह राजस्व विभाग में भारतीयों को मिल सकने वाला सबसे ऊंचा पद था। उन्होंने अच्छी खासी संपत्ति जमा कर ली और अपना सारा समय मातृभूमि की सेवा में लगा देने के लिए 1814 में सेवानिवृत हो गए।

उनका देहांत 1833 में ब्रिस्टल में हुआ। इस बीच तीस वर्ष तक उन्होंने जनता की भारी सेवा की। उन्होंने भारतीय जीवन के कई पक्षों के संबंध में कार्य किया था। उनके द्वारा की गई निम्नलिखित महत्वपूर्ण सेवाएं उल्लेखनीय हैं:

- (क) निर्मम सती प्रथा के वह घोर विरोधी थे और उसे समाप्त करने में उन्होंने बेंटिक की भारी और बहुमूल्य सहायता की।
- (ख) वह यह मानते थे कि स्त्रियों के साथ अधिक न्यायोचित और मानुषिक व्यवहार होना चाहिए। वह उन्हें संपत्ति संबंधी अधिकार देने की बात कहते थे, स्त्री शिक्षा के समर्थंक थे और बहु विवाह प्रथा की पूरी तरह निंदा करते थे। उन्होंने अपनी वसीयत में अपने ऐसे किसी भी पुत्र अथवा वंशज को दाय से वंचित कर दिया था जिसके एक ही समय में एक से अधिक पितनयां हों। उन्होंने अपनी पौत्री का विवाह 16 वर्ष की आयु होने पर ही किया था और वह स्पष्ट रूप से बाल विवाह के विरोधी थे। वह स्त्रियों को हीन नहीं समझते थे। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक भारत में वह स्त्रियों के अधिकार के सबसे प्रारंभिक समर्थंकों में से थे और उन्होंने उनके उद्धार के लिए एक आंदोलन चलाया जो बाद में बहुत तेज हो गया।
- (ग) वह महान धर्म सुधारक थे। तुलनात्मक धर्म मीमांसा का विद्यार्थी होने के फलस्वरूप उन्हें यह पता चल गया था कि सभी धर्मों में बहुत सी बातें समान हैं। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने स्वयं हिंदू धर्म के अंतर्गत एक शुद्धि आंदोलन 'ब्रह्म समाज' चलाया। जैसा रवींद्रनाथ टैंगोर ने कहा है, 'उन्होंने विशाल हृदय होकर उसमें हिंदू, मुसलमान और ईसाई को आमंत्रित किया क्योंकि उनके हृदय में इनमें से किसी के लिए भी स्थानाभाव नहीं था। इस प्रकार से उन्होंने भारत के वास्तविक हृदय को व्यक्त किया और भारत के सत्यतम चरित्न को अभिव्यक्ति दी। भारत का सत्य उस व्यक्ति के अंदर रहता है जो अपने हृदय से सब का सम्मान करता है और सब को स्वीकार करता है।'1
- (घ) आधुनिक भारत के राष्ट्रनिर्माताओं में वह अग्रणी थे। उन्होंने एक शिक्षित, सुसंस्कृत, धनी और स्वाधीन भारत की कल्पना की थी और अपने समय की प्रशासनिक व्यवस्था में कितपय सुधार करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने इस बात की खुले तौर से

^{1.} दि फादर आफ माडर्न इंडिया, पू॰ 232।

सिफारिश की कि न्यायालयों में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाए, मुकदमों की सुनवाई और फैंसले जूरी करें, न्यायपालिका से कार्यपालिका को पृथक किया जाए और दंडविधि एवं अन्य कानूनों को संहिताबद्ध किया जाए। 1821 में प्रकाशित बंगला पितका 'संवाद कौ मुदी' के संपादक के रूप में उन्हें 'आधुनिक भारतीय प्रेस का संस्थापक' माना जा सकता है क्योंकि उन्होंने सरकारी आक्रमणों से इस पित्रका की स्वाधीनता की दृढ़तापूर्वक रक्षा की थी।

यहां पर हमारा उस कार्य से अधिक संबंध है जो राजा राममोहन राय ने शिक्षाविद के रूप में किया था। उन्होंने सबसे अधिक महत्वपूर्ण देश सेवा इसी क्षेत्र में की है। वह उन भारतीयों में से थे जिन्होंने सबसे पहले इस बात को समझा था कि भारत की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि प्राच्य तथा पाश्चात्य संस्कृतियों का समन्वय किया जाए। स्वयं संस्कृत का एक महान विद्वान होने और हिंदू धर्म के प्राचीन एवं शुद्ध रूप की सत्यता और महानता के बारे में गहरी आस्था रखने के कारण, वह प्राच्य संस्कृति एवं धर्म की एकदम निंदा नहीं कर सकते थे। उन दिनों इस प्रकार की निंदा करना मिशनरी क्षेत्रों में एक फैशन बन गया था। वह इस, मत को भी स्वीकार नहीं कर सकते थे कि प्राच्य संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति आ जानी चाहिए। इसके साथ ही वह यह भी समझते थे कि भारतीय मस्तिष्क अपने अलगाव के कारण बहुत कुछ विकृत हो चुका है। अतः वह यह महसस करते थे कि पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञान के संपर्क से ही प्राच्य संस्कृति का पूनरुद्धार हो सकता है, उसकी खामियों को सुधारा जा सकता है और उसमें वे अनिवार्य गूण आ सकते हैं जिनकी उसमें कमी है। उन्होंने (कुछ अन्य दूरदर्शी व्यक्तियों के सहित) 'यूरोप और एशिया को अच्छे से अच्छा जो कुछ भी देना था उसके एक नए समन्वय की आश्यकता' को समझ लिया और 'इसके परिणामस्वरूप, भारतीय करघे के स्वरूप को पूरी तरह बदले बिना, पाश्चात्य तकुओं द्वारा भारतीय जीवन रूपी वस्त्र को ऐसे ही धागे से बूनने का प्रयास किया। '1 इस महान दूरदिशता के कारण ही वह भारत के भविष्यद्रष्टा थे। यह सच है कि कुछ समय तक उनकी उपर्यक्त सलाह पर ध्यान नहीं दिया गया; परंतू अंततः इसे स्वीकार कर लिया गया।

आधुनिक शिक्षा पद्धित के लिए राजा राममोहन राय की दूसरी बड़ी देन यह थी कि उन्होंने अंग्रेजी भाषा को और उसके माध्यम से पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य के अध्ययन को लोकप्रिय बनाया। यद्यपि वह स्वयं संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे तथापि उन्होंने संस्कृत एवं अरबी के माध्यम से भारतीयों को शिक्षा देने के तमाम राजकीय प्रयासों की निंदा की। जैसा अध्याय तीन में पहले ही बताया जा चुका है, उन्होंने सरकार से याचना की कि वह अपनी प्राच्य शिक्षा संबंधी परियोजना का परित्याग कर दे और उसके स्थान पर पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य की शिक्षा दे। यह सच है कि यह विचार मूल रूप से उनका नहीं था और ग्रांट जैसे व्यक्ति इस विचार को पहले ही प्रस्तुत

कर चके थे। परन्त् यह स्मरण रखना चाहिए कि अंग्रेजी तथा पाइचात्य विज्ञान एवं साहित्य के अध्ययन की राजा राममोहन राय द्वारा हिमायत किए जाने पर जो प्रभाव पड़े, वे उन प्रभावों से भिन्न थे जो पहले कभी पड़े थे। पहली बात यह है कि वह दूसरे हिंदुओं से एक हिंदू के रूप में बात करते थे और एकमात्र इसी कारण से उनकी अपील उन मिशनरियों अथवा कर्मचारियों की अपीलों से अधिक जोरदार और शक्तिशाली होती थी जिनकी नीयत को लोग सामान्यतः संदेह की दृष्टि से देखते थे। दूसरी बात यह है कि वह उन अनेक आशंकाओं को दूर कर सकते थे जिनके कारण तत्कालीन हिंदू समाज स्वेच्छा-पूर्वक पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य का अध्ययन नहीं करता था। कटटरपंथी हिंदुओं को यह खतरा था कि इस प्रकार के अध्ययन से नवयुवक नास्तिक बन सकते हैं, ईसाई धर्म को अपना सकते हैं या समस्त परंपराओं के विरुद्ध असंयत विद्रोह कर सकते हैं। कुछ शिक्षित हिंदू युवकों के पूर्व दृष्टांतों से इन आशंकाओं की पूष्टि हो गई। इनमें से कुछ युवक वास्तव में ईसाई बन गए थे। कुछ अन्य लोग यद्यपि हिंदू बने रहे तथापि परंपरागत धर्म के प्रति उनके मन में कोई निष्ठा नहीं रह गई थी। बहुत से अन्य यूवक सांस्कृतिक रूप से अन्यवस्थित जीवन बिताने लगे थे और गोमांस खाने तथा मदिरापान करने के तथा-कथित 'पाश्चात्य सदगुणों' का प्रदर्शन करने में आनंद अनुभव करते थे। राममोहन राय ने सिद्धांततः और उदाहरण द्वारा यह दिखा दिया कि यह अनिवार्य नहीं है कि पाश्चात्य शिक्षा का उपर्यक्त परिणाम ही निकलेगा। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों का समन्वय संभव है। यद्यपि उनका समन्वय का तरीका बहुत से लोगों के लिए स्वीकार्य नहीं था तथापि उन्होंने अपने सह धर्मावलंबियों को यह विश्वास दिला दिया कि यह बात गलत है कि पाश्चात्य शिक्षा सांस्कृतिक रूप से सदा खतरनाक ही होगी। इस प्रकार वह उन सबसे पहले भारतीय लोगों में से थे जिन्होंने भारत को पश्चिम का ज्ञान कराया था।

तीसरी बात यह है कि इंग्लैंड को भारत के विषय में ज्ञान देकर उन्होंने समान रूप से अथवा उससे भी अधिक बहुमूल्य सेवा की। हिंदू धर्म के स्वरूप, संस्कृत के प्राचीन साहित्य की हीनता, भारतीयों में चिरत्न एवं नैतिक मूल्यों के अभाव इत्यादि के बारे में उस समय जो बेहूदी धारणाएं विद्यमान थीं, उनको उन्होंने दूर करने का प्रयास किया। उनकी महान विद्वता, अनिद्य चिरत्र और उनके अपने गहन धार्मिक विश्वासों के विशद एवं विश्वासप्रद प्रतिपादन ने अंग्रेजों को यह दिखा दिया कि समस्त प्राच्य विद्या एवं धर्म की एकदम निदा कर देना गलत है और भारत की आधुनिक शिक्षा पद्धति में प्राच्य संस्कृति के विवेकसम्मत अध्ययन को स्थान दिया जाना चाहिए। इसी विचार को बाद में 1854 के आज्ञापत्न में भी स्वीकार किया गया था।

आधुनिक शिक्षा पद्धित के लिए राजा राममोहन राय की चौथी देन यह थी कि उन्होंने व्याकरण, भूगोल, खगोल विज्ञान और ज्यामिति पर बंगला भाषा में स्त्रयं पुस्तकें लिख कर मार्ग प्रदर्शन किया। उन्हें आधुनिक साहित्यिक बंगला गद्ध का जनक कहा जाता है। बंगला में ईश्वरवादी कविताएं लिखने वाले वह पहले व्यक्ति थे। उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन और विकास का जो पक्ष समर्थन किया था

उसकी ओर यद्यपि बहुत समय तक कोई ध्यान नहीं दिया गया तथापि यह उनके समय की शैक्षिक विचारधारा के लिए निश्चय ही एक महान देन थी।

उन्होंने स्त्री शिक्षा का पक्ष समर्थन भी समान रूप से योग्यतापूर्वक किया था। यद्यपि इस संप्रत्यय को मिशनरी पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे तथापि राममोहन राय ने ही इसे हिंदुओं के बीच लोकप्रिय बनाया। उन्होंने प्राचीय शास्त्रों के बारे में अपना मत निर्धारित किया और विश्वासप्रद ढंग से यह बताया कि प्राचीन काल में भारतीय स्त्रियां बहुत सुशिक्षित होती थीं तथा स्त्रियों को शिक्षा देना प्राचीन परंपराओं एवं विश्वासों के अनुरूप है। उस समय हिंदू समाज में लोगों के मन में स्त्री शिक्षा के प्रति जो पूर्वप्रह विद्यमान थे उन्हें दूर करने के लिए ब्रह्म समाज ने भारी कार्य किया और इसका श्रेय अधिकांशत: राजा राममोहन राय को है।

1830 में राजा राममोहन राय इंग्लैंड गए और 1833 में हाउस आफ कामंस की प्रवर समिति के समक्ष उन्होंने अत्यंत बहुमूल्य साक्ष्य प्रस्तूत किया। अपने जीवन के इस अंतिम महान कार्य को करते समय उन्होंने अन्य सुधारों के साथ साथ दीवानी एवं फौज-दारी काननों को संहिताबद्ध करने तथा सरकार के अधीन महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति किए जाने का अनुरोध किया। इन दोनों प्रस्थापनाओं को स्वीकार कर लिया गया और 1833 के चार्टर अधिनियम में शामिल कर लिया गया। पहली प्रस्थापना को कार्यान्वित करने के लिए गवर्नर जनरल की परिषद में एक कानून सदस्य और शामिल कर दिया गया और कुछ समय बाद, इस पद के संभालने वाले प्रथम व्यक्ति मैकाले भारत आए। जहां तक दूसरी प्रस्थापना का संबंध है, सरकार के अधीन अवर पदों के अतिरिक्त अन्य सभी पदों पर भारतीयों को न रखे जाने की नीति का राजा राममोहन राय ने कड़ा विरोध किया था। राममोहन राय ही एकमात्र भारतीय थे जो अपने इस विचार को ब्रिटिश संसद के समक्ष रखने की स्थिति में थे। उनके इस विचार का समिति के सामने पेश होने वाले कई अन्य ब्रिटिश साक्षियों ने भी समर्थन किया अत: इसे सरलता से स्वीकार कर लिया गया। 1833 के चार्टर अधिनियम की धारा 87 में यह उपबंध किया गया था कि 'उपर्युक्त राज्य क्षेत्रों का कोई भी मूल निवासी अथवा महामहिम की वहां पर रहने वाली देशज प्रजा का कोई भी व्यक्ति अपने धर्म, जन्मस्थान, वंश और वर्ण के कारण अथवा इनमें से किसी एक कारणवश, उपर्युक्त कंपनी के अधीन कोई स्थान, पद अथवा नौकरी प्राप्त करने के लिए अयोग्य नहीं होगा।'

दुर्भाग्यवश, यह खंड अनेक वर्षों तक अधिकांशत: कागजी कार्रवाई बना रहा। परंतु इससे राजा राममोहन राय द्वारा भारत के राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए की गई उस असाधारण सेवा में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता जो उन्होंने ब्रिटिश संसद से, कम से कम सिद्धांत रूप में, यह बात स्वीकार कर ली थी कि सरकारी पदों का भारतीयकरण किया जाए। इन्हीं तमाम तथा अन्य बहुमूल्य सेवाओं के लिए राजा राममोहन राय को 'आधिनक भारत का जनक' कहा जाता है।

1854 का आज्ञापत्र: इस तथा इससे पिछले अध्याय में 1813 और 1853 के बीच की घटनाओं का जो वर्णन किया गया है उससे यह पता चलता है कि 1853 तक ऐसी स्थित

आ चुकी थी कि भारत में संपूर्ण शिक्षा क्षेत्र का एक विशय सर्वेक्षण करना अनिवार्य हो गया था। 1813 का चार्टर अधिनियम बनने के बाद बहुत से शैक्षिक प्रयोग किए जा चुके थे। जनता में शिक्षा का प्रसार करने के लिए अनेक अभिकरण अपने अपने ढंग के कार्य कर रहे थे। अनेक विवाद उठाए जा चुके थे और उनमें से कुछ के संबंध में अभी भी निर्णय किए जाने की आवश्यकता थी। विभिन्त कार्य नीतियां प्रस्तुत की जा चुकी थीं और इन नीतियों में ऐसे विवादास्पद विषय भी लिए गए थे जिन पर ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता थी। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यह एक ऐसा समय था जब सर्वोत्तम फल प्राप्ति तभी हो सकती थी जबिक विगत काल का पूर्ण एवं विशद पुनरीक्षण कर लिया जाता और इस पुनरीक्षण के आधार पर भविष्य के लिए शैक्षिक पुनर्निर्माण के संबंध में एक विस्तृत नीति निर्धारित कर दी जाती। 1854 के आज्ञा पत्र ने ठीक यही कार्य किया।

1853 में कंपनी के चार्टर का नवीकरण होने से इस आज्ञा पत्र के लिए अवसर प्राप्त हुआ। जैसा इससे पूर्व 1813 और 1833 में किए जा चुके चार्टर के नवीकरणों के समय किया जा चुका था, इस समय भी हाउस आफ कामंस की एक प्रवर सिनित ने भारत में शैक्षिक गतिविधियों के बारे में बहुत विस्तृत जांच की। इस जांच के आधार पर, निदेशक मंडल ने अपना महानतम शिक्षा आज्ञा पत्र 19 जुलाई, 1854 को जारी किया। भारतीय ऐतिहासिक महत्व के इस दस्तावेज को वुड का शिक्षा घोषणा पत्र भी कह दिया जाता है क्योंकि इसे संभवत: चार्ल्ज वुड के अनुरोध करने पर लिखा गया था जो उस समय नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष थे। यह 100 अनुच्छेरों का एक लंबा दस्तावेज है और इसमें भारी ऐतिहासिक महत्व के अनेक प्रश्नों को लिया गया है।

शिक्षा नीति के लक्ष्य: इस आज्ञापत्र में सर्वप्रथम यह बताया गया है कि कंपनी ने भारत में शिक्षा व्यवस्था को अपने हाथ में क्यों लिया और इससे किन-किन परिणामों के निक-लने की आशा की जाती है:

यद्यपि हमारे समक्ष अनेक महत्वपूर्ण विषय हैं तथापि हमें उनमें से सबसे पहले अधिक ध्यान शिक्षा की ओर ही देना चाहिए। हमारे अत्यंत पिवत्र कर्तव्यों में से यह भी एक कर्तव्य है कि जहां तक हमारे लिए साध्य हो, हम भारत के मूल निवासियों को उन विशाल नैतिक एवं भौतिक वरदानों को देने के लिए साध्य वनें जो लाभप्रद ज्ञान के सामान्य प्रसार से समाप्त होते हैं और जिन्हें भारत नियतिवश, इंग्लैंड के साथ संबंध होने के कारण प्राप्त कर सकता है…

इसके अतिरिक्त हमने 'न केवल अपेक्षाकृत ऊंची बौद्धिक योग्यता प्राप्त करने के लिए, वरन इसका लाभ उठाने वाले लोगों का नैतिक चरित्र भी ऊंचा करने के लिए, और इस प्रकार आपको ऐसे कर्मचारी प्रदान करने के लिए जिनकी ईमान-दारी पर निर्भर करके आप उन्हें विश्वास के साथ ऐसे पद दे सकते हैं जिन पर केवल विश्वसनीय व्यक्तियों को ही रखा जा सकता है...' शिक्षा के प्रोत्साहन को सदैव महत्व दिया है।

और यह बात भी नहीं है कि जबकि शिक्षा की उन्नति के लिए हमारे प्रयत्नों की

सफलता के साथ इंग्लैंड के चरित्र बल का गहरा संबंध है, भारत में यूरोपीय ज्ञान की प्रगति से इंग्लैंड के भौतिक हित बिल्कुल अप्रभावित ही रहेंगे। यह ज्ञान भारत के मूल निवासियों को श्रम और पूंजी के नियोजन से प्राप्त होने वाले अदभुत परिणामों का कोर बताएगा, उन्हें, इस बात के लिए प्रोत्साहित करेगा कि वे अपने देश के विपुल संसाधनों के विकास में हमसे प्रतिस्पर्धा करें, उनके प्रयासों में उनका मार्ग निर्देशन करेगा और धीरे-धीरे परंतु अवश्यमेव वे सब लाभ प्रदान करेगा जो धन एवं वाणिज्य की सुरुचिपूर्ण वृद्धि होने से मिलते हैं। इसके साथ ही, हमारे लिए अनेक ऐसी वस्तुओं की प्रचुर एवं अधिक निश्चित पूर्ति भी कराएगा जो हमारे विनिर्माण के लिए आवश्यक हैं और हमारे यहां सभी वर्गों के लोग व्यापक रूप से उपयोग करते हैं। इसके साथ ही ब्रिटिश श्रमिकों के माल की अपार मांग होने लगेगी।

आंग्लिकों तथा श्रेण्यवादियों के बीच विवाद : इसके बाद आज्ञापत्र में श्रेण्यवादियों तथा आंग्लिकों के बीच हए विवाद का उल्लेख किया गया है। यह ध्यान देने की बात है कि आज्ञापत्र में प्राच्य दल के दृष्टिकोण की उस तरह प्री तरह निंदा नहीं की गई है जैसी मैकाले ने की थी। इसमें भारत की क्लासिकी भाषाओं के अध्ययन से होने वाले लाभों की विवेचना की गई है और यह स्वीकार किया गया है कि 'ऐतिहासिक एवं पूरातिनक प्रयोजनों के लिए, इन भाषाओं के ग्रंथों की जानकारी बहुत उपयोगी है, हिंदू तथा मुस्लिम कानन के अध्ययन के लिए इन भाषाओं का ज्ञान अपेक्षित है और भारत की देशी भाषाओं के निर्णायक परिष्करण एवं सुधार के लिए भी वह बहुत महत्वपूर्ण है।' इसमें 'हिंदू दर्शनशास्त्र के कुछ अंशों में दृढ़तर आचार नीति एवं उच्चतर विज्ञान रूपी रत्न को जड़ देने के अपने प्रशंसनीय प्रयासों में अनेक प्राच्य विद्वानों को मिली सफलता' और 'इन प्राचीन भाषाओं को वंशानुगत श्रद्धा प्रदान करने वाले भारतीय शिक्षित वर्गों पर इस प्रकार से पड़े अच्छे प्रभाव का भी उल्लेख है। फिर भी, इस आज्ञा पत्र में लार्ड मैकाले से सहमति प्रकट की गई है और यह कहा गया है कि 'प्राच्य देशों की उच्च शिक्षा अर्थात उनकी विज्ञान एवं दर्शनशास्त्र की पद्धति में भारी तृटियां हैं और जहां तक समस्त आधु-निक खोजों एवं सुधार का संबंध है प्राच्य साहित्य में उनकी भारी कमी है। इसके बाद निम्नलिखित घोषणा के साथ इस चर्चा को समाप्त कर दिया गया है:

हमें जोरदार शब्दों में यह घोषणा कर देनी चाहिए कि हम भारत में जिस शिक्षा का विस्तार करना चाहते हैं वह ऐसी शिक्षा है जिसका लक्ष्य यूरोप के कला, विज्ञान, दर्शनशास्त्र एवं साहित्य का प्रसार करना या संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय ज्ञान का प्रसार करना है।

शिक्षा माध्यम: इसके पश्चात शिक्षा माध्यम के प्रश्न को लिया गया है। आज्ञापत्र में पहले यह बताया गया है कि 'भारत की देशी भाषाओं में यूरोपीय ग्रंथों के अनुवादों अथवा रूपांतरों की कमी के कारण तथा प्राच्य देशों की पांडित्यपूर्ण भाषाओं के किसी भी ग्रंथ में पाया जाने वाला यूरोपीय ज्ञान अत्यंत अधूरा होने के कारण' शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग आरंभ में किस प्रकार आवश्यक हो गया था। तो भी, इसमें यह स्वीकार किया गया है कि इस कार्रवाई का एक परिणाम यह हुआ है कि 'देशी भाषाओं'

के अघ्ययन की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति पैदा हो गई है। कंपनी ने शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का उपयोग केवल देशी शिक्षा को दबाने अथवा भारतीय भाषाओं के अध्ययन को हतोत्साहित करने के लिए किया था। इस आज्ञापत्र में यह बताया गया है कि अंग्रेजी और भारतीय भाषाएं मिलकर किस प्रकार भारत में उचित शिक्षा का प्रसार करने में सहायता कर सकती हैं। इसमें कहा गया है कि:

किसी भी सामान्य शिक्षा पद्धति में जहां भी अंग्रेजी भाषा की मांग हो उसे पढाया जाना चाहिए। परंत् इस प्रकार की शिक्षा के साथ साथ जिले की देशी भाषा के अध्ययन की ओर भी सदैव सावधानीपूर्वक ध्यान दिया जाना चाहिए तथा उस देशी भाषा के माध्यम से दी जाने वाली सामान्य शिक्षा भी दी जानी चाहिए। यद्यपि अत्यंत पूर्ण माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग उन लोगों के लिए जारी रखा जा रहा है जिन्होंने अंग्रेजी भाषा के द्वारा सामान्य शिक्षा पाने के लिए पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तथापि अपेक्षाकृत उन बहत बड़े वर्गों को शिक्षा देने के लिए देशी भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए जिनको अंग्रेजी का बिल्कूल ज्ञान नहीं है अथवा अपूर्ण ज्ञान है। यह कार्य केवल उन्हीं प्रोफेसरों एवं अध्यापकों की सहायता से फलदायक रूप से किया जा सकता है जो स्वयं अंग्रेजी जानते हों और इस प्रकार प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के संबंध में होने वाले नवीनतम सुधारों की पूरी जानकारी रखते हों। वे अपनी मातृभाषा के माध्यम से अपने देशवासियों को वह जानकारी दे सकते हैं जो उन्होंने उपयुक्त ढंग से प्राप्त की है। उसके साथ ही जैसे जैसे देशी भाषा का महत्व बढ़ता जाएगा, भारत का देशी भाषा साहित्य यूरोपीय ग्रंथों से अनुवादित ग्रंथों द्वारा अथवा ऐसे व्यक्तियों की मूल रचनाओं द्वारा क्रिक रूप से समृद्ध हो जाएगा जिनके मन यूरोपीय उन्नति की जीवंत विचारधारा से अनुप्राणित हो चुके हैं। इस ढंग से क्रिमक रूप से हम जनता के सभी वर्गों को ऐसी स्थिति में पहुंचा सकते हैं जिसमें वे यूरोपीय ज्ञान का लाभ उठा सकें। अत: हम देशी भाषाओं और अंग्रेजी को ही यूरोपीय ज्ञान के प्रसार का माध्यम समझते हैं और चाहते हैं कि भारत में काफी उच्च श्रेणी के ऐसे सभी विद्यालयों में जो अपेक्षित अर्हताएं रखने वाले अध्यापक रख सकते हों, देशी भाषाएं तथा अंग्रेजी साथ साथ चलें।

अतः यह पता चलता है कि अब तक आज्ञा पत्र में चींचत जिन तीन समस्याओं का उल्लेख किया गया है वे तीनों पुराने विवाद ही हैं और जिन निष्कर्षों पर पहले ही पहुंचा जा चुका था उन्हीं को सार रूप में रख देने के अतिरिक्त आज्ञापत्न में और कुछ भी नहीं किया गया है।

नई योजनाएं: (क) शिक्षा विभाग: इसके बाद आज्ञापत्र में वे नई योजनाएं बताई गई हैं जिन्हें प्रारंभ किया जाना था। इनमें से पहली योजना यह थी कि कंपनी के उस समय के राज्य क्षेत्र के पांचों प्रांतों, अर्थात बंगाल, मद्रास, बंबई, उत्तर-पश्चिम प्रांत और पंजाब में से प्रत्येक में एक एक लोक शिक्षा विभाग स्थापित किया जाए। इस विभाग को लोक शिक्षा निदेशक नामक अधिकारी के अधीन रखा जाना था। उसकी सहायता के लिए पर्याप्त संख्या में निरीक्षण अधिकारी रखे जाते थे। लोक शिक्षा निदेशक से यह अपेक्षा की गई थी कि वह अपने प्रांत में हुई शैक्षिक प्रगति के संबंध में सरकार को एक वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया करेगा।

(ख) विश्वविद्यालय: दूसरी योजना विश्वविद्यालयों की स्थापना के संबंध में थी। जैसा हम पहले देख चुके हैं, कलकत्ता में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने के संबंध में 1854 में शिक्षा परिषद द्वारा रखी गई प्रस्थापना को निदेशकों ने इस आधार पर रद्द कर दिया था कि उस समय वह समय पूर्व थी। परंतु अब चूंकि भारतीयों में उदार शिक्षा का प्रसार हो चुका था और यूरोपीय एवं आंग्ल भारतीय लोगों की बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करना था अतः निदेशकों ने यह महसूस किया कि विश्वविद्यालय की स्थापना का समय आ गया है। अत: इस आज्ञापत्र में यह निदेश दिया गया था कि कलकत्ता और बंबई में विश्वविद्यालय स्थापित किए जाएं। उसमें यह भी कहा गया था कि निदेशक 'मद्रास में या भारत के ऐसे अन्य किसी भाग में विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए मंजूरी देने को तैयार हैं जहां काफी संख्या में ऐसी संस्थाएं विद्यमान हों जिनसे विश्वविद्यालय में उपाधि पाने के लिए उचित रूप से अर्ह छात्र आ सकें। 'सभी विश्वविद्यालयों का निर्माण लंदन विश्वविद्यालय के नमूने पर होना था। लंदन विश्व-विद्यालय उस समय एक परीक्षा लेने वाला निकाय था। इनमें से प्रत्येक विश्वविद्यालय की सीनेट में एक कुलाधिपति, एक कुलपति और कुछ अध्येता रखे जाने थे। इन सभी का मनोनयन सरकार को करना था। इन विश्वविद्यालयों का कार्य मुख्यतः परीक्षाएं लेना और उपाधियां देना था परंतु यह रोचक वात है कि बहुत समय पूर्व इस आज्ञापत्र में यह परामर्श दे दिया गया था कि शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में आचार्य पद की स्थापना की जाए।

(ग) संपूर्ण भारत में श्रेणीकृत विद्यालयों का जाल बिछाना: उपर्युक्त दोनों योजनाओं, अर्थात शिक्षा विभाग के निर्माण तथा विश्वविद्यालयों की स्वापना संबंधी योजनाओं का वर्णन करने के पश्चात, आज्ञापत्न में उन श्रेणीबद्ध विद्यालयों के जाल की व्याख्या की गई है जिसे निदेशक संपूर्ण भारत में विछाना चाहते थे। इस श्रेणीकरण के एक छोर पर विश्वविद्यालय तथा संबद्ध महाविद्यालय थे जो कला और विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की शिक्षा देते थे। इससे नीचे उच्च विद्यालय थे जो अंग्रेजी अथवा किसी आधुनिक भारतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा देते थे। सबसे निचले सिरे पर देशी प्राथमिक विद्यालय थे।

आज्ञापत में इस बात को स्वीकार किया गया था कि विगत काल में सरकार अधिकांशत: ऐसे महाविद्यालयों की स्थापना करने का प्रयत्न करती रही है जिन पर उस समय शिक्षा पर खर्च होने वाली लोक निधियों का अधिकांश भाग व्यय हो जाता था। इसके साथ ही आज्ञापत में अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत अपनाए जाने पर खेद व्यक्त किया गया था क्योंकि इस सिद्धांत के परिणामस्वरूप 'सरकार के प्रयास अनन्य रूप से उन बहुत थोड़े से मूल निवासियों को अत्यंत ऊंची शिक्षा देने के साधन जुटाने तक ही सीमित हो गए जो अधिकांशत: उच्च वर्गों के होते थे।' यह कहने के बाद कि इन उच्च वर्गों को

अब अपने पैरों पर खड़ा होने दिया जाए, इस आज्ञापत्न में कहा गया है कि :

यदि संभव हो तो हमें अब एक और भी अधिक महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान देना चाहिए। यह एक ऐसी बात है जिसके बारे में हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी अब तक बहुत अधिक उपेक्षा की गई है और वह बात यह है कि जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए उपयुक्त, लाभप्रद एवं व्यावहारिक ज्ञान को उस विशाल जन समूह तक किस तरह सबसे अच्छी तरह पहुंचाया जा सकता है जो बिना सहायता के अपने निजी प्रयासों से किसी भी प्रकार की शिक्षा पाने में असमर्थ है। हम चाहते हैं कि भविष्य में सरकार विशेष रूप से इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सिक्रय कार्रवाई करे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम व्यय में यथेष्ट वृद्धि करने की स्वीकृति देने को तैयार हैं।

इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए निदेशकों ने उच्च विद्यालयों की संख्या में वृद्धि करने की सिफारिश की। सामान्यतः लोग यह समझते हैं कि आज्ञापत्र में ऐसे उच्च विद्यालयों को दृष्टिगत नहीं रखा गया था जो भारतीय भाषाओं के माध्यम से अच्छी सामान्य शिक्षा देते थे। परंतु निम्नलिखित अनुच्छेद से संपूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जाएगी:

हम इन आंग्ल देशी भाषा विद्यालयों को एक ही श्रेणी में रखते हैं क्योंकि हम उस मोटी विभाजन रेखा को कायम रखने को तैयार नहीं हैं जो इस समय उन विद्यालयों के बीच विद्यमान है जिनमें शिक्षा माध्यम एक दूसरे से भिन्न हैं। निस्संदेह इस समय आंग्ल देशी भाषा विद्यालयों में संप्रेषित किया जाने वाला ज्ञान देशी भाषा विद्यालयों में संप्रेषित किए जाने वाले ज्ञान की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ है। परंतु शिक्षा संबंधी ग्रंथों से देशी भाषाओं में क्रमिक रूप से समृद्ध होने पर जैसे जैसे उनकी अध्ययन योजनाएं विस्तृत होती जाएंगी और जैसे श्रेष्ठतर शिक्षा देने की योग्यता रखने वाले अध्यापकों की संख्या बढ़ती जाएगी, वंसे वैसे इन विद्यालयों के बीच अंतर कम होता चला जाएगा और देशी भाषा विद्यालय अधिक कार्यकुशल होते जाएंगे।

उच्च विद्यालयों और मिडिल स्कूलों से निचले स्तर पर वे देशी प्रारंभिक विद्यालय थे जिन्हें निदेशक उपयुक्त सहायता अनुदान देकर प्रोत्साहन देना चाहते थे। इस संबंध में निदेशकों ने भारत सरकार का ध्यान उस योजना की ओर आकर्षित किया जिसे थाम-सन ने उत्तर पश्चिमी प्रांत में देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन देने के लिए अपनाया था। इसके साथ ही उन्होंने यह सिफारिश भी की कि इस योजना को बड़े से बड़े पैमाने पर अपनाया जाए।

इन विभिन्न श्रेणियों के विद्यालयों के बीच एक कड़ी बनाए रखने के लिए यह प्रस्ताव किया गया कि होनहार छात्रों के लिए छात्रवृत्तियां रखी जाएं ताकि वे उच्च-तर विद्यालय अथवा महाविद्यालय में अपना अध्ययन जारी रख सकें। जैसा कि आज्ञा पत्न में कहा गया है:

हमारा निश्चित विश्वास है कि यदि एक ऐसी पद्धति को अपनाय जि।ए जो साधारण-

तम प्रारंभिक शिक्षा से आरंभ होती हो और उदार शिक्षा की विश्वविद्यालय परीक्षा के साथ समाप्त होती हो और जिसमें प्रत्येक श्रेणी के विद्यालयों में सर्वश्रेष्ठ विद्यायियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए योग्यता के पुरस्कार स्वरूप छात-वृत्तियों की एक ऐसी प्रणाली के द्वारा सहायता देकर प्रोत्साहित किया जाता हो जिसका हमें वर्णन करना होगा, तो सभी स्तरों पर कुशल निरीक्षण किए जाने से यह पद्धति भारत में शिक्षा को जीवन और शिक्त प्रदान करेगी। इसके साथ हा इसके लाभ कमिक किंतु स्थिर रूप से जनता के सभी वर्गों को प्राप्त होंगे।

आज्ञापत की उपर्युक्त प्रस्थापनाओं में तीन महत्वपूर्ण बातें हैं: अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत का अस्वीकार किया जाना, माध्यमिक स्तर पर शिक्षा माध्यम के रूप में आधु-निक भारतीय भाषाओं को अपनाया जाना और देशी विद्यालयों को राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का आधार माना जाना। इन सभी सिद्धांतों में, लार्ड आकलैंड द्वारा निर्धारित पश्चगामी नीति को आज्ञापत्न ने उलट दिया था।

(घ) सहायता अनुदान: यह योजना एक अच्छी योजना थी और यह स्पष्ट था कि यदि इसे पूरी तरह कार्योन्वित किया जाता तो कंपनी को इस पर बहुत भारी खर्च करना पड़ा होता और उसे वह अतिरिक्त कर लगाए बिना वहन नहीं कर सकती थी। दुर्भाग्यवश, निदेशक इस समस्या का सामना करने से बचना चाहते थे। अतः उन्होंने यह गोलमोल बात कह दी कि अपने नए कार्यक्रम के लिए वे 'व्यय में यथेष्ट वृद्धि' की मंजूरी देने को तैयार हैं। उनका सहज विश्वास था कि गैर सरकारी प्रयत्न को सहायता अनुदान देने की नीति से भारतीय शिक्षा की कठिनाइयां उसी प्रकार दूर हो जाएंगी जिस प्रकार इंग्लैंड में सार्वजनिक शिक्षा की कठिनाइयां दूर हो गई थीं। उन्होंने कहा:

सरकार के लिए यह संभव नहीं है कि भारत के मूल निवासियों की शिक्षा के हेतु पर्याप्त साधनों की व्यवस्था करने के लिए जो कुछ किया जाना चाहिए, उसे वह अकेले ही कर सके। इसके अतिरिक्त, सरकार ने उन प्रयत्नों को बहुत ही थोड़ा प्रोत्साहन दिया है जिनसे आशु सहायता मिल सके। अतः उपर्युक्त दोनों बातों पर विचार करके हम इस स्वाभाविक परिणाम पर पहुंचे हैं कि इस संबंध में भारत की आवश्यकताओं को पूरा करने का सबसे अधिक फलदायक तरीका यह होगा कि भारत के शिक्षित तथा धनी मूल निवासियों एवं अन्य परोपकारी व्यक्तियों के उद्योग एवं उदारता से जो सहायता प्राप्त हो सकती है उसे सरकारी अभिकरण के साथ जोड़ा जाए।

अतः हमने यह संकल्प किया है, कि भारत में सहायता अनुदान की उस पद्धित को अपनाया जाए जिसे हमारे देश में बहुत भारी सफलता प्राप्त हुई है। हम विश्वास-पूर्वक यह आशा करते हैं कि सरकार से जो अंशदान प्राप्त होंगे उनके साथ साथ स्थानीय संसाधनों से इस प्रकार की सहायता लेने पर शिक्षा की प्रगति उसकी अपेक्षा अधिक तेज गित से होगी जितनी सरकार द्वारा केवल ब्यय में वृद्धि कर देने से होगी। इसमें एक अतिरिक्त लाभ यह है कि इससे स्थानीय प्रयोजनों के लिए स्थानीय उद्योग एवं संयोजन पर निर्भर करने की भावना पैदा होगी। यह बात

किसी राष्ट्र के कल्याण के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है।

इसके उपरांत आज्ञापत्न में कुछ ऐसी सामान्य बातें बताई गई हैं जिनकी रोशनी में प्रत्येक प्रांतीय सरकार को अपने सहायता अनुदान संबंधी नियम तैयार करने थे। उदाहरण के लिए, ऐसे तमाम विद्यालयों को सहायता देनी थी जो:

- (i) यदि कोई धार्मिक शिक्षा दे सकते हों तो उसकी उपेक्षा करते हुए, अच्छी धर्म निरपेक्ष शिक्षा देते हैं;
- (ii) अच्छे स्थानीय प्रबंध वाले हों;
- (iii) सरकारी कर्मचारियों द्वारा निरीक्षण कराने तथा ऐसी अन्य विदित शर्तों का पालन करने के लिए सहमत हों;
- (iv) छात्रों से शुल्क लेते हों, चाहे यह शुल्क बहुत ही कम हो।
 तत्पश्चात इस विषय की चर्चा को निम्निलिखित शब्दों में समाप्त कर दिया गया है:
 हम ऐसा समय आने की आशा करते हैं जब सहायता अनुदान पद्धित का क्रिमिक
 विकास हो जाने पर ऐसी किसी भी सामान्य शिक्षा पद्धित को समाप्त किया जा
 सकेगा जो सरकार द्वारा पूर्ण रूप से उपबंधित हो। इसके साथ ही अनेक वर्तमान
 सरकारी संस्थाओं, विशेषकर उच्च श्रेणी की संस्थाओं को, या तो निरापद रूप से
 बंद किया जा सकेगा अथवा उन्हें सरकारी नियंत्रणाधीन, और सरकार द्वारा सहायता प्राप्त, स्थानीय निकायों के प्रबंध को हस्तांतरित किया जा सकेगा।

इस सहायता अनुदान पद्धित पर ऐसे समय में जोर दिए जाने पर आश्चर्य होता है जबिक भारतीय उद्यम तो प्रारंभ ही हुआ था और मिशनरी उद्यम जनता की आवश्य-कताओं को देखते हुए बहुत ही कम था। परंतु एक मिशनरी की निम्नलिखित टिप्पणी से आज्ञापत्र के इस अंश पर कुछ प्रकाश पड़ता है:

नई भारतीय शिक्षा नीति संबंधी दूसरी निश्चित चेष्टा अर्थात 19 जुलाई, 1854 के सर चार्ल्स वुड (बाद में लार्ड हैलीफैक्स) के प्रसिद्ध 'शिक्षा घोषणापत्न' के संबंध में, डफ ने अपने प्रसिद्ध मित्र सर चार्ल्स ट्रैवल्यन के साथ मिलकर निश्चायक प्रभाव डाला था। जब ईस्ट इंडिया चार्टर अंतिम नवीकरण से पूर्व 1852 में लंबी और जटिल वार्ताएं चल रही थीं तो डफ इंग्लैंड में थे और उन्हें सरकारी हलकों तक में भारतीय मामलों के विषय में सर्वोच्च प्राधिकारी माना जाता था। इस विषय में उनसे बार बार परामर्श लिए जाने पर, उन्होंने इस बात के लिए अपने व्यक्तित्व के प्रभाव का पूरी तरह उपयोग किया कि भारतीय शिक्षा का यह मेग्नाकार्टा कानून बन जाए…

मिशनों के लिए भी यह सहायता अनुदान पद्धति बहुत महत्वपूर्ण थी। जबिक पूर्व काल में किसी बेंटिक अथवा किसी हार्डिंग की हितकारी डिग्नियों के बावजूद, सरकार को यह बात नापसंद थी कि मिशन विद्यालयों को वित्तीय सहायता दी जाए, तो भी मिशन यह अतिरिक्त दावा कर सकते थे कि वित्तीय सहायता पाना उनका वैधानिक अधिकार है। चूंकि इस प्रसिद्ध आज्ञा पत्न को तैयार करते समय इस पर

डा० डफ जैसे मिशनरियों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था, अतः यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो गई थी कि नई सहायता अनुदान पद्धित की मुख्य प्रवृत्ति यह है कि विभिन्न मिशनों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाए कि वे प्रारंभिक शिक्षा के अत्यंत लाभकारी कार्य को पहले की अपेक्षा अधिक बड़े पैमाने पर चलाएं।

इस संबंध में एक बात यह भी है कि इस आज्ञापत्र की धार्मिक शिक्षा की ओर जो अभिवृत्ति है उस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि उससे यह पता चलता है कि मिशनरी प्रयत्न के प्रति सरकार की सहानुभूति थी। जहां तक सहायता प्राप्त विद्यालयों (जिनका अर्थ उस समय केवल मिशनरी विद्यालय ही लगाया जाता था) का संबंध था, आज्ञापत्र में यह इच्छा प्रकट की गई थी कि 'किसी विद्यालय में जो धार्मिक सिद्धांत सिखाए जाएं उन पर…' निरीक्षण अधिकारी 'कोई भी ध्यान नहीं' दे। जहां तक सरकारी संस्थाओं का संबंध है, आज्ञापत्र में कहा गया था:

ऐसा प्रतीत होता है कि सरकारी संस्थाओं में शिक्षा देने के बारे में हमारे जो विचार हैं उनके बारे में काफी गलतफहमी फैली हुई है। ये संस्थाएं भारत की संपूर्ण जनता के कल्याण के लिए स्थापित की गई थीं। उनके लक्ष्य को पूरा करने के लिए यह अनिवार्य था और अब भी है कि उनमें दी जाने वाली शिक्षा पूर्ण रूप से धर्म निर्पेक्ष हो। हम समझते हैं कि बाइबिल को महाविद्यालयों और विद्यालयों के पुस्तकालयों में रखा जाता है और छात्र वहां निर्वाध रूप से उससे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा ही होना भी चाहिए। इस पर भी यदि छात्र स्वेच्छा से ईसाई धर्म के विषय में अध्यापकों से कोई स्पष्टीकरण चाहते हों तो हम उसे रोकना या निरुत्साहित नहीं करना चाहते हैं बशर्ते ऐसी सूचना विद्यालय के समय के अलावा किसी और समय दी जाए। इस प्रकार की शिक्षा दोनों ओर से पूर्णत: स्वैच्छिक होने के कारण यह आवश्यक है कि निरीक्षक अपने आवधिक निरीक्षणों में इस शिक्षा की ओर कोई ध्यान न दें ताकि हमारे बारे में किसी का जरा भी यह संदेह न हो कि हम धर्मांतरण के लिए सरकारी प्रभाव का इस्तेमाल करना चाहते हैं।

(ङ) अध्यापकों का प्रशिक्षण: इसके बाद आज्ञापत्र में विद्यालयों के लिए उचित रूप से योग्य अध्यापक प्राप्त करने के प्रश्न पर विचार किया गया है और कहा गया है: सबसे अच्छी बात यह होगी कि हम आपसे उस योजना का उल्लेख करें जिसे इस विषय में ग्रेट ब्रिटेन में स्वीकार किया गया है और जिसे भारत में सरलता से वहां के अनुकूल बनाया जा सकता है। हम परिषद की समिति के कार्यवृत्त की प्रतियां संलग्न कर रहे हैं। इनको पढ़ने से पता चलेगा कि योजना में मुख्यत: निम्नलिखित बातें शामिल हैं: छात्र अध्यापकों का चयन और वजीफा (उन विद्यालयों के अध्यापकों को थोड़ी सी धनराशि देना जिनमें उन्हें विद्यालय के समय अतिरिक्त अन्य समय में शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया जाता है); यदि वे योग्य सिद्ध हों

तो अंतत: उन्हें विद्यालय से हटाकर नार्मल स्कूलों में भेज देना; उन नार्मल स्कूलों में अपना प्रशिक्षण पूरा करने पर उन्हें प्रमाणपत्न देना; और जब वे बाद में विद्यालयों में अध्यापकों के रूप में नियुक्त किए जाएं तो उनके लिए पर्याप्त वेतन दिलाना। भारत में इस पद्धति को सरकारी महाविद्यालयों और विद्यालयों में चलाया जाना चाहिए और सहायता अनुदान के द्वारा उन समस्त संस्थाओं में भी चलाया जाना चाहिए जो सरकार के नियंत्रण में ली जाएं ...

हमारी इच्छा है कि अध्यापक का पेशा भविष्य में भारत के मूल निवासियों को वैसा ही प्रलोभन प्रदान करे जिस प्रकार के प्रलोभन लोक सेवा की अन्य शाखाओं में मिलते हैं।

शिक्षा तथा रोजगार: इसके पश्चात शिक्षित भारतीयों को प्रोत्साहन देने के प्रश्न को लिया गया है। आज्ञापत्र में कहा गया है:

हमारी सदैव यह राय रही है कि भारत में शिक्षा का प्रसार होने से सरकारी प्रशा-सन की सभी शाखाओं में कार्यकुशलता बढ़ेगी क्योंकि शिक्षा का प्रसार हो जाने पर आप प्रत्येक सरकारी विभाग में बुद्धिमान एवं विश्वसनीय व्यक्तियों की सेवाएं प्राप्त कर सकेंगे। दूसरी ओर, हमारा विश्वास है कि हमें जिन विभिन्न प्रकार के अगणित रिक्त पदों पर लगातार नियुक्तियां करनी पड़ती हैं उनके कारण शिक्षा को भारी प्रोत्साहन मिल सकता है…

हमारी यह इच्छा है कि सरकार के अधीन नियुक्तियों के लिए यदि उम्मीदवारों की अन्य अर्हताएं समान हों तो जिस व्यक्ति ने अच्छी शिक्षा पाई है उसे ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा अधिमान्यता दी जानी चाहिए जिसने अच्छी शिक्षा प्राप्त नहीं की है। यह अच्छी शिक्षा भले ही किसी भी स्थान पर अथवा किसी भी ढंग से प्राप्त की गई हो। निम्न पदों के लिए भी यही कसौटी होनी चाहिए। यदि उम्मीदवार अन्य बातों में समान रूप से अर्ह हों तो जो व्यक्ति पढ़ लिख सकता हो उसे ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा अधिमान्यता दी जानी चाहिए जो निरक्षर हो।

परंतु सरकार के अधीन नियुक्तियों की संख्या चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हो, भारत के मूल निवासियों की विचारधारा को मोड़कर उपयोगिता एवं लाभ वाले कुछ उस अधिक व्यापक और अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र की ओर ले जाना चाहिए जो कि उदार शिक्षा उनके लिए प्रदान करती है। जो लोग इन मूल निवासियों की भावनाओं को जानते हैं और जिनका इतना प्रभाव अथवा प्राधिकार है कि वे मूल निवासियों को परामर्श दे सकें, अथवा उनके प्रयत्नों को निदेशित कर सकें, उन्हें चाहिए कि उन्तत ज्ञान से मिलने वाले इस प्रकार के व्यावहारिक लाभों के विषय में मूल निवासियों को लगातार बताते रहें।

स्त्री शिक्षा: अंत में इस आज्ञापत्र में शिक्षा की कुछ अन्य समस्याओं के संबंध में कितपय सुझाव दिए गए हैं। उदाहरण के लिए, आज्ञापत्र में यह कहा गया है कि भारतीय भाषाओं में विद्यालयों के लिए उपयुक्त पुस्तकों का प्रबंध करने की आवश्यकता है, फिर इसमें व्यावासियक शिक्षा का महत्व बताया गया है और यह कहा गया है कि इसके लिए व्यावसिवक महाविद्यालय और उद्योग विद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त उसमें स्त्रियों में शिक्षा प्रसार करने की आवश्यकता बताई गई है। इनमें से अंतिम विषय के बारे में आज्ञापत्न में कहा गया हैं कि:

भारत में स्वी शिक्षा को भारी महत्व देना उचित ही होगा। हमें प्रसन्नता है कि अब हमें इस बात का प्रमाण मिल गया कि भारत के अने क मूल निवासियों के मन में इस बात की इच्छा बढ़ रही है कि वे अपनी पुत्तियों को अच्छी शिक्षा दें। इस शिक्षा के द्वारा लोगों के शैक्षिक एवं नैतिक भाव को उसकी अपेक्षा बहुत अधिक आवेग मिलता है जितना पुरुषों की शिक्षा द्वारा मिलता है। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि महिला विद्यालयों को ऐसे विद्यालयों में शामिल किया जाता है जिन्हें सहायता अनुदान दिया जा सकता है। इस दिशा में जो प्रयत्न किए जा रहे हैं उनके साथ हमारी भारी सहानुभूति है। बंगाल सरकार को भेजे गए एक संदेश में सपरिषद गवर्नर जनरल ने घोषणा की है कि सरकार को भारत में देशी स्त्री शिक्षा का दृढ़ता से और खुलकर समर्थन करना चाहिए। उनकी इस बात से हमारी हार्दिक सहमित है तथा हम राव बहादुर मगनभाई करमचंद जैसे मूल निवासी सज्जनों को, सम्मानसूचक चिह्न दिए जाने का विशेष रूप से अनुमोदन करते हैं क्योंकि इस प्रकार के उपायों से सामान्यतः सबको यह पता चल जाता है कि हम स्त्री शिक्षा का प्रसार करना चाहते हैं। राव बहादुर मगनभाई करमचंद ने अहमदाबाद में दो महिला विद्यालयों की स्थापना के लिए 20,000 रुपए दान दिए थे।

आज्ञापत्र की आलोचना: इस भारी ऐतिहासिक महत्व वाले दस्तावेज में यही मुख्य उप-बंध थे। इसका तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश भारत के प्रत्येक प्रांत में एक शिक्षा विभाग बना दिया गया और कलकत्ता, मद्रास तथा बंबई में विश्वविद्यालयों की स्थापना कर दी गई। इससे माध्यमिक शिक्षा को, और कुछ हद तक प्राथमिक शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला। इसने सहायता अनुदान की पद्धति प्रारंभ की और अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण संस्थाएं स्थापित हुई । यह आज्ञापत्र ऐतिहासिक दस्तावेजों की उस माला का अंतिम एवं अत्यंत पूर्ण दस्तावेज था जिसमें ग्रांट का आब्जवेंशंस, 1813 के चार्टर अधिनियम की धारा 43 द्वारा लार्ड मिटो, लार्ड मोइरा, सर चार्ल्स मैटकाफ, ऐलिंफस्टन, सर थामस मूनरो, लार्ड मैकाले और लार्ड आकलैंड के के विवरण पत्न शामिल हैं। यह भारतीय शिक्षा के इतिहास के उस द्वितीय युग का एक उपयुक्त समापन है जिसमें वर्तमान शिक्षा पद्धति की आधारशिला रखी गई थी। यह हमें एक अच्छा मंच प्रदान करता है जहां से हम मुड़कर अतीत की ओर देख सकते हैं। जैसा स्वर्गीय एम० आर० परांजपे ने कहा है इससे हम 'यह पता लगा सकते हैं कि हम उन शैक्षिक लक्ष्यों की कितनी पूर्ति कर पाए हैं जिन्हें इस आज्ञापत्र के रचयिताओं ने दृष्टिगत रखा था। इसके साथ ही, हम उन परिवर्तनों को भी जान सकते हैं जो पिछले सौ वर्षों में अंशत: समय बीतने के कारण तथा अंशतः इस काल में शैक्षिक प्रगति द्वारा उत्पन्न नए पर्यावरण

के कारण हमारे शैक्षिक लक्ष्यों में हए हैं।'1

यह खेद की बात है कि इस आज्ञापत्न की अत्यंत महत्वपूर्ण सिफारिशों को काफी समय तक कार्यान्वित नहीं किया गया, कुछ को काट-छाटकर कार्यान्वित किया गया और कुछ अन्य सिफारिशों को अभी कार्यान्वित करना शेष है। इस आज्ञापत्न में भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने का वचन दिया गया था परंतु यह वचन काफी समय तक केवल एक नेक इच्छा ही बना रहा और सर्वसाधारण द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषाएं निर्जीव ही रहीं। आज्ञापत्न में यह इच्छा व्यक्त की गई थी कि सहायता अनुदान की एक ऐसी नीति विकसित की जाए जिसके द्वारा सरकार शैक्षिक क्रियाकलापों के क्षेत्र से पूरी तरह हट सके। परंतु इस इच्छा को पूरी करने के बजाय अधिकांशतः इसकी उपेक्षा की गई। जैसा स्वर्गीय एम० आर० परांजपे ने कहा है:

तो भी साठ वर्ष से अधिक समय तक सरकारी संस्थाओं की संख्या क्रमिक रूप से बढ़ती चली गई और गैर सरकारी उद्यम को प्रोत्साहन देने के बजाय प्रायः निरुत्साहित ही किया गया। पहले तीस वर्षों में अर्थात 1880 तक इस क्षेत्र में ईसाई मिशन एकमात्र गैर सरकारी अभिकरण बने रहे और सरकार में इतना साहस नहीं था कि शिक्षा कार्य ईसाई मिशनों को सौंप दे जिनका मूल उद्देश्य लोगों को ईसाई बनाना था। 1857 की घटनाओं से सरकार को उस जोखिम का पता चल गया जो लोगों के मन में यह संदेह उत्पन्न होने पर हो सकता था कि सरकार का रवैया भारत के लोगों के धर्मों के प्रति ठीक नहीं है। अतः यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में ईसाई मिशन परम कृपापात्र गैर सरकारी अभिकरण बने रहे तथापि उन्हें सरकार का समर्थन पूरी मात्रा में प्राप्त नहीं हुआ। 2

शिक्षा प्रसार होने तथा समाजसेवा के नए आदर्शों के आने पर, भारतीय गैर सरकारी उद्यम प्रारंभ हुआ और बढ़ता चला गया। परंतु सरकार अपने विद्यालयों और महाविद्यालयों को भारतीय प्रबंध को सौंपने के लिए तैयार नहीं थी क्योंकि उसे यह विश्वास नहीं था कि भारतीय उन्हें कार्यकुशलता के साथ चला सकेंगे।

70 वर्ष से भी अधिक समय तक न तो आज्ञापत्र में दृष्टिगत की गई सार्वजिनक शिक्षा की योजनाओं को पूरा किया गया और न मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाले उच्च विद्यालयों की ही स्थापना की गई। वर्तमान शिक्षा पद्धित की अनेक त्रुटियों के मूल में यही बात है कि उपयुक्त संबंधों तथा आज्ञापत्र के अन्य उपबंधों को पूरी तरह कार्यान्वित नहीं किया गया था।

यह बात भी दिलचस्प है कि आज्ञापत्र में व्यक्त किए गए कुछ भाव अब किस प्रकार अव्यवहृत हो चुके हैं। उदाहरण के लिए, आज्ञापत्र में 'जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए

^{1.} प्रोग्रेस आफ एजूकेशन, पूना, जुलाई, 1941, पृ० 52।

^{2.} वही, पृ० 47 ।

उपयुक्त' शिक्षा की बात कही गई है। यह बात आरंभिक विक्टोरिया काल के एक आदर्श के रूप में तो बोधगम्य हो सकती है क्योंकि उस काल में लोग 'निर्यात द्वारा क्यवस्थित' एक ऐसी 'अच्छी सामाजिक व्यवस्था' में विश्वास करते थे जिसमें जन्म तथा पर्यावरण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित हैसियत रही होती। परंतु आधुनिक विचारक उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं होता क्योंकि वह इस बात में विश्वास करता है कि सभी को शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए। इसी प्रकार यह देखकर दुख होता है कि आज्ञापत्र में भारत के बारे में केवल इतनी बात सोची जा सकी है कि वह ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल का संभरक तथा इंग्लैंड के तैयार माल का उपभोक्ता बन जाएगा। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे आत्मसम्मान रखने वाला कोई भी भारतीय न तो आर्थिक दृष्टि से स्वीकार करेगा और न शैक्षिक दृष्टि से।

हमने ऊपर जो तथ्य बताए हैं उनसे किसी को यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि हम उस कार्य को तुच्छ मान रहे हैं जो इस आज्ञापत्र के निर्माताओं ने किया था अथवा उनका अभिप्रेत था। तो भी, कुछ इतिहासकारों ने जिन अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में इस आज्ञापत्र का वर्णन किया है और उसे 'भारतीय शिक्षा का मेग्नाकार्टा' तक कह दिया है, उसके लिए हमें कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है। हमारी राय में ऐसा दृष्टि-कोण संतुलित नहीं है। निस्संदेह, आज्ञापत्र ने उस समय प्रवर्तमान शैक्षिक आदर्शों के अनुसार भारत में एक अच्छी शिक्षा पद्धित के विकास में बहुत सहायता की थी। परंतु उस समय से अब इन आदर्शों में इतना महत्वपूर्ण परिवर्तन आ चुका है कि अब आज्ञापत्र के भावों के अनुसार चलने से भारत को बहुत कम लाभ होगा। जहां तक इसे चार्टर कहने की बात है, इस संबंध में स्वर्गीय एम० आर० परांजपे के शब्दों को उद्धृत कर देना ही सबसे अच्छा होगा। उन्होंने कहा है:

परंतु इन सब अच्छी बातों के होते हुए भी, 1854 के शिक्षा आज्ञापत्न को एक शैक्षिक चार्टर अर्थात कितपय अधिकार तथा विशेषाधिकार देने वाला अथवा उनकी गारंटी करने वाला सरकारी पत्र कहना गलत होगा । यद्यपि आज्ञापत्र में यह आशा की गई है कि सहायता अनुदान पद्धित से एक अधिक व्यापक क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार होगा तथापि इसमें सार्वजनीन साक्षरता के आदर्श की बात नहीं कही गई है। इसमें यह नहीं माना गया है कि किसी निश्चित आयु से कम आयु वाले प्रत्येक बालक को शिक्षा देना राज्य का एक दायित्व है। इसमें यह घोषणा नहीं की गई है कि सुपात विद्यार्थियों की शिक्षा में निर्धनता बाधक नहीं बनेगी। जबिक यह बात स्वीकार की जा सकती है कि आज्ञापत्न में दृष्टिगत की गई अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं था कि सरकारी कार्यालयों में रोजगार दिलाया जाए तथापि उसके रचिताओं का उद्देश्य ऐसी शिक्षा देना नहीं था जो नेतृत्व करना सिखाए, भारत का औद्योगिक पुनर्जन्म करे, मातृभूमि की रक्षा करना सिखाए अर्थात, जो किसी स्वशासी राष्ट्र के लोगों द्वारा अपेक्षित हो। यह बात संभवत: क्षम्य थी कि इस

आज्ञापत्र के रचयिता यह दृष्टिगोचर नहीं कर सके कि एक शताब्दी बाद भारतीयों की आकांक्षाएं कितनी आगे बढ़ जाएंगी—परंतु यह बात कहना भी अप्रत्यक्ष रूप से इस आज्ञापत्र की अपूर्णताओं को ही स्वीकार करना है। 1854 में इस आज्ञापत्र का जो भी महत्व रहा हो, 1941 में इसे एक शैक्षिक चार्टर कहना हास्यास्पद ही होगा।

5

विक्टोरिया काल: एक

(1854-1902)

1854 के आज्ञापत्र को आरंभ में यह माना गया था कि वह कंपनी के अधीन शैक्षिक सुधारों के एक महान युग का आरंभ है। परंतु वास्तिवक घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि यह आज्ञापत्र कंपनी की अंतिम कृति थी। 1855-56 में लोक शिक्षा विभागों का गठन किया गया और 1857 में विश्वविद्यालयों को निगमित किया गया। परंतु इससे पहले कि आज्ञापत्र के उपबंधों पर कोई आगे कार्रवाई की जाती, 1858 में कंपनी की राजनीतिक सत्ता समाप्त हो गई और भारत सरकार सीधे महारानी के अधीन आ गई। अतः मोटे तौर से यह माना जा सकता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन भारत में शिक्षा 1854 के आज्ञापत्र के साथ ही समाप्त हो गई थी।

1854 से 1902 तक की अविध की सामान्य विशेषताएं: जैसा पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, 1854 के आज्ञापत्र में विगत काल का जायजा लिया गया था और भविष्य में मार्गदर्शन करने के लिए दीर्घकालिक नीतियां निर्धारित की गई थीं। आज्ञापत्र के निदेशों का मोटे तौर पर तब तक पालन होता रहा जब तक बीसवीं शताब्दी के आरंभ में लार्ड कर्जन ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक अन्य नए काल का आरंभ नहीं कर दिया गया। अत: 1854 के आज्ञापत्र और 1902 में लार्ड कर्जन द्वारा भारतीय विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किए जाने के बीच की जो लगभग पचास वर्ष की अविध है उसे भारत में आधुनिक शिक्षा का तीसरा काल अथवा संक्षेप में भारतीय शिक्षा का विक्टोरिया काल कहा जा सकता है।

कंपनी के अधीन भारत की जो दशा थी उसकी तुलना में विक्टोरिया काल शांति का काल था। 1813 और 1853 के बीच, अंग्रेजी प्रशासकों का मुख्य कार्य यह रहा था कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की जाए और अपने राज्य को सुदृढ़ बनाया जाए। अतः इस काल में प्रायः लगातार युद्ध ही चलता रहा। भारत के अनेक भागों में अराजकता और सामान्यतः अशांति फैली रही। विधि और व्यवस्था तभी स्थापित हुई जब इन क्षेत्रों को जीत लिया गया और उन्हें या तो सीधे अंग्रेजी शासन के अंतर्गत ले लिया गया अथवा उनके शासकों के साथ संधि करके उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी प्रभाव में ले आया गया। 1854 तक संपूर्ण भारत को या तो कंपनी ने जीत लिया था

अथवा अपने प्रभाव के अंतर्गत कर लिया था और सब जगह विधि और व्यवस्था स्थापित कर दी थी। 1857 की घटनाओं के अतिरिक्त विचाराधीन काल में भारतीय भूमि पर और लड़ाइयां नहीं लड़ी गई और शांति एवं आंतरिक सुरक्षा को लगातार कायम रखा गया। शैक्षिक प्रगति के लिए शांति और सामाजिक सुरक्षा का होना बहत जरूरी है।

विक्टोरिया काल : एक

पूर्ववर्ती काल से पृथक करने वाली इस काल की दूसरी विशेषता यह है कि इस काल में अपने अंग्रेज विजेताओं के प्रति भारतीय जनता का रुख कृतज्ञतापूर्ण रहा । 1854 से पहले. भारतीय जनता और अंग्रेज कभी भी परस्पर इतने निकट नहीं आए थे कि एक दूसरे को समभ सकें। अंग्रेजों के प्रति भारतीय अभिवृति विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न समयों पर और भिन्न भिन्न व्यक्तियों अथवा सामाजिक वर्गों में भिन्न भिन्न रही थी। कभी यह अभिवृत्ति शत्रता की रही और कभी श्रद्धायुक्त भय या विस्मय की, परंत अधिकांशतः भारतीय जनता में अंग्रेजों के प्रति संदेह और अविश्वास ही रहा। विजेताओं की भाषा का अध्ययन करने, उनकी संस्कृति को समझने और सामान्यतः उनके निकट संपर्क में आने के लिए (उच्च वर्ग के कुछ व्यक्तियों को छोड़कर) सामान्यतः लोग तैयार नहीं थे। 1902 के बाद मार्ग फिर से बदल गया क्योंकि राष्ट्रीय भाव पून: जागृत हो गए थे और भारतीय जनता ने अपने अंग्रेज शासकों के विरुद्ध युद्ध प्रारंभ कर दिया था। परंतु 1854 और 1902 के बीच हमें शासकों और शासितों के बीच सामान्यत: अत्यंत सामंजस्यपूर्ण संबंध देखने को मिलते हैं। मूगल साम्राज्य के विघटन से जो अराजकता फैली थी. उससे भारतीय जनता परेशान हो गई थी और उसके लिए सबसे बडी आवश्यकता इस बात की थी कि एक ऐसी मजबूत सरकार बने जो विधि और व्यवस्था कायम रख सके। चंकि अंग्रेजी शासन ने इस प्रमुख और तात्कालिक आवश्यकता को पूरा किया अत: इस शासन की तमाम अस्विधाओं और किमयों को भूला दिया गया। लोग अंग्रेजों की भारत विजय की मंगलकामना करने लगे और उसे अपना सौभाग्य बताने लगे। लोगों के मन में एक सामान्य भावना यह भी थी कि भारत के साथ अंग्रेजों का संबंध अनिश्चित काल तक चलते रहना चाहिए क्योंकि इससे अंततः भारतीय जनता की भारी प्रगति होगी और सुख समृद्धि बढ़ेगी। अतः अविश्वास एवं संदेह का रवैया धीरे धीरे समाप्त हो गया और उसके स्थान पर अब सामान्य रूप से पाश्चात्य संस्कृति और विज्ञान की तथा विशेष रूप से अंग्रेजी साहित्य एवं इतिहास की श्लाघा होने लगी। कृतज्ञता, निष्ठा एवं श्लाघा की यह मिली जुली भावना अंग्रेजों के लिए भी पूर्णत: संतोष-दायक थी क्योंकि इससे वे यह महसूस करने लगे कि भारत को जीत कर और उस पर शासन करके वे किसी दैवी एवं परार्थ उद्देश्य को पूरा कर रहे हैं । निस्संदेह इस सामान्य स्यिति के कुछ महत्वपूर्ण अपवाद भी थे। वास्तव में, भारतीयों के कुछ वर्गों ने अंग्रेजी शासन के साथ कभी मेल मिलाप नहीं किया। कुछ अन्य लोग विदेशी शासन की कमियों

^{1.} यद्यपि अफगान तथा बर्मा युद्ध इसी अवधि में लड़े गए थे तथापि कुल मिलाकर ये छोटे छोटे मामले थे और उनसे भारत के प्रमुख भूभाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

को देखने और स्वशासन की मांग करने की अंतर्दृष्टि रखते थे, यद्यपि उनमें यह अंतर्दृष्टि काफी बाद में विकसित हुई थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 1885 में ही स्थापना की जा चुकी थी और दादाभाई नौरोजी जैसे अनेक राष्ट्रवादी नेता पहले से ही भारतीय प्रशासन के गैर अंग्रेजी स्वरूप की आलोचना कर रहे थे। परंतु आगामी तूफानों के ये प्रारंभिक संकेत एक छोटी घटना मात्र थे और यह कहना सामान्य रूप से सही होगा कि 1813 और 1853 के बीच भारतीय जनता की अंग्रेजी शासन के प्रति भय, अविश्वास अथवा संदेह की अभिवृत्ति और 1902 के बाद खुली श्रवुता की अभिवृत्ति तुलना में इस अविध में मोटे तौर पर निष्ठा, कृतज्ञता और श्लाघा की अभिवृत्ति रही।

इस काल की तीसरी विशेषता यह है कि अब शिक्षा क्षेत्र में रुचि का केंद्र लंदन से हटकर कलकत्ता पहुंच गया था। 1854 से पूर्व, अधिकांश शैक्षिक प्रश्नों को निदेशक मंडल के आदेशों के लिए इंग्लैंड के गृह विभाग को भेजना पड़ता था। अध्याय दो, तीन और चार में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को देखने से यह पता चल जाएगा कि (क) 1854 से पूर्व प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न के बारे में जो भी निर्णय हुआ वह लंदन में निदेशकों ने आज्ञापत्र द्वारा किया था और (ख) ब्रिटिश संसद ने भारतीय शिक्षा में बहुत गहरी रुचि ली थी, विशेषकर उस समय जबिक 1698, 1793, 1813, 1833 और 1853 में कंपनी के चार्टरों का नवीकरण किया गया था। जैसे ही भारत का शासन महारानी को हस्तांतरित कर दिया गया, भारतीय मामलों में सामान्य रूप से और भारतीय शिक्षा में विशेष रूप से ब्रिटिश संसद की रुचि में कमी हो गई और वह निम्नतम स्तर पर पहुंच गई। यह सच है कि निदेशक मंडल का तथा नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष का स्थान ग्रहण करने वाले नए अधिकारी भारत मंत्री ने 1859 का शिक्षा आज्ञापत्र लिखा था और भारतीय शिक्षा का उसी प्रकार सामान्य ढंग से अधीक्षण किया था जिस प्रकार वह भारतीय प्रशासन के अन्य सभी विभागों का अधीक्षण करता था। परंतु उसका नियंत्रण बहत व्यापक एवं सामान्य था। इसलिए 1858 के बाद भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में सबसे प्रभावी प्राधिकारी इंग्लैंड के गृह विभाग के बजाय भारत सरकार हो गई।

1854 और 1902 के बीच हमें इस बात का प्रमाण मिलता है कि केंद्रीय सरकार ने शिक्षा में लगातार बहुत गहरी रुचि ली। उदाहरण के लिए, 1854 के आज्ञापत्न के बाद 1855 में विश्वविद्यालयों की योजना तैयार करने के लिए एक केंद्रीय समिति नियुक्त की गई थी। 1857 में केंद्रीय कार्यकारिणी परिषद के अधिनियमों द्वारा भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। 1865-66 से 1870-71 तक, भारत सरकार ने विशेष अधिकारियों के द्वारा भारत में शिक्षा के संबंध में विस्तृत सर्वेक्षण कराए। 1882 में केंद्रीय सरकार के आदेश से भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया। 1886-87, 1891-92, 1896-97 और 1901-2 में शिक्षा की प्रगति के बारे में भारत सरकार द्वारा कराए गए पर्यवेक्षणों के संबंध में चार पंचवार्षिक समीक्षाएं प्रकाशित हुईं। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने इस काल में शैक्षिक मामलों पर सैकड़ों संकल्प पारित किए क्योंकि प्रत्येक महत्वपूर्ण निर्णय अथवा नीति परिवर्तन के लिए भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक थी। अगले तीन अध्यायों में दिए गए अनेक उदाहरणों से यह सामान्य

प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाएगी। अतः यहां पर इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि 1854 से 1902 के बीच ब्रिटिश संसद ने भारतीय शिक्षा में प्रायः बिलकुल भी रुचि नहीं ली किंतु उसके स्थान पर अब भारत सरकार शिक्षा संबंधी मामलों में गहरी रुचि लेने लगी थी।

चौथी बात यह है कि यह काल सामान्य अर्थ संकट का काल था। इस बात में यह काल 1813 और 1853 के बीच के पूर्ववर्ती काल जैसा ही था। परंतु इन अर्थ संकटों के एक जैसे कारण नहीं थे। 1853 से पूर्व, कंपनी के अर्थ संकट का मुख्य कारण यह था कि उसे भारत को जीतने के लिए सेना पर भारी खर्चा करना पड़ता था और देश की सामान्य स्थित डांवाडोल थी। इसके अतिरिक्त इस अर्थ संकट का एक कारण यह भी था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशक अपने लाभांशों को कम नहीं होने देना चाहते थे। परंतु 1854 और 1902 के बीच केवल 1857 की घटनाएं और अफगान युद्ध तथा बर्मा युद्ध हुए थे। इनसे बहुत अधिक वित्तीय भार नहीं पड़ा तथा विधि और व्यवस्था कायम रही। फिर भी, शिक्षा के लिए पर्याप्त धन कभी प्राप्त नहीं हो सका और सरकार प्राय: हमेशा ही घन की कमी की बात कहती रही। इस विरोधाभास के कई कारण हैं जिनमें से कुछ उल्लेखनीय कारण निम्नलिखत हैं:

- (क्) 1854 और 1902 के बीच भारत में वित्तीय प्रशासन अत्यंत दोषपूर्ण रहा। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा को उदार एवं निरंतर बढ़ते जाने वाले अनुदान नहीं मिल सके।
- (ख) 1854 और 1870 के बीच केंद्रीय सरकार का बजट बहुधा घाटे का ही बजट रहा। 1870 के बाद भी अफगान युद्ध तथा बर्मा युद्ध के कारण, और भारत के अधिकांश भागों में पड़ने वाले अकालों एवं प्लेग के कारण स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इन राजनीतिक परिस्थितियों एवं प्राकृतिक विपदाओं ने केंद्रीय सरकार की वित्तीय स्थिति को बहुत बिगाड़ दिया और शिक्षा के लिए उपलब्ध होने वाली विधियों को सीमित कर दिया।
- (ग) अंग्रेजी प्रशासन ने देश के संभाव्य औद्योगिक संसाधन का विकास नहीं किया क्योंकि, जैसा कि 1854 के आज्ञापत्न में स्पष्ट कर दिया गया था, अंग्रेजी प्रशासन का लक्ष्य भारत को इंग्लैंड के लिए कच्चे माल के संभरक के रूप में तथा इंग्लैंड के तैयार माल के केता के रूप में विकसित करना था। यह स्वाभाविक बात है कि औद्योगिक विकास की इस कमी से कराधान के लिए उपलब्ध संपत्ति का भारी संक्चन हआ।
- (घ) सरकार की कर संबंधी नीति अधिक प्रगतिशील नहीं थी। भूराजस्व, भूराजस्व पर स्थानीय निधि उपकर, नमक कर आदि करों के भार से निर्धन व्यक्ति बहुत दबा हुआ था। परंतु उसकी तुलना में धनी व्यक्ति पर कर भार बहुत कम था। इससे भी राष्ट्रीय सरकारी आय में कमी हो जाती थी जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा तथा इसी प्रकार की अन्य उपयोगी सेवाओं पर होने वाले व्यय को कम कर दिया जाता था।

इस काल का विस्तृत वित्तीय इतिहास इस पुस्तक का विषय नहीं है। परंतु ऊपर जो कुछ कहा गया है वह यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि इस काल में जो अर्थ संकट आया, युद्ध उसका केवल आंशिक कारण ही थे। उसके मुख्य कारण थे वित्तीय प्रशासन की दोषपूर्ण व्यवस्था, देश की संपदा का विकास न किया जाना, प्लेग और अकाल जैसी प्राकृतिक आपदाएं और प्रतिगामी एवं असंतोषजनक कर नीति । परंतु कारण चाहे जो कुछ भी रहे हों, उनका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के लिए उपलब्ध निधियां सारभूत रूप से संकुचित हो गईं और उसकी प्रगति में बाधा पड़ी ।

यह सच है कि इस काल में शिक्षा संबंधी सरकारी निधियों की कमी को (I) ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय निधि उपकर लगा कर, (II) शहरी क्षेत्रों में नगरपालिकाओं के अंशदान द्वारा, (III) फीस और (iv) जनता से दान लेकर अतिरिक्त निधियां प्राप्त करके पूरा करने का प्रयत्न किया गया। इन गतिविधियों का विस्तृत विवरण, संगत प्रसंग में आगामी अघ्यायों में दिया जाएगा। यहां पर यह बात स्वीकार की जा सकती है कि राजस्व के इन स्रोतों से सरकारी अनुदानों की कमी कुछ हद तक अवश्य दूर हुई। विशेष कर यह कभी माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में समाप्त हुई। परंतु ये स्रोत अब भी बहुत थोड़े थे और शिक्षा संबंधी सरकारी अनुदानों की नितात कमी को पूरा नहीं कर सकते थे। अतः इन नए संसाधनों के बावजूद, शिक्षा क्षेत्र में अर्थ संकट बना रहा और हर जगह प्रगति हकी रही। परंतु इस अर्थ संकट का सबसे अधिक प्रभाव सार्वजनिक शिक्षा पर पड़ा।

अंतिम बात यह है कि यह काल अपने पूर्ववर्ती काल से इस अर्थ में भिन्न था कि यह विवादों से अपेक्षाकृत अधिक मुक्त रहा और इसमें उपलब्धियां भी पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक रहीं। जैसा कि अध्याय दो, तीन और चार में बताया जा चका है. 1813 से लेकर 1853 तक का काल मुख्यत: उग्र विवादों एवं प्रयोगों का काल था और इस काल में जो संस्थाएं खोली गईं अथवा जितने छात्रों को शिक्षा दी गई उनकी संख्या बहुत कम थी। 1854 के बाद इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। 1854 के आज्ञापत्न में शिक्षा नीतियां इतने विस्तार से दी गई थीं कि कई विवाद प्रभावी रूप से समाप्त कर दिए गए और शिक्षा की द्रुत प्रगति के लिए आधार तैयार कर दिया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह काल भी विवादों से पूर्णतया मुक्त नहीं था। इनमें से कूछ विवाद पूर्ववर्ती काल से चले आ रहे थे और कुछ नए उत्पन्न हुए थे। एक प्रकार से ऐसा होना अनिवार्य भी है क्योंकि शिक्षा के प्रत्येक यूग की अपनी-अपनी समस्याएं होती हैं और अलग अलग विवाद उठते हैं। परंत् 1854 और 1902 के बीच के काल में विवादों की अपेक्षा उपलब्धियां ही अधिक रही थीं। इस काल में भारत में कलकत्ता, मद्रास, बंबई, इलाहाबाद और लाहौर में पांच विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। प्रत्येक प्रांत में एक एक शिक्षा विभाग बना। इस विभाग ने 1902 तक गैर सरकारी शैक्षिक उद्यम का अधीक्षण करने के लिए काफी विस्तृत और संतोषजनक व्यवस्था कायम कर दी। इसके अतिरिक्त, बहुत सी शिक्षा संस्थाओं का संचालन विभाग के सीधे नियंत्रण में होने लगा। इसी काल में महाविद्यालयी और माध्यमिक शिक्षा का बड़ी तेजी से विस्तार हुआ और इस क्षेत्र में गैर सरकारी भारतीय उद्यम में भारी वृद्धि हुई। शिक्षा के लिए विशेष कर वसूल किए जाने लगे और आधुनिक ढंग के प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में भारी वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा तथा मुसलमानों, हरिजनों, आदिवासियों एवं स्त्रियों जैसे तत्कालीन

पिछड़े वर्गों की शिक्षा में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। यद्यपि उपलब्धियों की उपर्युक्त सूची इस काल में शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति की पूरी सूची नहीं है तो भी इससे यह पता चल जाता है कि यह सतत शैक्षिक विकास का काल था जिसमें विवादों का बहुत कम हाथ रहा। वास्तव में, यदि इस काल में अर्थ संकट न रहा होता तो इस काल की उपलब्धियां और भी अधिक रही होतीं।

इस काल के मुख्य दस्तावेज: इस काल की व्यापक सामान्य विशेषताओं के इस सर्वेक्षण के बाद अब हम उन महत्वपूर्ण दस्तावेजों का अध्ययन करेंगे जिनमें इस काल की घटनाओं एवं नीतियों का या तो सर्वेक्षण किया गया था अथवा जिनका इन घटनाओं एवं नीतियों पर प्रभाव पडा था।

1854 के आजापत्न के उपबंधों का पूर्ववर्ती अध्याय में विस्तार के साथ विश्लेषण किया जा चुका है। यह काल न केवल इस आजापत्र के साथ प्रारंभ हुआ था, वरन इस संपूर्ण काल में इसी दस्तावेज को प्रमुखता दी जाती रही। लार्ड कर्जन के समय तक जितने भी शैक्षिक विवाद उत्पन्न हुए उनमें नीति संबंधी सिद्धांतों के अधिकृत निर्णय के लिए 1854 के आजापत्र को या तो उद्धृत किया गया अथवा उसका उल्लेख किया गया। केवल इसी तथ्य को कि किसी नीति की सिफारिश 1854 के आजापत्र में की गई थी उस काल में उस नीति की वैधता का एक अच्छा प्रमाण पत्र माना गया। उसमें किसी भी प्रस्तावित परिवर्तन के लिए अत्यंत कड़ा प्रमाण मांगा गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि आजापत्र के सभी व्यादेशों का पालन किया गया था। जैसा अध्याय चार में बताया जा चुका है, आजापत्र के अनेक महत्वपूर्ण निदेशों के पालन के बजाय उनका उल्लंघन ही अधिक किया गया था। परंतु इसके साथ ही यह कहा जा सकता है कि 1854 और 1902 के बीच भारत में शिक्षा नीति मुख्यत: 1854 के आजापत्र से प्रेरित रही।

अगला दस्तावेज नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष लार्ड एलेनबरा का दिनांक 28 अप्रैल, 1858 का आज्ञापत्र है। यह गदर के कुछ ही समय बाद लिखा गया था। यह दस्तावेज बेबुनियाद था। इसमें 1854 के आज्ञापत्र द्वारा निर्धारित नीतियों को इस आधार पर रह् कर देने का प्रयत्न किया गया था कि 1857 की घटनाएं इन्हीं नीतियों के कारण हुई थीं। सौभाग्यवश, शीघ्र ही वास्तविकता का ज्ञान हो गथा और इस दस्तावेज में की गई सिफारिशों पर कभी अमल नहीं किया गया।

1859 में इस काल का तीसरा, महत्वपूर्ण दस्तावेज 1859 का लार्ड स्टेनले का आज्ञापत्र आया। यह आज्ञापत्र कंपनी द्वारा महारानी को भारत का शासन सौंपे जाने के समय (1858 में) जारी हुआ था। प्रशासन में इतना बड़ा परिवर्तन होने पर अपेक्षित था कि नए प्राधिकारी शिक्षा की विद्यमान नीतियों पर पुनर्विचार करें और यथाशी घ्र या तो उनकी पुष्टि कर दें या उन्हें संशोधित कर दें। यह पुनर्विचार करना इसलिए और भी जरूरी हो गया था कि लार्ड एलेनबरा के आज्ञापत्र में 1854 के आज्ञापत्र में प्रतिपादित अनेक महत्वपूर्ण नीतियों के संबंध में संदेह प्रकट किया गया था। इन महत्वपूर्ण नीतियों में से कुछ नीतियां निम्नलिखित विषयों से संबंधित थीं: सार्वजनिक शिक्षा के लिए सीधे प्रयासों की आवश्यकता, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन, मिशन विद्यालयों के लिए सहायता

विक्टोरिया काल: एक

अनुदान इत्यादि । लार्ड एलेनबरा के आत्रापत्र में यह सिफारिश की गई थी कि अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत को जारी रखा जाए, स्त्री शिक्षा में दखल न दिया जाए और मिश्रन विद्या-लयों को कोई सहायता न दी जाए । प्रथम भारत मंत्री लार्ड स्टेनले ने संपूर्ण स्थिति पर पुनिवचार किया, 1854 के आज्ञापत्र के प्राथमिक शिक्षा संबंधी निदेशों को छोड़कर समस्त निदेशों की पुष्टि की और लार्ड एलेनबरा द्वारा उठाए गए तूफान को शांत कर दिया ।

चौबीस वर्ष बाद, 1882 में, इस काल का अगला महत्वपूर्ण दस्तावेज आया और यह था 'भारतीय शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन।' इस आयोग की नियुक्ति दो कारणों से जरूरी हो गई थी। पहला कारण यह था कि भारत सरकार की ऐसी इच्छा थी कि 1854 का आज्ञापत आने के बाद भारत में हुए शिक्षा विकास का पुनरीक्षण किया जाए। पूर्ववर्ती काल में, कंपनी का चार्टर हर बीस वर्ष बाद नवीकरण के लिए प्रस्तुत किया जाता था और इससे शिक्षा का पुनरीक्षण करने का अवसर मिल जाता था। कंपनी की समाप्ति के साथ ही यह अवसर भी समाप्त हो गया। परंतु अब यह महसूस किया गया कि आवधिक पुनरीक्षण की पुरानीप्रथा अच्छी और लाभप्रद थी। 1882 में इसी प्रयोजन के लिए भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग की नियुक्ति का दूसरा कारण यह था कि मिशनरियों ने, विशेषकर इंग्लैंड में, इस आशय का एक आंदोलन चलाया था कि शिक्षा पद्धित को 1854 के आज्ञापत्र के अनुसार नहीं चलाया गया है। इस आंदोलन के कारण एक जांच कराने की आवश्यकता उत्पन्न हुई और 1882-83 के आयोग ने इस उद्देश्य को पूरा कर दिया।

जैसा पहले बताया जा चुका है, केंद्रीय सरकार ने 1886-87, 1891-92, 1892-97, और 1901-2 में भारत में शिक्षा के संबंध में विशद पंचवाधिक पुनरीक्षण कराए थे। ये बहुत उपयोगी दस्तावेज हैं तथा विशद, विश्वसनीय एवं विस्तारपूर्ण हैं। परंतु इनमें नीतियां तैयार करने अथवा उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह पता चल जाएगा कि 1854 और 1902 के बीच शिक्षा नीतियों का निरूपण केवल दो मुख्य दस्तावेजों द्वारा किया गया था। ये हैं 1854 का आज्ञापत और भारतीय शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन, 1882-83। ये दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें से पहले दस्तावेज का पहले ही अध्याय चार में अध्ययन किया जा चुका है। दूसरे दस्तावेज की मुख्य सिफारिशों को इस अध्याय तथा अगले अध्यायों में उपयुक्त स्थानों पर बताया जाएगा और उन पर चर्चा की जाएगी।

1854 से 1902 तक की मुख्य घटनाएं: 1854 और 1902 के बीच के काल की मुख्य शैक्षिक घटनाएं निम्नलिखित थीं:

- (क) शिक्षा विभाग का संघटन;
- (ख) जनता के बीच शिक्षा प्रसार करने वाले अभिकरण का भारतीयकरण;
- (ग) सहायता अनुदान की पद्धति का विकास;
- (घ) विश्वविद्यालयों की स्थापना और महाविद्यालयी एवं माध्यमिक शिक्षा का सारभूत प्रसार;
- (ङ) शिक्षा की विषयवस्तु का पाश्चात्यीकरण और उसके परिणाम:

- (च) देशी विद्यालयों की अवहेलना जिससे 1902 तक उनका प्राय: पूरी तरह लोप हो गया। उनके स्थान पर प्राथमिक विद्यालयों की नई पद्धित का जन्म हुआ। इन विद्यालयों को अंशत: पौर करों एवं फीस द्वारा और अंशत: सरकारी अनुदानों द्वारा सहायता मिलती थी; और
- (छ) स्त्रियों, मुसलमानों, हरिजनों और आदिवासियों के बीच शिक्षा का विकास तथा भारतीय रियासतों में आधुनिक शिक्षा का विकास।

इनमें से तीन विषयों का विवेचन इस अध्याय में और शेष का अध्याय छ: में किया जाएगा।

शिक्षा विभाग का संघटन (1854-1902): 1854 के आदेशों के अनुसार, भारत के प्रत्येक प्रांत में, जिस रूप में वह उस समय वर्तमान था, एक शिक्षा विभाग बनाने के लिए शीघ्र ही कदम उठाए गए और 1856 तक नई व्यवस्था अच्छी प्रकार कार्य करने लगी। इसके पश्चात राज्य क्षेत्रों में वृद्धि होने अथवा प्रशासनिक पुनर्गठन के कारण भारत में समय-समय पर नए प्रांत बनाए गए। परंतु 1854 के बाद, यह एक नियम बन गया था कि जैसे ही कोई नया प्रांत बनाया जाए, वहां एक नया शिक्षा विभाग बना दिया जाए। इन नए बनाए गए प्रांतीय शिक्षा विभागों के कार्य निम्नलिखित थे:

- (क) प्रांतीय सरकारों को सभी शैक्षिक मामलों में परामर्श देना;
- (ख) प्रांतीय एवं केंद्रीय सरकारों द्वारा शिक्षा के लिए आवंटित की गई निधियों का प्रबंध करना:
- (ग) कतिपय शिक्षा संस्थाओं को सीधे सरकार के प्राधिकार में चलाना;
- (घ) उन गैर सरकारी शिक्षा संस्थाओं के कार्यकरण का अधीक्षण एवं निरीक्षण करना जिन्होंने सहायता अनुदानों अथवा मान्यता के लिए विभागों को प्रार्थना पत्न दिए हों;
- (ङ) अपने अधिकार क्षेत्र में हुई शिक्षा की प्रगति के बारे में आवश्यक आंकड़ों के सिहत वार्षिक प्रतिवेदन तैयार करना और उन्हें प्रकाशित करना; और
- (च)सामान्य रूप से ऐसे सभी कदम उठाना जो शिक्षा को सुधारने अथवा उसका विस्तार करने के लिए आवश्यक हों।

1854 और 1896 के बीच, प्रांतीय शिक्षा विभागों के संगठन की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं:

- (क) इस तथ्य के बावजूद कि भारतीयकरण की मांग (विशेषकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो जाने के बाद) लगातार की जा रही थी, सभी वरिष्ठ पदों पर यूरोपीय लोग ही रखे जाते थे;
- (ख) दी जाने वाली परिलब्धियां और सेवा की शर्ते सामान्यतः अधिक आकर्षक नहीं थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड के सक्षम विद्वान सामान्यतः भारतीय शिक्षा विभागों में नौकरी का विचार नहीं रखते थे;
- (ग) विभाग में कर्मचारियों की संख्या सदैव अपर्याप्त रहती थी क्योंकि अर्थ संकट के कारण सरकार विभाग में उस अनुपात में विस्तार नहीं कर सकी जिस अनुपात

में विद्यालयों एवं छात्रों की संख्या बढ़ी थी; और

्(घ) इसके परिणामस्वरूप, गैर सरकारी विद्यालयों पर विभाग का नियंत्रण और अधीक्षण इतना सख्त अथवा पूर्ण नहीं रहा जितना होना चाहिए था।

इस काल की एक उल्लेखनीय घटना यह थी कि 1896 में भारतीय शिक्षा सेवा की स्थापना हुई। यह एक अखिल भारतीय सेवा थी और इसके लिए कर्मचारियों की भर्ती इंग्लैंड में भारत मंत्री करता था। इन कर्मचारियों को अच्छा वेतनमान दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि सैद्धांतिक रूप से भारतीयों को इंग्लैंड जाकर और खुली प्रतियोगिता में शामिल होकर इस सेवा में प्रवेश पाने का मार्ग खुला हुआ था तथापि इस सेवा के अधिकांश पदों को अंग्रेज ही सम्हाले रहे। इस सेवा का घोषित उद्देश्य इंग्लैंड से सक्षम व्यक्तियों को भारत में काम करने के लिए आर्कायत करना था। यह उद्देश्य सफल नहीं हुआ। 1896 से पहले जो कर्मचारी इंग्लैंड लौट कर गए वे बाद में आने वाले कर्मचारियों की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ थे। परंतु खेद की बात यह है कि इस विभाग में अधिकांश उच्च पदों पर अंग्रेजों का एकाधिकार हो गया था। इस बात की जनता ने उचित ही कटु आलोचना की।

भारतीय जनता के बीच शिक्षा का प्रसार करने वाले अभिकरण: इस काल में जो विभिन्न अभिकरण भारतीय जनता के बीच शिक्षा प्रसार करने के कार्य में लगे हुए थे वे निम्न-लिखित थे: (क) मिश्रनरी शैक्षिक उद्यम; (ख) व्यक्तिगत रूप से कर्मचारियों द्वारा शैक्षिक उद्यम; (ग) भारतीयों द्वारा आधुनिक ढंग का शैक्षिक उद्यम; (प्र) शिक्षा विभाग द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाएं; और (ङ) देशी शिक्षा संस्थाएं।

इसमें से कर्मचारियों द्वारा व्यक्तिगत रूप से किए जाने वाले शैक्षिक उद्यम का पूर्णतया लोप हो गया। शासन की बागडोर महारानी के हाथ में दे दिए जाने के बाद यह स्वाभाविक ही था कि सरकारी कर्मचारियों के आचरण एवं अनुशासन संबंधी नियम अधिक कठोर कर दिए गए और उन्हें अधिक कड़ाई के साथ लागू किया जाने लगा। अतः व्यक्तिगत रूप से किए जाने वाले अग्रणी कार्य के लिए सामान्यतः अधिक गुंजाइश नहीं रह गई। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि इस प्रकार के कार्य की उपयोगिता कालांतर में समाप्त हो गई थी। जैसा पहले बताया जा चुका है, इसका मुख्यं उद्देश्य भारतीय गैर सरकारी उद्यम को जन्म देना और उसे शिक्षा संस्थाओं को आधुनिक ढंग से चलाने की कला में दीक्षित करना था। 1902 तक, भारतीयों ने इस प्रविधि को पूरी तरह आत्मसात कर लिया था और जैसा कि आप बाद में देखेंगे, इस गैर सरकारी शैक्षिक उद्यम से संपूर्ण क्षेत्र में उन्हीं का प्रमुख हाथ रहा। यद्यपि 1854 से पहले सरकारी मार्ग-दर्शन लाभकर सिद्ध हुआ था परंतु अब इस विषय में सरकारी मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं रह गई थी। अतः सरकारी मार्गदर्शन समाप्त हो जाने पर खेद नहीं होना चाहिए।

इस अवधि में एक अन्य कियाकलाप जिसका इस काल में लगभग पूरी तरह लोप हो गया, देशी शिक्षा संस्थाओं का विशाल जाल था। 1854 के आज्ञा पत्र के निदेशों तथा भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशों के बावजूद, देशी विद्यालयों की सामान्यत: उपेक्षा की गई और 1902 तक उनका लगभग पूरी तरह लोप हो गया। उस दुखद घटना

का विस्तृत इतिहास अध्याय छ: में दिया जाएगा । यहां केवल इतना बता देना पर्याप्त होगा कि विचाराधीन काल में शिक्षा पद्धति जीवित रही और प्रगति कर सकी, वह थी नई शिक्षा पद्धति । इस शिक्षा पद्धति का आदर्श अंग्रेजों के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान का प्रसार करना था। शैक्षिक क्रियाकलाप की शाखा में 1854 तक मिशनरियों की सर्वोच्च सत्ता बनी रही। उसके बाद दूसरा स्थान सरकारी प्रयत्नों का था। गैर सरकारी भारतीय उद्यम का स्थान सबसे नीचे था। अगले पचास वर्षों में भारी ऋांति हई। मिशनरी प्रयत्नों में कुछ समय के लिए वृद्धि हुई, किंतू धर्मांतरण की उम्मीदों पर पानी फिर जाने के कारण ये प्रयत्न शीघ्र ही सीमित रह गए। मिशनरियों को यह आशा थी कि अंग्रेजी विद्यालयों के कारण तथा सरकार की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन न मिलने और गैर ईसाई बालकों के लिए शैक्षिक क्रियाकलाप करने में अनेक मिशनरी निकायों की रुचि न होने के परिणामस्वरूप लोग अपना धर्म परिवर्तन कर लेंगे। सरकार द्वारा किए जाने वाले सीधे प्रयत्न भी वित्तीय तथा प्रशासनिक कारणों से सीमित ही रहे। सहायता अनुदान प्रणाली का अधिकांश लाभ, विशेषकर 1882 के भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन के बाद, भारतीयों ने ही उठाया। अतः गैर सरकारी भारतीय उद्यम को 1902 में ही शैक्षिक कियाकलाप की लगभग तमाम शाखाओं में प्रथम और सबसे महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। आधुनिक शिक्षा में हुई यह महान क्रांति इस काल की सबसे महत्वपर्ण उपलब्धियों में से एक है और इसके इतिहास का निम्मलिखित तीन शीर्षकों के अंतर्गत अध्ययन करना सुविधाजनक रहेगा: (क) मिशनरी शैक्षिक उद्यम; (ख) शिक्षा में सरकारी उद्यम; और (ग) गैर सरकारी भारतीय उद्यम।

भिश्वनरी शेक्षिक उद्यम (1854-1882): 1854 के आज्ञापत ने शिक्षा प्रसार के एक ऐसे युग की आशाएं जाग्रत कर दी थीं जिसमें सरकार सीधे शैक्षिक उद्यम से हट जाती और उदार सहायता अनुदान पाने वाले मिशनरी विद्यालय संपूर्ण देश में फैल गए होते। परंतु कुछ ही वर्षों में मोहभंग हुआ। 1857 की घटनाओं के परिणामस्वरूप, इंग्लैंड में यह आंदोलन आरंभ हो गया कि मिशनरी कियाकलापों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए और भारत में पूर्ण धार्मिक तटस्थता की नीति अपनाई जानी चाहिए। मिशनरियों ने अपनी ओर से अपने दावों को मनवाने के लिए भारी प्रयास किए। परंतु राजनीतिक बातों को महत्व दिया गया और मिशनरी लड़ाई हार गए। महारानी की 1858 की उद्घोषणा में धार्मिक मामलों में पूर्ण तटस्थता की नीति को स्वीकार किया गया था और जनता को यह आश्वासन दिया गया था कि सरकार को न तो यह अधिकार है और न उसका यह इरादा है कि भारत पर ईसाई धर्म लादा जाए।

अतः 1858 और 1882 के बीच शिक्षा विभाग की जो नीति रही उसमें मिशन विद्यालयों के प्रति सहानुभूति न रखने का रवैया अपनाया गया था। उस काल के कर्म-चारियों ने मिशनों के लिए सरकारी प्रणाली के अंतर्गत अथवा उनके बिना कार्य करना कठिन बना दिया था। इसमें से बहुत से कर्मचारी नास्तिकवादी थे या उनके अंदर मिशनरी जोश नहीं था। उदाहरण के लिए, यहां पर कुछ ऐसी कठिनाइयों का उल्लेख किया जाता है जो मिशनरियों को सरकारी प्रणाली के अंतर्गत कार्य करते समय हुई थीं:

तो भी हम इस बात को नजर अंदाज नहीं कर सकते हैं कि नई विद्यालय पद्धति से भारी हानियां हैं। जबिक प्रथम कुछ वर्षों में सरकार ने इस बात को तरजीह दी थी कि विद्यालय निरीक्षकों के पदों पर मिशनरियों को नियुक्त किया जाना चाहिए परंतु उसके बाद, विशेषकर 1857 के महान विष्लव के बाद से सरकार ने मिशनरियों की ओर से प्राय: पूरी तरह मुख मोड़ लिया। सरकार ने यह कार्य निस्संदेह धार्मिक तटस्थता की दृष्टि से किया था और पूर्वाभिरुचि के साथ इन पदों पर धर्म के प्रति उदासीन अंग्रेजों और गैर ईसाई ब्राह्मणों को ही चुना था। चूंकि यह नई पद्धति वार्षिक अनुदानों पर आधारित थी और ये अनुदान इन्हीं सज्जनों द्वारा किए जाने वाले वार्षिक निरीक्षणों और परीक्षाओं के परिणाम पर निर्भर करते थे, अत: मिशन विद्यालयों को बहुधा उन्हीं कर्मचारियों की सद्भावना अथवा अच्छे मिजाज पर निर्भर करना पड़ता था जो मिशनों के विरोधी थे। यह स्थिति मिशनरियों के लिए अत्यंत अवांछनीय निर्भरता की स्थिति थी। परीक्षाएं लेने, विद्यालय भवनों का निरीक्षण करने और विद्यालयों की आलोचना करने में मन की मौज और दलीय भावना से काम करने की कितनी अधिक संभावना थी। इससे कितनी उद्विग्नता और चिंता उत्पन्न हुई थी। सरकार का लक्ष्य एकरूपता लाना था और यह इस एकरूपता का भी सीधा परिणाम था कि प्राधिकारियों ने जिन पाठ्य पुस्तकों की सिफारिश की थी उन्हें लगभग सभी स्थानों पर पढ़ाया जाने लगा था। यह एक ऐसा परिणाम था जो निरीक्षकों के लिए भी खूब सुविधाजनक था। इन पाठ्य पुस्तकों में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से ईसाई धर्म विरोधी बातें नहीं होती थीं तथापि अधिकांशत: धर्म के प्रति तटस्थ दिष्टिकोण रहता था। इनके पढ़ाए जाने का फल यह हुआ कि मिशनरियों द्वारा भारी परिश्रम से तैयार की गई पूस्तकें अब समाप्त हो गईं।¹

इसी प्रकार, शिक्षा विभाग ने बहुधा सीधी प्रतियोगिता की नीति अपनाई जिससे मिशनरियों के लिए सरकारी शिक्षा पद्धित से स्वतंत्र रहकर कार्य करना असंभव हो गया। रिचर ने ऐसे ही एक प्रयोग का निम्नलिखित शब्दों में रोचक वर्णन किया है:

उन्होंने (अर्थात मिशनरी विद्यालयों ने) अब सरकार की तेजी से विकसित होती हुई शैक्षिक योजनाओं को अपना एक सर्वशक्तिशाली प्रतिस्पर्धी पाया। इसके संबंध में अब उन्हें कौन सी नीति अपनानी चाहिए? मिशन विद्यालय के लिए आवश्यक दो मुख्य लक्ष्यों को सरकार न तो अपने कार्यक्रम में शामिल कर सकती है और न करेगी। उनमें से पहला लक्ष्य ईसाई धर्म की शिक्षा के मूल ज्ञान का प्रसार करना है और दूसरा लक्ष्य देशी सहायकों के एक दल को प्रशिक्षित करना है। इस कठिनाई का एकमात्र हल यह प्रतीत हुआ कि दोनों अपनी अपनी योजनाओं को सौहार्दपूर्ण ढंग से परंतु अलग अलग चलाएं और मिशनरी अपनी विद्यालय प्रणाली

को स्वतंत्र एवं अद्यतन बनाने का प्रयत्न करें। नई सरकारी योजनाओं के प्रांत प्राय: सभी संस्थाओं में जो अल्पकालिक उत्साह रहा उसके पश्चात, बेसिल मिशनरी सोसायटी की पहली संस्था थी जिसने उपयुक्त ढंग से कार्रवाई की। 1860 में उसने सरकारी प्रणाली से अपना संबंध विच्छेद कर लिया और अपने ढंग से विद्यालयों का पूनर्गठन किया। परंतु इसके नाशकारी परिणाम निकले। इस नई नीति पर चलने से बेसिल सोसायटी को संभवत: यह आशा थी कि जिन प्रांतों में वह काम कर रही थी उनमें संपूर्ण विद्यालय प्रणाली पर उसका अधिकार हो जाएगा। परंतु इसके बजाय सरकार ने तमाम शैक्षिक मामलों का निदेशन उससे हटा कर अपने हाथों में ले लिया। यहां तक कि उसके कियाकलाप के मुख्य क्षेत्रों के मध्य स्थित कनारा और मलाबार में भी सरकार ने ऐसा ही किया। सबसे पहले, कन्नानूर के अंग्रेजी विद्यालय को समाप्त कर देना पड़ा क्योंकि सरकार ने उसी स्थान पर (1861 में) एक अंग्रेजी विद्यालय स्थापित कर दिया था। कनारा के अंग्रेजी विद्यालय में पर्याप्त संख्या में ऐसे मिशनरी नहीं थे जो विद्यालय के सामान्य विषयों के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा और साहित्य में भी इतने निष्णात हों कि इस प्रकार के प्रांतीय विद्यालयों के बारे में सरकार की मांगों को पूरा किया जा सका होता। कालीकट का अंग्रेजी विद्यालय तो सरकार द्वारा एक समीपस्थ स्थान पर विस्तृत विद्यालय योजना तैयार किए जाने पर बरबस ही समाप्त हो गया। देशी विद्यालयों में भी पूर्ण सुधार करने के लिए आग्रह किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जबकि 1862 में 1,450 विद्यार्थी थे, 1866 में उनकी संख्या केवल 648 रह गई। 1867 में मिश-नरियों ने मिशनरी समिति को एक जरूरी आवेदन पत्न भेजा जिसमें उन्होंने मांग की थी कि सरकारी शिक्षा पद्धति के साथ पुत्र एंकीकरण हो। सिमिति ने खिन्नता-पूर्वक स्वीकृति दे दी ताकि मिशनरियों को मार्ग से बिल्कूल हटा न दिया जाए और नई पीढ़ी पर उनका सारा प्रभाव खत्म न हो जाए। इस प्रकार सरकार की शिक्षा योजना के अतिरिक्त अन्य किसी भी योजना को चलाना असंभव हो गया। इस प्रकार की प्रतिद्वंद्विता के कारण समिति अपनी योजना को कार्यान्वित नहीं कर सकती थी।1

इन्हीं कठिनाइयों के कारण मिश्रनिरयों को इंग्लैंड और भारत दोनों ही देशों में इस स्राश्य का आंदोलन आरंभ करना पड़ा कि भारत के शैक्षिक प्रशासन को 1854 के आज्ञा-पत्र के अनुसार नहीं चलाया जा रहा है क्योंकि आज्ञापत्न में सरकारी विद्यालयों को बंद कर देने अथवा हस्तांतरित कर देने की सिफारिश की गई थी। आंदोलनकारियों का यह भी कहना था कि कर्मचारी मिश्रनिरी उद्यम से इस हद तक प्रतियोगिता कर रहे हैं कि मिश्रनिरी उद्यम के बिल्कुल ही समाप्त हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। उन्होंने यह भी कहा कि सरकार की धर्म निरपेक्ष शिक्षा संस्थाएं नास्तिक और अधार्मिक हैं। इसी आंदोलन के परिणामस्वरूप 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त हुआ और उससे इस संबंध में निम्नलिखित विशिष्ट मामलों का निर्णय करने को कहा गया:

- (क) क्या सरकार मिशनरियों के हित में सीधे शैक्षिक उद्यम को छोड़ दे जैसा कि 1854 के आज्ञापत्र से कुछ लोगों को आशा बंध गई थी ?
- (ख) धार्मिक शिक्षा के बारे में सरकार की क्या नीति होनी चाहिए? विद्यालयों में घार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए अथवा नहीं? यदि यह शिक्षा दी जाती है तो किस रूप में और किन शर्तों पर दे दी जाए?

इनमें से प्रत्येक मांग पर आयोग ने सुस्पष्ट रूप से विचार किया और यद्यपि मिशनरियों को एक दो मामलों में विजय भी मिली तथापि कुल मिलाकर वे पराजित हो गए।

भारतीय शिक्षा में मिशनरी उद्यम की स्थिति: उपर्युक्त तीन मामलों में से पहले मामले में आयोग की राय मिशनरियों के खिलाफ थी। इस समस्या पर सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद आयोग इस परिणाम पर पहुंचा कि भारतीय शिक्षा में मिशनरी शैक्षिक उद्यम का केवल गौण स्थान ही हो सकता है तथा सरकार को इस क्षेत्र से मिशनरी प्रबंधों के हित में हटना नहीं चाहिए। उसने कहा:

इस क्षेत्र से हट जाने के बारे में जो साक्ष्य प्राप्त हए हैं, उन सब में इस प्रश्न को प्रमुख महत्व दिया गया है कि यदि सरकार उच्च शिक्षा के साधनों की सीधी व्यवस्था करना छोड दे तो उच्च शिक्षा किस हद तक मिशनरी निकायों के हाथ में पहुंच जाएगी। विभाग के प्रमुख अधिकारियों तथा अनेक मूल निवासी सज्जनों ने इस क्षेत्र से हट जाने के विरुद्ध इस आधार पर जोरदार यूक्ति प्रस्तूत की थी कि इससे उच्च शिक्षा व्यावहारिक रूप में मिशनरियों को ही सौंप दी जाएगी। सरकार के इस क्षेत्र से हट जाने की नीति का सामान्यत: पक्ष समर्थन करते हए, नियमत: स्वयं मिशनरी गवाहों ने बिल्कूल विपरीत मत प्रकट किया था और कहा था कि न तो उन्हें इसकी आशा है और न वे चाहते हैं कि शिक्षा के बारे में विभाग द्वारा छोड़ दी गई कोई शक्ति उनके हाथों में पहुंचे। भारत जैसे विविध आवश्यकताओं वाले देश में, हमें ऐसी किसी भी कार्रवाई को रोकना चाहिए जिससे उच्च शिक्षा किसी एक ही अभिकरण के अत्यधिक प्रभाव में पहुंच सकती हो। विशेषकर उसे ऐसे किसी अभिकरण के हाथों में नहीं पहुंचने देना चाहिए जो चाहे कितना ही परोप-कारी और उत्साही क्यों न हो, परंत् जनसमुदाय के प्रति सभी मामलों में सहानुभूति रखता हो : इसके साथ ही हम यह उचित समझते हैं कि अपनी इस एकमत राय को अभिलिखित कर दें कि प्रत्यक्ष विभागीय अभिकरण को मिशनरी निकायों के हित में हटा नहीं लिया जाना चाहिए तथा ऊंचे दर्जे की विभागीय संस्थाएं मिशनरी प्रबंध को हस्तांतरित नहीं की जानी चाहिए 'जिस दुष्टिकोण से हम इस समय विचार कर रहे हैं, मिशनरी संस्थाओं की स्थिति विभाग द्वारा प्रबंधित और अपने लिए स्वयं जनता द्वारा प्रबंधित संस्थाओं के बीच की है। एक ओर वे गैर सरकारी प्रयत्न का परिणाम हैं परंतु दूसरी ओर वे आकारत: स्थानीय नहीं हैं।

उन्हें प्रोत्साहन दिए जाने से आत्मनिर्भरता और लोकोपयोगिता के प्रयोजनार्थ संयोजन की सीधे तौर पर वे आदतें भी नहीं पड़ेंगी जिनका विकास करना सहायता अनुदान पद्धति के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है। मिशनरी संस्थाओं से एक बड़ा प्रयोजन यह सिद्ध हो सकता है कि उनके द्वारा यह दिखा दिया जाए कि गैर सरकारी प्रयत्नों से कितना कार्य हो सकता है और इस प्रकार अन्य अभिकरणों को मैदान में आने के लिए प्रेरित किया जाए। उन्हें सरकार के सामान्य निरीक्षण में रहते हुए अपने स्वतंत्र मार्ग पर चलने देना चाहिए। जब तक शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार के अभिकरण के लिए गुंजाइश और आवश्यकता है तब तक उन्हें वह परा प्रोत्साहन और सहायता मिलनी चाहिए जिसे पाने का गैर सरकारी प्रयत्न न्यायसंगत रूप से दावा कर सकता है। परंतु यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इसके द्वारा हम जिस गैर सरकारी प्रयत्न को मुख्य रूप से प्रोत्साहन देना चाहते हैं वह स्वयं जनता का प्रयत्न है। यदि शैक्षिक साधनों को शैक्षिक आवश्यकताओं से सह-विस्तृत होना है तो भारत के मूल निवासियों को सबसे महत्वपूर्ण अभिकरण बनाना चाहिए। ऐसी पद्धति में सभी प्रकार से भारी विविधता वांछनीय हो, अन्य अभिकरणों को कुछ समय के लिए प्रमुख स्थान मिल सकता है ग्रीर कोई न कोई स्थान सदैव मिल सकता है। परंत् जब तक उच्च शिक्षा का उपबंध और प्रबंध इस देश की जनता ही स्वयं अपने लिए नहीं करेगी तब तक इस देश की उच्च शिक्षा का न तो स्थाई अथवा सुरक्षित आधार ही मिलेगा और न इसका इतना व्यापक विस्तार ही हो पाएगा जितनी इसे आवश्यकता है।1

यह सिफारिश बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें सदा के लिए यह निर्णय कर दिया गया कि भारत की राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित में मिशनरी क्रियाकलापों को केवल गौण स्थान ही मिल सकता है। जैसा कि स्वर्गीय एम० आर० परांजपे ने लिखा है, इसी सिफारिश के कारण मिशनरियों को 'शेर का मुंह चूमना पड़ा।' 1854 के आज्ञापत्र से मिशनरियों को यह विश्वास हो गया था कि अंततः वे ही देश की समस्त आवश्यकताओं को परा करेंगे। उपर्युक्त सिफारिश से उनकी इन आशाओं पर पूरी तरह पानी फिर गया क्योंकि भारतीय शिक्षा आयोग की यह सिफारिश शीघ्र ही इस विषय में सरकारी नीति बन गई।

धार्मिक शिक्षा: सीधे शैक्षिक उद्यम से सरकार के हटने की इस समस्या से संबद्ध एक अन्य समस्या धार्मिक शिक्षा की थी जिसका मिशनरियों से गहरा संबंध था। मिशनरियों ने हमेशा ही यह विचार व्यक्त किया था कि (क) कंपनी की धार्मिक तटस्थता की नीति भारतीय जनता के आध्यात्मिक हित में नहीं है; (ख) चूंकि सारी सच्ची शिक्षा धर्म से अविच्छेद्य है अत: कंपनी द्वारा संचालित प्रत्येक विद्यालय एवं महाविद्यालय को धर्म की शिक्षा अवश्य देनी चाहिए (इस शिक्षा से उनका तात्पर्य ईसाई धर्म की शिक्षा से

था); और (ग) सरकारी अनुदान प्राप्त करने के बावजूद, मिशनरियों को अपने विद्यालयों में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से बाइबिल पढ़ाने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए।

जहां तक धार्मिक शिक्षा की सामान्य मांग का संबंध था, शीघ्र ही अन्य दल भी मिशनरियों के साथ शामिल हो गए। हिंदुओं के नए संप्रदाय ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज के लोगों ने मांग की कि विद्यालयों में उनके अपने विश्वास के अनुरूप धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए। कट्टरपंथी हिंदुओं ने, जिन्होंने पूर्ववर्ती काल में नई शिक्षा के विरुद्ध संघर्ष किया था, अब संघर्ष करना छोड़ दिया और यह मांग करने लगे कि नए विद्यालयों में सभी हिंदू बालकों को पाश्चात्य विज्ञान तथा साहित्य के साथ हिंदू धर्म के सिद्धांतों की शिक्षा भी दी जाए। मुसलमान, जो अब आधुनिक शिक्षा पद्धति के अंतर्गत आ रहे थे, आग्रह करने लगे कि मुसलमान बालकों को कुरान अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाए। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 1882 तक जनता के अनेक वर्गों में यह सामान्य भावना उत्पन्न हो गई थी कि धर्म निरपेक्ष शिक्षा की नीति को छोड कर प्रत्येक बालक को उसके अपने धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा दी जानी चाहिए। स्पष्ट है कि ऐसी प्रस्थापना को आयोग प्रशासनिक एवं वित्तीय कारणों से स्वीकार नहीं कर सकता था। अत: आयोग ने समस्त सरकारी विद्यालयों को धर्म निरपेक्ष बनाए रखने की आवश्यकता को दोहराया । इसलिए मिशनरियों की यह मांग पूरी नहीं हुई कि सभी सरकारी विद्या-लयों में इसाई धर्म की शिक्षा दी जानी चाहिए। यहां तक कि इस संशोधित मांग को भी अस्त्रीकार कर दिया गया कि प्रत्येक बालक को अपने धर्म के बारे में शिक्षा दी जानी चाहिए। सरकारी विद्यालयों में धर्म निरपेक्ष शिक्षा की नीति की फिर पृष्टि कर दी गई और तमाम हमलों के बावजुद यह नीति अब भी जारी है।

इस निर्णय का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सहायता प्राप्त विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा देने के प्रश्न पर चर्चा की गई। इस संबंध में एक काम यह हो सकता था कि अमरीकी नजीर को अपनाया जाता और यह घोषणा कर दी जाती कि जो संस्था धार्मिक शिक्षा देती हो उसे सरकार सहायता न दे। परंतु उस समय अमरीका के प्रति लोगों की दिलचस्पी नहीं थी और हमारे प्रशासक अंग्रेजी नजीरों को ही सामने रख कर कार्य करते थे। अतः यह निर्णय किया गया कि (क) गैर सरकारी विद्यालय जिस प्रकार की भी शिक्षा देना पसंद करें उन्हें उसी प्रकार की शिक्षा देने की अनुमति दी जाए; (ख) सरकार धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा करे; और (ग) सरकार विद्यालयों को उनमें दी जाने वाली धर्म निरपेक्ष शिक्षा के आधार पर सहायता अनुदान दे। इस विचार का 1854 के आज्ञापत्र में पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका था और आयोग ने मिशनरी राय का समादर करते हुए; इसे लगभग समान दृढ़ता के साथ दोहरा दिया।

इस निर्णय से मिशनरी संतुष्ट हो गए। परंतु सामान्य रूप से भारतीय जनमत मिशनरी उद्यम को दी गई इस छूट का विरोधी था। उसका कहना था कि यद्यपि इंग्लैंड में सहायता प्राप्त विद्यालयों को अपनी पसंद की धार्मिक शिक्षा देने की स्वतंत्रता दी गई है तथापि वहां माता पिता के लिए अंतःकरण खंड के अंतर्गत एक बचाव भी है। यदि वे चाहें तो इस खंड के अंतर्गत अपने बालक को ऐसी धार्मिक शिक्षा से हटा भी सकते हैं जिस पर उन्हें आपित्त हो। अतः भारतीय शिक्षा आयोग के सामने यह विचार बहुत दृढ़तापूर्वक रखा गया कि भारत में भी एक ऐसा ही अतः करण खंड स्वीकार किया जाना चाहिए। तो भी, इस दलील को केवल एक विशेष स्थिति को छोड़कर अन्य स्थितियों के लिए स्वीकार नहीं किया गया और वह विशेष स्थिति यह थी कि इलाके में अपने ढंग का केवल एक ही सहायता प्राप्त विद्यालय हो। आयोग ने सिफारिश की थी कि ऐसी स्थिति होने पर 'अब तक की भांति सहायता अनुदान पद्धित का आधार 1854 के आज्ञापत्र के अनुसार ही यह नीति होनी चाहिए कि सहायता प्राप्त करने वाली संस्था में जो धार्मिक शिक्षा दी जाती हो उसमें बिल्कुल हस्तक्षेप न किया जाए। परंतु यदि किसी शहर या गांव में किसी विशेष श्रेगी की केवल एक ही संस्था हो और उसमें यदि शिक्षा सामान्य पाठ्यक्रम का भाग हो तो माता पिता के लिए यह छूट होगी कि वे अपने बालक को धार्मिक शिक्षा के लिए उपस्थित न होने दें। ऐसी दशा में उनके बालक को संस्था में मिलने वाले किसी भी लाभ से वंचित नहीं किया जाएगा।'

भारतीय शिक्षा आयोग ने ये जांच की थी। यह अंतिम वड़ा अवसर था जविक धार्मिक शिक्षा संबंधी सरकारी नीति पर भारत में चर्चा हुई थी। 1813 में कंपनी ने भारतीय जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार किया था और तब से ही धार्मिक शिक्षा के विषय पर प्रायः लगातार चर्चा की जाती रही थी परंतु किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुंचा जा सका था। अतः इस विषय में एक निश्चित और अंतिम नीति निर्धारित करने का श्रेय भारतीय शिक्षा आयोग को ही है। संभवतः उसके विनिर्णय बहुत सुखद नहीं थे। उन्होंने जनता के किसी भी वर्ग को पूरी तरह संतुष्ट नहीं किया। परंतु भारतीय परिस्थितियों में इस समस्या का यह एकमात्र व्यावहारिक हल था अतः इन विनिर्णयों को स्वीकार करना ही पड़ा।

मिशतरी शंक्षिक उद्यम (1882-1902): कुल मिलाकर, भारतीय शिक्षा आयोग के निर्णयों ने मिशनरियों को यह विश्वास दिला दिया कि डफ की आकामक नीति में संशोधन करने की आवश्यकता है। उन्होंने मिशनरियों को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वे इस प्रशन पर विचार करें, सारी स्थित का जायजा लें और भविष्य में अपने शंक्षिक उद्यम के मार्गदर्शन के लिए एक नई शिक्षा नीति तैयार करें। यह कार्य अगले बीस वर्षों में किया गया और 1902 तक मिशनरी यह नीति अपना चुके थे कि अपने शंक्षिक क्रियाकलाहों को सीमित करके केवल कुछ शिक्षा संस्थाओं को ही अधिक से अधिक कार्यकुशलता के साथ चलाया जाए। इसके साथ ही उन्होंने भारत में संपूर्ण शिक्षा क्षेत्र का नियंत्रण करने के अपने पुराने स्वप्नों को छोड़ दिया।

यह निर्णय कई कारणों से किया गया था। पहली बात तो यह है कि 1854 के आज्ञा-पत्र के समय भारतीय शिक्षा में मिशनरी उद्यम का जो प्रमुख स्थान था उसे भारतीय भारतीय शिक्षा का इतिहास

शिक्षा आयोग की सिफारिशों ने अब काफी गौण बना दिया था। दूसरी बात यह है कि जब मिशनिरयों ने देखा कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से उस हद तक धर्मांतरण नहीं हुआ जितनी वे आशा करते थे तो उन्हें निराशा हुई। तीसरी बात यह है कि स्वयं मिशनिरयों के बीच एक नया दल उत्पन्न हो गया था जो यह मानता था कि गैर ईसाई बालकों के लिए विद्यालय चलाना मिशनरी उद्यम का अंग नहीं है। एक मिशनरी ने इस दल के विचारों को निम्न प्रकार से रखा है:

अब मिशनरी दृष्टिकोण से क्या यह ज्यादा अच्छा है कि मिशन विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा को देशी ईसाई समुदाय की आवश्यकताओं तक ही सीमित कर दिया जाए अथवा यह ज्यादा अच्छा होगा कि भारी सरकारी अनदानों का एक ऐसे उत्तोलक के रूप में उपयोग किया जाए जिसके द्वारा विद्यालयों का इस प्रकार विकास किया जा सके जिससे मिशनरियों का उन विद्यालयों में आने वाले विद्या-थियों पर नियंत्रणकारी प्रभाव पड़ सके ? घ्यान दीजिए। विवादास्पद विषय यह नहीं है कि मिशनों को देशी ईसाई समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त संख्या में विद्यालय चलाने चाहिए अथवा नहीं। यह एक ऐसा बिषय है जिसके बारे में कभी भी कोई गंभीर मतभेद नहीं रहा। वस्तुतः प्रश्न यह है कि क्या मिशनों को भारत के गैर ईसाई युवकों के लिए प्रारंभिक और माध्यमिक विद्यालय स्थापित करने चाहिए ताकि भारत की अवरधर्मी जनता के बीच ईसाई ज्ञान का प्रसार किया जा सके। अन्य किसी प्रकार के मिशन कार्य के बारे में इतना जोरदार विवाद नहीं छिड़ा है जितना अवरधर्मी बालकों के विद्यालयों के बारे में छिडा हुआ है। 1872 में इलाहाबाद, 1882 में कलकत्ता और 1892 में बंबई में हए दसवर्षीय मिशनरी सम्मेलनों और 1879 में बंगलौर में हुए दक्षिण भारत सम्मेलन में इस विषय पर निश्चित रूप से सजीव और प्राय: विस्तृत चर्चा हुई थी । यह बात विश्लेष महत्वपूर्ण है कि अमरीकी बोर्ड के महान मिशनरी सचिव रूफस एंडरसन और उनकी संपूर्ण संस्था ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया था कि अवरधर्मी बालकों के विद्यालयों की विस्तृत प्रणाली को कायम न रखा जाए। इस प्रयत्न में इंगलिश बेप्टिस्ट मिशनरी सोसायटी ने उनका साथ दिया। इन विरोध करने वालों ने क्या-क्या युक्तियां दी थीं ? 'विद्यालय अध्यापन मिशनरी कार्य नहीं है।' 'स्वदेशी गिरजाघरों का यह कर्तव्य नहीं है कि लोगी के बीच अपने खर्च पर शिक्षा का प्रसार करें, चाहे ये कोई भी लोग क्यों न हों। यह कार्य केवल वहीं किया जाना चाहिए, जहां इसके द्वारा उनका तात्कालिक उद्देश्य अर्थात शुभ संदेश का प्रचार करने का उद्देश्य पूरा होता हो।' मिशनों से अंग्रेजी साहित्य, इतिहास, गणित अथवा प्राकृतिक विज्ञान पढ़ाने की न तो मांग की गई है और न उन्हें अधिदेश ही दिया गया है। समस्त मिशनरी श्रम का मल तत्व यह है कि अवरधर्मी को 'श्रभ संदेश' की शिक्षा दी जाए और देशी गिरजाघरों में पादिरयों के तत्वाधान में कार्य हो। अतः उन तमाम चीजों को शुद्धतः असंबद्ध सामग्री माना जाना चाहिए जिनसे यह उद्देश्य सीधे तौर पर पूरा नहीं होता है। सरकार और मिशनों का कोई भी गठबंधन

मिशनों के लिए केवल अहितकारी ही हो सकता है। अधिक शक्तिशाली भागीदार, सरकार इस गठबंधन का उपयोग केवल अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही करेगी। इनमें से कुछ उद्देश्य तो मिशनों के लक्ष्यों से असंबद्ध हैं और कुछ निश्चय ही इन लक्ष्यों के प्रतिकृल हैं। चूंकि अब अवरधर्मी निरीक्षक मिशन विद्यालयों का निरीक्षण करते हैं, मिशनों के दिष्टिकोण से पूर्णतया असंगत पाठ्य पुस्तकों का समावेश हो गया है और अध्यापक वर्ग, विद्यालय भवनों, विद्यालय तालिका, विद्यालय के समय इत्यादि के संबंध में विनिर्मय बना दिए गए हैं अत: इन सबके परिणामस्वरूप मिशन अब अपने विरोधियों की दया अथवा सनक पर निर्भर हो गए हैं। इसके अतिरिक्त यह सारी चीज एक पेच और एक अंतहीन सर्पिल के समान है। किसी समय तो यह आदेश जारी कर दिया जाएगा कि तमाम धार्मिक शिक्षा वैकल्पिक विषय बना दी गई है और यह शिक्षा विद्यालय के सामान्य समय से अतिरिक्त समय में दी जाएगी (उत्तर पश्चिमी प्रांत में शिक्षा का आज्ञापत्न, 1885, जिसे मिशनरी क्षेत्रों का दबाव पड़ने पर वापस ले लिया गया था) । फिर किसी अन्य समय यह आदेश दिया जाएगा कि जिन विषयों का भी सरकारी निरीक्षण होना है उन सबको प्रत्येक दिन पहले पांच घंटों में ही पढ़ाया जाना चाहिए और यदि धार्मिक शिक्षा दी जानी है तो वह छठे घंटे में ही दी जाए जो ऐसे समय होता है जबिक बालक की पढ़ाई की ओर ध्यान देने की सारी शक्ति समाप्त हो चुकी होती है (ट्रावन्कोर, 1902)। जिस शिक्षा पद्धति में सारे प्रयत्न परीक्षा के लिए अभ्यास करने और विद्यार्थियों को तोते की तरह अंग्रेजी बोलना सिखाने के लिए किए जाते हों, उससे मिशनरियों का यह आशा करना कि मिशनरी ईसाई ज्ञान की शिक्षा देकर कोई महत्वपूर्ण कार्य कर संकेंगे एक जाल और भ्रम में फंसना होगा। ईसाई ज्ञान एक ऐसा विषय है जिसका परीक्षा में कोई उपयोग नहीं है। विद्यार्थी ईसाई धर्म की शिक्षा के घंटे को एक विपदा मानते हए भी प्राय: अनिच्छापूर्वक इसलिए सहन कर लेते हैं कि उन्हें मिशन विद्यालय में पढने से सरकारी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने का ज्यादा अच्छा अवसर मिल जाता है अथवा मिशन विद्यालय में प्रतिद्वंद्वी सरकारी विद्यालय की अपेक्षा शुल्क कम लिया जाता है। परंतु मिशनों के लिए उचित नहीं है कि वे परीक्षा के लिए दी जाने वाली धर्म निरपेक्ष विषयों की अच्छी शिक्षा का उपयोग एक ऐसे प्रलोभन के रूप में करें जिसके द्वारा देश के ऐसे युवक वर्ग को धार्मिक शिक्षा की ओर आकर्षित किया जा सके जो ज्ञान का भुखा है। जहां तक बपतिस्मा की संख्या का संबंध है, इस प्रयोजन के लिए जितने साधनों और शक्ति का उपयोग किया गया'है, उसकी त्लना में इस कार्य में बहुत कम सफलता मिली है। कैई मिशन विद्यालयों में तो पूरे एक दशक में एक भी बपितस्मा नहीं हुआ है। एक बात यह भी है कि यह अत्यूच्च प्रशिक्षण प्राप्त मिशनरियों का संभ्रांत वर्ग ही ऐसा वर्ग है जिसे गैक्षिक मिशन कार्य में लगाया जा सकता है। परंतु उसने प्रत्यक्ष मिशनरी कार्य कितना किया है ? वास्तविकता यह है कि इनमें जो सबसे अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं, वे तो घुटन और कम हवा तथा कम रोशनी वाले कक्षा भवनों तक ही

विक्टोरिया काल: एक

सीमित रहते हैं। वे विद्यालय रूपी यांत्रिक सान के नीचे आकर बौद्धिक तथा आध्यात्मिक रूप से दुर्बल होते जा रहे हैं जबिक इन विद्यालयों से बाहर घनी आबादी वाले भू भागों में लाखों व्यक्ति महान शुभ संदेश को सुने बिना ही मौत के मुंह में चले जा रहे हैं। 1

निस्संदेह इसके विपक्ष में भी बहुत सी जोरदार युक्तियां प्रस्तुत की गई थीं। यह स्वीकार किया गया कि अंग्रेजी विद्यालयों और महाविद्यालयों के द्वारा किए जाने वाले धर्म परिवर्तनों की संख्या बहुत ही कम थी। परंतु उसके साथ ही यह बात भी दृढ़ता-पूर्वक कही गई कि यद्यपि इन धर्म परिवर्तित व्यक्तियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है तथापि ये ही व्यक्ति 'भारतीय मिशनों की सफलता और आनंद, भारतीय ईसाई संप्रदाय के सबसे प्रतिभाशाली प्रतिनिधि और स्तंभ, सतत रूप से बढ़ते हुए भारतीय ईसाई समुदाय के प्रमुख मनस्वी समाज के निम्न वर्ग के लोगों से गठित की गई मुख्य सेना के पदाधिकारी हैं।' इसके अतिरिक्त निम्नलिखित बातें भी कही गई : भारतीय शिक्षा जगत में मिशनिरयों का एक महत्वपूर्ण स्थान है और उन्हें उस स्थान को बनाए रखना चाहिए; ईसा के उपदेशों को मुख्यतः शिक्षित भारतीयों के बीच प्रचार हो रहा है, भले ही उनमें केवल कुछ ही लोग ईसाई धर्म के प्रत्यक्ष अनुगामी बनते हैं; मिशनिरयों का यह कर्तव्य है कि वे भारतीयों की ज्ञान की बढ़ती हुई मांग को पूरा करें; मिशन विद्यालय ही वे एकमात्न साधन थे जिनके द्वारा समाज के उच्च एवं प्रभावशाली वर्गों को शुभ संदेश का उपदेश दिया जा सकता था।

इन तमाम चर्चाओं के सार रूप में यह निष्कर्ष निकला कि मिश्चनिरयों को केवल कुछ कार्यकुशल विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का संचालन करके ही संतुष्ट हो जाना चाहिए और जहां तक संभव हो सके अपने शैक्षिक क्रियाकलापों का बड़े पैमाने पर विस्तार नहीं करना चाहिए। इस नीति को 1882 के तुरंत बाद ही अपना लिया गया और तब से मिश्चनिरयों ने ऐसे क्षेत्रों में अपने प्रयत्न आरंभ कर दिए जिनकी ओर भारतीय कार्यकर्ताओं ने अभी तक ध्यान नहीं दिया था जैसे आदिवासियों, पहाड़ी जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों का सुधार आदि।

सीधे शिक्षा विभाग द्वारा संचालित संस्थाएं (1854-82): मिशनरियों के अपने शैक्षिक कियाकलापों का बड़े पैमाने पर विस्तार न करने के इस निर्णय का जो प्रभाव पड़ा था वैसा ही प्रभाव सरकार की इस नीति का भी पड़ा कि देश की शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुख्यत: गैर सरकारी उद्यम पर ही निर्भर किया जाए। इस नीति का अनिवार्य रूप से यह अर्थ था कि उन शिक्षा संस्थाओं की संख्या में वृद्धि नहीं की जाएगी जो शिक्षा विभाग के सीधे नियंत्रण में थीं। जैसा अध्याय चार में बताया जा चुका है, यह नीति 1854 के आज्ञापत्र में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दी गई थी। आज्ञापत्र में उसे

समय ही यह दिष्टिगत कर लिया गया था कि 'एक समय ऐसा आएगा जब सहायता अनु-दान पद्धति का क्रमिक विकास होने पर प्रत्येक ऐसी सामान्य शिक्षा पद्धति को समाप्त किया जा सकेगा जिसकी व्यवस्था पुरी तरह सरकार द्वारा की गई हो और बहुत सी वर्तमान सरकारी संस्थाओं, विशेषकर उच्च श्रेणी की संस्थाओं को या तो सूरक्षापूर्वक बंद किया जा सकेगा या उन स्थानीय निकायों के प्रवंधों को हस्तांतरित किया जा सकेगा जो राज्य के नियंत्रण में होंगे तथा जिन्हें राज्य सहायता मिलती होगी' (अनुच्छेद 64)। जैसा पहले बताया जा चुका है, इस नीति का मुख्य उद्देश्य मिशनरी उद्यम को संरक्षण देना था। संक्षेप में हम इस नीति को राज्य विनिवर्तन सिद्धांत कह सकते हैं। वास्तव में मिशनरी उद्यम को संरक्षण देने का विचार एक ऐसा विचार था जिसके बारे में, विशेषकर 1857 की घटनाओं के बाद, यह आपत्ति की जाने लगी थी कि यह बुद्धिमत्तापूर्ण विचार नहीं है। अत: 1858 और 1882 के बीच, शिक्षा विभाग के कर्मचारियों ने 1854 के आज्ञापत्र के निदेशों का पालन नहीं किया और सरकारी शिक्षा संस्थाओं की संख्या में तेजी से वद्धि की। ऐसा निम्नलिखित कारणों से हुआ: (क) मिशनरी उद्यम को सरकारी प्रोत्साहन दिए जाने के फलस्व रूप होने वाली संभावित राजनीतिक प्रतिक्रियाओं की आशंका, (ख) गैर सरकारी भारतीय उद्यम का काफी बड़े पैमाने पर मौज्द न होना, और (ग) कार्यकुशलता के आधार पर विभाग के कर्मचारियों की यह इच्छा कि विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का संचालन सीधे उनके अधीक्षण में हो।

विशेषकर मिशनरियों को यह नीति पसंद नहीं थी। उन्होंने अनुरोध किया कि सरकार के लिए राज्य विनिवर्तन सिद्धांत ही एकमात्र सही नीति है क्योंकि जब तक सरकार अपनी संस्थाओं को कायम रखे हुए है, वह कभी भी गैर सरकारी संस्थाओं को पूर्ण प्रोत्साहन देने का निष्पक्ष रवैया नहीं अपना सकती है। अतः उन्होंने भारत और इंग्लैंड दोनों में ही एक जिहाद गुरू कर दिया। उनकी मांग थी कि 1854 के आज्ञापत्र में दिए गए विवरणों के आधार पर सरकारी महाविद्यालयों एवं विद्यालयों को या तो बंद कर दिया जाए या गैर सरकारी उद्यम को हस्तांतरित कर दिया जाए। अतः भारतीय शिक्षा आयोग से यह निर्णय करने के लिए कहा गया कि क्या (क) राज्य विनिवर्तन सिद्धांत शैक्षिक रूप से उचित है, और (ख) यदि हां तो इसे उचित रीति से किस प्रकार कार्योन्वित किया जा सकता है।

इनमें से पहला विषय अत्यंत विवादपूर्ण रहा और आयोग के समक्ष जो साक्ष्य पेश किया गया उसमें राज्य विनिवर्तन के पक्ष और विपक्ष दोनों ही में जोरदार युक्तियां प्रस्तुत की गई थीं। परंतु इस समस्या पर बहुत सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद आयोग ने यह सिफारिश की कि 1854 के आज्ञापत्र द्वारा प्रतिपादित राज्य विनिवर्तन सिद्धांत आंतरिक रू। से ठी हि है और भारतीय परिस्थिति के लिए विशेष रूप से उपयुक्त

^{1.} रिचर: पूर्वोक्त कृति, ६० 313-51।

^{2.} वही, पृ० 315।

 ¹⁸⁵⁵ में 1,406 सरकारी शिक्षा संस्थाएं थीं (जिनमें 62,731 छात्र थे); 1881-82 में इनकी संख्या 15,462 हो गई (जिनमें 7,37,176 छात्र थे)।

है। ऐसा निर्णय करने के कई गंभीर कारण थे। पहला कारण यह था कि सरकार ने आयोग को यह बात स्पष्ट रूप से बता दी थी कि चूंकि उसके पास निधियां बहुत सीमित हैं अतः यदि संतोषजनक प्रगति करनी है तो 'उपलब्ध सभी गैर सरकारी अभिकरणों से यह कहा जाना चाहिए कि वे लोक शिक्षा की प्रत्येक शाखा से संबंधित लोक निधि की सहायता करें और उस पर पड़ने वाले भार को हल्का करें। अत: 'यदि देश के शैक्षिक साधनों को शैक्षिक आवश्यकताओं से सहविस्तृत किया जाना था तो' उसके लिए सहा-यता अनुदान पद्धति का होना परम आवश्यक था। दूसरी बात यह है कि धन की कमी के कारण यह आवश्यक हो गया था कि एक एक पाई का अच्छी तरह उपयोग किया जाए । अतः यह अनुरोध किया गया कि यदि सरकार अपनी संस्थाओं को (जो अवश्यमेव खर्चीली थीं)हस्तांतरित करके गैर सरकारी निकायों को सौंप दे तो इससे अधिक उसे यथेष्ट बचत हो सकती है तथा वह और अधिक शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने के लिए इस बची हई धनराशि का लाभप्रद उपयोग कर सकती है। इन तथा अन्य कारणों से आयोग ने यह सिफारिश की कि सरकार को न केवल अपनी संस्थाओं का प्रसार कम कर देना चाहिए वरन जैसे ही कोई उपयुक्त सार्वजनिक अथवा निजी अभिकरण कार्य चलाने के लिए उपलब्ध हो जाए, सरकार को प्रत्यक्ष उद्यम से भी हट जाना चाहिए । इस मूल सिफारिश से ये दो प्रश्न और उठ खड़े हुए : सरकार किसके पक्ष में हटे और इस प्रकार के विनिवर्तन के लिए क्या शर्तें होनी चाहिए ? जैसा पहले बताया जा चुका है, आयोग ने मिशनरियों के पक्ष में राज्य विनिवर्तन का समर्थन नहीं किया था। परंत् उसने सिफारिश की थी कि सरकार (क) प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थानीय बोर्डों और नगरपालिकाओं के पक्ष में पूर्ण विनिवर्तन करे और (ख) माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में गैर सरकारी भारतीय उद्यम के पक्ष में ऋमिक विनिवर्तन करे परंतु यह सावधानी बरते कि ऐसे कदम से संस्था का भविष्य खतरे में न पड़े, उस संस्था में दी जाने वाली शिक्षा का स्तर न गिरे अथवा संबंधित क्षेत्र में पहले से ही प्रदत्त शैक्षिक अवसरों में कमी न हो । सरकार ने इनमें से पहली सिफारिश को पूरी तरह स्वीकार कर लिया और लगभग सभी प्राथमिक विद्यालयों को नगरपालिका और स्थानीय बोर्डों के नियंत्रण में दे दिया गया । परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस निर्णय के फलस्वरूप जो विनिवर्तन हुआ वह वास्तव में किसी गैर सरकारी अभिकरण के पक्ष में उस प्रकार का विनिवर्तन नहीं है जिस प्रकार का विनिवर्तन 1854 के आज्ञापत्र में दृष्टिगत किया गया था। स्थानीय निकाय सरकार का ही एक अंग होते हैं और प्राथमिक विद्यालयों को उनके नियंत्रण में दे देना वास्तव में एक प्रशासनिक विकेंद्रीकरण के बराबर था, सरकार द्वारा किसी गैर सरकारी अभि-करण को हस्तांतरित कर देने के बराबर नहीं। आयोग की दूसरी सिफारिश को स्वीकार नहीं किया गया और 1882 के बाद भी माध्यमिक तथा महाविद्यालयी शिक्षा संबंधी सीधे गैक्षिक उद्यम को विभाग ने नहीं छोड़ा। ऐसा कुछ तो इस कारण से हुआ कि विभाग अपनी संस्थाओं का स्वयं संचालन करना चाहता था और कुछ इस अनावश्यक डर के कारण हुआ कि यदि इन संस्थाओं को गैर सरकारी भारतीय उद्यम को हस्तांतरित कर दिया जाएगा तो इन संस्थाओं की कार्यकुशलता कम हो जाएगी। अतः यह कहा जा

सकता है कि 1854 और 1902 के बीच सीधे शैक्षिक उद्यम से राज्य के विनिवर्तन का सिद्धांत कागजी तौर पर तो सरकार की राजकीय नीति बना रहा परंतु व्यवहारतः यह लगभग एक मृत कानून ही रहा। भारतीय शिक्षा पर इस सिद्धांत के सामान्यतः जो प्रभाव पड़े उन पर इस अध्याय के अंतिम अनुच्छेद में चर्चा की जाएगी। यहां पर केवल इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि सीधे विभाग द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं की संख्या में तेजी से जो वृद्धि हो रही थी उसे रोकने में इस सिद्धांत को प्रभावी रूप से सफलता मिली। इस काल में जो सामान्य अर्थसंकट चल रहा था लसके कारण एक प्रकार से यह परिणाम निकलना अनिवार्य ही था। अतः राज्य विनिवर्तन सिद्धांत ने केवल यह कार्य किया कि अपने शैक्षिक कियाकलापों का विस्तार करने के संबंध में सरकार की जो असमर्थता रही थी उस असमर्थता को एक प्रशासनिक नीति रूपी आवरण में लपेट दिया। इस नीति के अनुसार सीधे राजकीय उद्यम को इसलिए जानबूझ कर नियंत्रित कर दिया जिससे गैर सरकारी उद्यम के लिए 'विस्तार करने की गंजाइश' पैदा हो सके।

गैर सरकारी भारतीय उद्यम (1854-1902): पूर्वगामी चर्चा से यह पता चल गया होगा कि 1854 और 1902 के बीच मिशनरियों और सरकार दोनों ने ही यह निर्णय किया था कि वे अपनी शिक्षा संस्थाओं का बड़े पैमाने पर विस्तार करने का प्रयास नहीं करेंगे। शिक्षा में मिशनरी एवं सरकारी उद्यम पर लगाए गए इस प्रतिबंध ने गैर सरकारी भारतीय उद्यम के लिए शैक्षिक कियाकलाप के संपूर्ण क्षेत्र का द्वार खोल दिया और जनता की तेजी से बढ़ती हुई शैक्षिक मांगों को पूरा करने के लिए उसे ही लगभग पूर्णतया उत्तरदाई बना दिया। सरकार को यह श्रेय प्राप्त है कि विचाराधीन काल में उसने भारतीय उद्यम को विकास करने की पूर्ण स्वतंत्रता और उदार सहायता प्रदान की। शिक्षित भारतीयों को भी यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इस अवसर पर अपनी क्षमता

| संस्थाएं | भारतीय प्रबंधकों द्वारा संचालित | भारतीय प्रबंधकों से इतर व्यक्तियों द्वारा संचालित |
|---|------------------------------------|---|
| कला विद्यालय माध्यमिक विद्यालय प्राथित क विद्यालय वृत्तिक महाविद्यालय एवं विद्यालय | 5 1,341 54,662 10 | 18 757 1,842 18 |
| | 66,018 | 2,635 |

टिप्पणी : ब्रिटिश भारत अर कुछ भारतीय रियासतों (बर्मा को छोड़कर) के आंकडे।

का प्रदर्शन किया, यथेष्ट कुर्बानी करके अपने भाइयों को शिक्षा देने का कार्य हाथ में लिया और न केवल जनता की तमाम बढ़ती हुई शैक्षिक मांगों को पूरा किया वरन अपने जीवन और अध्यापन के द्वारा शिक्षा प्रेम को और अधिक बढ़ाने में भी सहायता की।

1854 में भारतीयों द्वारा संचालित आधुनिक शिक्षा संस्थाओं की संख्या इतनी कम थी कि वास्तव में गैर सरकारी उद्यम का अर्थ मिशानरी उद्यम ही था। परंतु 1882 में ही स्थित काफी बदल गई और भारतीयों ने काफी महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया जैसा कि 1881-82 के (पृष्ठ 153 पर दिए गए) आंकड़ों से विदित होता है:

इससे यह ज्ञात होता है कि 1882 में भी मिशनरी लोग भारतीय उद्यम से केवल उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़े हुए थे। परंतु आगामी दो दशकों में भारतीय गैर सर-सरकारी उद्यम इतनी तेजी से बढ़ा कि 1901-2 में मिशनरी प्रबंध के अंतर्गत 37 महाविद्यालयों के मुकाबले में भारतीय प्रबंध में 47 महाविद्यालय थे और अधिकांश गैर सरकारी माध्यमिक विद्यालय तो स्वयं भारतीयों के ही नियंत्रण में आ गए थे।

जिन प्रयोजनों से भारतीय गैर सरकारी उद्यम का यह विस्तार किया गया वे मुख्यत: देशभिक्तपूर्ण थे। लगभग 1880 तक भारत में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक मुधारों की एक लहर आ चुकी थी और भारतीय राष्ट्रीय जीवन में पुनर्जागरण सचमुच आरंभ हो चुका था। इस आंदोलन के नेता भारत को एक महान राष्ट्र बनाने के आदर्श में आस्था रखते थे और उनके अंतिम लक्ष्य सामाजिक और राजनीतिक थे। परंतु उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि उनके मनपसंद का नया राष्ट्र तब तक नहीं बन सकता है जब तक देश के नवयुवकों की शिक्षा का नियंत्रण और प्रवंघ स्वयं भारतीयों के हाथों में न हो। इसीलिए लगभग इसी काल में सभी प्रांतों में विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित करने के लिए आंदोलन चला। इस आंदोलन की प्रभावशाली अभिव्यक्ति अलीगढ़ के मुस्लिम आंग्ल प्राच्य महाविद्यालय (मोहम्डन एंग्लो ओरिएंटल कालेज) और पूना की दक्षिण शिक्षा सिमिति (डकन एजूकेशन सोसायटी) जैसी संस्थाओं के रूप में हुई।

आरंभ में भारतीयों के प्रयत्न घन संग्रह करने तक ही सीमित रहे और भारतीय प्रबंध वाले महाविद्यालयों में भी सामान्यतः यूरोपीय प्रधानाचार्य होते थे। ऐसा करना आवश्यक था क्योंकि उन दिनों भारतीयों को महाविद्यालयों का प्रधानाचार्य अथवा उच्च विद्यालयों का प्रधानाध्यापक बनने के योग्य नहीं समझा जाता था। आज चाहे जितना भी अनुचित क्यों न प्रतीत हो, उस काल में इस पूर्वाग्रह का कुछ औचित्य भी था। पहली बात तो यह है कि यूरोपीय ज्ञान और विज्ञान में प्रवीण भारतीय उपलब्ध नहीं थे जबिक यूरोपीय ज्ञान और विज्ञान ही शिक्षा पद्धित का एकमात्र लक्ष्य था। दूसरी बात यह है कि उस समय लोगों का यह पक्का विचार था कि अंग्रेजी ऐसे व्यक्ति द्वारा ही पढ़ाई जानी चाहिए अथवा उचित ढंग से पढ़ाई जा सकती है जिसकी मातृभाषा अंग्रेजी हो। चंकि अंग्रेजी का अध्यापन शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण अंग था, अत: भारतीय प्रबंध में जो

विद्यालय एवं महाविद्यालय थे उनमें भी यूरोपीय लोगों की नियुक्त करना अनिवार्य हो गया।

यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि जब तक भारतीय गैर सरकारी उद्यम ऐसे यरोपीय प्रधानाध्यापको एवं प्रधानाचार्यो पर निर्भर रहने के लिए मजबर रहा जिनके आदर्श वे नहीं थे जो भारतीयों के थे, तब तक वह पनप नहीं सकता था। दसरी बात यह है कि जब तक ज्यादा खर्च करके यूरोपीय लोगों को बुलाया जाता रहा तब तक शिक्षा का तेजी से विस्तार होना और शिक्षा व्यय का उस राशि तक घटना असंभव था जिसे सामान्य भारतीय वहन कर सकता था। अतः परिस्थितियों की मांग यह थी कि ऐसे शिक्षित भारतीय कूर्बानी करें जिनकी योग्यता में किसी को संदेह न हो। ऐसे लोगों को केवल मांगर्ने भर से सरकार के अधीन लाभप्रद पद मिल जाता था। परंतु राष्ट्र की शिक्षा का हित इस बात में था कि लोग 'उल्लास से घुणा करते हुए उद्योगी जीवन बिताएं', सरकारी सेवा से मुख मोड़ लें और गैर सरकारी संस्थाओं में क्षद्र वेतन लेकर जीवन बिताने का स्वेच्छापूर्वक निश्चय करें। यह एक बहुत बड़ी मांग थी और यह भारतीय शिक्षा के इतिहास की एक स्वर्णिम घटना है कि शिक्षित भारतीयों ने अवसर पर अपनी क्षमता का प्रदर्शन किया और आवश्यकतानुसार कुर्बानी की । जब कैंब्रिज विश्वविद्यालय में गणित की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण एक वरिष्ठ व्यक्ति आर० पी० परांजपे जैसे लोग गैर सरकारी महाविद्यालयों में कार्य करने लगे तो भारतीय गैर सरकारी उद्यम पर लगी हुई हीनता की छाप एकदम मिट गई, शिक्षा का प्रसार तेजी से होने लगा और वह कम खर्चीली हो गई।

1882 और 1902 के बीच के वर्षों में भारतीय शिक्षा के हेतू जिन कार्यकर्ताओं ने कार्य किया था, उन्हें बहुत अधिक श्रेय नहीं दिया जा सकता है। परंतू भारतमाता के इन अविख्यात सप्तों ने ही अधिक शिक्षा के लिए इस काल में बढ़ी हुई सार्वजनिक मांग को उत्पन्न और पुरा किया था और इसके द्वारा भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव रखी थी। सहायता अनुदान : गैर सरकारी उद्यम को सहायता अनुदान देने की नीति राज्य विनि-वर्तन सिद्धांत का एक अनिवार्य स्वाभाविक परिणाम थी। अतः यदि इस काल के सभी महत्वपूर्ण दस्तावेजों में सहायता अनुदान पर भारी जोर दिया गया है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसा पहले बताया जा चुका है, 1854 का आज्ञापत्न पहला दस्तावेज था जिसमें सहायता अनुदान की एक नियमित योजना को स्वीकार करने की सिफारिश की गईथी। इस निर्देश को शिक्षा विभाग ने शीघ्र ही कार्यान्वित किया। उन्होंने सहायता अनुदान संहिताएं तैयार कीं। इसके साथ ही; शिक्षा के प्रति सतत बढती हुई इच्छा को पूरा करने के लिए जो गैर सरकारी विद्यालय स्थापित किए गए उनका वे निरीक्षण करने लगे और उन्हें वित्तीय सहायता देने लगे। 1854 और 1882 के बीच जो प्रांतीय सहायता अनुदान पद्धतिया विकसित हुई उनका यहां पर विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। परंतु जिन लोगों को इन पद्धतियों की कार्यप्रणाली का अनुभव था उनके द्वारा इन पद्धतियों की जो आलोचना की गई है उसके निम्नलिखित सारांश से इनकी प्रमुख उपलब्धियों एवं सफलताओं का पता चल जाएगा:

- (क) यद्यपि 1854 और 1882 के बीच गैर सरकारी उद्यम में काफी वृद्धि हो गई थी और निस्संदेह इस वृद्धि का थोड़ा सा श्रेय 1854 में अपनाई गई सहायता अनुदान की नीति को था, तथापि यह कहना सही होगा कि यदि विभागीय नीतियों में कुछ दोष न होते तो और भी अच्छे परिणाम निकल सकते थे।
- (ख) सदैव गैर सरकारी उद्यम को प्रसार के लिए अधिकतम गुंजाइश अथवा पर्याप्त वित्तीय सहायता नहीं मिली।
- (ग) सहायता अनुदान की राशि सामान्यतः अल्प अथवा अपर्याप्त होती थी। कई साक्षियों ने यह भी आरोप लगाया कि अनुदानों का वितरण करने में मिशन विद्यालयों के प्रति भारी पक्षपात किया गया है, अनुदान बहुधा समय पर नहीं दिए गए हैं और कभी कभी तो उन्हें अचानक घटाकर कम कर दिया गया है या वापस ले लिया गया है। उनका यह भी आरोप था कि बजट में पर्याप्त धनराशि की व्यवस्था न करने के परिणाम-स्वरूप कुछ ऐसे कारणों से भी अनुदानों की कमी हो गई है जैसे गैर सरकारी विद्यालयों की संख्या में वृद्धि हो जाना अथवा सरकारी संस्थाओं का खर्च बढ़ जाना।
- (घ) यह भी युक्ति प्रस्तुत की गई थी कि सहायता अनुदान के नियम प्राय: कष्टकर एवं सविस्तार होते हैं, उनका सर्वेदा व्यापक प्रचार नहीं किया जाता है और उन पर पुनर्विचार अथवा उनका संशोधन करते समय गैर सरकारी संस्थाओं के प्रबंधकों से प्राय: सलाह नहीं ली जाती है।
- (ङ) लोक परीक्षाओं का उपयोग बहुधा इस प्रकार से किया जाता है जिससे सभी विद्यालयों पर समरूप पाठ्यचर्या और पाठ्य पुस्तकों थोपी जा सकों और इस प्रकार गैर सरकारी विद्यालयों के स्वतंत्र विकास को असंभव बनाया जा सके।
- (च) गैर सरकारी विद्यालयों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं किया जाता था और उन्हें हैसियत एवं विशेषाधिकारों के मामले में सरकारी विद्यालयों के समकक्ष नहीं माना जाता था। विभागीय अधिकारियों के विरुद्ध प्राय: ये आरोप लगाए जाते थे कि सहायता प्राप्त विद्यालयों के साथ व्यवहार करते समय वे शत्रुता, प्रतिस्पर्धा अथवा उदासीनता की भावना से कार्य करते हैं। यह भी युक्ति प्रस्तुत की गई थी कि गैर विभा-गीय शिक्षा निकायों के प्रतिनिधियों से सामान्यतः शिक्षा नीतियां तैयार करने के काम में परामर्श नहीं लिया जाता है, छात्रवृत्तियां केवल सरकारी विद्यालयों के छात्रों तक ही सीमित रहती हैं और छंटनी की कुल्हाड़ी सबसे पहले सहायता प्राप्त विद्यालयों पर पडती है।

आयोग ने इन सभी आरोपों पर सावधानीपूर्वक विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहंचा कि अभी तक गैर सरकारी उद्यम को प्रोत्साहन देने के लिए उत्साहपूर्वक एवं भरसक प्रयत्न नहीं किया गया है। इस दृष्टि से उसने निम्नलिखित सिफारिशें की:

(क) गैर सरकारी प्रबंधकों के अधीन चलने वाली संस्थाएं तब तक सफलता प्राप्त नहीं कर सकती हैं जब तक इन प्रबंधकों को स्पष्ट रूप से सामान्य शिक्षा योजना का अत्यावश्यक अंग न मान लिया जाए । सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से गैर सरकारी संस्थाओं के प्रबंधकों से ऐसे मामलों में परामर्श

लिया जाना चाहिए जिनमें सामान्य शैक्षिक हित की बात हो। इसके साथ ही, उनके विद्यार्थियों को प्रमाण पत्रों, छात्नवृत्तियों एवं अन्य लोक सम्मानों के लिए होने वाली प्रतियोगिता में समान शर्तों पर प्रवेश मिलना चाहिए।1

- (ख) जहां तक संभव हो सके, सभी विभागीय परीक्षाओं के संचालन में विभाग के अधिकारियों के साथ गैर सरकारी विद्यालयों के प्रबंधकों अथवा अध्यापकों को भी संबद्ध किया जाना चाहिए।
- (ग) सरकार जो छात्रवृत्तियां तथा पूरस्कार प्रदान करती है, उन्हें केवल सरकारी संस्थाओं के विद्यार्थियों तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए वरन सभी विद्यालयों के छात्रों को देना चाहिए।
- (घ) किसी गैर सरकारी विद्यालय को सहायता देने से इंकार करने के लिए केवल यही कारण पर्याप्त नहीं समझा जाना चाहिए कि उस विद्यालय के समीप कोई सरकारी विद्यालय भी स्थित है।
- (ङ) स्थानीय सरकारों को विद्यालयों के प्रबंधकों से परामर्श करके सहायता अनु-दान नियमों को संशोधित करना चाहिए। यह संशोधन विद्यालयों को प्रत्येक प्रांत की परिस्थितियों के अनसार सबसे उपयुक्त रूप में सहायता प्रद्वान करने और इस प्रकार अधिकतम स्थानीय सहयोग प्राप्त करने के लक्ष्य को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए। संशोधित नियमों में यह बात स्पष्ट रूप से बताई जानी चाहिए कि किसी संस्था को सहायता के तौर पर किस अवधि तक और कितनी धनराशि मिल सकती है और भवनों, उपकरणों तथा फर्नीचर के लिए अनुदान की शर्तें क्या होंगी।
- (च) सरकार को सहायता अनुदान संबंधी प्रत्येक प्रार्थनापत्र का उत्तर देना चाहिए और प्रार्थनापत्र के अस्वीकार किए जाने पर सर्वदा उसकी अस्वीकृति के कारण बताए जाने चाहिए।
- (छ) यह एक सामान्य सिद्धांत होना चाहिए कि सहायता अनुदान निम्नलिखित बातों पर निर्भर होगा : (i) इलाके पर, अर्थात पिछड़े जिलों में विद्यालयों को अधिक अनुपात में अनुदान दिए जाएं और (ii) संस्थाओं की श्रेणी पर, अर्थात् उन संस्थाओं को अनपातत: अधिक सहायता दी जाए जिनसे यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे अपने पैरों पर खडी हो सकती हैं, जैसे कन्या विद्यालय और निम्न जातियों एवं पिछड़ी जातियों के विद्यालय।
 - (ज) जब अनुदान नियमानुसार देय हो जाएं तो उन्हें अविलंब दे दिया जाए।
- (झ) सहायता अनुदान के संशोधित नियमों और उनमें बाद में किए जाने वाले परिवर्तनों को केवल राजकीय गजटों में ही प्रकाशित नहीं किया जाना चाहिए वरन उनका भारतीय भाषाओं में भी अनुबाद किया जाना चाहिए और प्रेस, सहायता प्राप्त एवं गैर सरकारी संस्थाओं के प्रबंधकों के पास और उन सब लोगों के पास भेजा जाना

विक्टोरिया काल: एक

विक्टोरिया काल: एक

चाहिए जिनसे शिक्षा के प्रसार में किसी भी प्रकार से सहायता मिलने की संभावना हो।

- (अ) सहायता प्राप्त संस्थाओं के विस्तार के लिए प्रत्येक प्रांत के शिक्षा बजट में आविधिक रूप से बढ़ने वाली धनराशि का प्रबंध किया जाना चाहिए।
- (ट) विशेष विषयों के लिए अनुदान देकर, सहायता प्राप्त विद्यालयों की अनुदेय पाठ योजना में विविधता को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।
- (ठ) अनुदेय पाठ योजना और उसके शिक्षा माध्यम को निर्धारित करने के संबंध में सहायता प्राप्त विद्यालयों के प्रबंधकों को अधिक छट दी जानी चाहिए।
- (ड) यह बात स्पष्ट रूप से निर्धारित की जानी चाहिए कि आवश्यक अर्हताएं रखने वाले भारतीयों की शिक्षा निरीक्षकों के पदों पर पहले की अपेक्षा अधिक नियुक्तियां की जाएंगी।

आयोग की ये विशद सिफारिशें एक सफन सहायता अनुदान पद्धति के निम्नलिखित निर्विवाद सिद्धांतों पर आधारित थीं : हैसियत और विशेषाधिकारों की दृष्टि से सहायता प्राप्त विद्यालयों और सरकारी संस्थाओं को समकक्ष माना जाना, उदार वित्तीय सहायता की व्यवस्था, आंतरिक प्रबंध में हस्तक्षेप न किया जाना और ऐसे कर्मचारियों की नियुक्ति जिन्हें प्रबंधकों का विश्वास प्राप्त हो सके। इन सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया जिसके परिणामस्वरूप 1882 और 1902 के बीच गैर सरकारी उद्यम का विशेषकर महाविद्यालयी और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी तेजी से विकास हुआ। चूंकि मिशनरी उद्यन का संकुचन हो रहा था अतः नवोदित गैर सरकारी उद्यम को ही इस नीति का पूरा लाभ मिला और इस प्रकार अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने में भारतीय गैर सरकारी उद्यम को भारी सहायता मिली।

शिक्षा में राज्य की भूमिका (1854-1902): अब हम इस स्थिति में हैं कि इस संबंध में चर्चा कर सकों कि 1854 और 1902 के बीच भारतीय शिक्षा में राज्य की भूमिका क्या रही थी। पूर्ववर्ती चर्चा से पता चल गया होगा कि इस काल में:

- (क) सरकार ने जनता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित नहीं किया और न वह कर सकती थी। उसने अपने को सदैव अलग रखा और कहा कि भारतीय जनता स्वयं को गैर सरकारी प्रयत्न द्वारा अथवा उन स्थानीय निकायों के द्वारा शिक्षित करने का प्रयास कर रही है जिनके प्रशासन से उनका अधिक गहरा प्रबंध है।
- (ख) सरकार ने शिक्षा विभाग का गठन तथा अनुरक्षण मुख्यतः गैरं सरकारी उद्यम का अधीक्षण करने के लिए और आनुषंगिक रूप से अपनी कुछ संस्थाओं के अनु-रक्षण के लिए किया था;
- (ग) सरकार ने कुछ शिक्षा संस्थाएं अपने सीधे नियंत्रण में रखीं। इनमें से कुछ संस्थाएं अतीत काल की ऐतिहासिक संपत्ति थीं जबिक अन्य संस्थाएं गैर सरकारी प्रयत्न की अनुपूर्ति करने के लिए थीं और उनमें, विशेषकर व्यावसायिक शिक्षा में, ऐसे खर्चीले पाठ्यक्रम रहते थे जिनकी गैर सरकारी उद्यम व्यवस्था नहीं कर सकते थे।

अतः इस काल में सरकार का मुख्य कियाकलाप गैर सरकारी उद्यम की वित्तीय

सहायता करना और उसका अधीक्षण करना ही रहा। इनमें से पहले लक्ष्य को कभी संतोषजनक ढंग से पूरा नहीं किया गया और गैर सरकारी विद्यालयों को दी जाने वाली सहायता की राशि सामान्यतः पर्याप्त नहीं होती थी। दूसरे लक्ष्य के संबंध में विभाग ने अबंध नीति अपनाई। जिस जिस विद्यालय ने सहायता नहीं मांगी उसे बिलकुल भी नियंद्रित नहीं किया गया। सहायता प्राप्त विद्यालयों पर भी विभाग का नियंत्रण ढीला था। यह अधिकांशतः सामान्य निरीक्षण, छात्रों की परीक्षा और इस जांच तक सीमित था कि सरकार से मिलने वाला सहायता अनुदान उचित रीति से ज्यय किया जाता है या नहीं। इस उदार अभिवृत्ति कार्धनस्संदेह यह परिणाम निकला कि बहुत सी अकुशल संस्थाएं भी चलती रहीं। इसके साथ ही, उस काल में गैर सरकारी भारतीय उद्यम का तेजी से विकास करने में सहायता करके इस अभिवृत्ति ने काफी भलाई की।

राज्य पूर्ण उदासीनता (जैसी स्थिति इंग्लैंड में 1833 से पहले थी) से लेकर पूर्ण उत्तरदायित्व (जैसी स्थिति इंग्लैंड में आज है) तक की अनगिनत भूमिकाएं निबाह सकता है। भारत में 1813 से पूर्व सरकार की पूर्ण उदासीनता की जो भूमिका थी उससे हटकर वह इस काल में स्पष्ट रूप से पूर्ण उत्तरदायित्व लेने की ओर बढ रही थी। परंत यह प्रगति धीमी गति से और रुक रुक कर हो रही थी क्योंकि सरकार ने अपनी नीति के कारण इस बात से इंकार कर दिया था कि वह जनता को जितनी शिक्षा संस्थाओं की भी आवश्यकता होगी उन सबकी व्यवस्था करेगी। उसने केवल उन शिक्षा संस्थाओं का यथासंभव सीमा तक मार्गदर्शन और सहायता करने का भार अपने ऊपर लिया जिनकी जनता स्वयं व्यवस्था करेगी। उसने ऐसा समय आने की भी आशा की जब स्वयं जनता के निजी प्रयत्न से ही देश द्वारा अपेक्षित सारी शिक्षा संस्थाओं की व्यवस्था हो जाएगी और सरकार को अपनी ओर से किसी संस्था का अनुरक्षण करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यह अभिवृत्ति मुख्यतः इस कारण पैदा हुई कि सरकार जनता के साथ अपना तादातम्य स्थापित नहीं कर पाई और यही अभिवृत्ति इस काल की सफलताओं और असफलताओं का मूल कारण है। साहित्यिक ढंग की माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षा के प्रसार के लिए गैर सरकारी उद्यम एक उपयुक्त अभिकरण है क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा देना खर्चीला नहीं है और शुल्कों तथा सहायता अनुदानों से काम चल सकता है। 1854 और 1902 के बीच भारत में इसी प्रकार की शिक्षा का सबसे अधिक विकास हुआ। इसके विपरीत जनसमूह की प्राथमिक शिक्षा और व्यावसायिक एवं प्राविधिक शिक्षा इतनी खर्चीली है कि तब तक कोई ठोस प्रगति होनी संभव नहीं है जब तक सरकार साहसपूर्ण नीति न अपनाए और उन तमाम वित्तीय एवं प्रशासनिक दायित्वों को स्वीकार न करे जो इस प्रस्थापना में सन्निहित हैं। भारत सरकार यह कार्य करने के लिए तैयार नहीं थी अत: सार्वजनिक शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा बहत पिछडी रही।

इंग्लैंड में राज्य ने शिक्षा का उत्तरदायित्व 1833 में स्वीकार किया। परंतु चूंकि वहां जनता और सरकार में अंतर नहीं था अत: शिक्षा की प्रगति बहुत तेजी से हुई। वहां 1870 में अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ की गई और 1902 तक देश के सभी भागों में 7 से लेकर 13 वर्ष तक की आयू के बालकों को प्रभावी रूप से अनिवार्य शिक्षा दी जाने लगी।

भारत में, कंपनी ने जनता को शिक्षा देने का उत्तरदायित्व 1813 में स्वीकार किया। यही कार्य इंग्लैंड में बीस वर्ष बाद किया गया। परंतु सरकार और जनता के बीच तादात्म्य न होने के कारण अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धांत को कर्तई स्वीकार नहीं किया गया। सरकार ने यह नहीं कहा कि जन समूह को शिक्षित करने के लिए आक्रामक एवं साहसपूर्ण शिक्षा नीति अपनाई जाएगी, वरन उसने गैर सरकारी उद्यम की संवृद्धि पर जोर दिया और एक ऐसा समय आने की आशा की जब वह उन थोड़ी सी संस्थाओं को भी समाप्त कर सकेगी जिनका वह सीधे संचालन करती थी। मुख्यत: इसी नीति का परिणाम था कि भारत 1902 में इंग्लैंड से इतना अधिक पिछड गया था।

6

विक्टोरिया काल : दो

(1854-1902)

इस अध्याय में हम 1854 और 1902 के बीच की शेष मुख्य घटनाओं की समीक्षा करेंगे। विश्वविद्यालयों की स्थापना: निदेशक मंडल का दिनांक 19 जुलाई, 1854 का आज्ञापत्र प्राप्त होने के बाद शीघ्र ही भारत सरकार ने कलकत्ता, बंबई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित करने का काम हाथ में लिया। आरंभिक कार्य काफी भारी था और उसे पूरा करने में कुछ समय लगना स्वाभाविक था। परंतु भारत सरकार ने इन तीनों विश्वविद्यालयों के निगमन अधिनियम 1857 में ही बना दिए थे। स्थानीय स्वरूप के कुछ परिवर्तनों के अतिरिक्त ये तीनों अधिनियम एक जैसे थे अतः इनके द्वारा स्थापित विश्वविद्यालयों के संघटन को समझने के लिए इनमें से किसी एक का अध्ययन कर लेना ही पर्याप्त होगा।

उदाहरण के लिए, बंबई विश्वविद्यालय अधिनियम की प्रस्तावना में विश्वविद्यालय का लक्ष्य 'परीक्षा के साधन द्वारा ऐसे व्यक्तियों को खोज निकालना जो' ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में 'प्रवीणता प्राप्त कर चुके हों' और 'उन्हें उनकी अपनी-अपनी उपलब्धियों के प्रमाण के तौर पर शैक्षिक उपाधियों द्वारा पुरस्कृत करना' बताया गया था । इसके उप-रांत इस अधिनियम में प्रथम कूलाधिपति, कूलपति और अध्येताओं को मनोनीत किया गया था। इन सबको मिलाकर बंबई विश्वविद्यालय के निगमित निकाय का गठन किया गया था। कुलाधिपति और कुलपति को छोड़कर अध्येताओं की संख्या छब्बीस से कम नहीं रहनी थी। अध्येता दो प्रकार के थे। पहली प्रकार के अध्येता पदेन अध्येता थे। इनमें बंबई उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश, बंबई के राज्यपाल की कार्यकारिणी परिषद के सदस्य, बंबई का लोक शिक्षा निदेशक, प्रेसीडेंसी मंडल का शिक्षा निरीक्षक और तमाम सरकारी महाविद्यालयों के प्रधानाचार्य शामिल थे। अन्य अध्येता साधारण कहलाते थे और उन्हें सरकार ने जीवन भर के लिए नियुक्त किया था। उनका पद तभी रिक्त होता था जब उनमें से कोई अध्येता स्वर्गवासी हो जाता था, त्यागपत्र दे देता था. वापस न लौटने के इरादे से भारत से बाहर चला जाता था अथवा सरकार उसकी नियुक्ति को रद्द कर देती थी। विश्वविद्यालय की सीनेट में कूलाधिपति (जो सदा बंबई का राज्यपाल होता था), कुलपित (जिसकी नियुक्ति सपरिषद राज्यपाल एक बार में दो वर्ष की अवधि के लिए करता था) और पदेन एवं साधारण दोनों ही प्रकार के अध्येता होते थे। अधिनियम में सीनेट को विश्वविद्यालय के रोजमर्रा के समस्त कार्य को चलाने का अधिकार दिया गया था। प्रथम प्रकार के अध्येताओं की संख्याओं और नामों में परिवर्तनों के अतिरिक्त, कलकत्ता और मद्रास विश्वविद्यालयों से संबंधित अधिनियमों की अंतर्वस्तु बिलकूल एक समान ही थी।

1857 के विश्वविद्यालय अधिनियमों की आलोचना: इन अधिनियमों में ऐसी कोई बात नहीं है जिस पर टीका टिप्पणी की जाए। परंतु इस योजना की निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देने से प्रस्तुत विषय को उचित रूप से समझने में सहायता मिल सकती है:

- (क) अध्येताओं की कोई अधिकतम संख्या निर्घारित नहीं थी। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि सीनेटों का आकार बढ़ जाने से उनका कार्य सहज रूप से नहीं चल सका। ऐसा विशेषकर इसलिए हुआ कि अध्येता जीवन भर के लिए नियुक्त करने होते थे, किसी विशेष अविधि के लिए नहीं।
- (ख) विश्वविद्यालयों में यह परंपरा है कि अभिषद (सिंडीकेट) नामक एक छोटा सा अधिशासी निकाय हो और उसे दैनंदिन प्रशासन का कार्य सौंपा जाए। परंतु यह महत्वपूर्ण बात है कि अधिनियम में अभिषद का कोई उल्लेख नहीं किया गया है और सारी शक्तियां केवल सीनेट को दे दी गई हैं। तो भी, व्यवहार में सीनेट द्वारा बनाए गए विनियमों के अधीन अभिषदें स्थापित की गईं और उन्हें कुछ शक्तियां भी प्रदान की गईं। घ्यान देने की बात यह है कि निगमन अधिनियमों में अभिषद को कोई सांविधिक मान्यता नहीं मिली।
- (ग) अधिनियमों की प्रस्तावना ने विश्वविद्यालयों के कार्यों को केवल परीक्षाएं लेने और उपाधियां देने तक सीमित कर दिया। ऐसा निस्संदेह लंदन विश्वविद्यालय के संविधान के साथ, (जिस रूप में वह 1857 में विद्यमान था), सामंजस्य रखने के लिए किया गया था। परंतु इससे वे अभिप्राय पूर्णतया पूरे नहीं हुए जो प्रस्तावित विश्वविद्यालयों के कार्यों के संबंध में 1854 के आज्ञापत्र में व्यक्त किए गए थे। यह सच है कि आज्ञापत्र के अनुसार, भारतीय विश्वविद्यालयों को मुख्य रूप से 'शिक्षण स्थान नहीं' वरन 'अन्यत्र प्राप्त की गई शिक्षा का मूल्यांकन करने के लिए' एक अभिकरण बनना था। परंतु आज्ञापत्र में यह भी कहा गया था कि 'विश्वविद्यालयों के संबंध में उच्च शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में व्याख्यान देने के लिए आचार्य पदों की स्थापना करना उचित होगा क्योंकि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए, कम से कम उच्च श्रेणी में, भारत की अन्य संस्थाओं में इस समय सुविधाएं नहीं हैं '2 उदाहरण के लिए कानून, सिविल इंजीनियरी, भारत की शास्त्रीय और आधुनिक भाषाएं इत्यादि इसी प्रकार के विषय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 1857 में भारतीय विश्वविद्यालयों के अधिनियमों के निर्माताओं

का 1854 के आज्ञापत्र के बारे में बहुत संकीर्ण दृष्टिकोण था।

(घ) 1857 के अधिनियम द्वारा जिस प्रकार विश्वविद्यालय संस्था का सर्जन किया गया उसे तकनीकी तौर पर सर्वंघन विश्वविद्यालय कहा जाता है। इस प्रकार की संस्था में संबद्ध महाविद्यालय उच्च शिक्षा के वास्तिविक केंद्र होते हैं और स्वयं विश्वविद्यालय शिक्षण यूनिट नहीं वरन केवल प्रशासन की एक यूनिट होता है जिसका एकमात्र कर्तव्य परीक्षाएं लेना और उपाधियां देना होता है। भारत में 1857 में जैसी परिस्थितियां थीं उनमें इस प्रकार के विश्वविद्यालय से केवल तात्कालिक लाभ हुआ, परंतु दीर्घकाल में यह राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकारक रहा। यह खेद की बात कि इस पद्धित के केवल तात्कालिक लाभों को घ्यान में रखते हुए इससे अंततः होने वाली हानियों की उपेक्षा कर दी गई और यह फैसला कर लिया गया कि राष्ट्रीय हितों में किसी बुद्धिमत्तापूर्ण आयोजना के कार्यक्रम के बजाय न्यूनतम प्रतिरोध की नीति को अपनाया जाए। यदि इस बात को सोचें कि लंदन विश्वविद्यालय को 1858 में पुनः नया स्वरूप प्रदान कर दिया गया था और संबंधन प्रारूप को असंतोषजनक मानकर त्याग दिया गया था तो उपर्युक्त फैसला दुःखद ही प्रतीत होता है। यदि ये विश्वविद्यालय अधिनियम 1857 के बजाए 1859 में अधिनियमित किए गए होते तो राष्ट्र का संभवतः अधिक कल्याण हआ होता।

1857 और 1902 के बीच विश्वविद्यालयों की संवृद्धि: अब हम 1857 और 1902 के बीच विश्वविद्यालयों की जो संवृद्धि हुई उस पर विचार करते हैं। इन विश्वविद्यालयों के निगमन अधिनियमों में उन उपाधियों के नाम दिए गए थे जो उपाधियां विश्वविद्यालय प्रदान कर सकते थे। बाद में यह वांछनीय पाया गया कि उनकी सूची में और नाम जोड़ दिए जाएं। अतः 1860 में भारतीय विश्वविद्यालय (उपाधियां) अधिनियम बनाया गया जिसमें विश्वविद्यालयों को ऐसे उपाधिपत्र, उपाधियां अथवा लाइसेंस प्रदान करने का अधिकार दिया गया था जिनका उपनियमों अथवा विनियमों द्वारा या तो अनुमोदन किया जा चुका था या किया जा सकता था। 1884 में भारतीय विश्वविद्यालय (सम्मानार्थ उपाधियां) अधिनियम बना जिसमें कलकत्ता, बंबई और मद्रास के तीनों विश्वविद्यालयों को एल ० एल ० डी ० की सम्मानार्थ उपाधि प्रदान करने का अधिकार दिया गया था।

1882 में, एक विशेष निगमन अधिनियम द्वारा पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इस अधिनियम का सामान्य ढांचा 1857 के अधिनियमों जैसा ही था। परंतु कई महत्वपूर्ण मामलों में पंजाब विश्वविद्यालय पुराने विश्वविद्यालों से भिन्न था। इस अंतर का उल्लेख क्विनक्वेनियल रिव्यू आफ दि प्रोग्नेस आफ एज्केशन इन इंडिया 1897-1902 में निम्नलिखित शब्दों में किया गया है:

- (1) इसमें एक प्राच्य विद्या संकाय है। यह ऐसे अभ्यथियों को प्राच्य विद्या स्नातक, प्राच्य विद्या निष्णात और प्राच्य विद्या वाचस्पित की उपाधियां देता है जो कला की उपाधियों के लिए होने वाली परीक्षाओं के लिए विहित प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के सदृश्य पाठ्यक्रम तो पूरा कर चुके हों परंतु यह कार्य उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से नहीं वरन उर्दू के माध्यम से किया हो।
- (2) यह अपने द्वारा संस्कृत, अ्रबी और फारसी में ली गई परीक्षाओं में उत्तीर्ण

^{1.} वुड का शिक्षा घोषणापत्र, अनुच्छेद 36।

^{2.} वही, अनुच्छेद 30-32।

विद्यार्थियों को प्राच्य साहित्यिक पदिवयां प्रदान करता है।

- (3) यह देशी भाषाओं में प्रवीणता और उच्च प्रवीणता परीक्षाएं लेता है।
- (4) यह इस्लामी और हिंदू कानून तथा चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थियों को देशी पदिवया देता है।
- (5) यह विभिन्न विद्यालय परीक्षाएं लेता है।
- (6) यह एक प्राच्य महाविद्यालय और एक विधि महाविद्यालय का अनुरक्षण करता है और 'ऐसे अन्य विद्यालयों और महाविद्यालयों का अनुरक्षण कर सकता है जिनके बारे में सीनेट समय समय पर निदेश दे।'
- (7) सीनेट सामान्यतः शैक्षिक मामलों में परामर्श देती है। 1

1887 में एक अन्य विशेष निगमन अधिनियम के द्वारा पांचवां भारतीय विश्व-विद्यालय इलाहाबाद में स्थापित किया गया। जैसा आर० नाथन ने कहा है:

1887 में गवर्नर जनरल की परिषद ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय को निगमित करने वाला एक अधिनियम बनाया । स्थानीय सरकार ने इस बात पर सावधानीपूर्वक विचार किया कि विश्वविद्यालय का यथार्थ रूप कैसा हो। उसने इस बात पर भी विचार किया कि पाठयक्रमों को विहित करने और परीक्षाएं लेने के अतिरिक्त इस विश्वविद्यालय को जर्मनी के विश्वविद्यालय के नमूने पर अपने यहां एक ऐसा कर्म-चारी वर्ग रखना चाहिए या नहीं जिसमें आचार्य तो हों ही, निजी अध्यापक भी हों। यद्यपि उपराज्यपाल ने यह स्वीकार किया कि इस प्रकार के विश्वविद्यालय का भारी महत्व है तथापि उन्होंने यह कहा कि चूंकि भारत इस समय धीरे-धीरे पन: बौद्धिक प्रगति कर रहा है, अत: विश्वविद्यालय अपने काम को आरंभ में, हर दशा में, शिक्षण की प्रणालियों एवं लक्ष्यों के निदेशन तक ही सीमित रखे और उन्हें देश की आश्यकताओं, परिस्थितियों, उपबंधों और पूर्वाभिरुचियों के अनुकृल बनाए। इस अधिनियम में विश्वविद्यालय के क्षेत्र और क्रियाकलाप के संबंधों में कोई प्रति-बंध नहीं लगाए गए हैं। परंत् अब तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय तीन प्रारंभिक विश्वविद्यालयों की पद्धति को ही अपनाता रहा है। अपना कार्य उसने उन अभ्य थियों को उपाधियां प्रदान करने तक ही सीमित रखा है जो उससे संबद्ध किसी संस्था में विहित पाठयक्रम का अध्ययन करने के बाद उसकी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते हैं।2

महाविद्यालयी शिक्षा (1854-1902): पूर्ववर्ती विवरण से यह पता चल जाएगा कि विचाराधीन काल में भारत के पांचों विश्वविद्यालय केवल संबंधन तथा परीक्षा निकाय थे। उन्होंने सीधे अध्यापन कार्य नहीं किया वरन संबंध महाविद्यालयों में शिक्षित

विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर ही संतुष्ट हो गए। अतः 1854 और 1902 के बीच की विश्वविद्यालय शिक्षा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल विश्वविद्यालयों के इतिहास का अध्ययन करने से काम नहीं चलेगा; उसकी अनुपूर्ति उसी काल की महाविद्यालयी शिक्षा के विकास संबंधी विवरण से करनी होगी।

1857 से पर्व महाविद्यालयी शिक्षा: यद्यपि विश्वविद्यालयों की स्थापना 1857 में की गई थी तथापि स्वयं को महाविद्यालय कहने वोली शिक्षा संस्थाएं लगभग 70 वर्ष पहले से ही विद्यमान थीं। इस काल के कलकत्ता मदरसा अथवा बनारस संस्कृत महाविद्यालय जैसे सबसे पूराने महाविद्यालयों को सरकार ने स्थापित किया था और वे सामान्यत: मुसलमानों एवं हिंदूओं की प्राचीन शिक्षा संस्थाओं के नमूने पर चलाए गए थे। पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा देने वाले महाविद्यालयों को सबसे पहले मिशनरियों ने स्थापित किया। सरकार ने भी शीघ्र ही उनका अनुकरण किया और उसने विशेषकर आंग्लिकों और श्रेण्यवादियों के बीच विवाद समाप्त हो जाने के पश्चात, आधुनिक तरीके के महाविद्यालय स्थापित करना आरंभ कर दिया। जैसा हम पहले देख चुके हैं, कलकत्ता का हिंदू विद्यालय ही एकमात्र ऐसा महाविद्यालय था जिसकी स्थापना एक ऐसी समिति द्वारा की गई थी, जिसके प्रबंध से भारतीय संबद्ध थे। बाद में इसका लार्ड डलहोजी द्वारा 1854 में स्थापित प्रेसीडेंसी महाविद्यालय के साथ विलय कर दिया गया। अत: 1857 में एक भी ऐसा महाविद्यालय नहीं था जिसका प्रबंध भारतीयों के हाथों में हो । तो भी, यह उल्लेखनीय बात है कि भारतीयों ने महाविद्यालयों की स्थापना के लिए, विशेषकर आगरा और दिल्ली के महाविद्यालयों तथा ऐलिफिस्टन इंस्टीट्युशन, बंबई के संबंध में. बहत उदारतापूर्वक दान दिया था।

यह ध्यान रखना चाहिए कि उच्च शिक्षा देने वाली ये पूर्वकालीन संस्थाएं आज के महाविद्यालयों से बिलकुल भिन्न थीं। उनमें बहुत से महाविद्यालय ऐसे थे जो अंग्रेजी पढ़ाने वाले विद्यालयों से तरक्की करके महाविद्यालय बने थे। इनमें ऐसी कक्षाएं थीं 'जिनमें वर्णमाला को भी उस छत के नीचे पढ़ाया जाता था, जिसके नीचे शेक्सपीयर, कैलकुलस, स्मिथ की वेल्थ आफ नेशंस' और रामायण पढ़ने के लिए कक्षाएं लगती थीं। उस समय महाविद्यालय शब्द का प्रयोग संभवतः 'एक ऐसी संस्था' के लिए किया जाता था 'जहां कोई उच्च प्रकार की शिक्षा दी जाती है।'

1857 और 1882 के बीच महाविद्यालयी शिक्षा की संवृद्धि: यह कहा जा सकता है कि आधुनिक अर्थ में महाविद्यालयों ने 1857 के बाद तब कार्य करना आरंभ किया जब विश्वविद्यालय स्थापित हो गए। इसके पश्चात महाविद्यालय केवल ऐसे विद्यार्थियों को ही दाखिल कर सकते थे जो उन विश्वविद्यालयों के द्वारा ली गई प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हों, जिनसे वे संबंद्ध थे। इसके साथ ही वे केवल ऐसे पाठ्यकमों के अनुसार ही शिक्षा दे सकते थे जो विश्वविद्यालय द्वारा विहित किए गए हों। संक्षेप में

^{1.} अंक 1, अनुच्छेद 153।

^{2.} क्विनक्वेनियल रिव्यू आफ दि प्रोग्रेस आफ एजूकेशन इन इंडिया, 1897-1902, अंक 1, अनुच्छेद 154।

^{1.} रिपोर्ट आफ दि इंडियन एजूकेशन कमीशन, पृ० 18।

हम यह कह सकते हैं कि महाविद्यलय अब स्वयं विश्वविद्यलयों के अभिन्न अंग बन गए थे और उनकी ओर से उच्च शिक्षा की शिक्षण व्यवस्था करते थे।

विश्वविद्यालयों की स्थापना होने और भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति किए जाने के बीच 25 वर्ष का अंतर रहा और इस बीच महाविद्यालयों का काफी तेजी से विकास हुआ। ऐसा दो कारणों से हुआ: (क) माध्यमिक शिक्षा का द्रुत विकास और (ख) सरकार द्वारा उदार प्रोत्साहन। विश्वविद्यालयों की प्रथम मैट्रिक परीक्षाओं में केवल 219 परीक्षार्थी उत्तीर्ण घोषित किए गए थे। परंतु 1881-82 में अकेले ब्रिटिश भारत से ही 7,426 छात्र मैट्रिक परीक्षा में बैठे और उनमें से 2778 छात्र उत्तीर्ण घोषित किए गए। उस समय विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करने वाले लोगों को जो भौतिक लाभ प्राप्त हो सकते थे, मुख्यतः उसी के कारण उस जमाने में उन अभ्यिथों ने विश्वविद्यालयों में भारी संस्था में दाखिले लिए जो मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि 1857 और 1882 के बीच महाविद्यालयों और उनके छात्रों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। निम्नलिखित सारणी में 1857 और 1882 के महाविद्यालयों की तूलना की गई है:

| प्रांत | 1857 में महाविद्यालयों की संख्या | 1882 में महाविद्यालयों की संख्या |
|----------------------|-------------------------------------|-------------------------------------|
| बंगाल | 15 | 27 |
| बंबई | 3 | 6 |
| उत्तर-पश्चिमी प्रांत | 5 | 11 |
| मद्रास | 4 | 25 |
| पंजाब | | 2 |
| मध्य प्रांत | | 1 |
| योग | 27 | 72 |

इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि भारतीय गैर सरकारी उद्यम महा-विद्यालयी संस्थाओं का सीधे प्रबंध करने लगे। यहां तक कि 1881-82 में भी पांच सहा-यता प्राप्त महाविद्यालयों का संचालन भारतीय करते थे। इनमें से दो महाविद्यालय उत्तर पश्चिमी प्रांत में थे और तीन मद्रास में थे। उत्तर पश्चिमी प्रांत के इन दो महा-विद्यालयों में एक लखनऊ का कैंनिंग महाविद्यालयें था और दूसरा अलीगढ़ का मुस्लिम आंग्ल प्राच्य महाविद्यालय था। ये दोनों ही बाद में विश्वविद्यालय बन गए। मद्रास के तीन महाविद्यालय निम्नलिखित थे: पंचय्यप्पा का महाविद्यालय और विजयानगरम तथा तिन्नेवेली के हिंदू महाविद्यालय। पंचय्यप्पा का महाविद्यालय 1842 में स्थापित एक विद्यालय से तरक्की करके बना था और इसके लिए एक धनी हिंदू महानुभाव पंचय्यप्पा द्वारा नेक उपयोग के लिए की गई वसीयत से धन प्राप्त हुआ था। विजयानगरम महाविद्यालय को विजयानगरम के महामान्य महाराजा ने 1857 में एक विद्यालय के रूप में स्थापित किया था। तिन्नेवेली महाविद्यालय को 1861 में स्थापित किया गया था। तो भी यह ध्यान रखना चाहिए कि इन महाविद्यालयों के प्रधानाचार्य सामान्यतः यूरोपीय ही होते थे और भारतीयों को उस समय प्रथम श्रेणी के महाविद्यालयों के प्रधानाचार्य बनने के अयोग्य समझा जाता था।

विक्टोरिया काल : दो

भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशें: भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन से विश्वविद्यालय शिक्षा में कोई सुधार नहीं हुआ। जिस सरकारी संकल्प द्वारा आयोग की नियुक्ति की गई थी उसमें कहा गया था कि 'आयोग को उन भारतीय विश्वविद्यालयों के सामान्य कार्यक्रम की जांच करने की आवश्यकता नहीं है जो उन निगमों के नियंत्रण में हैं जिन्हें महाविद्यालयी शिक्षा में रुचि रखने वाले सभी वर्गों के प्रतिनिधि लेकर गठित किया गया है।' उसमें यह भी कहा गया था कि इन विश्वविद्यालयों के कार्य के परिणाम के बारे में सदैव बिना किसी विशेष जांच के स्वतंत्र रूप से ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। आयोग को वृत्तिक महाविद्यालय का अध्ययन करने का भी प्रतिषेध किया गया था क्योंकि इससे उसका कार्य 'आवश्यक रूप से बढ़ जाएगा।' अतः आयोग महाविद्यालयी शिक्षा की समस्या का विशद अध्ययन नहीं कर सका। इसलिए उसने इस विषय में जो सिफारिशों की हैं वे माध्यमिक अथवा प्राथमिक शिक्षा संबंधी सिफारिशों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण हैं।

1882 और 1902 के बीच महाविद्यालयों की संवृद्धि: यद्यपि स्वयं महाविद्यालयी शिक्षा के संबंध में आयोग ने जो सिफारिशों की थीं वे बहुत महत्वपूर्ण नहीं थीं तथापि अन्य विषयों के संबंध में आयोग द्वारा की गई सिफारिशों का महाविद्यालयी शिक्षा के विकास पर दो प्रकार से अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा:

(क) पहली बात यह है कि इन सिफारिशों से माध्यक्षिक शिक्षा का भारी विस्तार हुआ। चूंकि उच्च माध्यमिक स्तर पर विविध पाठ्यक्रमों की कोई व्यवस्था नहीं थी अत: माध्यमिक विद्यालयों के अधिकांश छात्रों ने स्त्रयं को मैंट्रिक परीक्षा के लिए तैयार किया। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जो छात्र मैंट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण हुए उनमें से काफी बड़ी संख्या में छात्रों ने महाविद्यालयों में निम्नलिखित दो कारणों से दाखिला ले लिया। पहला कारण यह था कि अधिक लाभ वाले सरकारी पद केवल उन्हीं लोगों को मिले थे जिनके पास विश्वविद्यालय की उपाधि होती थी। दूसरा कारण यह था कि अन्य कोई वैकल्पिक मार्ग था ही नहीं। उपर्युक्त दोतों बातों का परिणाम यह हुआ कि महाविद्यालयों में दाखिला लेने वाले विद्याधियों की संख्या में वर्ष प्रतिवर्ष सारभूत वृद्धि होती चली गई।

^{1.} कलकत्ता विश्वविद्यालय 162 (1857 में); बंबई विश्वविद्यालय 21 (1859 में) और मद्रास विश्वविद्यालय 36 (1857 में)।

(ख) दूसरी बात यह है कि आयोग की सिफारिशों ने इस प्रकार की पृष्ठभूमि पैदा कर दी थी जिसमें भारतीय गैर सरकारी उद्यम फल फूल सकता था। जैसा हम देख चुके हैं, 1882 में महाविद्यालयी शिक्षा में जो गैर सरकारी प्रयत्न था उसमें मिश्ननरी संस्थाओं का ही प्राधान्य था। परंतु आयोग के प्रतिवेदन के बाद स्थिति बदलने लगी। मिशनरी संस्थाओं ने बहुत थोड़ी प्रगति की। ऐसी नई संस्थाएं बड़ी भारी संख्या में मैदान में आ गई जिनका प्रबंध भारतीयों के हाथों में था। 1901-2 में ब्रिटिश भारत में भारतीयों द्वारा संचालित महाविद्यालयों की संख्या केवल 37 थी।

अतः यदि इस काल में सामान्य शिक्षा देने वाले महाविद्यालयों की संख्या में बहुत तेजी से वृद्धि हुई तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। 1901-2 में महाविद्यालयों और उनके विद्यार्थियों की कूल संख्या इस प्रकार थी:

| | संस्थाओं की संख्या | विद्यार्थियो की संख्या |
|--------------------|-----------------------|---------------------------|
| ज्ला महाविद्यालय : | | |
| अंग्रेजी | 140 | 17,048 |
| प्राच्य | 5 | 503 |
| त्तिक महाविद्यालय: | | |
| विधि | 30 | 2,767 |
| चिकित्सा | 4 | 1,466 |
| इंजीनियरी | 4 | 865 |
| अध्यापन | 5 | 190 |
| कृषि | 3 | 70 |
| योग | 191 | 22,909 |

उपर्युक्त आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि सबसे अधिक वृद्धि कला महाविद्यालयों की संख्या में हुई थी। ये महाविद्यालय अधिकांशतः हेयर के हिंदू विद्यालय के नमूने के ये अर्थात ये मुख्य रूप से साहित्यिक पाठ्यक्रम पढ़ाते थे और अंग्रेजी साहित्य अथवा इतिहास जैसे विषयों का न्यूनाधिक अच्छा ज्ञान कराते थे। परंतु वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन करने के लिए उनमें बहुत कम सुविधाएं उपलब्ध थीं। वृत्तिक महाविद्यालय अल्प संख्या.में थे। विधि का वृत्तिक पाठ्यक्रम सबसे अधिक लोकप्रिय था। इसमें 2,767 विद्यार्थी थे। इसके बाद चिकित्सा महाविद्यालयों का नंबर था जिनमें 1,466 विद्यार्थी थे। उससे कम लोकप्रिय इंजीनियरी महाविद्यालय थे जिनमें 865 विद्यार्थी थे। जितने विद्यार्थी वित्तिक शिक्षा पा रहे थे उनमें से लगभग नब्बे प्रतिशत विद्यार्थी इन्हीं तीन

व्यवसायों में थे। अतः कुल मिलाकर, यह स्पष्ट है कि 1901-2 की महाविद्यालयी शिक्षा प्रधानतः साहित्यिक शिक्षा थी तथा व्यवसायों में वकील और डाक्टर के व्यवसाय अत्यंत लोकप्रिय थे। उस समय भारत आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ देश था। उसे अपने उद्योगों का बड़े पैमाने पर विकास करने की आवश्यकता थी। इसके लिए औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा का बड़े पैमाने पर प्रसार होना आवश्यक था। परंतु उपर्युक्त आंकड़ों से ज्ञात होता है कि 1854 और 1902 के बीच भारत में कुल उच्च शिक्षा का विकास राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं हुआ वरन सरकार की आवश्यकताओं और उच्च वर्गों की रुचि के अनुसार हुआ था।

महाविद्यालयी शिक्षा के दोष (1854-1902): भारत की महाविद्यालयी शिक्षा पद्धति में 1854 और 1902 के बीच कुछ भारी दोष उत्पन्न हुए और उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होने तक ये सरकार और जन नेताओं के लिए गंभीर चिता का विषय बन चुके थे। इनमें से कुछ दोषों के बारे में कोई भी मतभेद नहीं था। उदाहरण के लिए, ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि उदार शिक्षा का अत्यधिक विकास किया गया था और सामान्यतः व्यावसायिक शिक्षा की तथा विशेषकर औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा की उपेक्षा की गई थी। इसके अतिरिक्त हिंदू समाज के विभिन्न समुदायों अथवा विभिन्न धर्मावलंबियों के बीच उच्च शिक्षा का असमान प्रसार हुआ था। एक बड़ा दोष यह भी था कि महाविद्यालयों में मुसलमान छात्राएं बिल्कुल नहीं थीं और हिंदू छात्राओं की संख्या भी बहुत कम थी। ये ऐसे दोष थे जिनके बारे में सभी पक्ष सहमत थे अतः बुराई के स्वरूप अथवा उसे दूर करने के उपाय के बारे में कोई विवाद नहीं था।

परंतु कुछ अन्य दोष ऐसे थे जिनके बारे में खासा मतभेद था। विशेष रूप से सरकारी और गैर सरकारी दृष्टिकोणों के बीच संघर्ष उत्पन्न हुआ। भारत में एक राष्ट्रीय जनमत तैयार होने के साथ साथ, विशेषकर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद, यह संघर्ष और अधिक व्यापक तथा गहरा हो गया। इनमें से निम्नलिखित विवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं: (क) विश्वविद्यालय चरण में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन के संबंध में उठे उग्र और दीर्घकालिक विवाद, (ख) आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से उच्च व्यावसायिक शिक्षा देने के प्रयोग और (ग) 1854 के बाद से, और विशेषकर 1882 के बाद, विशेषतया गैर सरकारी भारतीय प्रबंध के अधीन, महाविद्यालयी शिक्षा का जो द्रुत विस्तार हुआ था उसके बारे में प्रतिक्रियाएं।

(क) विश्वविद्यालय चरण में आधुनिक भारतीय भाषाओं की उपेक्षा: इस काल की विश्वविद्यालय शिक्षा में एक गंभीर दोष यह था कि उसमें आधुनिक भारतीय भाषाओं की उपेक्षा कर दी गई थी। इस उपेक्षा के कारण जोरदार विवाद छिड़ गया। 1854 के आज्ञापत्र में यह कहा गया था कि उस समय जिन विश्वविद्यालयों को स्थापित करने का प्रस्ताव था 'उनमें देशी भाषाओं के लिए आचार्य पद की स्थापना करने से भारत की देशी भाषाओं को उन्नित करने के लिए आरी प्रोत्साहन मिलेगा।' अतः स्वाभाविक रूप से यह आशा की जाती थी कि विश्वविद्यालय अपने यहां आधुनिक भारतीय भाषाओं के लिए आचार्य पदों की स्थापना करेंगे और इन भाषाओं का इस प्रकार से विकास करेंगे

गया था।

कि इन्हें बहुत शीघ्र ही सभी चरणों में शिक्षा माध्यम स्वीकार किया जा सके। परंतु दुर्भाग्यवश यह आशा कभी पूरी नहीं हुई। जैसा पहले बताया जा चुका है नए विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाले निकाय थे और उन्हें शिक्षण कार्य करने के लिए अपनी ओर से आचार्य नियुक्त करने का अधिकार नहीं था। परंतु फिर भी उनके लिए यह कार्य संभव था कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में परीक्षा लें तािक कम से कम उन्हें संबद्ध कालेजों में तो पढ़ाया ही जाए। आरंभ में यह कदम उठाया गया था परंतु शीघ्र ही उल्टी हवा बहने लग गई और मद्रास को छोड़कर अन्य स्थानों पर आधुनिक भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालय पाठ्यक्रमों से या तो पूरी तरह निकाल दिया गया या उन्हें बहुत गौण स्थान पर रहने दिया गया। भारतीय विश्वविद्यालय आयोग, 1902 के प्रतिवेदन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आयोग ने अपने प्रतिवेदन के पृष्ठ 21-24 पर जो विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम दिए हैं उनका विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि:

- (1) प्रवेशिका परीक्षा में चार अनिवार्य विषयों में से एक विषय द्वितीय भाषा थी जिसकी परिभाषा इस प्रकार की गई थी '(क) एक प्राच्य अथवा यूरोपीय शास्त्रीय भाषा अथवा (ख) एक भारतीय शास्त्रीय भाषा या महाद्वीपीय यूरोप की शास्त्रीय भाषा।' इलाहा-बाद और पंजाब विश्वविद्यालयों में देशी भाषा का विकल्प नहीं दिया गया था। पंजाब में परीक्षार्थी एक पांचवां वैकल्पिक विषय, अर्थात देशी भाषा, प्रारंभिक विज्ञान अथवा द्वितीय शास्त्रीय भाषा में से कोई एक विषय ले सकता था।
- (2) इंटर परीक्षा में द्वितीय भाषा अनिवार्य थी और इसकी परिभाषा इस प्रकार की गई थी 'एक प्राच्य अथवा पाश्चात्य शास्त्रीय अथवा आधुनिक यूरोपीय भाषा।' अकेले मद्रास विश्वविद्यालय ने एक आधुनिक भारतीय भाषा का विकल्प और जोड़ रखा था। (3) कला स्नातक परीक्षा में भी मद्रास एकमाद्र ऐसा विश्वविद्यालय था जहां शास्त्रीय भाषा के विकल्प के रूप में आधुनिक भारतीय भाषाओं को शामिल किया

अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मद्रास को छोड़कर शेष विश्वविद्यालयों के सामान्य पाठ्यक्रमों में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन की उपेक्षा की गई थी। भारतीय भाषाओं का विकास धीमी गति से होने और विश्वविद्यालयों में शिक्षित बुद्धि-जीवी वर्ग और जनता के बीच खाई पैंदा हो जाने का यह भी एक महत्वपूर्ण कारण था। (ख) विश्वविद्यालय स्तर के निम्नतर श्रेणी के पाठ्यक्रमों में शिक्षा का माध्यम: इस काल में विभाग के अधिकारियों की, जिनका विश्वविद्यालयों में भी प्राधान्य था, यह राय थी कि चूंकि आधुनिक भारतीय भाषाएं इस योग्य भी नहीं हैं कि विश्वविद्यालये पाठ्यक्रम में उनका एक विषय के रूप में अध्ययन किया जाए अतः महाविद्यालयी चरण में शिक्षा माध्यम की समस्या उत्पन्न ही नहीं हुई। अतः महाविद्यालयी चरण में आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम के रूप में स्वीकार किए जाने की प्रस्थापना के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं थी। तो भी, इस काल की एक घटना पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जैसा अध्याय तीन में बताया जा चुका है, बंबई और बंगाल में ऐसे चिकित्सा विद्यालय मौजूद थे जिनमें आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा

दी जाती थी। चिकित्सा महाविद्यालयों में अंग्रेजी में चलने वाले उपाधि पाठयक्रमों की तुलना में ये पाठ्यक्रम हीन स्तर के थे और चिकित्सा विभाग के अधीनस्थ पदों पर अधिकारी भर्ती करने के लिए थे। तो भी उन्होंने आधूनिक भारतीय भाषाओं में अच्छी चिकित्सा पुस्तकें तैयार करने का निमित्त बनकर एक बहुत लाभप्रद उद्देश्य की पूर्ति की। उदाहरण के लिए, बंबई में ग्रांट चिकित्सा महाविद्यालय के सुविख्यात डाक्टरों ने चिकित्सा संबंधी सभी विषयों पर मराठी में पुस्तकें लिखीं और यद्यपि गौण चिकित्सा कक्षा में, शिक्षा मराठी के माध्यम से (और बाद में गुजराती में) दी जाती थी तथापि इस शिक्षा का स्तर बहुत ऊंचा था। पाठ्यक्रम को लोकप्रिय बनाने के लिए श्री जगन्नाथ शंकर सेठ तथा अन्य लोगों ने इस पाठ्यक्रम को लेने वाले छात्नों के लिए बहुत सी छात्रवृत्तियां और पूरस्कार चाल किए थे। चंकि आधुनिक भारतीय भाषाओं की सामान्य उपेक्षा करना इस काल की एक अत्यंत स्पष्ट विशेषता थी अत: मराठी एवं गुजराती द्वारा उच्च स्तर की चिकित्सा शिक्षा देने के इन प्रयासों की सामान्यत: विभाग के अधिकारियों ने निदा की और 1880 के आसपास मातुभाषा के द्वारा चिकित्सा पाठयक्रमों का पढ़ाया जाना बंद हो गया। इस प्रकार एक ऐसे महान प्रयोग को निरर्थंक हो जाने दिया गया जो और अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता था। यदि इन पूर्ववर्ती प्रयोगों को सावधानीपूर्वक जारी रखा गया होता तो भारत में विश्वविद्यालय चरण में शिक्षा माध्यम की समस्या बहुत समय पूर्व ही संतोषजनक रूप से हल हो गई होती।

(ग) महाविद्यालयी शिक्षा का, विशेषकर गैर सरकारी भारतीय उद्यम में द्रुत प्रसार (1882-1902): इस काल में महाविद्यालयी शिक्षा के विकास में एक अन्य दोष यह रहा कि 1882 और 1902 के बीच शिक्षा का जो द्रुत प्रसार हुआ उसके दौरान शिक्षा की गुणत्व में ह्रास हुआ। परंतु इस घटना के बारे में विभिन्न शिक्षाविदों का दृष्टिकोण एक जैसा नहीं रहा। कुछ शिक्षाविदों ने इस प्रसार को एक क्षति माना। उनका विश्वास था कि यह प्रसार कार्यकुशलता को नष्ट करके किया जा रहा है जबिक केवल संख्या वृद्धि की अपेक्षा कार्यकुशलता अधिक आवश्यक है। इस प्रकार का विचार रखने वाले लोगों में अधिकांशत: सरकारी कर्मचारी और मिशनरी थे। उनके मत को कलकत्ता विश्व-विद्यालय आयोग के निम्नलिखित शब्दों में सबसे अच्छी तरह ब्यक्त किया जा सकता है:

निस्संदेह, इस क्षेत्र में सरकारी व्यय को घटाकर कम कर देने और स्थानीय तथा गैर सरकारी प्रयत्न को प्रोत्साहन देने की उसकी (अर्थात भारतीय शिक्षा आयोग की) मुख्य नीति निश्चय ही महाविद्यालयों की बौद्धिक कार्य शक्ति को बढ़ाने तथा सबल बनाने की किसी बड़ी योजना के साथ मेल नहीं खा सकती थीं। उसने जिस नीति की सिफारिश की थी उसका आवश्यक रूप से यही परिणाम निकल सकता था कि गहन संवृद्धि न होकर व्यापक संवृद्धि ही हो। उसकी नीति के फलस्वरूप अगले बीस वर्षों में जो नए महाविद्यालय खुले उनमें से अधिकांश तो निश्चय ही त्रुटिपूर्ण थे। उनमें कर्मचारी आवश्यकता से कम थे। न तो ये महाविद्यालय विद्यार्थी की आवश्यकताओं की ओर व्यक्तिगत रूप से घ्यान दे सकते थे और न अध्ययन के उन विविध प्रयोगात्मक एवं साहित्यक पाठ्यक्रमों की ही व्यवस्था कर सकते थे

जो बंगाल के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यक थे। 1882 के बाद अगले बीस वर्षों. की मुख्य विशेषता यह रही कि इस काल में इस प्रकार के महाविद्यालयों की द्रुत गित से स्थापना की गई जो मुख्यत: अथवा पूर्णतया शुल्क पर निर्भर करते थे और उच्च शिक्षा केंद्रों के बजाय अनुशिक्षण संस्थाओं के रूप में फले फले।

इसके विपरीत, शिक्षाविदों का एक ऐसा दल था जिसमें अधिकांशतः भारतीय ही थे। यह दल यह समझता था कि जो राष्ट्र प्रगति के लिए संघर्ष कर रहा है उसे संघर्ष की प्रारंभिक अवस्थाओं में कार्य कुशलता के बजाय प्रसार के लिए प्रयत्न करना ज्यादा जरूरी है। गोपाल कृष्ण गोखले के निम्नलिखित शब्दों में इस दृष्टिकोण को सबसे अच्छी तरह व्यक्त किया गया है:

सरकार यह न सोचे कि जब तक महाविद्यालयों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा इतने उच्च स्तर की नहीं होगी जितनी आजकल संभव है, तब तक उसके निरूपयोगी और यहां तक कि अनिष्टकर रहने की संभावना है। दूसरी बात यह है कि इस शिक्षा की उपयोगिता का निर्धारण करने के लिए बौद्धिक क्षेत्र में हमारे स्नातकों की सफलताओं को ही एकमात्र अथवा अत्यंत महत्वपूर्ण कसौटी न मान लिया जाए। श्रीमन, मैं समझता हूं और मेरा यह दृढ़ विश्वास है, कि भारत की वर्तमान परि-स्थितियों में समस्त पाश्चात्य शिक्षा मूल्यवान एवं उपयोगी है। यदि यह इतने उच्च स्तर की है जितनी आजकल की परिस्थितियों में संभव है तो बहुत अच्छी बात है। परंतुं यदि यह उच्चतम न भी हो तो केवल उपर्युक्त कारणवश इसे त्याग नहीं देना चाहिए। मैं समझता हूं किसी राष्ट्र का जीवन चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक अथवा बौद्धिक क्षेत्रों में से किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो एक समग्र जीवन होता है। जब तक लोगों को अपनी शक्तियों का सभी क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से उप-योग करने की गुंजाइश न हो, तब तक किसी विशेष क्षेत्र में किसी भी शानदार प्रगति की आशा नहीं करनी चाहिए। मैं समझता हूं कि भारत की वर्तमान स्थिति में पाश्चात्य शिक्षा का सबसे बड़ा काम उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन देना नहीं, वरन भारतीय मस्तिष्क को पुरानी दुनिया के विचारों की गुलामी से मुक्ति दिलाना है पश्चिम के जीवन, विचार और चरित्र में जो कुछ भी सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ है उसे आत्मसात कराना है। इस प्रयोजन के लिए केवल सर्वोच्च ही नहीं वरन संपूर्ण पाश्चात्य शिक्षा उपयोगी है।2

अतः 1901-2 तक भारत में विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय शिक्षा की स्थिति खिचड़ी जैसी हो गई। एक ओर महाविद्यालयी शिक्षा का काफी प्रसार हो चुका था और वह भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में वास्तविक पुनर्जागरण ला रही थी। दूसरी ओर, नए महाविद्यालयों की कार्यकुशलता बहुत ऊंचे दर्जे की नहीं थी। इन महाविद्यालयों में

अनेक गंभीर दोष पैदा हो गए थे जैसे आधुनिक भारतीय भाषाओं की पूर्ण उपेक्षा, उदार शिक्षा का अपेक्षाकृत अधिक प्रसार इत्यादि। जैसा हम अध्याय सात में देखेंगे, जब लार्ड कर्जन ने शिक्षा सुधार का अपना आंदोलन आरंभ किया तो उपर्युक्त दु:खद स्थिति के कारण सरकारी कर्मचारियों और गैर सरकारी लोगों के बीच विशेषकर इसलिए गंभीर विवाद उठ खड़े हुए कि दोनों पक्ष बुराइयों के स्वरूप अथवा उन्हें दूर करने के उपायों के संबंध में सहमत नहीं हो सके।

माध्यमिक शिक्षा का प्रसार (1854-1902): 1854 और 1902 के बीच माध्यमिक शिक्षा का इतिहास महाविद्यालयी शिक्षा के इतिहास जैसा ही है और एक ओर प्रसार की तथा दूसरी ओर, गंभीर रोष उत्पन्न हो जाने की समान खिचड़ी स्थित को दर्शाता है। (क) माध्यमिक शिक्षा का प्रसार (1854-82): 1854 का आज्ञापत्र प्राप्त होने के तुरंत बाद ही माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में तेजी से वृद्धि होने का युग आरंभ हो गया था। इस आंदोलन की अगुवाई स्वाभाविक रूप से नए बनाए गए लोक शिक्षा विभागों ने की थी। चूंकि अंग्रेजी शिक्षा की मांग बढ़ती जा रही थी और भारत सरकार ·लोक शिक्षा विभागों को अपेक्षाकृत अधिक अनुदान दे रही थी अतः उनका कार्य अत्यंत सुविधाजनक हो गया था। 1854 और 1870 के बीच, सरकार द्वारा सीधे संचालित माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। बाद के वर्षों में, सरकारी नीति में थोड़ा परिवर्तन हुआ। 1865-70 की अवधि में सरकार ने भारत में शिक्षा की प्रगति के बारे में जो आनुक्रमिक पुनरीक्षण कराए, उन सभी में सर्वसाधारण के बीच प्रारंभिक शिक्षा का प्रसार करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक शिक्षा संबंधी सरकारी प्रयत्न कुछ हद तक धीमा पड़ गया। परंत् इसके बावजूद 1882 में सरकारी माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 1,363 (छात्रों की संख्या 44,605) भी जबिक 1855 में 169 (छात्रों की संख्या 18,335) थी।

सरकार की ओर से अपने प्रयत्न की गति धीमी कर दिए जाने पर खेद की कोई बात नहीं है। 1854 के आज्ञापत्न में सहायता अनुदान पद्धति पर भारी जोर दिया गया श्या। अतः प्रत्येक प्रांतीय सरकार ने सहायता अनुदान के नियम बना दिए थे और गैर सरकारी भारतीय उद्यम की सहायता के लिए बजट में यथेष्ट व्यवस्था कर दी थी। इसके परिणामस्वरूप गैर सरकारी माध्यमिक विद्यालय खुल गए और उनकी संख्या में बहुत तेजी से वृद्धि होने लगी। इस प्रकार, सरकारी प्रयत्न में जो कमी हुई थी, वह पूरी तरह दूर हो गई और कार्य कुछ अधिक ही हुआ।

इस काल की एक विशेषता पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। वुड के घोषणा पत्न के बाद अगले कुछ वर्षों में माध्यिमक शिक्षा में गैर सरकारी उद्यम मुख्य रूप से मिशनरियों तक ही सीमित रहा। परंतु कुछ ही वर्षों में स्वयं भारतीय लोग इस क्षेत्र में इतनी बड़ी संख्या में आ गए कि 1882 में भारतीय प्रबंध में चलने वाले विद्यालय ही

^{1.} रिपोर्ट, अंक I, पृ० 59-60 ।

^{2.} स्पीचेज, पृ० 234-35 I

^{1.} इंडियन एनूकेशन कमीशन, जनरल टेबिल 1 ए।

गैर सरकारी उद्यम का प्रमुख अंग बन चुके थे। मद्रास में भारतीय उद्यम ने हाल ही में अपने कियाकलापों को मिशनरी कियाकलापों से भी अधिक बढ़ा लिया था। मद्रास प्रांत में मिशनरी कियाकलाप किसी अन्य प्रांत की अपेक्षा अधिक व्यापक पैमाने पर चल रहे थे। बंबई में उनका कार्य अच्छी तरह चल रहा था और अन्य प्रांतों में अभी बढ़ना शुरू हो रहा था। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस पूर्ववर्ती काल में भी भारतीयों द्वारा संचालित अंग्रेजी विद्यालयों की संख्या तमाम अन्य गैर सरकारी अभिकरणों द्वारा संचालित अंग्रेजी विद्यालयों की कुल संख्या की लगभग दुगूनी थी।

(ख) माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के संबंध में भारतीय शिक्षा आयोग की सिकारिश: जब 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया तो उसे माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के विषय में दो महत्वपूर्ण कार्य करने थे। पहला कार्य यह था कि उसे माध्यमिक शिक्षा का और भी तेजी से प्रसार करने के साधनोंपायों का सुझाव देना था। 1854 और 1882 के बीच माध्यमिक विद्यालयों और छात्रों की संख्या में निस्संदेह दूत गति से वृद्धि हुई थी। परंतु इसी अवधि में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति रुचि में इस सीमा तक सारभूत रूप से वृद्धि हो गई कि माध्यमिक शिक्षा का और भी तेजी से प्रसार किए जाने की आवश्यकता को सामान्य रूप से महसूस किया जा रहा था। दूसरा कार्य यह था कि आयोग को माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के लिए सर्वोत्तम अभिकरण की सिफारिश करनी थी। इस काल में इस विषय पर शिक्षा क्षेत्र में भारी मतभेद था। एक विचार यह था कि सरकार को ऐसे माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि करनी चाहिए जो उसके सीधे नियंत्रण में हों क्योंकि गैर सरकारी विद्यालयों से इन विद्यालयों में कार्यकुशलता बहुत अधिक पाई जाती है। दूसरी ओर ऐसे लोगों का एक बड़ा वर्ग था जो विभिन्न आधारों पर यह सिफारिश करते थे कि गैर सरकारी उद्यम, विशेषकर भारतीय गैर सरकारी उद्यम को माध्यमिक शिक्षा का प्रसार करने के प्रभावी साधन के रूप में प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। पहली बात तो यह है कि गैर सरकारी उद्यम द्वारा संचालित विद्यालयों में शुल्क कम लिया जाता था जिसके परिणामस्वरूप वे समाज के निर्धन वर्गों के बीच शिक्षा का प्रसार करने में अधिक समर्थ थे। दूसरी बात है कि इन संस्थाओं को दिया जाने वाला सहायता अनुदान उस खर्च की राशि की अपेक्षा बहुत कम होता था जो सरकार के सीधे नियंत्रण में कार्य करने वाले माध्यमिक विद्यालयों के अनूरक्षण के लिए अपेक्षित थी। अतः यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि चूंकि सरकारी संस्था की अपेक्षा गैर सरकारी संस्था कम समय में और अपेक्षाकृत कम खर्च पर माध्यमिक शिक्षा का प्रसार कर सकती है अतः इस कार्य के लिए गैर सरकारी संस्था को ही तरजीह देनी होगी।

आयोग का यह विचार था कि सरकार माध्यमिक विद्यालयों के सीधे प्रबंध को छोड़ दे और गैर सरकारी उद्यम को यथासंभव प्रोत्साहन दे। उसकी यह राय थी कि राज्य का प्राथमिक शिक्षा के साथ जो संबंध है वह उसकी अपेक्षा भिन्न प्रकार का है जो माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था करता और यदि लोग शिक्षित होने की अनिच्छा प्रकट करते तो उन्हें सांविधिक रूप से बाध्य करता। इसी के परिणामस्वरूप राज्य का यह भी कर्तव्य था कि वह न केवल ऐसे स्थानों पर प्राथमिक विद्यालयों की व्यवस्था करता जहां लोग उनकी मांग करते थे वरन उन सभी स्थानों पर भी व्यवस्था करता जहां उनकी आवश्यकता थी। पर्ततु माध्यमिक शिक्षा का राज्य पर इतना अधिक अधिकार नहीं था। सरकार का यह दायित्व नहीं था कि वह माध्यमिक शिक्षा की सीधे व्यवस्था करती यद्यपि वह उन सभी प्रयत्नों को प्रोत्साहन देने के लिए बाध्य थी जो लोग अपने को शिक्षित करने के लिए करते। अतः आयोग ने यह सिफारिश की कि जहां तक हो सके माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था सहायता अनुदान आधार पर की जानी चाहिए और सरकार को माध्यमिक विद्यालयों के सीधे प्रबंध को यथाशी घ्र छोड़ कर इस क्षेत्र से हट जाना चाहिए।

विबदोरिया काल : दो

यह मूल सिफारिश पूर्णतया 1854 के आज्ञापत्न के अनुसार थी। इसके परिणाम-स्वरूप निम्नलिखित प्रश्न उठे:

- (क) सरकार द्वारा पहले से ही संचालित किए जाने वाले माध्यमिक विद्यालयों का भविष्य क्या हो ?
- (ख) ऐसे स्थानों पर क्या किया जाए जहां लोग सहायता अनुदान आधार पर माध्यमिक विद्यालयों का अनुरक्षण करने के लिए काफी प्रबुद्ध अथवा धनी नहीं हैं? पहले प्रश्न के संबंध में आयोग ने सिफारिश की कि सरकारी प्रयत्न का यह लक्ष्य होना चाहिए कि यदि स्थायित्व और कार्यकुशलता की पर्याप्त गारंटी मिल जाए तो समस्त माध्यमिक विद्यालयों को धीरे धीरे उपयुक्त गैर सरकारी अभिकरण को सौंप दिया जाए। दूसरे प्रश्न के संबंध में आयोग का मत था कि उपर्युक्त सिफारिश 'असाधारण स्थितियों में सरकार द्वारा ऐसे स्थानों पर माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना किए जाने का' निषेध नहीं करती 'जहां जनता के हित में उनका होना आवश्यक हो और जहां लोग सहायता अनुदान से अपने लिए इस प्रकार के विद्यालय स्थापित करने के लिए प्रबुद्ध अथवा धनी न हों।' परंतु आयोग ने इस बात पर जोर दिया था कि सरकार का कर्तव्य प्रत्येक जिले में एक सरकारी अथवा सहायता प्राप्त कार्यकुशल उच्च विद्यालय स्थापित करने तक सीमित है और इसके बाद सरकार को उस जिले में माध्यमिक शिक्षा का और आगे प्रसार करने का कार्य स्वयं जनता के गैर सरकारी प्रयत्न के लिए छोड़ देना चाहिए।
- (ग) 1882 और 1902 के बीच शिक्षा का प्रसार : आयोग की उपयुक्त सिफारिशों पर जो कार्रवाई की गई थी उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। आयोग ने गैर सरकारी उद्यम का प्रसार करने तथा उसें प्रोत्साहन देने के संबंध में जो सिफारिशों की थीं उन्हें भारत की प्रांतीय सरकारों ने स्वीकार कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि आयोग का प्रतिवेदन आने के बाद अगले बीस वर्षों में माध्यमिक शिक्षा का बहुत तेजी से प्रसार हुआ। यह प्रसार विशेषकर गैर सरकारी विद्यालयों द्वारा किया गया था।

^{1.} भारतीय प्रबंधकों के अधीन 1,341 विद्यालय (3,36,837 छात्र) थे जबिक अन्य प्रबंधकों के अधीन 757 विद्यालय (2,86,877 छात्र) थे।

इस दृष्टि से निम्नलिखित आंकड़े रोचक प्रतीत होंगे:

| | 1881-82 | 1901-2 |
|---|----------|----------|
| 1. माध्यमिक विद्यालयों की संख्या | 3,916 | 5,124 |
| माध्यमिक विद्यालयों में छात्नों की संख्या | 2,14,077 | 5,90,129 |

देखिए भारतीय शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन, पु० 193

यह ध्यान रखना चाहिए कि माध्यमिक शिक्षा के इन आंकड़ों में कुछ तुटियां हैं। उदाहरण के लिए, माध्यमिक शिक्षा शब्द सभी प्रांतों में एक ही अर्थ में नहीं लिया गया है। बंबई और मद्रास में, उच्च प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को 'प्राथमिक शिक्षा' के अंतर्गत दिखाया गया है जबिक उत्तरी भारत में माध्यमिक शिक्षा के अंतर्गत दिखाया गया है। दूसरी बात यह है कि इन आंकड़ों में कुछ मामलों में उच्च विद्यालयों के प्राथमिक विभागों के छात्रों को भी शामिल कर लिया गया है। अब इन दोषों को दूर नहीं किया जा सकता है। परंतु तुलना करने के प्रयोजनार्थ इन दोषों की अवहेलना की जा सकती है और सामान्य रूप से यह माना जा सकता है कि उपर्युक्त आंकड़े 1882 और 1902 के बीच हुई माध्यमिक शिक्षा की प्रगति को बताते हैं। अत: उपर्युक्त आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि माध्यमिक शिक्षा का प्रसार बहुत तेजी से हुआ था और 1882 और 1902 के बीच के बीस वर्षों में शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या बढ़कर दुगुनी से भी अधिक हो गई थी।

माध्यमिक शिक्षा के दोष (1854-1902): माध्यमिक शिक्षा का यह प्रसार निरा वरदान नहीं था। इस काल के आरंभ में ही माध्यमिक शिक्षा पद्धित में भारी दोष उत्पन्न हो गए थे। उनमें से निम्नलिखित दोष उल्लेखनीय हैं: (क) मातृभाषा की शिक्षा माध्यम के रूप में उपेक्षा; (ख) प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव; और (ग) माध्यमिक चरण में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का न होना। इस संपूर्ण काल में इन दोषों को दूर करने के अनेक प्रयत्न किए गए थे परंतु उसके बावजूद ये दोष कायम रहे। अब हम समस्या के इसी पक्ष के इतिहास पर विचार करेंगे।

(क) मातृभाषा की शिक्षा माध्यम के रूप में उपेक्षा: 1854 के आज्ञापत में अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने वाले माध्यमिक विद्यालयों के साथ-साथ मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाले माध्यमिक विद्यालयों ने ये भाव सदैव ध्यान में रखे होते तो आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने वाले उच्च विद्यालयों की एक प्रणाली विकसित हो गई होती और कालांतर में इन भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालय भी स्थापित हो गए होते। परंतु दुर्भाग्यवश, इस काल में शिक्षा विभाग की नीति स्पष्ट

रूप से भारत की आधुनिक भाषाओं की उन्नति करने के पक्ष में नहीं थी। आज्ञापत्र में यह आंगा की गई थी कि शिक्षा विभाग उस अंतर को दूर कर देगा जो आंग्ल देशी भाषा और देशी भाषा विद्यालयों के बीच विद्यमान है। परंतु इस अंतर को दूर करने के बजाय विभाग ने ऐसे सुधार किए जिनसे यह अंतर और भी बढ़ने लगा। माध्यमिक एवं प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों के (जिस रूप में वे 1882 में थे) अध्ययन से पता चलता है कि:

- (1) भाषा के रूप में अंग्रेजी का अध्ययन (बंबई को छोड़ कर) ऐसे समय आरंभ कराया जाता था जबकि छात्र को अपनी मातुभाषा का भी सम्यक ज्ञान नहीं होता था।
- (2) अंग्रेजी (बंगाल के अधिकांश उच्च विद्यालयों को छोड़कर) उसका शिक्षा माध्यम के रूप में प्रयोग किए जाने से पहले ही 'एक विषय के रूप में पढ़ा जाता था। अंग्रेजी का शिक्षा माध्यम के रूप में सफलतापूर्वक प्रयोग किए जाने के लिए यह आवश्यक था कि छात्र अंग्रेजी भाषा में निष्णात हों। परंतु विषय के रूप में अंग्रेजी का अध्ययन किए जाने की अवधि इतनी कम थी कि छात्र अंग्रेजी में निष्णात हो ही नहीं सकता था। वस्तुत: भारतीय शिक्षा आयोग ने यह बताया था कि शिक्षा माध्यम के रूप से अंग्रेजी का प्रयोग इसलिए नहीं किया जाता कि छात्र अंग्रेजी विषय में निष्णात हो चुका है वरन इसलिए किया जाता है कि विद्यालयों के प्रबंधक छात्र को अंग्रेजी पढ़ने, बोलने और लिखने के लिए अधिकतम अवसर प्रदान करना चाहते हैं ताकि वह स्वयं भाषा पर अधिकार प्राप्त कर सके।
- (3) उच्च विद्यालय चरण में अंग्रेजी का शिक्षा माध्यम के रूप में अनिवार्य रूप में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता था।
- (4) पंजाब को छोड़कर अन्य स्थानों पर मातृभाषा के माध्यम से जो सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त की जा सकती थी वह केवल मिडिल चरण तक की थी। यह प्रतीत होता है कि उच्च विद्यालयों द्वारा मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दिए जाने के विचार को छोड़ दिया गया था। पंजाब में भी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाला केवल एक ही विद्यालय जालंधर में था और तीन उच्च विद्यालयों में प्राथमिक अनुभाग थे। अतः अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने वाले 181 विद्यालयों की तुलना में मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाले उच्च विद्यालयों की संख्या केवल चार थी। इस तथ्य से पता चलता है कि वुड के घोषणापत्र के आदेशों और शिक्षा पद्धति के बीच कितना अधिक अंतर हो गया था।

संक्षेप में हम इस अनिवार्य परिणाम पर पहुंचते हैं कि 1882 के माध्यमिक पाठ्यक्रम का अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य 1854 के आज्ञापत्र में निर्धारित नीति के अनुसार अंग्रेजी तथा मातृभाषा के माध्यम से कम ऊंची श्रेणी के यूरोपीय ज्ञान का नहीं, वरन अंग्रेजी के ज्ञान का प्रसार करना था।

भारतीय शिक्षा आयोग के सामने शिक्षा माध्यम का प्रश्न विचारार्थ उपस्थित हुआ था। परंतु दुर्भाग्यवश शिक्षा माध्यम की समस्या के संबंध में आयोग ने बहुत निराशा-जनक सिफारिश की थी। मातृभाषा का उच्च विद्यालय चरण में माध्यम के रूप में प्रयोग किए जाने के संबंध में इस सिफारिश में कुछ भी नहीं कहा गया था और स्पष्ट रूप से अंग्रेजी के प्रयोग का समर्थन किया गया था। आयोग ने केवल इस समस्या के बारे में विचार किया था कि मिडिल स्कूल चरण में शिक्षा माध्यम क्या होना चाहिए और इसके बारे में भी वह किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचा। हम स्वयं आयोग के शब्दों को ही उद्धत किए देते हैं:

हम इस विषय के लिए कोई निश्चित सिफारिश नहीं कर रहे हैं। परंतु इसके साथ ही हम स्थानीय सरकारों तथा विभागों से, और समान रूप से सहायता प्राप्त और गैर सहायता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों के प्रबंधकों से भी यह सिफारिश करते हैं कि वे उपर्युक्त अभिमतों को ध्यान में रखते हुए इस विषय पर विचार करें। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय करने में मुख्यत: स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करना पड़ेगा। अत: किसी भी प्रांत में शिक्षा विभाग चाहे कोई भी दृष्टिकोण क्यों न अपनाना चाहता हो, विद्यालयों के प्रबंधकों को निर्णय करने की पूरी छूट होनी चाहिए।

मुख्यतः इन द्विविधापूर्ण सिफारिशों के कारण ही 1882 और 1902 के बीच माध्यमिक चरण में आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यमों के रूप में स्वीकार किए जाने के संबंध में कोई सफलता नहीं मिली। इस काल में इस विचार को निश्चय ही त्याग दिया गया कि मातुभाषा के माध्यम से शिक्षा देने वाले उच्च विद्यालयों का विकास किया जाए। 1902 तक ब्रिटिश भारत के सभी प्रांतों में ऐसी सर्वोच्च शिक्षा केवल मिडिल स्कूल चरण तक ही सीमित रह गई जिसे कोई बालक अपनी मातुभाषा के माध्यम से प्राप्त कर सकता था। भारतीय शिक्षा आयोग ने कोई ऐसी निश्चित सिफारिश नहीं की जो अंग्रेजी की प्रमुखता की घोषणा करती अथवा अपना उचित स्थान पाने में आधुनिक भारतीय भाषाओं की सहायता करती । इसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक पाठयक्रम में अंग्रेजी की प्रमुखता बढ़ती गई और 1902 तक अंग्रेजी का अध्यापन माध्यमिक पाठयक्रम का प्रधान लक्ष्य माना जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप देशी भाषाओं के अध्ययन की उपेक्षा हुई। बहुधा अपनी मातृभाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व ही छात को अंग्रेजी का अध्ययन आरंभ करवा दिया जाता था। माध्यमिक पाठ्यक्रम में शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग इतनी जल्दी आरंभ करवा दिया जाता था कि छात पाठ्यचर्या के उदार विषयों में निष्णात होने के लिए अध्ययन करने के बजाय अपना अधिकांश समय शिक्षा माध्यम एवं परीक्षा द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने में ही व्यतीत करते थे।

(ख) माध्यिमक अध्यापकों का प्रशिक्षण: यद्यपि 1854 के शिक्षा आज्ञापत्र में अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के महत्व पर जोर दिया गया था तथापि आज्ञापत्र आने के बाद अगले तीस वर्षों में माध्यिमक अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए कोई संतोषजनक कार्रवाई नहीं की गई। भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन से पूर्व, संपूर्ण भारत में माध्यिमक

(अंग्रेजी) विद्यालयों के अध्यापकों के लिए केवल दो प्रशिक्षण संस्थाएं थीं, एक मद्रास में (1856 में स्थापित) और दूसरी लाहौर में (1880 में स्थापित)। मद्रास के प्रशिक्षण विद्यालय में 1882 में आठ स्नातक, तीन कला प्रथम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण व्यक्ति और 18 मैंट्रिक थे। लाहौर का महाविद्यालय ऐसे 30 व्यक्तियों को दाखिल करता था जो प्रथम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण हों अथवा और अधिक अर्हतावान हों। वहां कोई शिक्षणाभ्यास विद्यालय नहीं था और विद्याधियों की बैयक्तिक योग्यताओं में अंतर होने के बावजूद उन सब को एक ही कक्षा का विद्यार्थी माना जाता था और एक ही पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता था। अतः यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि तत्कालीन प्रशिक्षण संस्थाओं की जो स्थित ऊपर बताई गई है उसके अनुसार सीमित अर्थ में भी माध्यमिक विद्यालयों के बहुत थोड़े से अध्यापक ही प्रशिक्षत किए जा सकते होंगे।

1882 में भी यह बात विवादास्पद थी कि माध्यमिक अध्यापकों को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता है अथवा नहीं। अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि इस विषय में भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशें यस्तुतः प्रगतिशील नहीं थीं। उसने सिफारिश की थी कि:

- (क) अध्यापन के सिद्धांतों तथा पद्धित के संबंध में एक परीक्षा आरंभ की जाए और सरकारी अथवा सहायता प्राप्त माध्यमिक विद्यालय में अध्यापक के पद पर स्थाई नौकरी पाने के लिए यह शर्त रखी जाए कि उपर्युक्त परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक है।
- (ख) नार्मल स्कूल में अध्यापन के सिद्धांतों तथा पद्धित की अनुदेश पाठ योजना में उपस्थित होने की इच्छा रखने वाले स्नातकों के लिए अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा संक्षिप्त प्रशिक्षण पाठ्यक्रम हो।

भारतीय शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन आने के बाद अगले बीस वर्षों में अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के बारे में बहुत घीमी प्रगति हुई । 1901-2 में छः प्रशिक्षण महाविद्यालय थे जबिक 1882 में दो थे। ये महाविद्यालय सईदापेट, राजामहेन्द्री, कुरस्यांग, इलाहाबाद, लाहौर और जबलपुर में स्थित थे। भारत के प्रत्येक प्रांत ने अध्यापकों के लिए एक प्रमाणपत्र परीक्षा की व्यवस्था की थी जबिक मद्रास विश्वविद्यालय ने एल० टी० उपाधि चालू की थी। उपर्युक्त छः महाविद्यालयों के अतिरिक्त माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए बहुत से विद्यालय भी थे। 1902 तक बंबई ही एकमाल ऐसा बड़ा प्रांत रह गया था जिसने माध्यमिक अध्यापकों के लिए किसी प्रशिक्षण संस्था की व्यवस्था नहीं की थी।

(ग) व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का होना: 1854 के आज्ञापत्र में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई थी कि माध्यमिक विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा 'भारत के लिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यावहारिक रूप से उपयोगी होनी चाहिए।' इसके साथ ही एक इच्छा भी व्यक्त की गई थी कि आज्ञापत्र में जिन नए विद्यालयों की स्थापना करने की बात कही गई है वे विद्यालय 'ऐसी उन्नत शिक्षा के अर्जन के लिए वर्तमान काल में प्राप्त होने वाले अवसरों की अपेक्षा अधिक अवसर प्रदान करें जो शिक्षार्जन करने वाले लोगों को जीवन की प्रत्येक अवस्था में समाज का अधिक उपयोगी सदस्य बना देगी।' इससे

स्पष्ट पता चलता है कि आज्ञापत्न में माध्यमिक चरण में व्यावसायिक अथवा प्राव्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की बात सोची गई थी।

परंतु उत्तरकालीन प्रशासकों ने इस नेक सलाह की उपेक्षा कर दी। यहां तक कि भारतीय शिक्षा आयोग को 1882 में भी यह पता लगा कि केवल बंबई प्रांत में ही कृषकों के बालकों को चार रुपये मासिक की कुछ छात्रवृत्तियां देकर व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की गई थी ताकि उन्हें प्रयोगात्मक कृषि की शिक्षा के लिए उच्च विद्यालयों से संबंधित आदर्श खेतों पर पहुंचने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। इस एकमात्र अपवाद को छोड़ कर, संपूर्ण भारत में यह मान लिया गया था कि उच्च विद्यालय 'न केवल अथवा मुख्य रूप से उन छात्रों को माध्यमिक शिक्षा देने वाले विद्यालय हैं जिनकी शिक्षा माध्यमिक चरण में समाप्त हो जाएगी, वरन् इससे भी कहीं अधिक उन लोगों के लिए प्राक्-प्रवेश विद्यालय हैं जिन्हें विश्वविद्यालय के विद्यार्थी बनना है।'

इस दुःखद परिणाम के तीन कारण थे। पहला कारण यह था कि उस काल में माध्यमिक विद्यालयों के अधिकांश छात्र समाज के ऐसे वर्गों के होते थे जो शैक्षिक रूप से उन्नत थे। उनका मुख्य लक्ष्य सरकार के अधीन रोजगार प्राप्त करना था क्योंकि इससे उन्हें एक ही बार की कोशिश से अच्छा पेशा और समाज में ऊंचा दर्जा मिल सकता था और वे आर्थिक उन्नति कर सकते थे। वे माध्यमिक विद्यालयों में भारी संख्या में पढ़ने आए। इससे उन दिनों सरकारी नौकरी का द्वार खुलता था। इनमें से जो लोग महत्वाकांक्षी थे उनके लिए मैंट्रिक होने का अर्थ यह था कि उन्हें विश्वविद्यालय में प्रवेश मिल सकता था जहां से उन्हें सरकार के अधीन ऊंचे और अधिक लाभप्रद पद प्राप्त हो सकते थे। अतः समाज के ये वर्ग मैट्कि परीक्षा और अंग्रेजी में प्रवीणता प्राप्ति को बहुत महत्व देने लगे थे। मैट्कि प्रमाणपत की मांग होने से माध्यमिक विद्यालयों के कार्य पर प्रभाव पडना लाजिमी था । उनके कार्य पर प्रभाव पड़ना अधिक लाजिमी इसलिए भी था कि कालांतर में अधिकांश माध्यमिक विद्यालयों का प्रबंध शैक्षिक रूप से उन्नत वर्गों के हाथों में आ गया था। दूसरा कारण यह था कि माध्यमिक विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा दिए जाने के लिए सरकार ने स्वयं कोई कार्रवाई नहीं की थी। उस काल में सरकार द्वारा संचालित विद्यालयों को आदर्श संस्थाएं माना जाता था और सामान्यत: गैर सरकारी उद्यमकर्ताओं द्वारा अनुकरण किए जाने के लिए वे मानदंड स्थापित करते थे । चूंकि सरकारी विद्यालयों में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की कोई व्यवस्था नहीं थी अत: यदि गैर सरकारी विद्यालयों में भी उनकी कोई व्यवस्था नहीं की गई तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। तीसरा कारण यह था कि जो नए विद्यालय स्थापित हुए उनमें से अधिकांशके पास आरंभ में पर्याप्त वित्तीय साधन नहीं थे। अतः उन्होंने सामान्यतः अपने कार्य को मैट्रिक तक पहुंचाने वाली उदार शिक्षा के पाठयक्रम तक ही सीमित रखा क्योंकि उसमें सबसे कम साज सामान और खर्च की

आवश्यकता होती थी। इसलिए यदि 1882 के माध्यमिक विद्यालय मैट्रिक परीक्षा के लिए परीक्षार्थी तैयार करने के स्थान मात्र ही बने रहे तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

अत: विभिन्न व्यवसायों के लिए छात्रों को तैयार करने की दृष्टि से उच्च माध्यमिक चरण में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करने की ओर भारतीय शिक्षा आयोग ने यथेष्ट घ्यान दिया। उसने माध्यमिक पाठ्यक्रम को दो भागों में बांट देने की सिफारिश की और कहा:

अतः हम सिफारिश करते हैं कि उच्च विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में दो खंड हों। एक खंड में अध्ययन पूरा करके विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा में बैठा जा सके। दूसरा खंड अधिक व्यावहारिक स्वरूप का हो और युवकों को वाणिज्यिक अथवा असाहित्यिक विषयों के योग्य बनाए। (पृ० 221)

यह सिफारिश र्स्वाकार कर ली गई और प्रत्येक प्रांत में वैकल्पिक परीक्षाओं की व्यवस्था की गई। परंतु जो अनुभव हुआ वह उत्साहवर्धक नहीं था। 1901-2 में संपूर्ण भारत में कुल मिला कर मैट्रिक परीक्षा में 23,000 से कम परीक्षार्थी नहीं बैठे थे। परंतु समस्त अन्य वैकल्पिक परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों की कुल संख्या केवल लगभग 2,000 थी। इनमें से लगभग 1,200 बंबई प्रांत के थे (जहां बहुत से परीक्षार्थी दोनों परीक्षाओं में बैठे थे)। अतः यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि वैकल्पिक पाठ्यक्रम लोकप्रिय नहीं हुए और 1882 की भांति ही 1902 में भी माध्यमिक शिक्षा क्षेत्र में मैट्रिक परीक्षा को अनन्य रूप से प्रमुखता दी जाती थी।

1902 में, भारत में माध्यमिक शिक्षा पद्धति अच्छाई और बुराई का एक विचित्र सम्मिश्रण थी। एक ओर इस क्षेत्र में, विशेष रूप से, भारतीय उद्यम का यथेब्ट प्रसार हुआ। दूसरी ओर, कार्यंकुशलता की बहुत कमी रही और पद्धति में अनेक गंभीर दोष विद्यमान रहे जैसे व्यावसायिक शिक्षा का न होना और शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग। 1901-2 में माध्यमिक शिक्षा की इस स्थिति में और महाविद्यालयी शिक्षा की स्थिति में इतना अधिक साम्य था कि यहां कोई टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। इसी साम्य के फलस्वरूप बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में भी दोनों क्षेत्रों में यथार्थतः एक जैसे विवाद उत्पन्न हुए। इन उत्तरकालीन घटनाओं के इतिहास का अध्याय सात में विवेचन किया जाएगा।

नई शिक्षा के प्रभाव (1854-1902): 1855 और 1902 के बीच भारत में विश्व-विद्यालय एवं माघ्यमिक शिक्षा का जो विकास हुआ था अब तक हमने उसका ही संक्षिप्त इतिहास बताया है। भारत में अंग्रेज शिक्षाविदों की सबसे विशिष्ट उपलब्धि यह रही कि उन्होंने एक नई शिक्षा पद्धित का सर्जन किया। इस पद्धित का लक्ष्य पश्चित्य विज्ञान एवं साहित्य का प्रसार करना था और इसने निम्न माध्यमिक चरण को छोड़ कर अन्य सभी चरणों में अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम के रूप में स्वीकार किया था। निम्न माध्यमिक चरण में अंग्रेजी एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती थी। इसी शिक्षा पद्धित के माध्यम से भारतीय विचारधारा का पश्चिम से प्रथम परिचय हुआ और यही शिक्षा पद्धित, भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में आधुनिक पुनर्जागरण लाने के लिए, यदि पूरी तरह नहीं तो मुख्य रूप से उत्तरदाई है ।

नई शिक्षा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण परिणाम यह भी निकला कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक नए साहित्य और प्रेस का जन्म हुआ। जैसा पहले बताया जा चका है, मिशनरियों ने इस दिशा में अग्रणी कार्य किया था। उन्होंने ही भारत में पहला मुद्रणालय स्थापित किया और पहला समाचार पत्न निकाला । उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया, शब्दकोषों का संकलन किया, व्याकरण रचे और बाइबल का इन भाषाओं में अनुवाद किया। परंतु उनका यह इरादा कतई नहीं था कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य तैयार किया जाए। उनके दो मुख्य लक्ष्य थे: (क) यूरोपीय मिश-नरियों द्वारा इन भाषाओं को अध्ययन किए जाने के लिए सहायता के साधन तैयार करना और (ख) बाइबल तथा तंत्संबंधी साहित्य का इन भाषाओं में अनुवाद करना। ज्यों ही ये लक्ष्य पूरे हो गए उनके मन में जनता के लिए एक नए साहित्य की रचना करने का प्रयास करने के लिए कोई उत्साह शेष नहीं रह गया। कंपनी के कर्मचारियों ने और बाद में शिक्षा विभागों ने इस काम को हाथ में लिया। यद्यपि वे इस क्षेत्र में मिशनरियों के बाद आए तथापि उन्होंने इस क्षेत्र में मिश्रनरियों की अपेक्षा बहुत भारी और वहमूल्य कार्य किया। आधुनिक भारतीय भाषाओं में धर्म निरपेक्ष स्वरूप वाली पूस्तकें लिखने और प्रकाशित करने के प्रथम प्रयास राजकीय संरक्षण में ही किए गए। नई शिक्षा पद्धति के लक्ष्यों के अनुसार, सबसे पहले प्रकाशित की गई पुस्तकों सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पूस्तकों अथवा प्रबंधों का अनुवाद थीं। वे इतिहास, बीजगणित, ज्यामिति इत्यादि विषयों पर थीं। इन विषयों को नई विद्यालय प्रणाली में पढ़ाया जा रहा था। 1854 से पूर्व, आधुनिक भारतीय भाषाओं में नई पुस्तकों तैयार और प्रकाशित करने के कार्य को शिक्षा के प्रभारी बोर्ड, सिमतियां और परिषदें अथवा इस प्रयोजन के लिए गठित विशेष विद्यालय पुस्तक समितियां ही करती थीं। उन्हें इस काम के लिए कंपनी से सहायता मिलती थी। 1855 के बाद सरकारी बुक डिपो शिक्षा विभागों के अधीन खोले गए। उन्होंने इस काम को पहले की अपेक्षा अधिक बड़े पैमाने पर किया। कुछ समय बाद, गैर सरकारी भारतीय उद्यम ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। नई शिक्षा पद्धति में शिक्षित कूछ व्यक्तियों ने यह महसूस किया कि अंग्रेजी भाषा में जिस प्रकार की पुस्तकें पाई जाती हैं उस प्रकार की पुस्तकें आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी उपलब्ध होनी चाहिए। अत: उन्होंने इस प्रकार के साहित्य की आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचना करने के लिए समितियां बनाई अथवा व्यक्तिगत रूप में पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित कीं। उन्होंने पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार करने और समाज सुधार करने के प्रमुख उद्देश्य से समाचारपत्न चलाए। ज्यों ज्यों यह गैर सरकारी अभिकरण बढ़ने लगा, धीरे धीरे सरकारी बुक डिपो का कार्य विद्यालयों के लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार करने और प्रकाशित करने तक ही सीमित रह गया । आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक नया विश्रुद्ध साहित्य तैयार करने और भार-तीय प्रेस का निर्माण करने का जो कार्य था उसे माध्यमिक विद्यालयों की नई प्रणाली में शिक्षित उत्साही एवं राष्ट्रीय मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों ने प्राय: अनन्य रूप से

अपने ही हाथों में ले लिया। उन्होंने अपना यह कार्य, विशेषकर नई शिक्षा संस्थाओं में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अघ्ययन की लगभग पूर्ण उपेक्षा को देखते हुए, बहुत प्रशंसनीय ढंग से किया। 1902 तक भारत की तमाम महत्वपूर्ण आधुनिक भाषाओं में नया साहित्य यथेष्ट परिमाण में तैयार हो चुका था और भारतीय प्रेस में बहुत अधिक कार्यकुशलता आ गई थी।

सामाजिक और धार्मिक मामलों में भी नई शिक्षा के फलस्वरूप महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। ये पूर्वकालीन आशाएं शीघ्र ही गलत सिद्ध हो गई थीं कि पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा पाने वाले भारतीय भारी संख्या में ईसाई बन जाएंगे। परंतु नई शिक्षा से एक आंदोलन अवश्य गुरू हुआ जिसका लक्ष्य भारतीय समाज का सुधार करना था। यह आंदोलन हिंदुओं में विशेष रूप से दिखाई पड़ता था क्योंकि हिंदू समाज को ही सुधार की सबसे अधिक आवश्यकता थी और हिंदू ही नई शिक्षा के प्रभाव में सबसे अधिक आए थे। अतः हिंदू समाज में हमें जाति प्रथा को समाप्त करने, ऊंची जातियों में विधवा विवाह और विवाह-विच्छेद को स्वीकार करने, विवाह आयु और अनुमति आयु को बढ़ाने, जाति पर आधारित आहार संबंधी प्रतिबंधों को हटाने, अस्पृश्यता का निवारण करने और हरिजनों की आर्थिक दशा को सुधारने के आंदोलन देखने को मिलते हैं। इसके अतिरिक्त धार्मिक सुधारों के लिए भी शक्तिशाली आंदोलन शुरू हुए। इनमें से राजा राममोहन राय के कार्य और ब्रह्मसमाज की स्थापना के बारे में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। इससे भी बहुत अधिक शक्तिशाली आंदोलन स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आर्य समाज का था। इस सुधार का लक्ष्य हिंदू समाज का वैदिक आर्य संस्कृति के नमूने पर जीर्णोद्धार करना था। उसमें कोई जाति प्रथा नहीं रहती थी। नए संप्रदाय के सभी व्यक्तियों का उत्थान करके उन्हें आर्यों का दर्जा दिलाना था तथा उन्हें समान सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार मिलने थे। यह एक ऐसा आंदोलन था जिसका लक्ष्य हिंदू समाज को ढाल कर एक शक्तिशाली और सजातीय समुदाय बना देना था । यह आंदो-लन अधिकांशतः पंजाब और संयुक्त प्रांत में चला था । स्वामी विवेकानंद के नेतृत्व में 1897 में बंगाल में चालू किया गया रामकृष्ण मिशन एक अन्य अत्यंत महत्वपूर्ण सुधार-वादी आंदोलन था। स्पष्ट है कि इस काल के सामाजिक धार्मिक इतिहास का विस्तृत अध्ययन इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की चीज है। परंतु ऊगर जो कुछ बताया जा चुका है वह सामाजिक एवं धार्मिक सुधार की उन विभिन्न लहरों की जानकारी देने के लिए काफी है जो इस नई शिक्षा पद्धति से उत्पन्न हुई थीं।

देश के राजनीतिक जीवन पर नई शिक्षा का और भी गहरा प्रभाव पड़ा। नई शिक्षा पद्धित होने पर कुछ वर्षों पर शिक्षित व्यक्तियों का सबसे अधिक ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर गया। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि सामाजिक कार्य की वास्तव में आवश्यकता थी। दूसरा कारण यह था कि उसका सरकार की ओर से कोई विरोध नहीं हुआ। इस काल के शिक्षित व्यक्तियों में से अधिकांश लोग सरकारी कर्म-चारी थे और राजनीतिक आंदोलन संगठित करने के बजाय उन्होंने समाज सुधार के कार्यक्रमों को पूरा करना अधिक सुविधाजनक समझा। अतः सागाजिक और धार्मिक

सुधार वह मुख्य माध्यम बन गया जिसके द्वारा शिक्षित बृद्धिजीवी वर्ग ने देश की सेवा करने का प्रयत्न किया। परंतु बहुत शीघ्र नवयुवकों का एक ऐसा दल पैदा होने लगा जो यह महसूस करता था कि केवल सामाजिक और धार्मिक कार्य से देश की समस्याएं कदापि हल नहीं हो सकती हैं और भारत का पुनरुद्धार तभी हो सकता है जब सरकार पर राजनीतिक नियंत्रण हो। व्यक्तियों का यह उदीयमान दल बहुत सी सरकारी नीतियों के विरुद्ध था और उनकी डट कर खुलेआम आलोचना करता था। इन लोगों को अंग्रेजी शासन के वरदानों के बारे में कोई भ्रम नहीं था। यद्यपि वे यह स्वीकार करते थे कि ब्रिटेन ने भारत के लिए अनेक अच्छे कार्य किए हैं तथापि वे ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन जनता की बढती हुई निर्धनता और अपने देश के आर्थिक शोषण की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने निम्नलिखित बातों के विरुद्ध आवाज उठाई: अहंकार और रूखेपन से यक्त भावशुन्य शिष्टता जिसका अंग्रेज भारतीयों के साथ व्यवहार करते समय प्रदर्शन करते थे, सभी ऊंचे सरकारी पदों पर अंग्रेजों का अनन्य एकाधिकार, देश की संपत्ति को देश से बाहर ले जाना, लोगों की बढ़ती हुई निर्धनता, राष्ट्र के औद्योगिक साधनों का विकास न किया जाना, प्राथमिक और उच्च शिक्षा का धीमी गति से विकास और ऐसी ही अन्य बुराइयां। इन्हीं विरोधों के बीच से कालांतर में धीरे धीरे एक राजनीतिक आंदोलन प्रारंभ हुआ और 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हई ।

बहुधा यह दावा किया जाता है कि यह राजनीतिक आंदोलन आधुनिक शिक्षा पद्धति का सीधा और अनन्य परिणाम था। परंतु उपर्युक्त दावा करना गलत और इतिहास के नियम को भला देना है। कोई भी राष्ट्र विरोध और असंतोष पैदा किए बिना किसी दूसरे राष्ट्र पर बहुत समय तक शासन नहीं कर सकता है। अत: यदि अंग्रेजों ने भारतीयों को शिक्षित करने का प्रयास न भी किया होता तो भी, देर सबेर ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राजनीतिक आंदोलन चलना लाजिमी था। परंतु यद्यपि हम इस बात को जोर देकर कहते हैं कि भारत में राजनीतिक आंदोलन नई शिक्षा पद्धति के न होने पर भी आरंभ हो गया होता तथापि हम यह भी मानते हैं कि इस बात का खंडन नहीं किया जा सकता है कि नई शिक्षा ने इस आंदोलन को सारभूत रूप से शक्ति प्रदान की थी। जिन स्त्री-पुरुषों ने इंग्लैंड का इतिहास पढ़ा था वे लोकतंत्र और स्वशासन के आदशों से प्रेरणा लिए बिना न रह सके। वे यह दलील देने लगे कि भारत भारतीयों के लिए है और यदि यह मान भी लिया जाए कि यहां एक अच्छी सरकार मौजूद है तो भी यह सरकार स्वशासन की स्थानापन्न नहीं हो सकती है। अतः नई शिक्षा पद्धति ने ही शिक्षित भारतीयों को पाश्चात्य राजनीतिक जीवन के बारे में अंतर्द्ध्टि दी, स्वतंत्रता के प्रति उनमें प्रेम पैदा किया अथवा बढ़ाया तथा उन्हें अपने विदेशी शासकों के विरुद्ध संघर्ष करने का रास्ता दिखाया।

इस काल की दूसरी उपलब्धि थी वह परिवर्तन जो प्राच्य धर्म, दर्शन और साहित्य के प्रति पाश्चात्य अभिवृत्ति में हुआ था। 1813 से पूर्व मिशनरी प्रचार के आधार पर सामान्य अंग्रेज यह विश्वास करता था कि सारे प्राच्य धर्म भूठे हैं और प्राच्य शास्त्रीय भाषाओं का समस्त साहित्य पूरी तरह बेकार है। यह वही अभिवृत्ति थी जिसे चार्ल्स ग्रांट ने अत्यंत विशिष्ट ढंग से व्यक्त किया था। जैसा कि मैंकाले, बैंटिक और आकलैंड के विवरण पत्नों से ज्ञात होगा, 1854 तक न्यूनाधिक यही मत कायम रहा। यह सच है कि इस क्षेत्र में एक विरोधी मत भी था जिसके मानने वालों में वारेन हेस्टिग्ज, मिटो, विल्सन, प्रिसेप जैसे विख्यात व्यक्ति तथा अन्य प्राच्यवादी थे। उनका यह विश्वास था कि प्राच्य दर्शन, धर्म और साहित्य का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है। परंतु इन लोगों की संख्या बहुत थोड़ी थी। मैंकाले ने प्राच्य दर्शन, धर्म और साहित्य का पूर्णत्या विलोपन कर दिया होता, परंतु वह कर नहीं सका। आकलैंड ने सीमित क्षेत्र में उनके प्रति कोई सहिष्णुता तो नहीं दिखाई थी, परंतु उन्हें शांतिपूर्वक कायम अवश्य रहने दिया। 1854 के आज्ञापत्र में अनिच्छापूर्वक इस बात को स्वीकार किया गया था कि प्राच्य शास्त्रीय भाषाओं के अध्ययन से कुछ लाभ अवश्य होते हैं। उदाहरण के लिए, उसमें स्वीकार किया गया था कि ऐतिहासिक, पुरातन अथवा कानूनी दृष्टि से इन भाषाओं के अध्ययन का निश्चय ही महत्व है। परंतु इसके साथ ही आज्ञापत्र में यह भी विश्वास व्यक्त किया गया था कि प्राच्य विद्या की दर्शन और विज्ञान की पद्धित में गंभीर त्रिया है। तो भी, 1854 के तुरंत बाद ही यह प्रतिरोधी अभिवृत्ति समाप्त होने लगी।

नए आंदोलन की एक युग प्रवर्तक घटना यह थी कि 1801-2 में उपनिषदों का एक फ्रांसीसी अनवाद प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद एक फ्रांसीसी विद्वान ए० डपरन ने औरंगजेब के सबसे बड़े भाई शाहजादा दाराशिकोह द्वारा किए गए उपनिषदों के फारसी अनवाद से किया था। यह ग्रंथ महान जर्मन दार्शनिक शापेनहावर के हाथ पड़ गया। वह इस ग्रंथ से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। अतः पश्चिम पर प्राच्य दर्शन का प्रभाव पड़ने की शुरुआत शापेनहावर से ही हुई। तत्पश्चात एक ऐसा आंदोलन छिड़ा जो समय बीतने के साथ साथ अधिक शक्तिशाली होता गया और अब विगत काल की अपेक्षा और भी अधिक मजबूत हो गया है। उन्हीं दिनों संस्कृत के एक अन्य प्रकांड विद्वान सर विलियम जोंस ने संस्कृत ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद करके उनका प्रचार किया। उनका कालिदास की 'शकंतला' का अनवाद एक श्रेष्ठ साहित्यिक कलाकृति थी। उन्होंने तूलनात्मक वाङ-मीमांसा की भी नींव डाली। परंत् प्राच्य शास्त्रीय भाषाओं को लोकप्रिय बनाने का सबसे अधिक कार्य उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे प्राच्यवादी मैक्समूलर ने किया। वेदों का अन-बाद उनकी महान कृति थी। यह एक ऐसा कार्य था जिसके लिए वह निर्धनता और उपेक्षा के बावजद तीस वर्ष तक कार्य करते रहे। नए स्थापित हुए भारतीय विश्वविद्यालयों ने इन लोगों के तथा इनके अनुगामी पाश्चात्य विद्वानों के कार्य को भारी प्रोत्साहन दिया। यद्यपि इन निकायों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की थी तथापि उन्होंने शास्त्रीय भाषाओं को पूरा प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि शास्त्रीय भाषाओं का आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक अध्ययन विक्टोरिया काल की एक स्पष्ट विशेषता बन गया। इससे प्राचीन संस्कृति का ज्यादा अच्छी तरह गूण विवेचन होने लगा। प्राचीन इतिहास और धर्म के बारे में वे भ्रांत धारणाएं दूर हो गई जो पूर्व-काल में अज्ञानी कर्मचारियों अथवा मिशनरियों ने सामान्य रूप से फैला दी थीं। इसके साथ ही प्राच्य विद्वानों का एक भारतीय दल तैयार हो गया। इन विद्वानों में से डा॰ आर॰ जी॰ भंडारकर, डा॰ राजेंद्रलाल मित्रा, के॰ टी॰ तेलंग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये अग्रणी मशाल को उठाकर और भी आगे ले गए। यदि अंग्रेजी शिक्षा प्राची के लिए पश्चिम का ज्ञान कराने का प्रयत्न कर रही थी तो ये प्राच्यवादी प्राची का ज्ञान न केवल पश्चिम को वरन स्वयं प्राची को भी ऐसे रूप और संदर्भ में कराने का प्रयत्न कर रहे थे जिसकी उस समय से पहले किसी को जानकारी नहीं थी। अतः इन प्राच्य विद्वानों द्वारा भारतीय विश्वविद्यालयों में किया गया कार्य ही प्राच्य तथा पाश्चात्य संस्कृतियों का धीरे धीरे संश्लेषण कर रहा था। पूर्वकाल में पश्चिम की कोई भी बात सीखने से इंकार करने वाला कट्टरपंथी हिंदू अथवा मुसलमान अब मैदान में उतर कर सामने नहीं आता था। इसी प्रकार उस मिशनरी को भी अब गौण स्थिति में धकेल दिया गया था जो प्राच्य संस्कृति के स्थान पर पाश्चात्य संस्कृति लाना चाहता था। नए भारतीय विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी और शास्त्रीय भाषाएं एक साथ पढ़ाई जाती थीं और वे एक ऐसी पीढ़ी को जनम दे रहे थे जिसमें दोनों संस्कृतियों का संश्लेषण होना शुरू हो गया था। यद्यिप, अब भी, निस्संदेह पश्चिम पर जोर दिया जाता था तथािप पूर्व को अस्पृश्य बन कर बाहर प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी। उसे सीधे सबसे भीतरी पूजागृह में जाने दिया गया था।

इस संश्लेषण के साथ ही नई शिक्षा की कुछ बुराइयां दूर होने लगीं। नई शिक्षा के प्रारंभ होने के बाद कुछ वर्षों तक विषयवस्त का पश्चिमीकरण करने का प्रयास ही अनन्य रूप से चलता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्यार्थी सामान्यत: नई विजातीय संस्कृति को आत्मसात करने में असमर्थ रहे और उनमें भारी सांस्कृतिक अस्थिरता के चिह्न प्रकट हुए। उन्होंने अंग्रेजों की पोशाक, शिष्टाचार, और बाह्य सामाजिक व्यवहार की आंख मूंद कर नकल की। उन्होंने गर्वपूर्वक इस विश्वास के साथ शराब पी और गोमांस खाया कि वे पाश्चात्य सद्गुणों की नकल कर रहे हैं। किसी भारतीय भाषा में बोलना या लिखना उन्होंने अपनी शान के खिलाफ समझा और जहां तक हो सका अंग्रेजी का प्रयोग किया। सबसे बड़ी बात यह है कि तमाम प्राच्य अथवा प्राचीन विचारों के प्रति उनके मन में अवमान की भावता उत्पन्न हो गई थी। उनमें से कुछ लोग ईसाई बन गए, बहुत से लोग नास्तिक अथवा संशयवादी बन गए और कुछ ब्रह्म समाज अथवा आर्य समाज में शामिल हो गए। पूर्वकाल में शिक्षित युवकों की इस चंचल गतिविधि के कारण बहुत से कट्टरपंथी माता पिता डर गए और नई शिक्षा पद्धति की प्रगति में बाधा डालने लगे। परंतु ज्यों ज्यों पश्चिमीकरण पर जोर कम होता गया, त्यों त्यों प्राच्य संस्कृति का ज्यादा अच्छी तरह गुण निरूपण किया जाने लगा। और दोनों संस्कृतियों का संश्लेषण ज्यों ज्यों बढ़ता चला गया त्यों त्यों नई शिक्षा पद्धति से उत्पन्न होने वाली सांस्कृतिक गड़बड़ियां भी कम नजर आने लगीं। यह सच है कि नई शिक्षा ने भारतीयों को पुरानी दुनिया के विचारों की गुलामी से मुक्त कर दिया था। परंतु यह बात अब अधिक स्पष्ट होने लगी थी कि न तो जो कुछ नया है वह पूरा का पूरा अच्छा है और न जो कुछ पुराना है वह सारा का सारा बुरा है। अतः अच्छे बूरे का विभेद किया जाने लगा और पश्चिम के अनेक नए विचारों को ग्रहण करते हुए, पूर्व में

भी जो कुछ अच्छा है, उन सबको सुरक्षित रखने के लिए प्रयास किया जाने लगा। इसी संग्लेषण में इस काल में भारतीय राष्ट्रीय जीवन में एक नए नेतृत्व का जन्म हुआ। इन नेताओं में पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, स्वामी विवेकानंद, जिस्टस एम० जी० रानाडे, पंडित मदनमोहन मालवीय, दादाभाई नौरोजी, सर सैयद अहमद खां तथा अन्य व्यक्ति शामिल थे।

अब हम इस नई शिक्षा के दूसरे पहलू को लेते हैं। इस नई शिक्षा में दो मुख्य दोष थे: पहला दोष यह था कि इस शिक्षा का उद्देश्य यह नहीं था कि भारत के आर्थिक और औद्योगिक विकास में योगदान किया जाए और इसने योगदान किया भी नहीं। दूसरी बात यह है कि यह शिक्षा बहत थोड़े लोगों तक सीमित थी। घन की कमी होने और अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम स्वीकार किए जाने का अर्थ यह था कि यह शिक्षा सर्व-साधारण को कभी नहीं दी जा सकती थी। इसने एक नए वर्ग अथवा छोटे से बृद्धिजीवी वर्ग को जन्म दिया जिसमें सर्वसाधारण से बहुत कम समानता पाई जाती थी। इसके अतिरिक्त, इस नए वर्ग का स्वरूप शहरी था। इसका एक कारण यह था कि तमाम माध्यमिक विद्यालय और महाविद्यालय शहरों में ही स्थित थे। दूसरा कारण यह था कि अधिकांश शिक्षित व्यक्तियों को जब शिक्षा प्राप्त करने के बाद रोजगार मिला तो वे केवल शहरों में रहने के लिए मजबूर हो गए। तीसरा कारण यह था कि इस वर्ग में अधिकांशत: ऐसे व्यक्ति थे जो उच्च जातियों और समाज के धनी वर्गों से आए थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नई शिक्षा पद्धति ने भारतीय समाज को दो सुस्पष्ट समृहो में बांट दिया था। एक समूह शिक्षा प्राप्त स्त्री पृष्षों का था। इन स्त्री पुरुषों की संख्या बहुत कम थी। यह वस्तुतः शिक्षित अभिजात वर्ग था जिसका स्वरूप सब्यक्त रूप से शहरी और उच्चवर्गीय था। दूसरा समूह उन लोगों का था जिनमें भारी संख्या में प्राय: ऐसे निरक्षर व्यक्ति थे जो ग्रामीण क्षेत्रों में रहते थे और नीची जातियों के थे। आधूनिक भारतीय शिक्षा की अधिकांश बुराइयां इस विच्छेद से ही उत्पन्न हुई और दूर्भीग्यवश यह विच्छेद अब भी ज्यों का त्यों कायम है।

प्राथमिक शिक्षा (1854-1902): इस काल के प्राथमिक शिक्षा के इतिहास को चार भागों में बांटकर सुविधापूर्वक अध्ययन किया जा सकता है: (क) 1859 का आज्ञापत्न, (ख) 1859-82 की घटनाएं, (ग) भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशें (1882-83), और (घ) 1882-1902 की घटनाएं।

1859 का आज्ञापत्र: 1854 के आज्ञा पत्र में यह सिफारिश की गई थी कि (क) देशी विद्यालयों को राजकीय शिक्षा पद्धति में शामिल किया जाए, (ख) प्राथमिक शिक्षा पर अधिक धनराशि व्यय की जाए, और (ग) गैर सरकारी प्राथमिक विद्यालयों के लिए एक सहायता अनुदान पद्धति विकसित की जाए तथा सर्वसाधारण के बीच शिक्षा प्रसार के लिए सरकार मुख्यतः केवल इन गैर सरकारी प्राथमिक विद्यालयों पर ही निर्भर करे। परंतु शीझ ही 1859 में एक अन्य आज्ञापत्र द्वारा इन आदेशों को उलट दिया गया और निदेश दिया गया कि शैक्षिक प्रयोजनों के लिए स्थानीय पौरकर लगाए जाएं तथा सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार के लिए विभाग मुख्यतः सरकारी विद्यालयों पर

निर्भर करे । उसमें कहा गया था कि:

कुल मिलाकर महागरिमामयी की सरकार को इसमें कोई संदेह नहीं है कि सहायता अनुदान पद्धित, जिस रूप में वह अब तक प्रवितित थी, विशाल जनता को देशी शिक्षा देने के अनुपयुक्त है; और सरकार जहां तक अपनी राय बना पाई है, उसे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक शिक्षा के साधनों की व्यवस्था सीधे सरकारी अधिकारियों द्वारा की जानी चाहिए! यह कार्य बंगाल और उत्तर पश्चिमी प्रांत में चालू योजनाओं में से किसी एक योजना के अनुसार अथवा उन योजनाओं में ऐसे संशोधनों द्वारा किया जा सकता है जो अनेक स्थानीय सरकारों को विभिन्न इलाकों की परिस्थितियों के अनसार सबसे अधिक उपयुक्त प्रतीत हों…

जहां तक उस साधन का संबंध है जिससे प्रारंभिक शिक्षा के लिए धन प्राप्त किया जाए, शिक्षा से संबंधित अधिकारियों ने विभिन्न अवसरों पर यह प्रस्ताव रखा है कि स्वैच्छिक स्थानीय सहायता प्राप्त करने में होने वाली कठिनाइयों से बचने के लिए एक शिक्षा पौरकर लगाया जाए ताकि उससे देश भर में तमाम विद्यालयों के खर्च को पूरा किया जा सके। वे अन्य अधिकारी भी जो यह समझते हैं कि भारत अभी उपर्युक्त कार्रवाई के लिए तैयार नहीं है, अन्य व्यवस्थाओं को केवल अस्थाई और उपशामक मानते हैं और कमी को स्थाई रूप से पूरा करने के लिए अनिवार्य पौरकर लगाए जाने को ही एकमाब वास्तविक प्रभावी कार्यवाई समझते हैं।

1854 और 1859 के आज्ञापत्रों में प्रारंभिक शिक्षा के विषय में सामान्यत: एक दूसरे का खंडन करने वाली जो सिफारिशें की गई थीं और 1870 के लगभग उन्हें लेकर जो विवाद उत्पन्न हुए, संभवतः उन सबका स्पष्टीकरण इंग्लैंड में चलने वाले समसामयिक विवादों से हो सकता है। उस समय इंग्लैंड में, अधिकांशत: प्राथमिक शिक्षा, कुछ सीमा तक, संसदीय अनुदानों द्वारा समर्थित सांप्रदायिक विद्यालयों द्वारा दी जाती थी। परंतू प्रारंभिक शिक्षा के भविष्य के बारे में भारी मतभेद था। एक वर्ग का यह विचार था कि स्वैच्छिक प्रयत्न प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार का सर्वश्रेष्ठ अभिकरण है और ब्रिटिश संसद केवल यही कार्य करे कि दानाश्रित विद्यालयों को वित्तीय सहायता दे दे। स्वैच्छिक प्रयत्न का अर्थ अधिकांशतः सांप्रदायिक विद्यालय लगाया जाता था। यह वर्ग राजकीय शिक्षा पद्धति आरंभ करने के सभी प्रयासों का विरोध करता था क्योंकि उसे डर था कि राजकीय विद्यालयों में विभिन्न पंथों को अपने धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा देने की स्वतंत्रता नहीं रहेगी। दूसरी ओर, विरोधी वर्ग का यह विचार था कि दानाश्रित विद्यालयों की प्रणाली .दोषपूर्ण है, स्वैच्छिक अभिकरण क्रियाकलाप का दिखावा करके मूल दोषों को छिपा रहे हैं. दानाश्रित विद्यालयों को सभी बालकों को विद्यालयों में ले आने के कार्य में सफलता नहीं मिली है और सर्वजनीन शिक्षा के लक्ष्य को अकेले स्वैच्छिक अभिकरण की सहायता से ही परा नहीं किया जा सकता है। इस वर्ग ने सिफारिश की कि शिक्षा के लिए स्थानीय

कर लगाए जाएं और पिंक्लिक स्कूलों की एक प्रणाली स्थापित की जाए जो ऐसे तदर्थं निकायों द्वारा अनुरक्षित और नियंत्रित हों जिनमें जनता के प्रतिनिधि हों। इंग्लैंड में प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र में इन दोनों वर्गों का यह विवाद 1846 और 1870 के बीच प्रमुख विवाद बना रहा। यह केवल आंशिक रूप से 1870 के शिक्षा अधिनियम द्वारा समाप्त हुआ। इस अधिनियम ने सरकार को कितपय परिस्थितियों में ऐसे विद्यालय बोर्ड स्थापित करने का अधिकार प्रदान कर दिया था जिन्हें पिंक्लिक स्कूलों की स्थापना और अनुरक्षण के लिए स्थानीय कर लगाने और पांच तथा तेरह वर्ष के बीच की आयु के बालकों को विद्यालय आने के लिए मजबूर करने की शिक्तियां प्राप्त हों।

विक्टोरिया काल: दो

यह अनिवार्य था कि इस विवाद का प्रभाव भारतीय शिक्षा नीति पर भी पड़ता और हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 1859 के आज्ञापत्र तथा 1854 के आज्ञापत्र की सिफारशें भारत में प्राप्त अनुभव अथवा इस अध्ययन पर बहुत कम आधारित थीं कि भारतीय परिस्थितियों में क्या चीज उपयुक्त हो सकती है। अधिकांशतः वे इंग्लैंड में चलने वाले विवादों का ही परिणाम थीं।

1859-82 की घटनाएं: 1859 के आज्ञापत से भारत में स्वाभाविक रूप से कुछ विवाद उत्पन्न हुए। जबिक कुछ लोगों ने यह जोर दिया कि 1854 की सिफारिशों को माना जाए, कुछ अन्य व्यक्तियों ने 1859 के आज्ञापत्र द्वारा बताए गए मार्ग को अपनाना पसंद किया। मतभेद मुख्यत: तीन बातों पर रहा: देशी विद्यालयों के प्रति रुख, स्थानीय करों लगाया जाना, और प्राथमिक शिक्षा का यह दावा कि उसे सरकारी राजस्व से सहायता अनुदान मिले। इस पर जो लंबी चर्चा हुई उसका वर्णन करने की यहां विशेषकर इसलिए आवश्यकता नहीं है कि इस चर्चा से कोई आम निष्कर्ष नहीं निकला और प्रत्येक प्रांत को अपनी तरह से विकास करने की छूट दे दी गई। परंतु 1859 के आज्ञापत्र और 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति किए जाने के बीच की अविध में जो मुख्य घटनाएं घटित हुई उनके निम्नलिखित वर्णन से आयोग की सिफारिशों के अस्तित्व करण को समझने में सारभूत सहायता मिलेगी।

(क) देशी विद्यालय: 1859 के आज्ञापत के परिणामस्वरूप इस संबंध में उग्र विवाद छिड़ गया कि प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए कौन सा अभिकरण अपनाया जाए। कुछ लोगों ने यह युक्ति प्रस्तुत की कि देशी विद्यालयों के अभिकरण को संपूर्ण रूप में स्वीकार कर लिया जाए और यदि आवश्यक हो तो सरकार आदर्श संस्थाओं के रूप में केवल कुछ विद्यालयों का अनुरक्षण कर सकती है। अन्य लोगों का कहना था कि सरकार द्वारा सीधे नियंत्रित विद्यालय ही प्रारंभिक शिक्षा का यथासंभव व्यापक रूप से प्रसार करें। ऐसे लोग भी थे जो इन दोनों उग्र दृष्टिकोणों के बीच का रास्ता अपनाना चाहते थे। अंततः प्रत्येक प्रांत को अपने तरीके से विकास करने की छूट दे दी गई। प्रांतीय घटनाकमों के निम्नलिखित विवरण से पता चल जाएगा कि विचाराधीन काल में प्रत्येक प्रांत में देशी विद्यालय कैसा कार्य करते थे:

मद्रास: सर्वसाधारण के बीच शिक्षा का प्रसार करने के अपने कर्व्तय की सरकार ने 1868 तक उपेक्षा की। 1868 में सरकार ने अपनी शिक्षा संहिता में संशोधन किया और

प्राथमिक विद्यालयों को प्रतिफलानुसार भुगतान करने की पद्धति चालू की। मद्रास में यह नीति अपनाई गई कि मुख्यत: गैर सरकारी प्रयत्न पर निर्भर रहा जाए और विभागीय विद्यालय तभी खोले जाएं जब गैर सरकारी प्रयत्न न किए जा रहे हों। 1881-82 में 1,263 विभागीय विद्यालय थे (जिनमें 46,975 छात्न पढ़ते थे) जबिक सहायता प्राप्त विद्यालयों की संख्या 13,223 (छात्र संख्या 3,13,668) थी। इसके अतिरिक्त ऐसे गैर सहायता प्राप्त देशी विद्यालयों की संख्या 2,828 बताई जाती है, जिनका विभाग को ज्ञान था: इनमें 54,064 छात्र थे।

बंबई: बंबई में शिक्षा विभाग प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए प्राय: अनन्य रूप से अपने निजी विद्यालयों पर निर्भर करता था । अतः आरंभ से ही देशी विद्यालयों की उपेक्षा की गई। 1840 से पूर्व देशी विद्यालयों को सहायता देने के लिए संभवत: कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। 1840 में तत्कालीन लोक शिक्षा निदेशक श्री पीले ने देशी विद्यालयों को सहायता देने के लिए विशेष नियमावली तैयार की परंतु वास्तव में कितनी सहायता दी गई, इसका पता इसी से चल सकता है कि 1881-82 तक में केवल 73 देशी विद्यालयों को सहायता मिलती थी जबिक विभाग को इस बात की जानकारी थी कि 3,954 देशी विद्यालय 78,205 छात्रों को शिक्षा दे रहे हैं। यह बात भी उल्लेखनीय है कि शिक्षा आयोग इस निष्कर्ष पर पहुंचा था कि बंबई शिक्षा विभाग ने सहायता प्राप्त विद्यालयों को व्यावहारिक प्रोत्साहन देने के संबंध में जान बूझकर निष्क्रियता की नीति अपनाई थी। बंगाल : बंगाल में प्राथमिक शिक्षा पद्धति को पूर्ण रूप से देशी विद्यालयों पर आधारित किया गया था। इस बात का पता 1881-82 के आंकडों से चल जाता है:

| 1. विभागीय विद्यालयों की संख्या | 28 |
|---|-----------|
| 2. विभागीय विद्यालयों में छात्नों की संख्या | 916 |
| 3. सहायता प्राप्त विद्यालयों की संख्या | 47,374 |
| 4. सहायता प्राप्त विद्यालयों में छात्रों की संख्या | 8,35,435 |
| 5. विभाग को ज्ञात गैर सहायता प्राप्त देशी विद्यालयों की संख्या | 3,265 |
| उपर्युक्त देशी विद्यालयों में छात्रों की संख्या | 49,238 |
| 7. गैर सहायता प्राप्त किंतु निरीक्षण किए जाने वाले विद्यार्थियों की | |
| संख्या | 4,376 |
| 8. | 62,038 |
| परंतु इस पद्धति का एक दोष यह था कि सहायता की राशि बहुत | थोड़ी थी। |
| 21-92 ਜੋ ਸਭ ਸਭਿ ਤਿਕਾਰਸ ਤੇਵਰ 11 ਵਾਲੇ ਕਾ ਨਿਕ ਹੈ : | |

1881-82 में यह प्रति विद्यालय केवल 11 रुपये वार्षिक थी।

इन तीनों प्रांतों के देशी विद्यालयों के इतिहास को इसलिए विस्तार से दिया गया है कि अन्य प्रांत थोड़े बहुत अंतर के साथ इन्हीं में से किसी न किसी नमूने का अनुकरण कर रहे थे। बंबई की भांति, उत्तर-पश्चिम प्रांत भी मुख्यतः पूर्वोल्लिखित उन हलकाबंदी

1. रिपोर्ट आफ दि इंडियन एजूकेशन कमीशन, पृ० 67।

विद्यालयों पर निर्भर करता था। उसने देशी विद्यालयों को शिक्षा व्यवस्था में समाविष्ट करने का कोई प्रयास नहीं किया था। 1881-82 में की गई एक जांच से यह पता चला था कि उस समय प्रांत में 6,712 गैर सहायता प्राप्त देशी विद्यालय थे जिनमें 61,634 छात्र थे। परंतु उसी वर्ष सहायता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों की संख्या केवल 243 थी जिनमें 15,109 छात्र थे। कुर्ग में भी बंबई का अनुकरण किया गया था। गैर सरकारी उद्यम को प्रोत्साहन देने अथवा अपनी शिक्षा व्यवस्था में देशी विद्यालयों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किए बिना ही वहां विभाग के सीधे अभिकरण द्वारा प्राथमिक विद्यालयों की व्यवस्था की जाती थी। पंजाब में उत्तर-पश्चिमी प्रांत के नमूने को अपनाया गया था। 1881-82 में पंजाब में सहायता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों की संख्या केवल 278 थी जिनमें 14,616 छात्र पढ़ते थे, जबिक एक जांच से यह पता चला था कि उस समय प्रांत भर में 13,109 देशी विद्यालय थे जिनमें 1,35,384 छात्न थे। मध्य भारत ने बंगाल का अनुकरण किया था और देशी विद्यालयों को सिक्रय रूप से प्रोत्साहन दिया था। परंतु प्रांत में देशी विद्यालयों की कोई सुदृढ़ प्रणाली नहीं थी अत: उसे भारी संख्या में विभागीय विद्यालय खोलने पड़े । 1881-82 में प्रांत में 894 विभागीय विद्यालय तथा 368 सहायता प्राप्त विद्यालय थे जिनमें क्रमश: 55,745 और 18,786 छात्र पढ़ते थे। बरार में बंबई जैसी नीति अपनाई गई और सामान्यतः विभागीय विद्यालयों पर निर्भर रहा गया । परंतु वहां देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन देने के लिए अपेक्षाकृत अधिक प्रयास किए गए। 1881-82 में वहां 467 विभागीय विद्यालय थे जिनमें 27,844 छात्र पढते थे । इसके अतिरिक्त 209 सहायता प्राप्त विद्यालय और 207 गैर सहायता प्राप्त विद्यालय थे जिनमें क्रमश: 4,212 और 2, 672 छात्र पढ़ते थे। असम 1874 तक बंगाल का भाग रहा अतः इसकी प्राथमिक शिक्षा पद्धति भी देशी विद्यालयों के आधार पर तैयार की गई थी। 1881-82 में असम में केवल सात सरकारी विद्यालय थे जिनमें 187 छात्र पढ़ते थे। इनके अतिरिक्त 1,256 सहायता प्राप्त विद्यालय और 497 देशी विद्यालय थे। इनकी छात्र संख्या ऋमश: 35,643 और 9,733 थी।

विक्टोरिया काल : दो

(ख) वित्त: अब हम संघर्ष के अगले विवाद विषय अर्थात उन साधनोपायों को लेते हैं जिनके द्वारा प्राथमिक शिक्षा के लिए वित्त प्रबंध किया गया था।

1859 के आज्ञापत्र में यह सुझाव दिया गया था कि सार्वजनिक शिक्षा के खर्च को पूरा करने के लिए स्थानीय पौरकर लगाए जाएं। भारत सरकार ने इस सुझाव में थोड़ा संशोधन कर दिया । उसकी राय थी कि न केवल शिक्षा के लिए वरन स्थानीय उप-योगिता के सभी प्रयोजनों के लिए भी स्थानीय पौरकर लगाए जाने चाहिए। तदनुसार शिक्षा समेत अनेक विषयों के संबंध में स्थानीय व्यय को पूरा करने के लिए सामान्यतः सभी प्रांतों में स्थानीय पौरंकर लगाए गए। ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय पौरकरों का निर्धारण करने के लिए भूराजस्व एक अच्छा आधार बन गया । इसके परिणामस्वरूप बंगाल को छोड़कर अन्य प्रांतों में ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय करों ने भूराजस्व पर उपकर का रूप ग्रहण कर लिया। बंगाल में जहां लार्ड कार्नवालिस द्वारा लागू किया गया स्थाई लगान बंदोबस्त एक बाधा बन गया। शहरों में स्थानीय पौरकर सामान्यतः गृह कर के

रूप में था। उसे नगरपालिकाओं द्वारा लगाया और वसूल किया जाता था जो कि इस काल में सभी प्रांतों में स्थापित हो चुकी थी। भूराजस्व पर लगाया गया उपकर सामान्यत: शिक्षा एवं सड़कों पर व्यय करने के लिए होता था, जबकि नगरपालिकाओं के कई कर्तव्य थे जिनमें पुलिस बल के लिए भुगतान करना भी शामिल था।

बंगाल को छोडकर सभी अन्य प्रांतों में शिक्षा के लिए स्थानीय पौरकर लगाने का कार्य 1861 से 1871 तक पूरा कर लिया गया। शैक्षिक प्रयोजनों के लिए उत्तर-पश्चिमी प्रांत में भराजस्व पर वसूल किए गए एक प्रतिशत उपकर का पहले ही उल्लेख किया जा चका है। इसके बाद पंजाब में भी ऐसा ही किया गया। वहां 1856-57 में ही भूराजस्व पर एक प्रतिशत उपकर लगा दिया गया था यद्यपि उस समय यह सब स्थानों पर नहीं लगाया गया था । 1864 में यह उपकर सामान्य रूप से लगा दिया गया । अवध प्रांत में 1861 में भूराजस्व पर 2 र्रे प्रतिशत उपकर लगाया गया और उसमें से एक प्रतिशत शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिया गया । मध्य प्रांत ने उत्तर-पश्चिमी प्रांत का अनुकरण किया और 1862-63 में एक प्रतिशत उपकर लगाया। दो वर्ष बाद यह उपकर 2 प्रतिशत कर दिया गया क्योंकि आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक प्रतिशत उपकर से वसूल की गई धनराशि पर्याप्त नहीं होती थी। बंबई में 1863 में भूराजस्व पर एक आना प्रति रुपया ($6\frac{1}{4}$ प्रतिशत) उपकर लगाया गया और 1869 के बंबई स्थानीय निधियां अधि-नियम द्वारा इसे सामान्यीकृत कर दिया गया। इस उपकर की एक तिहाई राशि शिक्षा के लिए निर्धारित कर दी गई थी। इसी प्रकार का स्थानीय निधि उपकर सिंध में 1865 में लगाया गया। परंतु उसमें से तमाम स्थानीय प्रयोजनों के लिए आधी राशि ही दी गई और आधी सरकार ने अपने द्वारा नहरों की सफाई, सरकारी इमारतों आदि के प्रयोज-नार्थ किए जाने वाले व्यय के लिए रख ली। बरार ने $7\frac{1}{2}$ प्रतिशत के हिसाब से स्थानीय निधि उपकर लगाया और उसका पांचवां भाग शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिया। मद्रास ने 1871 में स्थानीय निधियां अधिनियम बनाया और भूराजस्व पर एक आना से अधिक दर पर उपकर लगाया । परंतु यह विहित नहीं किया कि वसूल की जाने वाली धनराशि में से शिक्षा के लिए किस अनुपात में धन दिया जाएगा। 1879 में असम में एक स्थानीय उपकर लगाया गया । परंतु बंगाल में 1882 तक भी भूराजस्व पर कोई उपकर नहीं लगाया गया था।

इन स्थानीय निधि उपकरों के लगाए जाने का शिक्षा विभागों ने भारी स्वागत किया। शिक्षा संस्थाओं की मांग तेजी से बढ़ रही थी और शिक्षा पर व्यय बढ़ता जा रहा था। उस काल में तमाम अतिरिक्त व्यय की स्वीकृति भारत सरकार से लेनी पड़ती थी अतः शिक्षा के लिए अतिरिक्त धनराशि आवंटित करवा लेना अत्यंत कठिन था। ऐसे समय स्थानीय निधि उपकर लगाए जाने से भारी अप्रत्याशित आय होने लगी।

दूसरी ओर, विभिन्न प्रांतों के नगरपालिका अधिनियमों से जो परिणाम निकले वे भूराजस्व पर लगाए गए उपकर से निकलने वाले परिणाम के बराबर अच्छे नहीं थे। इन अधिनियमों की सफलता का मुख्य कारण यह था कि इस आशय का कोई सांविधिक उपबंध मौजूद नहीं था कि नगरपालिकाओं की कुल आय की कुछ प्रतिशत राशि शिक्षा पर अवश्य व्यय की जाए। कानून नगरपालिकाओं को शिक्षा पर व्यय करने की अनुमित तो देता था परंतु उसने यह अनिवार्यता नहीं रखी कि उन्हें ऐसा करना ही होगा। परिणामस्वरूप नगरपालिकाओं ने शिक्षा के लिए उस सीमा तक योगदान नहीं किया जिस तक उन्हें करना चाहिए था। नगरपालिकाओं ने सामान्यतः शिक्षा की ओर कितना अपर्याप्त ध्यान दिया इसका पता भारतीय शिक्षा आयोग द्वारा दिए गए निम्नलिखित आंकड़ों से चल सकता है:

| प्रांत | नगरपालिकाओं की कुल |
|-----------------------------|-----------------------|
| | आय के साथ शिक्षा व्यय |
| • | का प्रतिशत |
| मद्रास | 4-09 |
| बंबई | 1.17 |
| बंगाल | 0.48 |
| उत्तर-पश्चिमी प्रांत और अवध | 1.77 |
| पंजाब | 5.29 |
| मध्य प्रांत | 3.01 |
| असम | 0.39 |
| बरार | 1.33 |

जो नए विद्यालय स्थापित किए जा रहे थे, उनमें से अधिकांश शहरों में स्थापित किए गए क्योंकि उस समय जन जागृति शहरों तक सीमित थी। चूंकि नगरपालिकाओं ने शिक्षा के लिए पर्याप्त धन नहीं दिया अतः इन विद्यालयों का समर्थन करने के लिए धन अधिकांशतः शहरी क्षेत्रों में वसूल किए गए करों से नहीं वरन गांवों में वसूल किए गए स्थानीय उपकरों से प्राप्त हुआ। बंबई में इस अहित को विशेष रूप से महसूस किया गया।

शिक्षा के लिए इन स्थानीय निधियों को उगाहने और उनका प्रबंध करने हैं संबंध में जिला और नगरपालिका दोनों ही स्तरों पर कई पेचीदा समस्याएं सामने आईं। उन पर विस्तार से विचार करना इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की बात होगी। परंतु उस समय प्राथमिक शिक्षा के वित्त प्रबंधन की जैसी व्यवस्था थी उसके निम्नलिखित विश्लेषण से भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशों को समझने में सहायता मिलेगी:

(1) बंबई और मद्रास में स्थानीय बोर्डों को इस बात का पूर्ण अधिकार था कि स्थानीय निधि उपकर को अपने क्षेत्राधिकार वाले विषयों पर व्यय कर दें। परंतु उत्तरी भारत के प्रांतों में सिचाई का विस्तार करने अथवा अकाल को रोकने के कार्यों के लिए इन स्थानीय निधियों में कुछ कटौतियां की जा सकती थीं।

- (2) बंबई और मद्रास में स्थानीय निधि उपकर से होने वाली आय को एक निधि माना जाता था। अतः यदि किसी वर्ष में कोई अव्ययित धनराणि शेष रहती तो बोर्ड उसका उपयोग बाद के वर्षों में कर सकते थे। परंतु उत्तरी भारत के प्रांतों में स्थानीय निधि को ऐसा सरकारी राजस्व समझा जाता था जिसे स्थानीय व्यय के लिए बोर्डों के अधिकार में रख दिया जाता था। अतः यदि किसी वर्ष के दौरान कोई धनराणि व्यय किए बिना बच जाती थी तो वह प्रांतीय सरकार के लिए व्ययगत हो जाती थी।
- (3) बंबई में प्रत्येक जिले में एक जिला शिक्षा निधि होती थी जिसमें सरकारी अनुदान, स्थानीय निधि आय का एक तिहाई भाग, जिले की नगरपालिकाओं के अंशदान आदि शामिल थे। यह बहुत लाभकारी व्यवस्था थी। इसमें यह सुनिश्चित कर दिया गया था कि शिक्षा के लिए आवंटित तमाम धनराशि केवल शिक्षा पर ही व्यय की जाएगी। इस व्यवस्था के अधीन किसी वर्ष के अव्ययित बचत को केवल स्थानीय बोर्डों के क्षेत्र में ही शैक्षिक विषयों पर व्यय किया जा सकता था।
- (4) बंबई में स्थानीय निधि उपकर का एक निश्चित अनुपात अर्थात एक तिहाई उपकर शिक्षा के लिए नियत था। परंतु मद्रास में वह इस प्रकार से नियत नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के लिए स्थानीय निधि आय का जितना भाग प्राप्त होना चाहिए था उसकी अपेक्षा बहुत कम भाग प्राप्त हुआ।
- (5) यह भी विवाद का विषय था कि स्थानीय निधियों का उपयोग किस प्रयोजन के लिए किया जाए। कुछ लोगों का कहना था कि उच्च शिक्षा के लिए इनका उपयोग किया जा सकता है। अन्य लोगों का विचार था कि स्थानीय निधियों को सबसे पहले सर्वेसाधारण की प्रारंभिक शिक्षा पर व्यय किया जाना चाहिए।
- (6) यह भी विवादास्पद विषय था कि क्षेत्र की किस यूनिट को प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध सौंपे जाने योग्य समझा जाए। कुछ लोगों का कहना था कि छोटी यूनिट को पूर्ण स्थानीय जानकारी और रुचि होती है और उससे कार्यकुशलता बढ़ती है। अन्य लोग जिला जैसी बड़ी यूनिट को प्रधानता देते थे। प्रत्येक प्रांत में एक सी प्रथा नहीं थी। 1882 में भी यह प्रश्न हल होना शेष था।
- (7) संभवतः सबसे विवादास्पद विषय वह अनुदान था जो शिक्षा के लिए व्यय की जाने वाली स्थानीय निधियों की सहायता के लिए सरकार द्वारा दिया जाना था। एक मत यह था कि स्थानीय निधि उपकर लोगों से प्राप्त होने वाले चंदों की भांति ही है अतः उसे सरकार से सहायता अनुदान पाने का अधिकार है। दूसरा मत यह था कि स्थानीय निधि उपकर वास्तव में एक कर है। अतः सरकार से सहायता प्राप्त करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। स्वयं भारत सरकार के आदेश भी परस्पर विरोधी थे। कुछ अवसरों पर उसने यह मत व्यक्त किया कि सर्वसाधारण की शिक्षा सरकारी आय पर अपना अधिकार जता सकती है। सरकार ने यह मत इस आधार पर व्यक्त किया था कि 1854 के आज्ञापत्र में यह कहा गया था कि सरकार विशाल जनता को शिक्षा देने का प्रयास करे क्योंकि वह बिना सहायता प्राप्त किए अपने स्वयं के प्रयत्नों से कोई उचित शिक्षा पाने में पूर्णतया असमर्थ है। कुछ अन्य अवसरों पर यह मत व्यक्त किया गया था

कि 'सरकार ने जनता की शिक्षा की व्यवस्था करने का भार अपने ऊपर कभी नहीं लिया है' और सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए स्थानीय निधियों से ही सहायता दी जानी चाहिए। परंतु अंतत: 1871 में यह निर्धारित कर दिया गया कि स्थानीय निधियों के लिए दिए जाने वाले सरकारी अनुदान की राशि कूल व्यय के एक तिहाई से अधिक नहीं होगी।

(ग) अध्यापकों का प्रशिक्षण: 1859 के आज्ञापत्र में यह कहा गया था कि 'प्रतीत होता है कि प्रशिक्षण विद्यालयों की प्रथा को निदेशक मंडल ने अपेक्षित सीमा तक आगे नहीं बढ़ाया।' भारत मंत्री द्वारा की गई इस भर्त्सना के परिणामस्वरूप अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए तेजी से प्रयत्न किए जाने लगे। 1882 तक प्रत्येक प्रांत में प्राथमिक अध्यापकों के लिए अनेक प्रशिक्षण संस्थाएं स्थापित हो चकी थीं।

1881-82 में संपूर्ण भारत में 106 नार्मल स्कूल थे जिनमें 3,886 प्राथमिक अध्यापक प्रशिक्षण पाते थे। इन विद्यालयों के अनुरक्षण पर लगभग 4 लाख रुपये खर्च होते थे।

(घ) प्रसार: प्राथमिक शिक्षा का प्रसार दो बातों पर निर्भर करता है, कितनी धनराशि की व्यवस्था की गई है और नियोजित अभिकरण पर कितना खर्च होता है। घटनाओं के उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि भारत के कई प्रांतों की शिक्षा पद्धतियां इन दोनों बातों में एक दूसरे से काफी भिन्न थीं जिसके परिणामस्वरूप प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में भी काफी अंतर था। उदाहरण के लिए, बंगाल में निधि उपकर लगाया ही नहीं गया था परंत् सरकार से भारी अनदान मिलने और देशी विद्यालयों के अभिकरण को अपनाए जाने से प्रांत में यथेष्ट शिक्षा प्रसार होने में सहायता मिली। इसके विपरीत, बंबई में शिक्षा के लिए उपलब्ध निधियां अन्य सभी प्रांतों से अधि ह थीं परंत् विभागीय विद्यालयों के अधिक खर्चीले अभिकरण पर प्राय: अनन्य रूप से निर्भर रहने के कारण उतना प्रधार नहीं हुआ जितना हो सकता था। पंजाब में निधियां यद्यपि सीमित थीं तो भी विभागीय विद्यालयों के अभिकरण को अपनाया गया। इसके परिणामस्वरूप वहां प्राथमिक शिक्षा का प्रसार उपर्युक्त दोनों प्रांतों की अपेक्षा बहुत कम हुआ । आयोग के प्रतिवेदन से उद्धृत निम्नलिखित उदाहरण से स्थिति का अच्छा ज्ञान हो जाता है। यदि हम यह ध्यान रखें कि इस उद्धरण में जो प्रतिशत दिए गए हैं वे केवल प्राथमिक विद्यालयों के 20,61,541 छात्रों के आधार पर नहीं वरन सभी शिक्षा संस्थाओं के 26,43,978 छात्रों के आधार पर तैयार किए गए हैं तो हमे शिक्षा क्षेत्र में भारत के अत्यंत पिछड़े होने का पता चल जाएगा:

हमारी जांच जिस क्षेत्र तक सीमित है उसका क्षेत्रफल 8,59,844 वर्गमील है। इसमें 5,52,379 गांव तथा शहर हैं और 20,26,04,080 व्यक्ति बसते हैं। इसमें 1881-82 में केवल 1,12,218 विद्यालय थे और इन विद्यालयों में 26,43,978 भारतीय बालक अथवा वयस्क पढ़ते थे। विद्यालय आयु की जनसंख्या के साथ विद्यालय

^{1.} भारत सरकार का बंगाल सरकार को 28-10-1867 का पत्न, संख्या 5876, अनुच्छेद 5।

197

जाने वाले स्त्री-पुरुषों का अनपात अध्याय दो में वर्णित सिद्धांतों के अनसार गणना करने पर¹ निम्नलिखित है:

| प्रांत | पुरुषों का प्रतिशत | स्त्रियों का प्रतिशत 1.48 1.85 | |
|--|--------------------|--------------------------------------|--|
| मद्रास (जिले जिनमें ब्रिटिश | 17.78 24.96 | | |
| (शासन था बंबई (देशी रियासतें बंगाल | 17.85 20.82 | 0.93 0.80 | |
| उत्तर पश्चिमी प्रांत और अवध पंजाब | 8.25 12.11 | 0.28 0.72 | |
| मध्य प्रांत असूम | 10.49 14.61 | 0.44 0.46 | |
| कुर्ग हैदराबाद के सौंपे हुए जिले | 22.44 17.10 | 2.86 0.22 | |
| संपूर्ण भारत का योग | 16.28 | 0.84 | |

इन आंकड़ों में यूरोपीय और यूरेशियाई लोगों के विद्यालयों तथा व्यावसायिक अथवा तकनीकी शिक्षा संबंधी संलग्न संस्थाओं की छात्र संख्या को शामिल नहीं किया गया है। इनमें 1881-82 में विभाग को ज्ञात अन्य सभी संस्थाओं की छात्र संख्या शामिल है । भारत के सबसे उन्नत प्रांत में अब भी विद्यालय आयू के 75 प्रतिशत लड़कों और 98 प्रतिशत लड़िकयों को शिक्षा नहीं दी जा रही है। 4 करोड़ 40 लाख से भी अधिक जनसंख्या वाले एक प्रांत में लगभग 92 प्रतिशत लडके अभी भी अज्ञान के अंघकार में पल रहे हैं और स्त्री शिक्षा के बारे में तो कोई प्रगति ही नहीं हुई है। जनगणना विव-रिणयों से भी यही ज्ञात होता है कि भारत में शिक्षा को राष्ट्रीय आधार प्रदान किए जा सकने से पूर्व अभी बहुत अधिक कार्य करना बाकी है। हमारे प्रतिवेदनों का अजमेर तथा जिन नौ प्रांतों से संबंध है उनकी पुरुष जनसंख्या 10 करोड़ 30 लाख से अधिक है। परंतु इसमें से लगभग 9 करोड़ 47 लाख 50 हजार व्यक्ति पूर्णतया निरक्षर हैं। स्त्रियों की जनसंख्या लगभग 9,97,00,000 है परंतू इसमें से 9 करोड़ 95 लाख स्त्रियां पढ लिख नहीं सकती हैं।2

भारतीय शिक्षा आयोग: 1854 से 1882 तक की अवधि में हुई प्राथमिक शिक्षा की

धीमी प्रगति को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था कि सरकार ने भारतीय शिक्षा आयोग को यह निदेश दिया कि वह शिक्षा के विषय पर विशेष ध्यान दे। इसके परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में प्राथमिक शिक्षा के विषय पर प्रमुख रूप से ध्यान दिया गया है। आयोग की कुछ सबसे महत्वपूर्ण सिफारिशें जनता के बीच प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार से ही संबंधित हैं। इन सिफारिशों को निम्नलिखित छ: वर्गों में बांटा जा सकता है :

(क) नीति:

विक्टोरिया काल: दो

- (ख) विधि निर्माण और प्रशासन;
- (ग) देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन;
- (घ) विद्यालय प्रशासन;
- (ड) अध्यापकों का प्रशिक्षण; और
- (च) वित्त।

(क) नीति : प्राथमिक शिक्षा विषयक सरकारी नीति के संबंध में आयोग ने सिफारिश की थी कि:

- (1) प्राथमिक शिक्षा को उन विषयों में देशी भाषाओं के माध्यम से सर्वसाधारण की शिक्षा माना जाए जो लोगों के जीवन में उनकी स्थिति के अनुरूप हों और अनिवार्य रूप से यह न माना जाए कि प्राथमिक शिक्षा विश्वविद्यालय तक ले जाने वाली शिक्षा का एक भाग है।
- (2) यद्यपि शिक्षा की प्रत्येक शाखा उचित रूप से यह अधिकार जता सकती है कि राज्य उसे परी तरह प्रोत्साहन दे तथापि देश की वर्तमान परिस्थितियों में यह वांछनीय है कि सर्वसाधारण की प्रारंभिक शिक्षा और उसकी व्यवस्था, विस्तार एवं सुधार को शिक्षा पद्धति का वह अंग घोषित किया जाए जिसके बारे में राज्य को अब पहले से भी अधिक बड़े पैमाने पर कठिन प्रयत्न करना होगा।
- (3) लार्ड हार्डिंग के 11 अक्तूबर 1844 के संकल्प में निर्धारित किए गए इस सिद्धांत की पुन: पुष्टि की जाए कि सरकार के अधीन निम्नतम पदों पर नियुक्ति के लिए लोगों को छांटते समय सदैव ऐसे उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो पढ लिख सकते हों।
- (4) जब तक विद्यालय बोर्डों की स्थापना न हो तब तक पिछड़े जिलों में, विशेष-कर उन जिलों में जहां आदिवासी बसते हैं, विभाग की सहायता से प्राथमिक शिक्षा का विस्तार किया जाए; अथवा जो जिले विद्यालय स्थापित करने और उनका अनूरक्षण करने के लिए तैयार हों, उन्हें विशेष रूप से उदार सहायता अनुदान देकर प्राथमिक शिक्षा का विस्तार किया जाए।
- (ख) विधि निर्माण और प्रशासन: 1870 और 1876 के शिक्षा अधिनियमों के अधीन इंग्लैंड में संपूर्ण देश को बहुत से विद्यालय जिलों में बांट दिया गया था और उनमें से प्रत्येक जिले के लिए एक स्थानीय समिति नियुक्त कर दी गई थी। इस समिति को कर लगाने, विद्यालयों की स्थापना करने और निर्दिष्ट आयु के बालकों को विद्यालय में आने

^{1.} जनसंख्या के 15 प्रतिशत के हिसाब से।

^{2.} रिपोर्ट, प्० 584।

के लिए विवश करने का अधिकार प्राप्त था। उपर्युक्त प्रणाली का अनुकरण करते हुए भारतीय शिक्षा आयोग ने सिफारिश की कि प्रारंभिक शिक्षा को जिला बोर्डों और नगरपालिका बोर्डों के नियंत्रण में सौंप देना चाहिए।

(ग) देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन: देशी विद्यालयों के विषय में आयोग की यह राय थी कि इन विद्यालयों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और इन्हें राजकीय शिक्षा पद्धति में समाविष्ट किया जाना चाहिए। उसका कहना था कि:

तो भी, देशी विद्यालयों की अपेक्षाकृत हीनता को स्वीकार करते हुए, हम समझते हैं कि अब उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए। वे कठिन प्रतियोगिता के वावजूद भी जीवित रहे हैं और इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि उनमें जान भी है और वे लोकप्रिय भी हैं। मद्रास और बंगाल के शिक्षा के इतिहास में मिलने वाले अनेक उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि आधुनिक आवश्यकतओं को पूरा करने के लिए देशी पद्धित को अपनाया जा सकता है। जबिक बंबई के विद्यालय हमारे लिए एक बहुमूल्य आदर्श बनेंगे, देशी विद्यालयों से यह आशा की जा सकती है कि मान्यता और सहायता दिए जाने पर वे अपनी प्रणाली को सुधार लेंगे और सरकारी राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित में एक उपयोगी स्थान प्राप्त कर लेंगे। हमारा प्रस्ताव है कि उन्हें मान्यता और सहायता दी जाए।

आयोग का यह विचार था कि शिक्षा विभाग की अपेक्षा जिला बोर्ड और नगर-पालिका बोर्ड, जिनमें भारतीय ही होंगे, देशी विद्यालयों से अधिक सहानुभूति रखेंगे। अत: उसने सिफारिश की कि देशी विद्यालयों की सहायता करने का काम इन बोर्डों को ही सौंपा जाए। यह बिल्कुल ठीक प्रस्ताव था। परंतु आयोग की इस सिफारिश ने इसे प्रतिसंतुलित कर दिया कि देशी विद्यालयों के संबंध में प्रतिफलानुसार भुगतान पद्धति अपनाई जाए। यह कोई अच्छी सिफारिश नहीं थी। इससे अधिक अच्छी पद्धति प्रति व्यक्ति अनुदान पद्धित रही होती। इस पद्धित से सदैव तेजी से प्रसार हुआ है और यह उस समय अमूल्य सिद्ध होती है जब नीति का मुख्य उद्देश्य सर्वजनीन शिक्षा की ओर तेजी से प्रगति करना हो। परंतु आयोग ने इसे भारत में स्वीकार किए जाने की सिफा-रिश नहीं की। हम पहले ही देख चुके हैं कि आयोग ने सिफारिश की थी कि जहां तक महाविद्यालयी शिक्षा का संबंध है, प्रतिफलानुसार भुगतान पद्धति को त्याग देना चाहिए। हम यह भी देख चुके हैं कि जहां तक माध्यमिक विद्यालयों को दिए जाने वाले अनुदानों का संबंध था, आयोग ने इस पद्धति को न तो पूर्णतया स्वीकार करने की सलाह दी थी और न पूर्णतया अस्वीकार कर देने की। परंतु आयोग की निश्चय ही यह राय थी कि देशी विद्यालयों को सहायता देने का सबसे अच्छा तरीका प्रतिफलानुसार भुगतान पद्धति है और उसने इसे सामान्य रूप से स्वीकार किए जाने की सिफारिश की थी। इस दु:खद निर्णय के कारण प्राथमिक विद्यालयों को दिए जाने वाले सहायता अनुदान संबंधी सभी

प्रांतीय नियमों में इस पद्धति का तब तक प्राधान्य रहा जब तक वर्तमान शताब्दी के शुरू में लार्ड कर्जन ने नया मार्ग नहीं दिखाया।

अंतिम बात यह है कि आयोग ने सुझाव दिया था कि देशी विद्यालयों के अध्यापन को सुधारने के लिए ऋमिक और नियमित प्रयास किए जाएं। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हए आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशों की थीं:

- (1) हमारा लक्ष्य यह हो कि देशी विद्यालयों का नियमित और क्रमिक सुधार किया जाए। यह सुधार इन विद्यालयों के कर्मचारी वर्ग और पाठ्यचर्या में न्यूनतम तात्कालिक हस्तक्षेप करके किया जाए;
- (2) देशी विद्यालयों के अध्यापकों को इस बात के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया जाए कि वे स्वयं प्रशिक्षण प्राप्त करें और अपने संबंधियों एवं संभावित उत्तरा-धिकारियों को नियमित प्रशिक्षण दिलाएं;
- (3) लोग देशी पद्धित में जिन चीजों को मूल्यवान समझते हैं, उनका परिरक्षण करने की दृष्टि से और शिक्षा के उपयोगी विषयों को ऋमिक रूप से समाविष्ट करने के लिए विशेष अनुदान देने की दृष्टि से प्रत्येक प्रांत में परीक्षा का स्तर ऐसा रखा जाए जो उस प्रांत के उपयुक्त हो।
- (घ) विद्यालय प्रशासन: प्राथमिक विद्यालयों के आंतरिक प्रबंध के विषय में आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की थीं : सभी प्रांतों के स्तरों में एकरूपता लाने का प्रयास न किया जाए; प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा परिवेश के अनुकूल दी जाए और उसे यथासंभव सरल बना दिया जाए; अंकगणित और हिसाब किताब की भारतीय प्रणालियों जैसे व्यावहारिक विषयों का समावेश किया जाए; प्रबंधकों को अपने विद्यालयों के लिए पाठय पुस्तकों चुनने की स्वतंत्रता हो; इस संबंध में अधिकतम छट दी जाए कि विद्यालय वर्ष की किन ऋतुओं में कार्य करें और दिन में किस समय खुले रहें; शिक्षा बालकों की मातभाषा के द्वारा दी जाए और प्राथमिक विद्यालयों का स्थानस्थ निरीक्षण किया जाए। (इ) वित्त : सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय वित्त के बारे में आयोग ने कई सिफारिशों कीं जिनसे पूर्वकाल के विवाद अंतिम रूप से समाप्त हो गए। उदाहरण के लिए, आयोग ने सिफारिश की कि प्राथमिक शिक्षा के लिए एक विशिष्ट निधि बनाई जाए और शहरी क्षेत्रों की प्राथमिक शिक्षा निधि का हिसाब ग्रामीण क्षेत्रों की निधि के हिसाब से पथक रखा जाए ताकि ग्रामों के लिए निर्धारित धन को शहरी क्षेत्रों में व्यय न किया जा सके। उसने यह भी सिफारिश की कि स्थानीय निधियों का उपयोग मुख्यतः प्राथमिक शिक्षा के लिए ही किया जाए और माध्यमिक तथा महाविद्यालयी शिक्षा के लिए केवल यदा कदा बहुत आवश्यक होने पर ही किया जाए। अंत में उसने कहा कि सरकार का यह कर्तव्य है कि वह एक उपयुक्त सहायता अनुदान प्रणाली द्वारा स्थानीय निधियों को सहायता दे। परंत दर्भाग्यवश, आयोग ने इस सहायता अनुदान की राशि निर्धारित करने से इंकार कर दिया -और केवल यह कहा कि स्थानीय निधियों का 'प्रांतीय राजस्त्र पर बहुत अधिकार' है। इस सिफारिश की अस्पष्टता को आयोग ने दो आधारों पर उचित ठहराया : पहनी बात यह कही गई कि एक प्रांत की परिस्थितियों से दूसरे प्रांत की परिस्थितियों में इतन।

अधिक अंतर है कि कोई निश्चित नियम बना देना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए, चूंकि बंगाल में कोई उपकर नहीं लगाया गया था अत: वहां पर प्राथमिक विद्यालयों को दिए जाने वाले सरकारी अनुदान का निर्घारण बंबई में दिए जाने वाले अनुदान के सिद्धांत से भिन्न सिद्धांत के आधार पर किया जाना चाहिए था क्योंकि बंबई में स्थानीय उपकरों द्वारा बहुत अधिक राजस्व प्राप्त किया जा सकता था। दूसरी बात यह है कि आयोग का यह मत था कि उससे यह नहीं कहा गया है कि वह अपनी प्रस्थापनाओं के वित्तीय पहलू पर विचार करे। तो भी, आयोग की जो राय थी उसकी सामान्य प्रवृत्ति संक्षेप में निम्नलिखित थी:

- (1) प्राथमिक शिक्षा के प्रसार का मुख्य उत्तरदायित्व स्थानीय निधियों पर है और स्थानीय निधियों को यथोचित सहायता देकर सरकार केवल गौण भूमिका अदा करती है।
- (2) स्थानीय निधियां, वैधानिक स्वीकृति से इकट्ठा की जाने पर भी, वास्तव में स्वयं जनता द्वारा एकत्र की गई निधियों के तुल्य होती हैं। अत: उन्हें सरकार से सहायता अनुदान पाने का दावा करने का अधिकार है।
- (3) स्थानीय निधि कर लगाए जाने से, उन लोगों को सहायता देने का सरकार का उत्तरदायित्व घटता नहीं वरन बढ़ जाता है जो अपनी सहायता करने में सबसे कम समर्थ हैं और फिर भी अपनी शिक्षा के लिए स्थानीय साधन जुटाने के लिए तैयार हैं।
- (4) स्थानीय निधियों को सहायता देने में प्रांतीय सरकारें जिस आदर्श को ध्यान में रखेंगी उसे भारत सरकार के पत्र संख्या 63, गृह विभाग, दिनांक 11 फरवरी, 1871 में प्रस्तुत किया गया है। इस आदर्श के अनुसार स्थानीय निधियों के लिए सरकारी अनुदान स्थानीय परिसंपत्ति का आधा अथवा कुल व्यय का एक तिहाई होना चाहिए।

आयोग की उपर्युक्त प्रस्थापनाएं पूर्ण रूप से अपर्याप्त थीं। इस बात का पता इस थोड़ी सी गणना से चल जाएगा। उस काल में ब्रिटिश भारत की जनसंख्या लगभग 20 करोड़ थी। विद्यालय आयु के बालकों की संख्या 15 प्रतिशत की दर से 3 करोड़ रही होगी। उस समय किसी विभागीय विद्यालय में प्रति छात्न खर्च 4 रुपए 6 आने 5 पाई था जिसमें 15 आने 4 पाई सरकार, 2 रुपये 9 आने 11 पाई स्थानीय निधियां और 4 आने 6 पाई नगरपालिका निधियां वहन करती थीं। सहायता प्राप्त विद्यालय में प्रति छात्न खर्च 3 रुपये 7 आने 1 पाई था जिसमें से 1 रुपया 2 आने सरकार और स्थानीय निधियां वहन करती थीं। यदि यह मान लें कि सभी बालकों को केवल सहायता प्राप्त विद्यालयों में ही शिक्षा दी गई होती, तो सर्वजनीन शिक्षा पर सरकार और स्थानीय निधियों को कुल लगभग 3 करोड़ 37 लाख रुपये खर्च करने पड़ते। जैसा पहले बताया जा चुका है, 1882 में प्राथमिक शिक्षा पर प्रांतीय राजस्वों से 16.77 लाख रुपये और स्थानीय निधियों से 24.88 लाख रुपये कुल व्यय होता था। आयोग की प्रस्थापनाओं के अधीन प्राथमिक शिक्षा पर सरकारी निधियों से किए जाने वाले खर्च में 500 प्रतिशत

से अधिक वृद्धि हो गई होती। 17 लाख रुपये से बढ़कर यह राशि 112 लाख रुपये हो जाती। स्थानीय निधियों से किए जाने वाले खर्च में लगभग 800 प्रतिशत वृद्धि हुई होती। यह राशि 25 लाख रुपये से बढ़कर 224 लाख रुपये हो जाती। स्पष्ट है कि यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण था और आयोग को उस काल के हिसाब से इन भारी धनराशियों को संग्रह करने के साधनोपायों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। उसकी सिफारिश केंवल यह कह देने के बजाय ज्यादा निश्चायक होनी चाहिए थी कि 'सामान्यत: और भी अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है' अथवा 'भारत के एक भाग की उदारता अन्यत्र स्थानीय सरकार अथवा स्थानीय बोर्डों के लिए उदाहरण बन सकती है।' इस समस्या से संबंधित वित्तीय निहितार्थों की जो यह उपेक्षा की गई थी उसके परिणामस्वरूप भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशों की उपयोगिता बहुत हद तक खत्म हो जाती है।

1882-1902 की घटनाएं: भारतीय शिक्षा आयोग की कुछ सिफारिशों को सरकार ने तुरंत स्वीकार कर लिया। लार्ड रिपन ने स्थानीय स्वायत्त शासन की जो योजना चालू की थी वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस योजना के बाद से भारत में प्राथमिक शिक्षा का इतिहास स्थानीय स्वायत्त शासन की संवृद्धि से स्थाई रूप में संबद्ध रहा है। इस समस्या का विस्तृत अध्ययन इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की बात है। परंतु प्राथमिक शिक्षा के भावी इतिहास को समझने में निम्नलिखित संक्षिप्त टिप्पणियों से सहायता मिलेगी।

इस विषय से संबंधित अपने प्रसिद्ध संकल्प में लार्ड रिपन ने कहा था कि यह नहीं समझना चाहिए कि स्थानीय स्वायत्त शासन 'प्रशासन में प्राधिकार के अवक्रमण और वित्तीय संसाधनों के विकेंद्रीकरण का एक साधन है, वरन उसे जन शिक्षा के एक ऐसे एकमात्र साधन के रूप में देखा जाना चाहिए, जिसके द्वारा प्रगतिशील समुदाय सरकार की बढ़ती हुई समस्याओं का सामना कर सकते हैं।' इसके साथ ही उन्होंने निर्देश दिया था कि भारत में स्थानीय निकायों का विकास करने के लिए सिक्रय कार्रवाई की जाए। उनके इस विचार का सभी क्षेत्रों में अच्छा स्वागत नहीं हुआ और कुछ प्रांतीय सरकारों ने तो यह कहा कि लार्ड रिपन की प्रस्थानाओं से कार्यकुशलता समाप्त हो जाएगी। परंतु लार्ड रिपन ने इस बात का दावा किया कि ज्यों ज्यों स्थानीय ज्ञान और स्थानीय रुचि का प्रशासन के व्यूह पर प्रभाव पड़ेगा, कालांतर में कार्यकुशलता आ जाना लाजिमी है। उनका विचार था कि यदि उस बढ़ते हुए बुद्धिजीवी वर्ग की सेवा का उपयोग न किया जाए जिसमें लोक सेवा की भावना रखने वाले लोग हैं तो यह केवल एक बुरी नीति ही नहीं वरन शक्ति का अपव्यय करना भी है। उन्होंने कहा कि स्थानीय निकायों को तब अवश्य सफलता मिलेगी:

- (क) यदि पर्याप्त साधन उपलब्ध कर दिए जाएं;
- (ख) यदि अतिरिक्त व्यय वाले कार्यों के अंतरण के साथ ही अतिरिक्त और पर्याप्त साधन भी अंतरित कर दिए जाएं; और
- (ग) यदि सरकारी अधिकारी 'स्वयं उद्यमपूर्वक स्वतंत्र राजनीतिक जीवन की छोटी-मोटी शुरुआत कर दें और यह महसूस करने लगें कि यह प्रणाली प्रशासनिक

203

एवं निदेशात्मक शक्ति के प्रयोग के लिए उस एकतंत्रीय प्रणाली की अपेक्षा वास्तव में ही ज्यादा अच्छा क्षेत्र प्रदान करती है जिसका इसने अधिक्रमण किया है।

इस नीति के अनुसार भारत के सभी प्रांतों में स्थानीय बोर्ड अथवा स्थानीय परि-षदें, और नगरपालिका बोर्ड, नगरपालिका समितियां अथवा नगरपालिका परिषदें स्थापित की गईं। प्राथमिक शिक्षा को इन स्थानीय निकायों का अनिवार्य कर्तव्य घोषित किया गया यद्यपि माध्यमिक और उच्च शिक्षा को भी उनके क्रियाकलापों से बाहर नहीं किया गया । यह बात सामान्यतः निर्धारित कर दी गई कि स्थानीय बोर्डों का प्रमुख कर्तव्य प्राथमिक शिक्षा देना है । कुछ प्रांतों में एक नियम बनाकर स्थानीय निकाय की आय का एक न्यूनतम प्रतिशत विहित कर दिया गया था जिसे शिक्षा पर अवश्य खर्च करना था । इसके साथ ही यह निदेश दिया गया था कि माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा पर तब तक कोई धनराशि खर्च न की जाए जब तक प्राथमिक शिक्षा के लिए पर्याप्त धन-राशि की व्यवस्थान की जा चुकी हो। नियम बना कर प्राथमिक शिक्षा के संबंध में स्थानीय निकायों की शक्तियों और कर्तव्यों को विहित कर दिया गया और सहायता अनुदान संहिताएं भी तैयार की गईं। अतः मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा आयोग ने जिन प्रशासनिक एवं वैधानिक कर्रवाईयों की सिफारिश की थी उनको सामान्यत: कार्यान्वित किया गया और इस संबंध में बनाए गए नियमों के अधीन रहते हुए, प्राथमिक शिक्षा का नियंत्रण स्थानीय निकायों के हाथों में सौंप दिया गया। यह ध्यान रखना चाहिए कि नियंत्रण का यह अंतरण प्रत्येक प्रांत में एक समान नहीं था । यहां तक कि एक ही प्रांत में स्थानीय बोर्डों की अपेक्षा नगरपालिकाओं को अधिक नियं-त्नण सौंपा गया था । जनजागृति स्थानीय बोर्डों में बहुत कम थी जबकि नगरपालिकाओं में जनमत अपेक्षाकृत अधिक विकसित था। परंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी दिशा में निश्चय ही एक कदम उठाया गया जिसमें पीछे की ओर हटना असंभव था, चाहे यह कदम कितना ही छोटा क्यों न हो।

अब हम आयोग की देशी विद्यालयों से संबंधित सिफारिशों पर विचार करते हैं। हम पाते हैं कि प्रतिफलानुसार भुगतान की प्रणाली अपना लिए जाने के अलावा, इन सिफारिशों को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया। 1881-82 और 1901-2 में विद्य-मान प्राथमिक विद्यालयों तथा छात्रों के तुलनात्मक आंकड़ों से यह प्रकट हो जाएगा कि असम ने अपनी पुरानी नीति त्याग दी थी और वह आयोग द्वारा बताई गई नीति से विपरीत दिशा में कार्य कर रहा था। बरार, कुर्ग और पंजाब अपनी पुरानी नीति पर ही चलते रहे। संयुक्त प्रांत और बंबई में यथेष्ट सुधार हुआ। परंतु 1881-82 में बंबई में 3,954 देशी विद्यालय थे जिनमें 78,205 विद्यार्थी पढ़ते थे और संयुक्त प्रांत में 6,712 विद्यालय थे जिनमें 61, 624 विद्यर्थी थे। अतः यह निष्कर्ष निकलता

है कि इन प्रांतों में अधिकांश देशी विद्यालयों को काल के गर्त में समा जाने दिया गया था और केवल बहुत थोड़े विद्यालयों को ही विभागीय प्रणाली में शामिल किया गया था। बंगाल में सहायता प्राप्त विद्यालयों की संख्या में कमी और गैर सहायता प्राप्त विद्यालयों की संख्या में वृद्धि हुई थी। 1881-82 में वहां 3,265 गैर सहायता प्राप्त विद्यालयों की संख्या में वृद्धि हुई थी। 1881-82 में वहां 3,265 गैर सहायता प्राप्त विद्यालय थे परंतु 1901-2 में उनकी संख्या काफी बढ़कर 11,630 हो गई। अत: यद्यपि बंगाल में विभागीय विद्यालायों की संख्या में वृद्धि हुई थी तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि बंगाल की नीति आयोग की सिफारिशों के पूरी तरह अनुरूप थी।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ होने के समय तक देशी विद्यालयों की समस्या समाप्त हो गई। जिन प्रांतों में उन्हें शिक्षा पद्धित में समाविष्ट कर लिया गया था, वहां वे स्वयं पद्धित का अभिन्न अंग बन गए थे। अत. उनका वह देशी स्वरूप समाप्त हो गया था जिसका भारतीय शिक्षा आयोग ने बहुत अच्छी तरह वर्णन किया था। दूसरी ओर उन प्रांतों में वे नितांत उपेक्षा अथवा प्रतियोगिया के कारण काल के गर्त में समा गए जिनमें शिक्षा विभाग रूपी जाति व्यवस्था में उनके साथ जानबूझ कर अछूतों जैसा व्यवहार किया गया था।

जब हम आयोग की उन सिफारिशों पर विचार करते हैं जो उसने प्राथमिक शिक्षा तथा उसके वित्त से संबंधित नीति के विषय में की थीं तो हम पाते हैं कि प्रांतीय सरकारों ने इन सिफारिशों को कार्योग्वित नहीं किया। जैसा पहले बताया जा चुका है, आयोग का प्रतिवेदन आने के बाद अगले बीस वर्षों में महाविद्यालयी और माध्यमिक शिक्षा का तेजी से प्रसार हुआ था। अतः अधिकांश अतिरिक्त निधियों को शिक्षा पद्धित की इन दोनों शाखाओं पर व्यय कर दिया गया और प्राथमिक शिक्षा को धनाभाव का सामना करना पड़ा। 1881-82 में सरकारी निधियों से प्राथमिक शिक्षा पर 16.77 लाख रुपये खर्च किए गए थे। परंतु 1901-2 में यह राशि बढ़कर केवल 16.92 लाख रुपये हो पाई। स्थानीय निकायों ने सार्वजनिक शिक्षा के लिए यथेष्ट कार्य किया। जबिक 1881-82 में प्राथमिक शिक्षा निधि में उनका अंशदान 24.9 लाख रुपये था, 1901-2 में यह 46.1 लाख रुपये हो गया। परंतु सरकार के अंशदान में कोई सारभूत वृद्धि न होने के कारण प्राथमिक शिक्षा का अधिक प्रसार न हो सका और शिक्षा पद्धित की विभिन्न शाखाएं पहले की अपेक्षा अधिक असमान गित से विकास करती रहीं।

जहां तक 1901-2 के विद्यालयों और साक्षरता के वास्तविक आंकड़ों का संबंध है, प्राथमिक शिक्षा की असंतोषजनक स्थिति 11 मार्च, 1902 के शिक्षा नीति संबंधी संकल्प में सार रूप में निम्नलिखित ढंग से बताया गया है:

तब सर्वसाधारण के बीच प्राथमिक शिक्षा का प्रसार किए जाने के संबंध में क्या स्थिति है ? ब्रिटिश भारत की जनसंख्या 24 करोड़ से अधिक है । यह आम तौर से माना जाता है कि कुल जनसंख्या के 15 प्रतिशत लोग विद्यालय आयु के होते हैं। इस मापदंड के अनुसार इस समय 3 करोड़ 60 लाख से अधिक लड़कों को विद्यालय में पढ़ने जाना चाहिए। परंतु वास्तव में उपर्युक्त संख्या के छठवें भाग से कुछ ही अधिक लड़के प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। यदि आंकड़ों को प्रांतवार व्यवस्थित

देखिए नुष्कला एंड नायक : हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इंडिया ड्यूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड, पु० 358।

विक्टोरिया काल : दो

किया जाए तो यह पता चलेगा कि विद्यालय आयु के सौ लड़कों में से सभी प्रकार के प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा पाने वाले लड़कों की संख्या पंजाब और संयुक्त प्रांत में आठ और नौ के बीच है जबिक बंबई और बंगाल में तेईस तक है। 1901 की जनगणना से यह पता चलता था कि दस पुरुषों में केवल एक पुरुष और एक हजार स्त्रियों में केवल सात स्त्रियां साक्षर थीं। इन आंकड़ों से पता चलता है कि यह समस्या कितनी बड़ी है और यह ज्ञात होता है कि आरंभिक शिक्षा पाने वाली जनसंख्या के प्रतिशत के बारे में अधिक उन्नत देशों में अपरिहार्य माने जरने वाले मानदंड तक पहंचने से पहले बहत कुछ करना शेष है।

भारत में प्राथमिक शिक्षा के विकास की सामान्य समीक्षा (1854-1902) : पूर्वगामी वर्णन से यह पता चलेगा कि इस काल में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही थी। समय समय पर घोषित सरकारी नीति को देखते हुए यह परिणाम विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, 1854 के आज्ञापत में यह आदेश दिया गया था कि सरकार उच्च शिक्षा की अपेक्षा प्राथमिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दे और सर्वसाधारण को शिक्षा देने के लिए सिकय कार्रवाई करे। उसमें यह भी वायदा किया गया था कि इस प्रयोजन के लिए व्यय में यथेष्ट वृद्धि करने के लिए स्वीकृति प्रदान की जाएगी। 1865-66 और 1870-71 के बीच किए गए शैक्षिक सर्वेक्षणों में भी इस विचार को दोहराया गया था। भारतीय शिक्षा आयोग का भी यही मत था और उसने सिफारिश की थी कि 'यद्यपि शिक्षा की प्रत्येक शाखा उचित रूप से यह अधिकार जता सकती है कि राज्य उसे पूरी तरह प्रोत्साहन दे तथापि देश की वर्तमान परिस्थितियों में यह वाछनीय है कि सर्व-साधारण की प्रारंभिक शिक्षा और उसकी व्यवस्था, प्रसार एवं सुधार को शिक्षा पद्धति का वह अंग घोषित किया जाए जिसके बारे में राज्य को अब पहले से अधिक बड़े पैमाने पर कठिन प्रयत्न करना होगा।' परंतु जैसा ऊपर बताया जा चुका है, इन सब घोषणाओं के बावजद प्राथमिक शिक्षा की प्रगति धीमी गति से और रुकरुक कर होती रही। यह एक ऐसी स्थिति है जिसके विषय में कूछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक है ।

प्राथमिक शिक्षा का विस्तार करने में सरकार के असफल होने का कारण यह था कि प्रशासनिक और वित्तीय मामलों में उसने अनेक गलत निर्णय लिए थे। इनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:

- (क) अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ न करना;
- (ख) प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय निकायों के नियंत्रण में दे देना;
- और
- (ग) देशी विद्यालयों की उपेक्षा।

(क) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ न करना: 1854 के आज्ञापत में अनिवार्य शिक्षा के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया गया था। परंतु 1902 में भी इस विषय में सरकार का मौन रहना उचित नहीं था। इंग्लैंड में अनिवार्य शिक्षा को 1870, 1876 और 1880 के अधिनियमों के अधीन सर्वजनीन रूप से आरंभ कर दिया गया था। भारतीय शिक्षा आयोग (1882-83) को इस विषय पर कम से कम विचार तो अवश्य करना

चाहिए था। इसकी विशेषकर इसलिए भी आवश्यकता थी कि आयोग के समक्ष उपस्थित होने वाले अनेक साक्षियों ने यह मांग की थी कि अनिवार्य शिक्षा दी जाए। परंतु आयोग इस विषय पर मौन रहा। एक भारतीय राजा, बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकबाड़ ने तो 1893-94 में प्रयोग के तौर पर अपनी रियासत के एक मंडल में अनिवार्य शिक्षा आरंभ भी कर दी थी। सर चिमनलाल सीतलवाड़ और सर इब्राहीम रहीमतुल्ला जैसे भारतीय नेता पहले से ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की मांग कर रहे थे। परंतु 1902 तक सरकार ने इस विषय पर विचार तक नहीं किया। इस नीति के पक्ष में मुख्य युक्ति यह प्रस्तुत की गई कि अंग्रेज सरकार एक विदेशी सरकार है अतः लोगों को अपने बालकों को विद्यालय भेजने के लिए मजबूर नहीं कर सकती है, यह एक ऐसी कार्रवाई है जिसे कोई भारतीय राजा भले ही कर सकता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में सरकार ने उन्नीसवीं शताब्दी में अनिवार्य शिक्षा के सिद्धांत को मुख्यतः इसलिए स्वीकार नहीं किया कि सरकार और जनता के बीच तादात्म्य नहीं था और, अनिवार्यता न होने के कारण प्राथमिक शिक्षा की प्रगति असंतोषजनक रही।

(स्त) प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय निकायों के नियंत्रण में अंतरित कर दिया जाना : प्राथमिक शिक्षा की धीमी प्रगति का दूसरा कारण यह था कि इसे स्थानीय निकायों के नियंत्रण में अंतरित कर दिया गया था।

जैसा पहले बताया जा चुका है, भारत में 1884 में प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय निकायों के नियंत्रण में अंतरित किए जाने के लिए इंग्लैंड के 1870 और 1876 के प्रारंभिक शिक्षा अधिनियमों से प्रेरणा मिली थी। दूसरा कारण यह था कि सीधे शैक्षिक उद्यम से राज्य विनिवर्तन के उस सिद्धांत से भी इसी दिशा में सहायता मिली जिसका सबसे पहले 1854 में प्रतिपादन किया गया था और 1882-83 में पुष्टि की गई थी। गैर सरकारी संस्थाओं ने, चाहे वे मिशनरियों की थीं या भारतीयों की, माध्यमिक और महाविद्यालयी शिक्षा के अंतरण की मांग की थी परंतु उनमें से कोई भी प्राथिमक विद्यालयों के संचालन का भार वहन करने के लिए तैयार नहीं था। अतः यदि सरकार प्राथमिक शिक्षा में सीधे उद्यम से हटना चाहती थी तो ऐसा करने का एकमात्र तरीका प्राथमिक शिक्षा को अर्धसरकारी निकायों को सौंप देना था। तीसरा कारण राजनीतिक था। इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि इस काल में अंग्रेजी शासन के प्रति असंतोष फैला हुआ था और स्वशासन की मांग धीरे धीरे बढ़ती जा रही थी। इस मांग को भारतीयों को कूछ उत्तरदायित्व सौंप कर किसी प्रकार का स्वशासन प्रदान करके पूरा करना था। अतः सरकार ने यह निर्णय किया कि स्थानीय निकाय स्थापित किए जाएं, उनके प्रबंध में भारतीयों का स्वशासन रहे और प्राथमिक शिक्षा इन निकायों को अंतरित कर दी जाए जहां भारतीय प्रशासनिक क्षमता का अहानिकर रूप से पर्याप्त प्रयोग किया जा सकेगा। इन तथा अन्य कारणों से प्राथमिक शिक्षा 1884 से व्यवहारत: एक स्थानीय विषय बन गई।

वास्तव में यह अंतरण गलत नहीं था। लार्ड रिपन ने अपने संकल्प में स्थानीय

स्वायत शासन के बारे में जो मूल निदेश दिए थे, उत्तरकालीन प्रशासकों ने यदि उनका पालन किया होता तो बड़ा लाभ हआ होता। लार्ड रिपन ने कहा था कि इस प्रयोग को केवल तभी सफलता मिलेगी (i) यदि पर्याप्त साधन उपलब्ध कर दिए जाएं; (ii) यदि अतिरिक्त और पर्याप्त साधन भी ऐसे कार्यों के अंतरण के साथ ही अंतरित कर दिए जाएं जिनमें अतिरिक्त व्यय करना पडेगा; और (iii) यदि सरकारी अधिकारी 'स्वयं उद्यमपूर्वक स्वतंत्र राजनीतिक जीवन की छोटी मोटी शुरुआत कर दें और यह महसूस करने लगें कि यह प्रणाली प्रशासनिक एवं निदेशात्मक शक्ति के प्रयोग के लिए उस एकतंत्रीय प्रणाली की अपेक्षा ज्यादा अच्छा क्षेत्र प्रदान करती है जिसका इसने अधि-कमण किया है।' परंतु दुर्भाग्यवश इन निदेशों को शीघ्र ही भुला दिया गया। इस संपूर्ण काल में (और बाद में भी) स्थानीय निकायों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब रही। वे सरकारी अधिक्रम के उपेक्षित पात्र बन गए और प्रांतीय सरकारों के हाथों से गिरे हुए रोटी के छोटे छोटे ट्कड़े पाकर उसी प्रकार संतुष्ट रहने लगे जिस प्रकार प्रांतीय सरकारों को उन ट्कड़ों पर निर्भर करना पड़ता था जो साम्राज्यिक सरकार की मेजों से नीचे गिर पड़ते थे। प्राथमिक शिक्षा जैसे खर्चीले उत्तरदायित्व के अंतरण के साथ ही काफी बड़े परिमाण में ऐसे साधन भी अंतरित करने चाहिए थे जो इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए स्थानीय निकायों को समर्थ बना देते। परंतू ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की गई। स्थानीय निकायों को उदार सहायता अनुदान तो अवश्य ही दिए जाने चाहिए थे। लेकिन ऐसा न करके यह निर्धारित कर दिया गया कि सरकारी अनुदान कूल व्यय के एक तिहाई भाग से अधिक नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, कर्मचारियों से यह आशा की जाती थी कि बे स्थानीय निकायों के प्रबंध में भारतीयों का मार्ग दर्शन करेंगे अथवा उन्हें प्रशिक्षण देंगे। परंतु सामान्यतः यह मार्गदर्शन अथवा प्रशिक्षण भी नहीं मिला। अतः कूल मिलाकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्थानीय स्वायत्त शासन के प्रयोग को सफल बनाने के लिए लार्ड रिपन ने जो शर्तें निर्धारित की थीं उन्हें कभी पुरा नहीं किया गया और प्राथमिक शिक्षा ऐसी संस्थाओं को अंतरित कर दी गई जिनके पास पर्याप्त निजी साधन नहीं थे और जिन्हें बिल्कूल अपर्याप्त सहायता अनुदान दिए गए थे। प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय नियंत्रण में दिए जाने का प्राथमिक शिक्षा के प्रसार पर अंततः जो प्रतिकृल प्रभाव पड़ा उसका कारण यह नहीं था कि स्वयं इस प्रस्थापना में कोई म्रंतर्भुत गलती नहीं थी। उसका कारण यह था कि यह प्रयोग उचित ढंग से नहीं किया गया था।

तो भी, यह बात उल्लेखनीय है कि इन सब बाधाओं के बावजूद स्थानीय निकायों ने प्राथमिक शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। जैसा पूर्वगामी परिच्छेद में पहले ही बताया जा चुका है, 1881-82 में प्राथमिक शिक्षा के लिए स्थानीय निकायों का अंशदान 24.9 लाख रुपये था जो बढ़कर 1901-2 में 46.1 लाख रुपये हो गया था जबिक सरकारी अंशदान उपर्युक्त अवधि में 16.77 लाख रुपये से बढ़कर केवल 16.92 लाख रुपये ही हुआ था। स्थानीय निकायों की इस उदारता ने स्थित को बिगड़ने से काफी बचा लिया। परंतु यह केवल एक तात्कालिक लाभ था। स्थानीय निकायों के संसाधन इतने लोचहीन और

सीमित थे कि अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ करने अथवा विद्यालयों का बड़े पैमाने पर विस्तार करने की वे कभी आशा भी नहीं कर सके होंगे। उन्होंने प्रवल प्रयत्न करके कार्यारंभ किया और उस कठिन समय में कठिनाइयों पर किसी प्रकार विजय पाई जब सरकारी निधियां बहत कम थीं। परंत् उसके साथ ही इस कार्य में व्यवहारत: उनका योगदान समाप्त हो गया। उनके प्राथमिक शिक्षा के लिए मूख्यत: उत्तरदाई बने रहने से अंतत: हानियां हुईं और प्रगति के सभी प्रमुख रास्ते रुक गए।

विक्टोरिया काल : दो

(ग) देशी विद्यालयों की उपेक्षा: प्राथमिक शिक्षा की उन्नति धीमी गति से होने का तीसरा कारण यह था कि देशी विद्यालयों की उपेक्षा की गई थी। सरकार और स्थानीय निकायों ने प्राथमिक शिक्षा के लिए जितनी धनराशि आवंटित की थी यदि उस पूरी धनराशि को देशी विद्यालयों का विकास करने के लिए खर्च किया गया होता तो सरलता से बहुत अच्छे परिणाम निकल सकते थे। उसके बजाय, देशी विद्यालयों को काल के गर्त में समा जाने दिया गया और उनका स्थान ग्रहण करने के लिए नए सिरे से विद्यालयों की एक नई प्रणाली स्थापित कर दी गई। इस कार्य में राष्ट्रीय शक्ति का भारी अपव्यय हुआ जबिक इस शक्ति को आसानी से नष्ट होने से बचाया जा सकता था। परंत चंकि अंग्रेज कर्मचारियों के हृदय में तमाम देशी चीजों के प्रति अवमान की सामान्य अभिवत्ति थी अतः वे देशी विद्यालयों से मिलने वाले लाभों को भुला बैठे। जैसा पहले बताया जा चुका है, 1901-2 तक देशी विद्यालय एक प्रकार से लुप्त हो गए और उनके स्थान पर विद्यालयों की जो नई प्रणाली स्थापित की गई उससे वह क्षति पूरी नहीं हो सकी जो देशी विद्यालयों के समाप्त हो जाने से हुई थी।

प्राथमिक शिक्षा में अन्य उपलब्धियां : हमने अब तक प्राथमिक शिक्षा के केवल तीन पहलुओं अर्थात देशी विद्यालयों के प्रति अभिवृत्ति, वित्त और प्रसार की ही चर्चा की है। इन्हें अलग से इसलिए लिया है कि ये समस्या के सबसे महत्वपूर्ण पहलू हैं। इस चर्चा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इन पहलुओं के संबंध में सरकारी प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली थी। अब हम प्राथमिक शिक्षा के गुणात्मक पहलुओं पर विचार करेंगे। इस क्षेत्र में सरकारी प्रयासों को निश्चय ही अनेक छोटी छोटी सफलताएं मिली थीं।

इस दिशा में मुख्य सरकारी उपलब्धियां निम्नलिखित थीं:

(क) विद्यालय भवनों का निर्माण: जैसा अध्याय एक में पहले ही बताया जा चुका है, देशी विद्यालयों के अपने निजी भवन नहीं थे। इंग्लैंड में मौसम की निष्ठुरताएं और अनिश्चिततः एं इतनी अधिक हैं कि वहां कोई विद्यालय निजी भवन के बिना नहीं चल सकता है। अतः वहां विद्यालय भवनों के निर्माण पर भारी जोर दिया गया था। इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि शिक्षा संबंधी प्रथम संसदीय अनुदान केवल भवनों के लिए दिए गए थे। भारत में भी विद्यालय भवनों के निर्माण पर जोर दिया गया और शिक्षा विभागों ने भारी धनराशि व्यय करके प्राथमिक विद्यालयों के लिए भवनों की व्यवस्था की । इस संबंध में उपलब्धियां काफी संतोषजनक रहीं परंत आर्थिक कठिनाई हमेशा बाधक हुई और तमाम नए प्राथमिक विद्यालयों के लिए भवनों की व्यवस्था करना संभव नहीं हुआ। इनमें से अधिकांश विद्यालय मंदिरों, मस्जिदों,

चावड़ियों और इसी प्रकार के सार्वजनिक भवनों में चलते रहे। देशी विद्यालयों की जो एक पुरानी प्रथा थी कि विद्यालय अध्यापकों के मकान में ही चलते थे, वह अब निश्चय ही समाप्त हो गई थी।

(ख) अध्यापकों के प्रशिक्षण और अर्हताओं में सुधार : विक्टोरिया काल की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि प्राथमिक अध्यापकों की सामान्य शिक्षा तथा उनके प्रशिक्षण में सुधार हआ । देशी विद्यालयों की तूलना में नए विद्यालयों के अध्यापक निश्चय ही अधिक शिक्षित थे । उनमें से काफी बड़ी संख्या में लोग व्यावसायिक प्रशिक्षण भी प्राप्त कर चुके थे। देशी पद्धति में इस प्रकार का कोई प्रशिक्षण नहीं था। स्थानीय बोर्डों, नगरपालिकाओं अथवा सरकार के विद्यालयों में अध्यापकों को निश्चय ही ज्यादा अच्छा वेतन मिलता था। परंतु सहायता अनुदान अपर्याप्त होने के कारण सहायता प्राप्त विद्यालयों में उपर्युक्त विद्यालयों के समान असाधारण सुधार नहीं हुआ । यह कहना कठिन है कि अपना कर्तव्य पालन करने में ये अध्यापक भी उन देशी अध्यापकों के बरा-बर उत्साह से काम करते थे या नहीं जिनका संपूर्ण जीवन अपने छात्रों की प्रगति पर ही निर्भर करता था। परंतु भारत में यह बात सामान्य रूप से देखने को मिलती है कि यद्यपि सरकारी विद्यालय में ज्यादा अच्छा कर्मचारी वर्ग और साज सामान होता है तथापि एक अच्छे गैर सरकारी विद्यालय में बहुधा सरकारी विद्यालय की अपेक्षा अधिक अच्छी शिक्षादी जाती है। विभागीकरण के अंतर्गत हमेशा कार्यकुशलता में कुछ कमी हो जाती है। इस बात की पूरी संभावना है कि नए प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापकों की श्रेष्ठ उपलब्धियों से होने वाले लाभों में कुछ हद तक इस कारण कमी आ गई थी कि उनका उत्साह क्षीण हो गया था।

(ग) लड़िकयों और नीची जाति के छात्रों का दाखिला: देशी विद्यालयों में लड़िकयां बहुत कम थीं और हरिजन छात्र तो शायद ही कोई रहा हो। परंतु नए प्राथमिक विद्यालयों में लड़िकयां और हरिजन छात्र काफी संख्या में थे। नई प्राथमिक विद्यालय प्रणाली की यह बहुत दूरगामी और महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इन गतिविधियों पर अगले अध्याय में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

(घ) मुद्रित पुस्तकों का उपयोग: इस बात का पुन: स्मरण करा दें कि देशी विद्यालय मुद्रित पुस्तकों का बिल्कुल उपयोग नहीं करते थे। नई शिक्षा पद्धित ने पाठ्य पुस्तकों तैयार करके और उन्हें मुद्रित एवं प्रकाशित करके तथा सभी विद्यालयों में उनके उपयोग को लोकप्रिय बनाकर बहुत भारी सेवा की। यद्यपि इस सुधार से निर्विवाद रूप से लाभ हुए तथापि इन लाभों के बावजूद शुरू में इसका कुछ विरोध हुआ। परंतु 1900 तक, सभी प्राथमिक विद्यालयों में मुद्रित पुस्तकों का सार्वित्रक उपयोग होने लगा था।

(ङ) अध्यापन में नई प्रणालियों का अपनाया जाना : अध्यापन की नई प्रणालियों से लाभ भी हुए और हानियां भी हुईं। जैसा अध्याय एक में बताया जा चुका है, इंग्लैंड में मानीटर प्रणाली भारत से ली गई थी। बाद में इसका विकास छात्र अध्यापक पद्धित में हुआ। इसके अंतर्गत विरिष्ठ छात्रों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अध्यापकों के सहायकों के रूप में कार्य करेंगे। इस कार्य के बदले में उन्हें थोड़ा सा वजीफा मिलता

था। बाद में उन्हें इसी व्यवसाय में काम पर लगा लिया जाता था और प्रशिक्षण दे दिया जाता था। ये दोनों ही पद्धितयां इग्लैंड में काफी समय तक चलती रही थीं और इन्होंने शिक्षा का खर्च घटाकर शिक्षा के प्रसार में सहायता की थी। जब अधिक निधियां उपलब्ध होने लगीं और प्रसार की गित को कम किए बिना कार्यकुशल अध्यापकों की व्यवस्था की जाने लगी तो इन पद्धितयों का परित्याग कर दिया गया। इसके विपरीत, भारत में प्रवर्तमान वित्तीय किठनाइयों के कारण इन पद्धितयों को जारी रखना चाहिए था। परंतु इंग्लैंड में इसका परित्याग किए जाने के तुरंत बाद ही यहां भी इनका परित्याग कर दिया गया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि प्रसार की गित धीमी पड़ गई।

विक्टोरिया काल: दो

दूसरी ओर, नए प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापन अधिक आकर्षक हो गया। ऐसा सामान्यतः प्रशिक्षित अध्यापकों के कारण तथा किंडरगार्टेन जैसी नई तकनीकों अथवा निचली कक्षाओं में वस्तुनिष्ठ पाठों को अपनाए जाने के कारण हुआ। दंड देने का असभ्य और निष्ठुर तरीका समाप्त होने लगा और बालक के साथ अधिक दयालुतापूर्ण व्यवहार होने लगा। विद्यालयों के साज सामान में भी सूधार हुआ और इससे शिक्षा का स्तर ऊंचा होने में सहायता मिली। जबिक यह उपलब्धि निश्चय ही एक लाभ थी, दूसरी ओर एक हानि होने से यह लाभ प्रतिसंतुलित हो गया। देशी विद्यालय आकार में इतने छोटे थे कि प्रत्येक छात्र की ओर व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। न उनका कोई स्तर था और न उनमें कोई निश्चित आवधिक परीक्षाएं ही होती थीं। प्रत्येक छात्र अपनी गति से प्रगति करता था और जितना वह सीखना चाहता था, उतना सीख लेने के बाद अथवा विद्यालय को जितनी शिक्षा देनी होती थी, उतनी शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद, विद्यालय छोड़ कर चला जाता था। नए विद्यालयों में निश्चित स्तर निर्धारित कर दिए गए थे। एक कक्षा से दूसरी कक्षा में तरक्की देने के लिए विभागीय अधिकारी आवधिक परीक्षाएं लेते थे। कक्षाओं का आकार बढाकर बडा कर दिया गया था जिससे छात्रों की ओर उत्तरोत्तर कम व्यक्तिगत ध्यान दिया जाने लगा। इन परिवर्तनों के साथ ही अनिवार्य रूप से कुछ नियम निष्ठा भी आ गई।

(च) पाठ्यचर्या : पाठ्यचर्या संबंधी परिवर्तन तीन विरोधी शक्तियों के बीच लगातार होने वाले समायोजन का परिणाम थे। इनमें से पहली शक्ति थी उन विभागीय अधिकारियों की महत्वाकांक्षा जो इंग्लैंड की गतिविधियों की नकल करना चाहते थे। इंग्लैंड में पाठ्यचर्या में एक के बाद एक नया विषय जोड़ा जा रहा था। दूसरी शक्ति सीमाकारी थी और यह शक्ति थी सतत वर्धमान पाठ्यचर्या को चलाने की अध्यापक की सामर्थ्य। तीसरी शक्ति सामान्य माता पिता की यह इच्छा थी कि शिक्षा देशी विद्यालयों की उस शिक्षा के सदृश हो जिससे वे परिचित थे। इस इच्छा का अर्थ यह था कि पाठ्यचर्या को सरल बनाया जाए और पढ़ने, लिखने और अंकगणित पर जोर दिया जाए। यह एक ऐसी बात थी जो पाठ्यचर्या को संविधित करने और उसका प्रसार करने की सरकारी इच्छा के बिल्कुल प्रतिकूल थी। अंतत: कर्मचारियों ने अपने ढंग से काम किया और एक संविधित एवं परिवर्तित पाठ्यचर्या स्वीकार कर ली गई।

1901-2 में प्राथमिक शिक्षा पाठ्यचर्या में निम्नलिखित विषय शामिल थे: किंडरगार्टेन, ड्राइंग, वस्तुनिष्ठ पाठ, भूगोल, इतिहास, गायन एवं सस्वर पाठ, स्वास्थ्य विज्ञान, कृषि, विज्ञान, द्वितीय भाषा, क्षेत्रमिति, शारीरिक व्यायाम और शारीरिक कार्य। कुछ प्रांतों में, इनमें से कुछ विषय वैकल्पिक थे और कुछ में इनमें से कुछ विषयों को बिल्कुल ही हटा दिया गया था। परंतु मोटे तौर पर, यह कहा जा सकता है कि 1902 की प्राथमिक शिक्षा पाठ्यचर्या एक शताब्दी पहले के देशी विद्यालयों की पाठ्यचर्या से बहुत अधिक संविधित थी।

विक्टोरिया काल का अंत : विक्टोरिया काल के दौरान भारत में शिक्षा का जो विकास हआ उसके संबंध में अय हम अपना सर्वेक्षण पुरा कर चुके हैं। सतही तौर पर स्थिति संतोषजनक थी और अंग्रेजी कर्मचारियों तथा जनता दोनों को ही अपनी उपलब्धियों पर गर्व करने का कारण मौजूद था। हावेल का कहना है कि 'अंग्रेजी शासन के अधीन भारत में पहले तो शिक्षा की अवहेलना की गई, उसके बाद उसका उग्र रूप से और सफलता-पूर्वक विरोध किया गया, तत्पश्चात एक ऐसी पद्धति चलाई गई, जिसे अब सर्वेत्र गलत माना जाता है, और सबसे अंत में उसे वर्तमान आधार प्रदान किया गया।" शिक्षा पद्धति को अंत में वर्तमान आधार प्रदान किए जाने से हावेल का आशय 1854 के आज्ञा-पत्न में दिए गए उन आदशों और प्रणालियों से है, जिनका एक प्रकार से 1901-2 तक प्राधान्य बना रहा ।1854 से पहले जो काल था उसके विवादों और अनिश्चयों की तुलना में, विक्टोरिया काल के दौरान नई शिक्षा पद्धति की उपलब्धियां निस्संदेह अच्छी रहीं। देशी पद्धति निस्संदेह अब काल के गर्त में समा चुकी थी; परंतु इसकी किसी को भी चिंता नहीं थी और उसके नष्ट हो जाने पर शायद ही किसी ने आंसू बहाए हों। दूसरी ओर, लोग अब निम्नलिखित उपलब्धियां देख सकते थे: अंग्रेजी विद्यालयों और महा-विद्यालयों का भारी प्रसार; ऐसे प्राथमिक विद्यालयों का काफी लंबा जाल फैल जाना जो गुणात्मक रूप से देशी विद्यालयों की अपेक्षा श्रेष्ठ थे; भारतीय प्रेस और भारतीय जीवन में पूनर्जागरण का प्रारंभ; आधुनिक भारतीय भाषाओं में एक नए साहित्य का जन्म; स्त्रियों, हरिजनों, आदिवासियों एवं पहाडी जनजातियों की शिक्षा जैसे समस्या के कठिन पहलुओं के संबंध में धीमी परंतु स्थिर प्रगति; आधूनिक प्रकार के विद्यालयों में मुसलमानों का प्रवेश। यहां तक कि भारतीय रियासतों में भी हलचल होने लगी और उन्होंने भी, पर्याप्त दूरी कायम रखकर, अंग्रेजी भारत द्वारा दिखाए गए रास्ते का ही अनुकरण किया। सरकारी विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई परंतु इससे भी कई ग्नी वृद्धि स्वयं भारतीयों द्वारा संचालित आध्निक ढंग के विद्यालयों और महाविद्यालयों की संख्या में हुई। अतः कुल मिलाकर कर्मचारियों और जनता दोनों के ही लिए अपने काम पर गर्व करने और अतीत के प्रति संतोष एवं उपलब्धि की भावना रखने के लिए कारण मौजूद थे और उन्होंने सामान्यतः ऐसा ही किया। निस्संदेह इसका यह अर्थ नहीं

है कि शिकायत के लिए अथवा सुघार संबंधी सुझाव देने के लिए कोई कारण ही नहीं था। शिकायत और सुझाव दोनों की ही बहुतायत थी परंतु सामान्य भावना यह थी कि अब तक अपनाए गए सिद्धांत और नीतियां मोटे तौर से ठीक हैं और केवल समय और धन का सवाल है।

इस काल के आत्मतुष्ट सरकारी कर्मचारियों अथवा गैर सरकारी लोगों ने इस बात को महसुस नहीं किया कि वे एक ज्वालामुखी के ऊपर बैठे हैं। सामान्य संतोष और कल्याण की सतह के नीचे, कुछ वर्षों से एक नियमित तूफान चल रहा था। कुछ सरकारी कर्मचारी और गैर सरकारी लोग उन नीतियों के औचित्य पर आपत्ति करने लगे थे जिन्हें आधारभूत मान लिया गया था और आधी शताब्दी से अधिक समय तक कार्या-न्वित किया गया था। सरकारी कर्मचारी उस बढ़ती हुई राजनीतिक अशांति से परेशान थे जिसे वे पूर्णतया आधूनिक शिक्षा के कारण उत्पन्न हुआ मानते थे। दूसरी ओर, शिक्षा की जो धीमी प्रगति हो रही थी और जिस ढंग से राष्ट्रमंडली में भारत की स्थित बिगड़ती जा रही थी उससे भारतीयों को चिंता होने लगी थी। दोनों पक्ष परिवर्तन चाहते थे यद्यपि उसके कारण भिन्न भिन्न थे और दिशाएं भी भिन्न भिन्न थीं। तो भी जब तक यथास्थिति को कायम रखा जा रहा था आलोचना कम ही होती थी। परंत जैसे ही लार्ड कर्जन ने 1901 में शैक्षिक पूर्नानमीण के प्रश्न को छेडा, सभी छिपे हए मतभेद उभर कर सामने आ गए और अपूर्व उग्रता के साथ विवादों का तफान उठ खड़ा हुआ। इसके परिणामस्वरूप कतिपय शैक्षिक मामलों के बारे में भारी संघर्ष छिड गया। सरकारी और गैर सरकारी दृष्टिकोणों के बीच यह संघर्ष लगभग दो दशकों तक जारी रहा और शिक्षा को निर्वाचित भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में सौंपे जाने पर 1921 में केवल आंशिक रूप से ही बंद हुआ। भारत के शैक्षिक इतिहास का यह जो नया चरण है उसके इतिहास पर अगले अध्यायों में चर्चा की जाएगी।

लार्ड कर्जन

(1898-1905)

इस काल की सामान्य विशेषताएं (1902-1921): 1902 में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति किए जाने और 1921 में शिक्षा को भारतीय नियंत्रण में सौंपे जाने के बीच की लगभग 20 वर्षों की जो अविध है, उसे आधुनिक भारतीय शिक्षा के इतिहास का चौथा काल कह सकते हैं। विक्टोरिया काल की तुलना में इस काल की कई सुस्पब्ट विशेषताएं हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं: (क) अधिक वित्त, (ख) शिक्षा में राज्य की अधिक सिक्तय भूमिका, (ग) सभी प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में गुणात्मक सुधार के लिए किए गए जोरदार प्रयास, (घ) शिक्षा की लगभग सभी शाखाओं में अपूर्व प्रसार, और (इ) जनता में युयुत्सु राष्ट्रीयता की संवृद्धि। इसमें से प्रत्येक विशेषता इतनी अधिक महत्वपूर्ण और अद्वितीय है कि उस पर कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

(क) शिक्षा के लिए उपलब्ध अधिक वित्तः जैसा हम देख चुके हैं, विक्टोरिया काल सामान्यतः अर्थ संकट का काल था। परंतु 1902 और 1921 के बीच शिक्षा का यह सौभाग्य रहा कि उसे इस काल में इतना अधिक वित्त प्राप्त हुआ जितना पूर्ववर्ती काल में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। इसके कई कारण थे। पहला कारण यह था कि इस समूह काल में केंद्रीय व प्रातीय सरकारों के बीच अच्छे और स्थाई वित्तीय संबंध कायम रहे। इससे राजस्व की ज्यादा वसूली हुई तथा व्यय में ज्यादा सतर्कता बरती गई। जिसके परिणामस्वरूप केंद्रीय एवं प्रांतीय सरकारों के संसाधन काफी बढ़ कए और वे शिक्षा के लिए अधिक वित्त की व्यवस्था कर सकीं।

अतिरिक्त वित्त का दूसरा स्रोत शिक्षा के लिए दिए जाने वाले केंद्रीय अनुदान थे। विश्व की आर्थिक व्यवस्था में यह व्यापार उत्कर्ष का काल था और इस सामान्य समृद्धि में भारत का भी हिस्सा रहा था। व्यापार एवं वाणिज्य में यथेष्ट वृद्धि हुई और इससे केंद्रीय राजस्व में भी भारी वृद्धि हुई। इस वृद्धि के फलस्वरूप केंद्रीय बजटों में सारभूत अधिशेष रहे थे। 1902 और 1921 के बीच बजट में केवल छः वर्ष घाटा रहा (इनमें से प्रथम महायुद्ध के तुरंत बाद 1918-19 से 1920-21 तक के तीन वर्षों में सरकार की वित्त व्यवस्था थोड़ी ऋणग्रस्त रही थी) जबकि कई वर्ष अधिशेष बहुत अधिक रहे थे।

लार्ड कर्जन

भारत सरकार ने इन अधिशेषों का एक भाग शिक्षा पर व्यय करने के लिए प्रांतीय सरकारों को बांट दिया। इनमें से पहला अनुदान लार्ड कर्जन ने मंजूर किया था और उनके उत्तराधिकारियों ने उसी नीति को जारी रखा। 1902 और 1918-19 के बीच लगभग 5 करोड़ रुपये के अनावर्ती और लगभग 3 करोड़ रुपये के आवर्ती अनुदान दिए गए। यह कहना बिल्कुल सही होगा कि इस काल से पूर्व अथवा इस काल के बाद इतना भारी केंद्रीय अनुदान भारतीय शिक्षा के इतिहास में कभी नहीं दिया गया। इस काल में शिक्षा के भारी प्रसार और सुधार का सबसे बड़ा कारण यही अनुदान थे और यही अनुदान बहुत सुखद रूप से इस काल को अर्थ संकट वाले पूर्ववर्ती काल से पृथक करते हैं।

इस काल में शिक्षा के लिए अधिक वित्त उपलब्ध होने का तीसरा कारण यह था कि शिक्षा के लिए मिलने वाले प्रांतीय, स्थानीय और गैर सरकारी अंशदानों में सर्वतो-मुखी सुधार हुआ। प्रांतीय सरकारों की आर्थिक व्यवस्था में सुधार हो गया था अतः उन्होंने अपने शिक्षा संबंधी अंशदानों में वृद्धि कर दी। स्थानीय बोर्डों और नगर-पालकाओं ने भी सामान्य समृद्धि में हिस्सा बंटाया और पहले की अपेक्षा शिक्षा के लिए अधिक अंशदान निर्धारित किए। विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होने से (और कुछ मामलों में फीस की दरों में वृद्धि हो जाने से भी) फीस से बहुत अधिक आय हुई। जनता में सामान्य जागृति फैलने से विविध मद धर्मस्व, दान, चंदा आदि के अंतर्गत होने वाली आय में वृद्धि हो गई।

इस प्रकार यह पता चलता है कि यह एक ऐसा काल था जब शिक्षा के लिए उपलब्ध होने वाले कुल वित्त में बहुत काफी वृद्धि हो गई थी। सरकारी अथवा गैर सरकारी सभी स्रोतों से शिक्षा पर होने वाला कुछ व्यय 1901-2 में केवल लगभग 4 करोड़ 1 लाख रुपये था, 1921-22 में बढ़कर वह 18 करोड़ 37 लाख रुपये के लगभग हो गया।

(ख) राज्य की अधिक सिक्रय भूमिका: इस काल की दूसरी सुस्पब्ट विशेषता यह थी कि इस काल में राज्य की अधिक सिक्रय भूमिका रही। जैसा अध्याय पांच में बताया जा चुका है 1902 से पूर्व राज्य शिक्षा में केवल एक छोटी भूमिका अदा करता था, राज्य के सीधे शैक्षिक उद्यम से विनिवर्तन करने के सिद्धांत पर अमल हो रहा था और राज्य गैर सरकारी संस्थाओं को सहायता अनुदान देने के सिवा कुछ नहीं करता था तथा, बदले में, उन पर एक प्रकार का नियंत्रण सा रखता था। 1902 और 1921 के बीच यह स्थिति पूरी तरह बदल गई। लार्ड कर्जन द्वारा मार्गदर्शन किए जाने पर, राज्यविनिवर्तन सिद्धांत को सरकारी तौर पर त्याग दिया गया और राज्य का यह कर्तव्य माना गया कि वह हर प्रकार की कुछ ऐसी संस्थाओं का अनुरक्षण करे जो गैर सरकारी उद्यम के लिए आदर्श संस्थाएं हों। निरीक्षण कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि कर दी गई और पुरानी अहस्तक्षेप नीति के स्थान पर गैर सरकारी विद्यालयों के निरीक्षण एवं अधीक्षण की सतर्क नीति अपनाई गई। इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के ब्यौरों का आगामी परिच्छेदों में वर्णन किया जाएगा। परंतु यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि मोटे तौर से इसी नई नीति के परिणामस्वरूप, राज्य ने शिक्षा में न केवल विगत काल अपेक्षा अधिक सिक्रय भूमिका अदा करनी आरंभ कर दी वरन वह यह दावा भी करने लगा कि उसे गैर सरकारी

उद्यम को यथासंभव दृढ़ता के साथ नियंत्रित करने का अधिकार है।

इस परिवर्तन के कई कारण थे। हमेशा की तरह, पहला कारण इंग्लैंड का प्रभाव था। वहां 1902 के बाल्फोर अधिनियम के अधीन, राज्य प्रारंभिक शिक्षा में गैर सरकारी उद्यम को विगत काल की अपेक्षा अब अधिक सम्यक रूप से नियंत्रित करने लग गया था। दूसरी बात यह है कि इंग्लैंड में इस काल में शिक्षा का गूणात्मक सुधार करने के लिए जो प्रयास किए गए उनके परिणामस्वरूप भारत में विभागीय कर्मचारी यह मह-सस करने लगे कि उन्हें भी ऐसे ही प्रयास करने चाहिए और स्तर ऊंचा करने की दिष्ट से गैर सरकारी उद्यम को अधिक कड़ाई के साथ नियंत्रित करना चाहिए। तीसरी बात यह है कि शिक्षित व्यक्तियों में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना से अंग्रेज कर्मचारी थोड़ चितित हो गए थे। उन्होंने आशा की थी कि जो स्त्री पुरुष अंग्रेजी विद्यालयों और महा-विद्यालयों से पढ़ कर निकलेंगे वे इंग्लैंड द्वारा भारत के प्रति की गई सेवाओं के कारण इंग्लैंड के सदैव कृतज्ञ और उसके प्रति निष्ठावान बने रहेंगे। परंतु अब उन्हें यह पता चल चका था कि सामान्य शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजी शासन का असंतुष्ट आलोचक बन गया था। उन्होंने इस बात की आशा नहीं की थी। उनमें से बहुत से लोग इन परिणामों को देखकर संत्रस्त हो गए तथा दावा करने लगे कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा की सारी योजना ही गलत है। उनका कहना था कि गैर सरकारी विद्यालय, विशेषकर ऐसे विद्यालय जिनका प्रबंध भारतीयों के हाथों में है, राजद्रोह फैला रहे हैं। अतः उनका सुझाव था कि सरकार इन विद्यालयों पर दृढ़ता से नियंत्रण रखे और इनके समब्टि अनुसागन तथा इनके विद्यार्थियों के चरित्र को सुधारे।

अत: गैर सरकारी उद्यम पर और अधिक नियंत्रण रखने तथा राज्य को शिक्षा में और अधिक सिक्रिय भूमिका प्रदान करने की इच्छा केवल आंशिक रूप से शैक्षिक और मुख्य रूप से राजनीतिक थी। इसी कारणवश भारत के राष्ट्वादी विचारधारा रखने वाले सभी वर्गों ने इसका जोरदार विरोध किया। वास्तव में वे यह चाहते थे कि उन्हें शैक्षिक नीतियों पर नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त हो। परंतु यदि ऐसा नहीं हो सकता था तो वे अत्यंत सिकय विभाग की अपेक्षा न्यूनाधिक प्रारंभी विभाग को तरजीह देते थे। वे यह महसूस करते थे कि यदि किसी को विदेशी द्वारा शासित होना ही है तो ईसप की कथा के पात्र किंग स्टार्क से (जो अपनी ही मेंढक प्रजा का भक्षण करता था) किंग लौग को (जो कुछ नहीं करता था) तरजीह दी जानी चाहिए। परंतू इस काल के सरकारी कर्मचारियों ने एक ओर तो यह प्रयत्न किया कि विभागीय नियंत्रण बढा दिया जाए और दूसरी ओर यह भी प्रयत्न किया कि उसे और अधिक नौकरशाही रूप दे दिया जाए तथा भारतीय मत के कम अनुकूल बना दिया जाए। जैसा श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने लिखा है, सरकार का जो यह प्रयास था कि कार्यक्शलता के आधार पर और शिक्षित भारतीयों पर विश्वास किए बिना गैर सरकारी उद्यम को नियंत्रित कर दिया जाए, उसका उद्देश्य विशेषज्ञों के संकीर्ण, घर्मांध एवं सस्ते शासन को चिरस्थाई बनाना था। इस प्रकार सरकार एवं शिक्षित जनता के बीच संघर्ष आरंभ हो गया। सरकार ने यह दावा किया कि जनहित में और कार्यक्शलता के आधार पर संपूर्ण शिक्षा पर दृढ्तापूर्वक

नियंत्रण रखने का उसे अधिकार है। उधर भारतीय जनता ने राजनीतिक आधार पर नियंत्रण रखने के इस प्रयास का प्रतिरोध किया। राज्य से जो अधिक सिक्तय भूमिका अदा करने की मांग की गई थी उस पर जनता ने आपित्त नहीं की। परंतु उसने यह दावा किया कि भूमिका में परिवर्तन करने की तब तक अनुमित नहीं दी जा सकती है जब तक कि स्वयं राज्य का स्वरूप नौकरशाही से बदल कर जनतांत्रिक न कर दिया जाए। आशानुसार अंततः जनता की विजय हुई और 1921 में प्रांतों में शिक्षा विभागों का नियंत्रण भारतीय मंत्रियों के हाथों में सौंप दिया गया। इस हस्तांतरण के साथ ही, नियंत्रण के प्रशन पर चलने वाले लंबे संघर्ष का राजनीतिक स्वरूप समाप्त हो गया।

(ग) गुणात्मक सुधार करने के प्रयत्न : 1854 और 1902 के बीच शिक्षा नीति का मूख्य लक्ष्य सुधार करने के बजाय प्रसार करना रहा। यह सच है कि इन वर्षों में अनेक सुधार किए गए परंत् ये सुधार संख्या वृद्धि अभियान को प्रधानता देते हए किए गए थे। सरकार की नीति सदैव यह रही कि कोई विद्यालय न होने की अपेक्षा किसी विद्यालय का होना अधिक अच्छा है। परंतु 1902-21 में इस दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल दिया गया और इस मामले में भी लार्ड कर्जन ने ही पहल की। 1854 और 1902 के बीच प्राप्त हए शैक्षिक परिणामों का सर्वेक्षण करने पर अब यह कहा जाने लगा कि इन वर्षों में शिक्षा में परिमाणात्मक रूप से सारभूत प्रगति नहीं हुई है जबकि निश्चय ही उसकी गुणता का हास हुआ है। शैक्षिक स्थिति के इसी विश्लेषण के फलस्वरूप. कर्जन ने गुणात्मक सुधार के लिए अभियान आरंभ किया। यह सच है कि उन्होंने प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने का प्रयत्न किया था। परंतु उसमें भी उन्होंने कुछ गुणात्मक सुधारों पर जोर दिया था और वह अनिवार्य शिक्षा के उस सिद्धांत को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे जिसकी भारतीय जनता मांग करने लगी थी। माध्यमिक और महाविद्यालयी स्तर पर भारतीयों की मांग यह थी कि स्वैच्छिक आधार पर यथासंभव व्यापक पैमाने पर प्रसार किया जाए । परंतु इस विषय में निश्चय ही कर्जन ने सांख्यिक सबलता को कम करने और गुण को स्धारने के कार्य को तरजीह दी। अतः लार्ड कर्जन ने जो सरकारी मत व्यक्त किया था वह कुल मिला कर यह था कि परिमाण की अपेक्षा गूण पर जोर दिया जाए।

(घ) शिक्षा का अपूर्व प्रसार: गुण की ओर सरकारी झुकाव होने के बावजूद 1901-2 और 1921-22 के बीच सभी शाखाओं का सर्वतोमुखी और अपूर्व प्रसार हआ।

लार्ड कर्जन के वायसराय पद पर आसीन रहने के समय जो द्रुत प्रसार आरंभ हुआ उसके कई कारण थे। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण दो थे (1) भारी सामाजिक जागृति जो स्वाधीनता संग्राम के फलस्वरूप अब देश में फैल चुकी थी (2) भारी वित्तीय संसाधन जो अब शिक्षा के लिए उपलब्ध हो गए थे। गुण में सुघार होना मुख्यतः एक सरकारी उपलब्धि थी परंतु प्रसार भारतीय उद्याम द्वारा किया गया था। यह प्रसार कभी कभी सरकारी सहायता से (विशेषकर प्राथमिक स्तर पर) और बहुधा सरकारी नियंत्रणों की अवज्ञा करके यहां तक कि नियंत्रणों को तोड़ कर भी किया गया था।

| ं संस्था का प्रसार | संस्थाओं की संख्या | | छात्रों की संख्या | |
|--|--------------------|----------|-------------------|---------------|
| de la companya de la | 1901-2 | 1921-22 | 1901-2 | 1921-22 |
| ···· | | | आंकड़े उपलब्ध | आंकड़े उपलब्ध |
| 1. विश्वविद्याल | 5 | 10 | नहीं | नहीं |
| कला महाविद्यालय वित्तक | 145 | 165 | 17,651 | 45,418 |
| महाविद्यालय | 46 | 64 | 5,358 | 13,662 |
| 4. माध्यमिक विद्यालय | 5,493 | 7,530 | 6,22,768 | 11,06,803 |
| 5. प्राथमिक विद्यालय | 97,854 | 1,55,017 | 32,04,336 | 61,09,752 |
| 6. विशेष विद्यालय | 1,084 | 3,344 | 36,380 | 1,20,925 |
| मान्यता प्राप्त संस्थाओं की कुल | | | | |
| संख्या | 1,04,6,27 | 1,66,130 | 38,86,493 | 73,96,560 |
| 7. गैर मान्यता | | | | |
| प्राप्त संस्थाएं | 43,081 | 16,322 | 6,35,407 | 4,22,165 |
| कुल योग | 1,47,708 | 1,82,452 | 45,21,990 | 78,18,725 |

टिपप्णी: 1901-2 के आंकड़ों में बर्मा और कुछ भारतीय रियासतों के आंकड़े शामिल हैं जबिक 1921-22 के आंकड़े बर्मा को छोड़कर केवल ब्रिटिश भारत के हैं।

(ङ) जनता में युयुत्सु राष्ट्रीयता की संवृद्धि: जैसा अध्याय छ: में बताया जा चुका है, 1885 और 1902 के बीच राष्ट्रीयता की भावना भी धीरे धीरे बढ़ती चली गई थी। यह भावना अंग्रेजी शासन के प्रति विद्यमान सामान्य निष्ठा रूपी पर्दे की ओट में बढ़ी थी और उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त होने तक तूफान का रूप धारण कर चुकी थी। लार्ड कर्जन के वायसराय बनने से इस तूफान को फैलने के लिए एक तात्कालिक कारण मिल गया। उनमें भारी बौद्धिक शक्ति, कार्य करने की अनंत क्षमता, दृढ़ कर्तव्य भावना और भारत की जनता की सेवा करने की उत्कट इच्छा होने और प्रशासन के लगभग सभी क्षेत्रों में शानदार उपलब्धियां प्राप्त करने के बावजूद लार्ड कर्जन एक गंभीर भूल कर बैठे। उन्होंने भारत के शिक्षत बुद्धिजीवी वर्ग को इतनी अधिक ठेस पहुंचा दी कि उसके बाद इस बुद्धिजीवी वर्ग के साथ मेल मिलाप की कोई आशा ही नहीं रही। इसका कारण ढूंढ़ लेना कठिन नहीं है। तानाजनी करने का उनका बुरा स्वभाव था और वह बहुधा इस प्रकार से बोलते और लिखते थे कि लोगों की संवेदनशीलता को ठेस पहुंचती थी। उदाहरण के लिए.

उन्होंने विशेष रूप से 'भारतीय प्रज्ञा के कुछ आदि दोषों को दूर करने के लिए' प्राथ मिक विद्यालयों में किंडरगार्टेन प्रणालियां और वस्तुनिष्ठ पाठ आरंभ करने का पक्षपोषण किया था। 1902 और 1905 में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए अपने दीक्षांत भाषणों में इसी प्रकार की अनेक अप्रिय बातें कही थीं जिनमें से एक संक्षिप्त परंतु सामान्य उदाहरण निम्नलिखित है:

लाई कर्जन

मैं आशा करता हूं कि जब मैं यह कह रहा हूं कि सत्य का सर्वोच्च आदर्श बहुत हद तक एक पाश्चात्य संप्रत्यय है तो मैं कोई असत्य अथवा दर्पपूर्ण दावा नहीं कर रहा हूं। यह बात कहने का अर्थ यह नहीं है कि मैं यह दावा कर रहा हूं कि यूरोपीय लोग सामान्यतया सत्यशील हैं। मेरे कथन का यह भी आशय नहीं है कि एशियावासी जानबूझ कर सत्य से दूर हट जाते हैं। उपर्युक्त प्रस्थापनाओं में से एक तो बेहूदा है दूसरी अपमानजनक। परंतु निस्संदेह, सत्य को पश्चिम की नीति संहिता में ऊंचा स्थान मिला है। पूर्व में धूर्तता और राजनियक कपट को सदेव भारी मान्यता प्रदान की जाती रही है और वहां सत्य को वह प्रतिष्ठा बाद में प्रदान की गई है जो पश्चिम में उसे पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। हम इस बात को उस सामान्य व्यंग्योक्ति से सिद्ध कर सकते हैं जो 'प्राच्य कूटनीति शब्दों में छिपी हुई है और जिसका आशय ऐसे कार्य से है जो छलयुक्त और अत्यंत धूर्ततापूर्ण हो। इसी चीज को प्राच्य साहित्य में भी देखा जा सकता है। आपके महाकाच्यों में प्रायः सत्य की एक सद्गुण के रूप में प्रशंसा की जाएगी; परंतु अनेक बार उसमें कोई प्रतिबंध लगा दिया जाता है और बहुधा निर्मल उद्देश्य को लेकर की गई सफल धोखाधड़ी की प्रशंसा की जाती है। 2

ये बातें संपूर्ण राष्ट्र के लिए अपमानजनक थीं। चूंकि इस प्रकार की बातों को चुपचाप सहन नहीं किया जा सकता था अतः बुद्धिजीवी वर्ग ने इनका विरोध किया। इन विरोधों से कर्जन नाराज हो गए क्योंकि वास्तव में उन्होंने विरोध को समझना और सहन करना सीखा ही नहीं था। वह और भी अधिक कटाक्षपूर्ण बातें कहने लगे जिससे स्थिति और बिगड़ गई। अतः संघर्ष तब तक चला जब तक देश के शिक्षित वर्ग उनके कट्टर विरोधी नहीं हो गए और उनमें राष्ट्रीयता की एक ऐसी भावना उत्पन्न नहीं हो गई जो अंग्रेजी शासन के ही विरुद्ध थी।

यह नहीं समझना चाहिए कि कर्जन और बुद्धिजीबी वर्ग के बीच यह संघर्ष केवल शाब्दिक युद्ध से ही उत्पन्न हुआ था। वास्तिविक समस्या और भी अधिक गंभीर थी। कर्जन स्वयं का ही नहीं उस समय समस्त नौकरशाही का प्रतिनिधित्व करते थे जो ब्रिटिश संसद के नाम पर भारत में शासन करती थी। अतः यह वास्तव में अंग्रेज नौकरशाही और शिक्षित भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के बीच संघर्ष था जिसे अब उन तमाम विवादों के जिरए चलाया जा रहा था जो सरकारी नीतियों के बारे में उठ खड़े हुए थे। दोनों ही पक्ष यह

^{1.} शिक्षा नीति विषयक सरकारी संकल्प (190); अनुच्छेद 201 ।

^{2.} लार्ड कर्जन इन इंडिया, खंड II, पृ० 222 ।

जानते थे कि अंततः इस संघर्ष का निर्णय भारत के करोड़ों अज्ञानी, निरक्षर और गूंग लोग करेंगे। शिक्षित भारतीयों का यह दावा था कि वे इन करोड़ों बेजुबान लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी ओर से आवाज उठा रहे हैं। कर्जन इस बात से इंकार करते थे और इस बात पर जोर देते थे कि जनता का प्रतिनिधित्व भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग नहीं, बरन अग्रेज नौकरशाही करती है। वह निष्कपट भाव से यह विश्वास रखते थे कि भारतीय जनता के भविष्य को विधाता ने अग्रेजों के हाथों में सौंप दिया है और अग्रेज कर्मचारियों को भारत में जनता की भलाई के लिए लगभग अनंत काल तक अवश्य कार्य करते रहना चाहिए। उन्होंने (अपने दृढ़ विश्वास के अनुसार संभवतः पूर्ण ईमानदारी के साथ) यह भी दावा किया कि उन्होंने भारत पर उपर्युक्त जनसमूह के लिए और उसी के हित में शासन किया है। उनके इस दावे को शिक्षित भारतीयों ने अति काल्पनिक माना और उन्होंने कर्जन की उपर्युक्त धारणा का खंडन किया। उन्होंने दावा किया कि भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार केवल शिक्षित भारतीयों को ही है। परंतु कर्जन ने उनकी हंसी उड़ाई। उन स्नातकों ने, जिनके पत्रकार बनने की संभावना थी बातें करते हुए उन्होंने कहा:

स्मरण रखो कि जब तुम संपादकीय 'हम' का प्रयोग करते हो तो वह 'हम' आखिरकार केवल 'मैं' होता है और व्यक्ति 'में' तीस करोड़ लोगों में से केवल एक होता है।

उन्होंने पत्नकारों और राजनीतिज्ञों का मजाक उड़ाते हुए उन्हें ऐसा व्यक्ति बताया जिनमें कार्य करने की सामर्थ्य नहीं होती और केवल बातें करते हैं तथा संकल्प पारित करते हैं। उन्होंने अपने शिक्षित विपक्षियों के बारे में कहा कि वे परिषदों में पद अथवा स्थान पाने के लोलुप हैं। कर्जन ने इस बात में गर्व का अनुभव किया कि उन्हें इन शिक्षित विपक्षियों की मांगों को पूरा करने का कोई कारण दिखाई नहीं दिया। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि लार्ड कर्जन ने जिस भारत की कल्पना की थी उसमें.

जनता का नेतृत्व और प्रतिनिधित्व करने की आकांक्षा रखने वाले बुद्धिजीवी वर्ग के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने (कर्जन ने) भारतीय शिक्षित वर्गों के इस दावे को अनसुना कर दिया कि वे नए राष्ट्रवाद के पैंगंबर हैं। कर्जन ने अपने मन में भारत का जो चित्र खींचा था उसमें भारत ऐसे धैंयेंवान और आदिम कृषकों से बसा हुआ एक विशाल देश था जो अपनी तमाम फसलें उगाकर और पशु पाल कर तथा अन्य तमाम विषयों को इस श्रेष्ठ और कुल मिला कर उस हितकारी शक्ति के ऊपर छोड़ कर संतुष्ट थे जिसके हाथों में संयोग अथवा विधाता ने उन्हें सौंप दिया था। ध इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि कर्जन भारत आने वाले वायसरायों में सर्वाधिक योग्य थे किंतु सबसे अधिक धृणा भी लोग उन्हों से करते थे।

हमने इन राजनीतिक घटनाओं को थोडा विस्तार से इसलिए दिया है कि ये शैक्षिक इतिहास की कुछ बातों पर रोचक प्रकाश डालती हैं। पहली बात तो उनसे यह पता चलती है कि कर्जन की अच्छी कार्रवाइयों को भी गलत क्यों समझा गया और उनके सम-कालीन लोगों ने उनकी नयों आलोचना की । उपर्युक्त राजनीतिक विवादों को अपरिहार्य रूप से शैक्षिक क्षेत्र में भी उठाया गया और सरकारी कर्मचारी तथा गैर सरकारी लोग प्राथमिक अथवा उच्च शिक्षा के प्रश्नों पर उसी प्रकार लडने लगे, जिस प्रकार वे राज-नीतिक मामलों पर लड़ते थे। दूसरी बात यह है कि इन राजनीतिक घटनाओं से यह पता चलता है कि कर्जन भारत में अपने मुख्य उद्देश्य को पूरा करने में क्यों असफल रहें। वह इस देश में अंग्रेजी साम्राज्य को मजबूत करने और एशिया में साम्राज्य की और अधिक वृद्धि करने के लिए भारत को अड्डा बनाने के लिए आए थे। परंतु उनके लिए इतिहास की एक त्रासदी यह रही कि उनके कथनों और कार्यों से तुरंत युयृत्सू राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन गई और दादाभाई नौरोजी, तिलक, चितरंजन दास, अली बंघू, गोखले और एनी बेसेंट जैसे व्यक्तियों के नेतृत्व में उसने एक राष्ट्रीय संघर्ष छेड़ा जो शीघ्र ही दुनिवार बन गया। इसके परिणामस्वरूप, इतिहास कर्जन का एक ऐसे वायसराय के रूप में उल्लेख करेगा जिसने भारत में अंग्रेजी शासन को कमजोर बनाने में सबसे अधिक योग दिया था। तीसरी बात यह है कि इस युयुत्स राष्ट्रीयता ने अनेक शैक्षिक समस्याओं के प्रति लोगों में एक नई अभिवृत्ति उत्पन्न कर दी थी। इस अभिवृत्ति के कारण लोग यह मांग करने लगे कि शिक्षा विभाग का भारतीयकरण हो, भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम स्वीकार किया जाए, इतिहास साम्राज्यवादी राष्ट्र के दृष्टिकोण से न पढ़ाया जाकर भारतीय दृष्टिकोण से पढाया जाए, महाविद्यालयों और विद्यालयों के विद्यार्थियों में देशभिक्त की भावना पैदा की जाए। इन सब बातों पर अगले अध्याय में राष्ट्रीय शिक्षा के अंतर्गत विस्तार से विचार किया जाएगा। यहां पर केवल इतना ही बता देना पर्याप्त है कि उसी प्रकार से पश्चिम के बौद्धिक प्रभुत्व के विरुद्ध हुए विद्रोह का परिणाम थी जिस प्रकार नई युयुत्सू राष्ट्रीयता भारत में ब्रिटेन की राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक थी। अतिम बात यह है कि यहां पर एक अन्य ऐतिहासिक त्रासदी भी हुई। अंग्रेज नौकरशाही ने ही अधोम्खी निस्यंदन सिद्धांत का आविष्कार किया था और यह कहा था कि ऐसे शिक्षित भारतीयों का एक वर्ग पैदा किया जा रहा है जो अंग्रेज नौकरशाही और जनता के बीच मध्यवर्तियों के रूप में कार्य करेंगे और बदले में सर्वसाधारण को शिक्षा देंगे। परंतू विचाराधीन काल में नौकरशारी अचानक ईर्ष्यालु हो गई और उसने इस शिक्षित वर्ग को जनता का प्रतिनिधि मानने से इंकार कर दिया। उसने सर्वसाधारण को सीधे शिक्षा देने का दिखावा करके तथा उसका नेतृत्व करने का दावा करके शिक्षित वर्ग को उखाड़ने का प्रयत्न किया। यह सच है कि बुर्जुआ मध्य वर्ग, जिसमें अधिकांशत: इस काल के शिक्षित भारतीय बुद्धिजीवी ही थे, वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व करने का कोई ठोस दावा नहीं कर सकता था। परंतु अंग्रेज नौकरशाहों की अपेक्षा उसका दावा निश्चय ही अधिक उचित था। अतः वह विजयी हुआ।

^{1.} लार्ड कर्जन इन इंडिया, खंड II, पृ० 218।

^{2.} रोनाल्डशे : लाइफ आफ लार्ड कर्जन, खंड II, पृ० 419 ।

शैक्षिक विवादों के बाद पद: इस राजनीतिक संघर्ष के प्रभाव शैक्षिक क्षेत्र पर भी पड़ा। कर्जन और उनके उत्तराधिकारियों का यह विश्वास था कि भारतीय शिक्षा को सबसे अधिक आवश्यकता गुणात्मक सुधार की है। उनके विचार संक्षेप में निम्नलिखित थे:

- (क) भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशों की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। ये सिफारिशें मुख्य रूप से गैर सरकारी प्रयत्न द्वारा शिक्षा का प्रसार करने के लिए हैं और यह उद्देश्य पूरा हो चुका है।
- (ख) आयोग ने गैर सरकारी उद्यम के प्रति अहस्तक्षेप नीति अपनाने की जो सिफा-रिश की थी और जिसे बाद के वर्षों में शिक्षा विभागों ने स्वीकार कर लिया था उससे विभिन्न बुराइयां उत्पन्न हुई हैं। उदाहरण के लिए, गैर सरकारी अभिकरणों द्वारा संचालित अधिकांश संस्थाओं में कार्य कुशलता का अभाव हो गया है। उनमें कर्मचारी वर्ग और साज-सामान की कमी है और वे सही अर्थ से शैक्षिक केंद्र होने के बजाय परीक्षाओं के लिए अनुशिक्षण संस्थाएं ही हैं।
- (ग) इन बुराइयों को दूर करने का एकमात उपाय यह था कि अहस्तक्षेप और प्रसार नीति के स्थान पर नियंत्रण और सुधार की नीति अपनाई जाए।
- (घ) आयोग ने सिफारिश की थी कि सरकार सीधे शैक्षिक उद्यम को त्याग दे। यह सिफारिश आत्मधाती थी। सौभाग्यवश इस सिफारिश पर कभी अमल नहीं किया गया। अब ऐसा समय आ चुका है जब इसका सरकारी तौर पर परित्याग कर देना चाहिए। दूसरी ओर, सरकार का यह कर्तव्य है कि वह कुछ ऐसी संस्थाओं का अनुरक्षण करे जो गैर सरकारी उद्यम के लिए आदर्शस्वरूप हों।
- (ङ) चूंकि भारतीय कभी अंग्रेजों के बराबर कार्यकुशल नहीं हो सकते हैं अत: शिक्षा विभाग में सभी उच्चतर पदों पर अंग्रेज कार्य करते रहे ।
- (च) माध्यमिक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में राजनीति का प्रवेश कराया जा रहा है और अनुशासन के स्तर को गिराया जा रहा है। अतः विद्यालयों में राजनीति का प्रवेश रोका जाना चाहिए।
- (छ) अंग्रेजी का स्तर और ऊंचा किया जाए।

इसके विपरीत गोखले ओर उनके अनुयायियों का यह विश्वास था कि उस समय भारत को सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की थी कि वह परिमाणात्मक उन्निति करे। इस विचार संप्रदाय के विचार सारांश में निम्निलिखित हैं:

- (क) भारतीयों ने उस नीति को चुनौती दी जिसके अनुसार गुण को परिमाण से अधिक महत्व दिया जाता था। उन्होंने कहा कि यह नीति इंग्लैंड के लिए भले ही उपयुक्त हो सकती है क्योंकि वहां शिक्षा प्रसार का काम पहले ही पूरा हो चुका है; परंतु भारत में उसके लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि यहां अभी प्रसार का काम मन लगाकर आरंभ भी नहीं किया गया है।
- (ख) यह आरोप लगाया गया कि सरकार माध्यमिक एवं महाविद्यालयी शिक्षा का नियंत्रण एवं सुधार राजनीतिक प्रयोजनों से करना चाहती है और कहा गया है कि सरकार का वास्तविक अभिप्राय शिक्षा स्तर में सुधार करना नहीं, वरन शिक्षित

भारतीयों के मन में राष्ट्रीय भावना को बढ़ने से रोकना है।

- (ग) प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने के सरकारी प्रयत्न की सामान्यत: सराहना की गई परंतु यह महसूस किया गया कि शिक्षा विभागों द्वारा दृष्टिगत की गई प्रसार की गित विद्यमान स्थिति की आवश्यकताओं के कर्तई अनुरूप नहीं है। यह कहा गया कि माध्यमिक और महाविद्यालयी शिक्षा का और भी अधिक प्रसार किया जाना चाहिए और प्राथमिक शिक्षा में बाध्यता के सिद्धांत को अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।
- (घ) शिक्षा विभाग का पूर्ण और तेजी से भारतीयकरण करने की मांग की गई।
- (ङ) शिक्षा नाम को सार्थक करने के लिए शिक्षा से स्वदेश प्रेम का विकास होना चाहिए, अंग्रेजी शासन के प्रति निष्ठा का नहीं।
- (च) अंग्रेजी को बढ़ा चढ़ाकर महत्व दिए जाने के विरुद्ध भी राष्ट्रीय भावना रखने वाले लोगों ने विद्रोह किया और यह दावा किया कि आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि ये मतभेद बुनियादी थे और संघर्ष होना अनिवार्य था। यदि लार्ड कर्जन और उसके सलाहकारों ने भारतीय दृष्टिकोण को समझने और पहले ही समझौता कर लेने का प्रयास किया होता तो भारत में शिक्षा के इतिहास ने बिल्कुल दूसरा ही मोड़ ले लिया होता। परंतु लार्ड कर्जन ने सुधार की अपनी प्रिय योजना को कार्यान्वित करना आरंभ कर दिया और इस प्रकार भारतीय जनमत को स्वयं से बहुत दूर कर दिया। उनकी नीति को उनके उत्तराधिकारियों ने भी जारी रखा जिससे इस संपूर्ण काल में शिक्षा के इतिहास में उस संघर्ष की ही प्रमुखता रही जो सरकारी और गैर सरकारी दृष्टिकोणों के बीच चला था। अनेक विषयों पर लगातार और अधिकांशत: निष्फल संघर्ष होने से अंतत: भारतीय यह सोचने लग गए कि जब तक वे शिक्षा नीतियों पर नियंत्रण रखने का अधिकार नहीं प्राप्त करेंगे तब तक शिक्षा में वास्तविक सुधार करना संभव नहीं होगा। समय बीतने के साथ साथ यह भावना तब तक निरंतर दृढ़ होती चली गई, जब तक अंतत: भारत सरकार अधिनियम 1919 के अधीन शिक्षा विभाग को भारतीय मंत्रियों को नहीं सौंग दिया गया।

भारतीय विश्वविद्यालय आयोग (1902): कर्जन ने अपने कार्यक्रम में विश्वविद्यालयों के सुधार को सर्वोच्च प्राथमिकता इसलिए दी थी कि उनके अनुसार विश्वविद्यालय चरण में अत्यंत कठिन प्रयत्न करने की आवश्यकता थी। अपने इस कार्य में सहायता लेने के लिए उन्होंने 27 जनवरी, 1902 को एक आयोग की स्थापना की। इसका कार्य ब्रिटिश भारत में स्थापित किए गए विश्वविद्यालयों की दशा और उनके कार्यों के बारे में जांच करना और उनके संघटन तथा कार्य संचालन को सुधारने की प्रस्थापनाओं के बारे में प्रतिवेदन प्रस्तुत करना था। आयोग ने अपना प्रतिवेदन उसी वर्ष प्रस्तुत कर दिया। यह एक लंबा एवं अत्यधिक तकनीकी दस्तावेज था और इस पुस्तक में इसका विस्तृत विश्लेषण एवं जांच करने की आवश्यकता नहीं है। अपने प्रयोजन के लिए हमें इस प्रतिवेदन की निम्नलिखित विशेषताओं को ध्याम में रख लेना ही पर्याप्त होगा:

(क) आयोग ने लंदन विश्वविद्यालय के उस नमूने को अपनाया जो 1898 के अधिनियम द्वारा उपांतरित था। जैसा कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने बताया है:

1857 की भांति 1902 में भी लंदन की नीति शिक्षा नीति की नवीनतम घोषणा प्रतीत हुई। लंदन में किए गए परिवर्तनों में चार बातें ऐसी थीं जिनका प्रभाव भारत में हुई चर्चाओं के दौरान प्रत्यक्ष दिखाई पड़ा है। पहली बात यह थी कि निश्चयपूर्वक यह कहा गया था कि प्रत्येक विश्वविद्यालय एक अध्यापन विश्वविद्यालय होना चाहिए। दूसरी बात यह थी कि यह नियम बना दिया गया था कि किसी भी महाविद्यालय को तब तक पूर्ण विशेषाधिकार न दिए जाएं जब तक उसमें पूरी तरह साज सामान और कर्मचारी न हों। तीसरी बात यह थी कि यह भी नियम बना दिया गया था कि विश्वविद्यालय के प्रशासन से अध्यापकों को सदैव अच्छी तरह संबद्ध रहना चाहिए। चौथी बात यह थी कि यह दावा किया गया था कि विश्वविद्यालय का सर्वोच्च शासी निकाय, जिसे भारत की भांति लंदन में भी सीनेट कहा जाता है, बहुत बड़ा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार, जैसा पहले बहुधा होता आया था, इंग्लैंड के शैक्षिक विवाद का भारत में पूर्ण अनुकरण हुआ।

- (ख) जिस प्रकार 1882 के आयोग को विश्वविद्यालय संबंधी सुधारों के विषय में प्रतिवेदन देने से प्रतिबाधित कर दिया गया था उसी प्रकार इस आयोग को भी माध्यमिक शिक्षा के बारे में प्रतिवेदन देने से प्रतिबाधित कर दिया गया। इसका परिणाम समान रूप से दु:खद निकला और आयोग इस समस्या पर समग्र रूप से विचार नहीं कर सका।
 - (ग) आयोग के सामने दो मूल समस्याएं थीं :
 - (1) यह निर्धारण करना कि भारत में अंततः किसी प्रकार की विश्वविद्यालय व्यवस्था विकसित की जाए; और
 - (2) ऐसी संक्रमणकालीन व्यवस्थाओं को प्रस्तावित करना जिनसे देश अल्पतम समय में पूर्व निर्धारित लक्ष्य तक पहुंच सके।

यह खेद की बात है कि आयोग के प्रतिवेदन में इन मूल प्रश्नों पर कोई चर्चा नहीं की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1904 के अधिनियम में यह लक्ष्य नहीं रखा गया कि भारतीय विश्वविद्यालय प्रणाली का मूलभूत पुनर्निर्माण किया जाए। उसमें केवल तत्कालीन संबंधन विश्वविद्यालय प्रणाली को पुनः स्थापित करने और सुदृढ़ बनाने का प्रस्ताव रखा गया था।

(घ) आपको यह बात स्मरण होगी कि भारत में संबंधन विश्वविद्यालय 1857 में स्थापित किए गए थे और उसके ठीक एक वर्ष बाद लंदन में संबंधन को विश्वविद्यालय व्यवस्था का आधार मानने की नीति समाप्त कर दी गई थी। 1902 में भी इसी प्रकार की त्रासदी हुई। जैसा पहले बताया जा चुका है भारतीय विश्वविद्यालय आयोग द्वारा 1902 में प्रस्तुत किए गए प्रतिवेदन में विश्वविद्यालय व्यवस्था की मूल समस्याओं पर

कोई चर्चा नहीं की गई थी। ऐसा संभवतः इसलिए हुआ है कि इंग्लैंड में उस समय उन पर कोई चर्चा नहीं हो रही थी। परंतु अगले ही वर्ष उत्तरी इंग्लैंड के संघीय विक्टोरिया विश्वविद्यालय में विघटन होने के बाद विश्वविद्यालय प्रशासन के सिद्धांतों के बारे में बहुत चर्चा हुई और इस चर्चा के परिणामस्वरूप संघीय प्रारूप वाले विश्वविद्यालयों का परित्याग कर दिया गया। यदि यह आयोग 1902 के बजाय 1907 में बैठा होता तो संभवतः भारत को अधिक लाभ पहंचा होता।

- (ङ) आयोग की सिफारिशें मुख्यतः निम्नलिखित पांच विषयों के बारे में हैं :
- (1) विश्वविद्यालय प्रशासन का पुनर्गठन।
- (2) महाविद्यालयों का विश्वविद्यालय द्वारा अधिक कड़ा और व्यवस्थित पर्यवेक्षण, तथा संबंधन की अधिक कठोर शर्तों का लगाया जाना।
- (3) विद्यार्थियों की रहने और काम करने की दशाओं की ओर और अधिक ध्यान देना।
- (4) निर्दिष्ट सीमाओं में रहते हुए, विश्वविद्यालय द्वारा अध्ययन कार्यों का भार ग्रहण।
- (5) पाठ्यचर्याओं और परीक्षा प्रणालियों में सारभूत परिवर्तन।

सिफारिशों के उपर्युक्त वर्गों में से तीसरे और पांचवें वर्ग के बारे में यह निर्णय हुआ कि उन पर पुनर्गठित विश्वविद्यालयों द्वारा विस्तृत विनियम बनाए जाने के समय विचार किया जाए। परंतु सिफारिशों के पहले, दूसरे और चौथे वर्गों को बाद में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 में समाविष्ट कर लिया गया। हम अब इसी अधिनियम पर विचार करेंगे।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904: इस अधिनियम द्वारा प्रस्तावित पहला महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि विश्वविद्यालय के कार्यों में वृद्धि कर दी गई। 1904 के अधिनियम की घारा 3 में यह व्यवस्था की गई थी कि:

विश्वविद्यालय (अन्य प्रयोजनों में से) विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए व्यवस्था करने के प्रयोजनार्थं संस्थापित होगा और संस्थापित समझा जाएगा तथा उसे विश्वविद्यालय के आचार्यों एवं प्राध्यापकों की नियुक्ति करने, शैक्षिक धर्मस्वों को धारण करने और उनका प्रबंध करने, विश्वविद्यायों के पुस्तकालय, प्रयोगशालाओं और संग्रहालयों का निर्माण करने एवं उनके लिए आवश्यक वस्तुएं जुटाने तथा उनका अनुरक्षण करने, विद्यार्थियों के आवास और आचार के संबंध में विनियम बनाने और संस्थापन अधिनियम तथा इस अधिनियम से संगत ऐसे सभी कार्य करने का अधिकार होगा जिनसे अध्ययन और अनुसंधान का संवर्धन होता हो।

इस अधिनियम द्वारा प्रस्तावित दूसरे महत्वपूर्ण परिवर्तन का लक्ष्य यह था कि विश्वविद्यालयों के सीनेटों का आकार प्रबंधनीय कर दिया जाए। संस्थान अधिनियमों में यह उपबंध किया गया था कि विश्वविद्यालयों के अध्येताओं को सरकार उनके जीवन भर के लिए नियुक्त करेगी। सीनेट सदस्यों की कोई अधिकतम संख्या निर्धारित नहीं की गई थी। उसके बाद अगले पचास वर्षों में सरकार ने नियुक्ति के इस अधिकार का प्रयोग

लार्ड कर्जन

सर्वदा विश्वविद्यालय के हित को ध्यान में रखते हुए नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि आकार बहुत बढ़ जाने के कारण सीनेटों का कार्य चलना कठिन हो गया। अतः भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम 1904 में यह प्रस्तावित किया गया था कि किसी विश्वविद्यालय के अध्येताओं की संख्या पचास से कम अथवा सौ से अधिक नहीं होगी और अध्येता जीवनपर्यंत पद पर रहने के बजाय केवल पांच वर्ष के लिए पद ग्रहण करेगा।

अधिनियम द्वारा किया गया तीसरा परिवर्तन यह था कि निर्वाचन के सिद्धांत को लागू कर दिया गया। 1904 के अधिनियम में अपेक्षा की गई थी कि तीन विश्वविद्यालयों में बीस अध्येता और अन्य दो विश्वविद्यालयों में पंद्रह अध्येता निर्वाचित हों।

अधिनियम द्वारा चौथा परिवर्तन यह किया गया था कि अभिषदों को सांविधिक मान्यता दे दी गई और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को संबंधित अभिषदों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व दे दिया गया।

अधिनियम द्वारा पांचवां परिवर्तन यह किया गया था विश्वविद्यालय से महा-विद्यालयों के संबद्ध होने की शर्तें अधिक कड़ी कर दी गईं और यह व्यवस्था कर दी गईं कि अभिषद सभी संबद्ध महाविद्यालयों का यह जानने के लिए आविधिक निरीक्षण करेगी कि कार्यकुशलता का उचित स्तर कायम रखा जा रहा है या नहीं। महाविद्यालयों के संबंधन और असंबंधन के लिए अब सरकार का अनुमोदन आवश्यक था।

अधिनियम द्वारा छठा परिवर्तन यह किया गया था कि सीनेट द्वारा बनाए जाने वाले विनियमों के संबंध में सरकार को कुछ अधिकार दे दिए गए। निगम अधिनियमों के अधीन, विनिमय बनाने वाली एकमात्र प्राधिकारी सीनेट थी और सरकार को केवल निषेधाधिकार प्राप्त था क्योंकि तमाम विनियमों का सरकार से अनुमोदन कराना होता था। 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम में यह व्यवस्था की गई थी कि सीनेट द्वारा बनाए गए विनियमों का अनुमोदन करते समय सरकार आवश्यक परिवर्तन कर सकती है और यदि सीनेट एक निर्दिष्ट अविध में विनियम बनाने में असमर्थ रहा होता तो विनियम भी बना सकती है।

अंतिम बात यह है कि इस अधिनियम ने सपरिषद गवर्नर जनरल को यह अधिकार दे दिया कि वह विश्वविद्यालयों की क्षेत्रीय सीमाओं को निश्चित कर दें। 1857 के अधिनियम में इस विषय को भविष्य में विचार किए जाने के लिए छोड़ दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में कुछ असंगतियां पैदा हो गईं। उदाहरण के लिए, कुछ महाविद्यालय दो विश्वविद्यालयों से संबद्ध थे। कुछ अन्य महाविद्यालय ऐसे थे जो एक विश्वविद्यालय के अधिकार क्षेत्र में स्थित थे परंतु संबद्ध किसी दूसरे विश्वविद्यालय से थे। इस अधिनियम की धारा 27 में यह निर्धारित किया गया था कि 'सपरिषद गवर्नर जनरल सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा वे क्षेत्रीय सीमाएं निश्चित कर सकते हैं जिनके अंतर्गत, और ऐसे महाविद्यालय निर्दिष्ट कर सकते हैं जिनके संबंध में संस्थापन अधिनियम अथवा इस अधिनियम द्वारा अथवा इनके अधीन प्रदत्त किन्हीं भी शक्तियों का प्रयोग किया जाएगा।'

विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 के बारे में भारतीय प्रतिक्रियाएं: भारतीय जनता ने इस अधिनियम का उग्र विरोध किया। इस उग्र विरोध का कारण यह नहीं था कि भारतीय इस विचार के विरोधी थे कि विश्वविद्यालयों का सुधार किया जाए। विरोध का कारण यह था कि चूंकि अविश्वास और आकुलता इस काल की विशेषता थी अतः इस दशा में सरकार की प्रस्थापनाओं का गलत अर्थ लगाया गया। यह समझा गया कि सुधार के बहाने सरकार वास्तव में यह प्रयत्न कर रही है कि सारी शक्ति यूरोपीय शिक्षाविदों अर्थात सरकारी एवं मिशनरी महाविद्यालयों के यूरोपीय आचार्यों के हाथों में दे दी जाए और यह कार्य वह इसलिए कर रही है ताकि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय गैर सरकारी उद्यम को नष्ट किया जा सके। 1904 के विश्वविद्यालय अधिनियम का भारतीयों ने मुख्यतः पांच कारणों से विरोध किया:

पहली बात यह थी कि भारतीयों ने यह समझा कि जिन उपबंधों से विश्वविद्यालय अध्यापन कार्य करने में समर्थ होंगे वे मृत कानून ही बने रहेंगे क्योंकि विश्वविद्यालयों को वित्तीय सहायता देने के संबंध में अधिनियम में कोई उपबंध नहीं था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ये उपबंध मृत कानून बने रहे थे।

दूसरी बात यह है कि भारतीय जनता ने विधेयक में दिए गए चुनाव सिद्धांत का तो स्वागत किया परंतु यह कहा कि चुनाव के लिए रखे गए स्थानों की संख्या बहुत कम है और अधिनियम में आचार्यों द्वारा चुनाव किए जाने की कोई व्यवस्था नहीं की गई है। आचार्य ही ऐसे लोग हैं जिनकी विश्वविद्यालय के विचार विमंशों में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक सीधी दिलचस्पी रहती है।

तीसरी बात यह है कि यद्यपि भारतीय जनता इस विचार के विरुद्ध नहीं थी कि विश्वविद्यालल में अध्येताओं की कुल संख्या को सीमित कर दिया जाए तथापि उसे यह डर था कि अधिनियम में अध्येताओं की संख्या यद्यपि प्रकट रूप से तो इसीलिए कम निर्धारित की गई थी कि इस संबंध में पुनर्गठित लंदन विश्वविद्यालय से प्रेरणा मिली थी तथापि सरकार का वास्तविक अभिप्राय यह था कि भारतीय विश्वविद्यालयों के संघटन में यूरोपीय लोगों का बहुमत रहे।

चौथी बात यह है कि महाविद्यालयों के उपबंधों को अधिक कड़ा बना देने का भी तीव्र विरोध किया गया। यह विरोध इस डर से किया गया कि शिक्षा क्षेत्र विशेषतः पुनर्गठित विश्वविद्यालय निकायों में अधिकांशतः यूरोपीय लोग रहेंगे।

परंतु सबसे अधिक विरोध अधिनियम के उन उपबंधों का किया गया जिनके द्वारा सरकार को विश्वविद्यालयों के प्रशासन में अधिक अधिकार दिए गए थे। इनमें अधिकांश अध्येताओं को नाम निर्देशित करने का अधिकार, महाविद्यालयों के संबंधन अथवा असंबंधन के लिए अनुमोदन की मांग करने का अधिकार, विनियमों में परिवर्तन करने अथवा विनियम बनाने का भी अधिकार, इत्यादि शामिल थे। यह कहा गया और ठीक ही कहा गया कि नए अधिनियम के अधीन विश्वविद्यालय वस्तुत: राज्य का एक विभाग बन गए हैं।

1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम की उपलब्धि: 1902 और 1905 के

बीच विश्वविद्यालय सुधार के संबंध में जो कटु विवाद चला उसकी गर्मागर्मी में सरकारी प्रवक्ताओं ने 1903 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम के महत्व को अधिक बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया क्योंकि वे उसे महाविद्यालयी शिक्षा की तमाम बीमारियों का इलाज समझते थे। परंतु भारतीय जनता ने अधिनियम को समझने में गलती की। उसने इसे एक पश्चगामी अधिनियम बता कर उसकी स्पष्ट निंदा की। परंतु अधिनियम में उपर्युक्त दोनों बातों में से एक भी बात नहीं थी और अब काफी समय बीत जाने के बाद इसकी उपलब्धियों और सफलताओं को निःसंग रूप से देख पाना संभव है।

एक पूर्ववर्ती परिच्छेद में दिए गए इस अधिनियम के विश्लेषण से यह पता चल जाएगा कि यह प्रमुख रूप से एक प्रशासनिक कार्रवाई थी। इस अधिनियम का घोषित लक्ष्य विश्वविद्यालयों के प्रशासन को पूर्व काल की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल बनाना था और उसे इस कार्य में यथेष्ट सफलता मिली। पुनर्गठित विश्वविद्यालयों की सीनेट की अपेक्षा अधिक प्रबंधनीय और कार्यकुशल रहीं। ज्यों ही सरकार द्वारा किए गए नामां-कनों के परिणामस्वरूप भारतीय जनता का डर समाप्त हो गया त्यों ही सभी लोग यह स्वीकार करने लग गए कि कुल मिला कर इस अधिनियम से विश्वविद्यालय प्रशासन का सामान्य चारिविक स्तर ऊंचा उठ गया।

दूसरी बात यह है कि चूंकि संबंधन की शर्तों को अपेक्षाकृत कड़ा कर दिया गया था और आवधिक निरीक्षण की व्यवस्था हो गई थी अत: महाविद्यालयों की स्थापना करना कठिन हो गया और बहुत सी दुर्बल संस्थाएं तो समाप्त ही हो गईं। तो भी यह एक महत्वपूर्णं बात है कि महाविद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय गैर सरकारी उद्यम की संवृद्धि पर 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम का कोई प्रतिकुल प्रभाव नहीं पड़ा इसके विपरीत भारतीयों द्वारा संचालित महाविद्यालयों की संवृद्धि 1904 के बाद पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक तेजी से हुई। अतः अधिनियम के विरोधियों का डर बहुत हद तक निराधार सिद्ध हुआ। अधिनियम के निर्माताओं ने आशा की थी कि संबंधन की कड़ी शर्तों से महाविद्यालयी शिक्षा में सुधार होगा। यह आशा बहुत हद तक पूरी हो गई। यह बात निस्संदेह सच है कि यह सूधार अपने आप स्वयं इन शर्तों के परिणामस्वरूप नहीं हो गया था। विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होने और फीस की ऊंची दरें विहित किए जाने के परिणामस्वरूप फीस में हुई भारी वृद्धि, सरकार द्वारा किए गए उदार सहायतानुदान और लोगों से मिलने वाली यथेष्ट धर्मदाय का भी इस उद्देश्य का परा करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा। इसके साथ ही, कार्यकुशलता की ऊर्ध्वमुख प्रवृत्ति को आरंभ करने, कायम रखने अथवा बढ़ाने में इस अधिनियम का जो हितकर प्रभाव पड़ा उसे हम न तो नजर अंदाज कर सकते हैं और न कम करके आंक सकते हैं।

तीसरी बात यह है कि इस अधिनियम के कारण ही भारत सरकार ने भारतीय विश्वविद्यालयों को प्रथम अनुदान मंजूर किए। 1904 से पहले सरकार ने पंजाब को छोड़ कर अन्य किसी भी विश्वविद्यालय को कोई भी सहायता अनुदान नहीं दिए थे। पंजाब को लगभग 30,000 रुपये का वार्षिक अनुदान इसलिए मिलता था कि वह प्राच्य तथा विधि महाविद्यालयों का संचालन करता था। कोई अनुदान देने की आवश्यकता

इसलिए महसूस नहीं की गई थी कि प्रत्येक विश्वविद्यालय को केवल अपने एक छोटे से कार्यालय और परीक्षाओं पर ही खर्च करना पड़ता था। यहां तक कि अध्येताओं के यात्रा ब्यय का भी भुगतान नहीं किया जाता था क्योंकि उनसे यह आशा की जाती थी कि वे अपने खर्चे पर उपस्थित होंगे। अतः परीक्षा शुल्क से विश्वविद्यालय का कुल खर्च आसानी से पूरा हो जाता था और प्रायः कुछ अतिरिक्त धन बच भी रहता था।

1904 के अधिनियम से परिस्थिति बदल गई। सीनेट और अभिषद की बैठकें अब अधिक होने लगीं। संबद्ध महाविद्यालयों का निरीक्षण नियमित रूप से करना पडा। इस अधिनियम तथा विनियमों द्वारा बढ़ाए गए रोजमर्रा के काम को पूरा करने के लिए अतिरिक्त कर्मचारी रखने पड़े। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस अधिनियम की धारा 3 से जो आशाएं बंधी थीं उन्हें पूरा करने के लिए कुछ कार्य करना पड़ा। इस कार्य को करने का अर्थ था अतिरिक्त व्यय करना। यह एक ऐसी स्थिति थी जिसकी ओर विधेयक पर दिए गए अपने भाषणों में गोखले पहले ही ध्यान आकर्षित कर चुके थे। अतः भारत सरकार ने घोषणा की कि वह महाविद्यालयी शिक्षा एवं विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए पांच वर्ष के लिए 500,000 रुपये वार्षिक का एक अनुदान देगी। पहले अनुदान की 1904-5 में मंज्री दी गई और इस प्रकार प्रदत्त 25 लाख रुपये की कूल राशि में से 11½ लाख रुपये विश्वविद्यालयों को प्रशासन, निरीक्षण, यात्रा खर्च, भूमि की खरीद और भवन निर्माण के लिए और 13½ लाख रुपये प्रांतीय सरकारों को महाविद्यालयों के स्धार के लिए दिए गए। यद्यपि यह 5,00,000 रुपये वार्षिक का अनुदान मूलत: केवल पांच वर्ष के लिए था तथापि इसे बाद में स्थाई आवर्ती अनुदान बना दिया गया था और इस राशि में से 1,35,000 रुपये विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए तथा शेष रुपये महा-विद्यालयी शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिए गए। यह उस आंदोलन की केवल शुरुआत थी जो उसी समय से लगातार चलता रहा है। लार्ड कर्जन ने 1904-5 में विश्वविद्यालयों को अनुदान देने की जिस पद्धति को आरंभ किया था, उससे अंततः उच्च शिक्षा में यथेष्ट सुधार हुआ है।

ऊपर जिन तीन उपलब्धियों का उल्लेख किया गया है वे इस अधिनियम की ऐसी मुख्य उपलब्धियां थीं, जिनके बारे में किसी प्रकार का विवाद नहीं है। परंतु जहां तक भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 के बारे में संघर्ष करने वाल दोनों पक्षों का संबंध है, इतिहास ने उन दोनों को ही कुछ हद तक गलत सिद्ध कर दिया है। भारतीयों ने कितपय आशंकाएं होने के कारण इस अधिनियम का विरोध किया था परंतु उन्होंने देखा कि उनकी आशंकाएं गलत थीं। अधिनियम ने भारतीय गैर सरकारी उद्यम को नष्ट नहीं किया और विश्वविद्यालयों को कुछ अतिरिक्त निधियां भी मिलीं। यूरोपीय लोगों का भारतीय शिक्षा पर पहले ही जितना एकाधिकार था, अधिनियम से उसमें वृद्धि नहीं हुई। विश्वविद्यालयों को कुछ अतिरिक्त निधियां भी मिलीं जिससे अधिनियम केवल 'पूर्ण नियंत्रण परंतु निधियों के नाम कोरा' ही नहीं रह गया। भारतीयों के लिए यह एक सुखद भ्रम निवारण था। दूसरी ओर, लार्ड कर्जन को अवश्य ही भारी दु:ख हुआ होगा कि उनकी आशाओं ने उन्हें छला और उन्होंने बहुत जोश के साथ जिस कार्रवाई

की योजना बनाई थी और तूफान के बीच उस पर अमल किया था, वह अधिकांश मामलों में असफल रही। परंतु उनकी नियंत्रण की योजना निश्चय ही सफल हुई और अधिनियम ने, सैंडलर आयोग के शब्दों में, विश्व में सर्वाधिक पूर्ण रूपेण सरकारी विश्व-विद्यालयों की स्थापना की।

महाविद्यालयो शिक्षा में कर्जन द्वारा किए गए सुधार: विश्वविद्यालयों में किए गए सुधारों के परिणामस्वरूप, सरकार को महाविद्यालयी शिक्षा में भी सुधार करने पड़े। नए विश्वविद्यालय विनियमों के अधीन जिस उच्च स्तर की आशा की गई थी, उस स्तर तक पहुंचने में गैर सरकारी महाविद्यालयों को समर्थ बनाने के लिए उनको अधिक वित्तीय सहायता देनी पड़ी और पुस्तकालयों, छात्नावासों एवं प्रयोगशालाओं के लिए अधिक उपबंध करना पड़ा। अत: लार्ड कर्जन ने 1904-5 और 1908-9 के बीच महाविद्यालयी शिक्षा के लिए अतिरिक्त सहायता अनुदान के रूप में 13½ लाख रुपये की राशि निर्धारित की। इस अनुदान को प्रांतों के बीच ऐसे सिद्धांतों के आधार पर बांटा गया जिनमें प्रांतों की जनसंख्या और गैर सरकारी प्रबंध में चलने वाले कला महाविद्यालयों के विद्यार्थियों की संख्या को ध्यान में रखा गया था। जैसा विश्वविद्यालयों के संबंध में हुआ था, महाविद्यालयों शिक्षा को मिलने वाले अनुदानों से भी सामान्य रूप से महाविद्यालयों की कार्यकुणलता बढ़ाने और विशेष रूप से छात्रावासों की तथा विज्ञान के अध्यापन की ज्यादा अच्छी व्यवस्था करने में महत्वपूर्ण सहायता मिली।

माध्यिमक शिक्षा में लार्ड कर्जन की नीति: 1902 तक माध्यिमक शिक्षा समस्या की कई ऐसी बातें सामने आ गईं जो महाविद्यालयी शिक्षा समस्या में भी समान रूप से विद्यमान थीं। दोनों ही क्षेत्रों में 1882 और 1902 के बीच बड़ी मात्रा में द्रुत गित से प्रसार किया जा चुका था; दोनों ही क्षेत्रों में भारतीयों द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं की संख्या अब किसी भी अन्य अभिकरण द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं से अधिक थी; और, जिस प्रकार बहुत से ऐसे महाविद्यालय विद्यमान थे जो अधिकांशत: फीस पर निर्भर करते थे और उच्च शिक्षा केंद्रों के बजाय अनुशिक्षण संस्थाओं के रूप में फल फूल रहे थे, उसी प्रकार बहुत से माध्यिमक विद्यालय भी ऐसे थे जिनकी कार्यकुशलता संतोषजनक नहीं थी। अत: यह स्वाभाविक था कि लार्ड कर्जन माध्यिमक शिक्षा के क्षेत्र में भी उसी नीति को अपनाते जिसे वह 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम के अधीन महाविद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में अपना चुके थे।

1904 से 1908 के दौरान माध्यमिक शिक्षा संबंधी जिस नीति पर अमल किया गया था उसे 1904 में जारी किए गए शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प में सुनिश्चित रूप से बताया गया था। इस काल की घटनाओं को उनके उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उपर्युक्त नीति का विश्लेषण करें और भारतीय शिक्षा आयोग ने जिस नीति की सिफारिश की थी उसके साथ इसकी तुलना करें।

गैर सरकारी उद्यम का नियंत्रण: माध्यमिक शिक्षा संबंधी नीति के दो महत्वपूर्ण पहलू थे, नियंत्रण और सुधार। इनमें से पहले पहलू के संबंध में यह कहा जा सकता है कि सरकार ने गैर सरकारी उद्यम को कई प्रकार से नियंत्रित करने का प्रयत्न किया था

जिनमें से अत्यंत महत्वपूर्ण तरीके निम्नलिखित हैं :

लार्ड कर्जन

(क) विभाग द्वारा मान्यता: भारतीय शिक्षा आयोग की यह राय थी कि शिक्षा विभाग केवल उन शतों को विहित करे जिनके आधार पर गैर सरकारी विद्यालयों को सहायता अनुदान दिए जाएंगे। जो प्रबंधक सहायता न मांगें (अथवा प्राप्त न करें) उन्हें अपने विद्यालयों का अपने ढंग से विकास करने की छूट दी जाए। अतः 1882 और 1902 के बीच शिक्षा विभागों ने सहायता प्राप्त विद्यालयों के मार्गदर्शन के लिए तो काफी विशद नियम निर्धारित किए थे परंतु गैर सहायता प्राप्त विद्यालयों के विनियमन के लिए कोई गंभीर प्रयास नहीं किया था। अब सरकार ने उपर्युक्त दृष्टिकोण को त्याग दिया और यह कहा कि सरकार को सभी गैर सरकारी माध्यमिक विद्यालयों पर नियंत्रण रखना चाहिए, चाहे वे सहायता प्राप्त हों या गैर सहायता प्राप्त । 1904 के सरकारी संकल्प में इस नीति को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

चाहे इन विद्यालयों का प्रबंध लोक प्राधिकारी करते हों अथवा गैर सरकारी व्यक्ति और चाहे इन्हें लोक निधियों से सहायता मिलती हो या न मिलती हो, समुदाय के हित में सरकार के लिए यह लाजिमी है कि वह इस बात पर घ्यान दे कि इन विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा ठीक हो। उदाहरण के लिए, उसे प्रत्येक मामले में यह संत्रिष्ट कर लेनी चाहिए कि माध्यमिक विद्यालय की आवश्यकता वास्तव में है, उसकी वित्तीय स्थिरता सुनिश्चित है, उसका यदि कोई प्रबंध निकाय है तो ठीक प्रकार से गठित है, उसमें उचित स्तर तक उचित विषय पढाए जाते हैं, शिक्षण, स्वास्थ्य. मनोविज्ञान और छात्न अनुशासन के संबंध में उचित व्यवस्था की गई है, चरित्र संख्या और अर्हताओं की दृष्टि से अध्यापक उपयुक्त हैं, और, उनमें दी जाने वाली फीस के परिणामस्वरूप किन्हीं विद्यमान विद्यालयों से कोई ऐसी प्रतियोगिता नहीं होती जो शिक्षा के लिए अनुचित और हानिकर हो। यही वे शर्तें हैं जिन्हें पूरा करने पर ही विद्यालयों को सहायता अनुदान पाने, सरकारी छात्रवित्त के लिए प्रतियोगिताओं में भाग लेने के लिए अपने छात्रों को भेजने, छात्रवृत्तियां पाने वाले विद्यार्थियों को अपने यहां दाखिल करने के लिए योग्य समझा जाएगा। इन शर्तों को मानने वाले विद्यालयों को 'मान्यता प्राप्त' विद्यालयों की श्रेणी में रखा जाएगा।

ऊपर मान्यता प्राप्ति के लिए जो शतें बताई गई हैं उनकी 1904 के भारतीय विश्व. विद्यालय अधिनियम की धारा 21 के साथ तुलना करने पर यह पता चलता है कि वे एक प्रकार से संबंधन के लिए विहित शर्तों के समान ही हैं। इन शर्तों को शीघ्र ही सहायता अनुदान संबंधी प्रांतीय संहिताओं में समाविष्ट कर दिया गया। 1904 में विभागों ने सहायता अनुदान की शर्तों को विहित करने की पूर्वकालीन प्रथा को छोड़ दिया और तब से ही उन्होंने मान्यता की शर्तों को विहित करना आरंभ कर दिया।

(स) विश्वविद्यालयों द्वारा मान्यता: विभाग द्वारा दी जाने वाली मान्यता के अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यदि माध्यमिक विद्यालय अपने छात्रों को किसी विश्वविद्यालय द्वारा ली जाने वाली मैट्रिक परीक्षा में बैठाना चाहते थे तो उन्हें उस विश्वविद्यालय से भी मान्यता लेनी पड़ती थी। यह मान्यता नियंत्रण का एक बहुत बड़ा अस्त्र बन सकती थी परंतु 1904 से पहले व्यवहार में इसका महत्व बहुत थोड़ा अथवा शून्य के बराबर रहा। इस विषय के संबंध में जो विनियम थे वे सामान्यतः तुिंटपूर्ण थे। इन विनियमों को भी बहुधा कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जाता था। विद्यालयों का निरीक्षण करने के लिए विश्वविद्यालयों के पास कोई अभिकरण नहीं था। इसके परिणामस्वरूप उन्हें स्वयं विद्यालयों द्वारा दी गई सूचना पर निर्भर करना पड़ता था। चूंकि विश्वविद्यालय और विभाग मान्यता के विषय में एक दूसरे से स्वतंत्र रह कर कार्य करते थे अतः सामान्यतः उनमें संघर्ष भी होता था। 1904 के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम के अधीन सभी विश्वविद्यालयों को मान्यता देने के संबंध में विनियम बनाए। इन विनियमों में वे शर्ते निर्धारित की गई जिन्हें पूरा करना मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों के लिए आवश्यक था। अतः इन विनियमों के परिणामस्वरूप गैर मान्यता प्राप्त विद्यालयों के विद्यािथयों के मैट्रिक में प्रवेश पाने पर रोक लग गई और इस प्रकार छात्रों के लिए मैट्रिक परीक्षा में बैठने का गुप्त द्वार बंद हो गया। इसी प्रकार विभाग और विश्वविद्यालय के बीच संघर्ष को कम करने की दृष्टि से भी विनिमय बनाए गए।

(ग) मान्यता के विशेषाधिकार तथा मान्यता की शर्तों को लागु किया जाना : जैसा सर्वविदित है, मान्यता की शर्तों को केवल विहित कर देने मान्न से ही तब तक कोई उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता है जब तक मान्यता से मिलने वाले विशेषाधिकार इतने अधिक महत्वपूर्ण न हों कि विद्यालय उन्हें प्राप्त करने की कामना करने लगें। इसके साथ ही इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह बात जरूरी है कि मान्यता की शर्तों को लाग करने के लिए एक पर्याप्त तंत्र भी हो। मान्यता प्राप्त हो जाने पर विद्यालय को यह अधिकार मिल जाता था कि वह छात्रों को मैट्रिक परीक्षा में बैठने के लिए भेज सकता था। इसी प्रकार अब यह निर्घारित कर दिया गया कि विभाग से मान्यता प्राप्त कर, लेने पर विद्यालय (क) सरकार से सहायता अनुदान पाने, (ख) छात्रों को सरकारी परीक्षाओं अथवा सरकारी तकनीकी विद्यालयों की प्रवेशिका परीक्षाओं के लिए भेजने और (ग) सरकारी छात्रवृत्तियां पाने वाले विद्यार्थियों को दाखिल करने का अधिकार हो जाएगा। सरकार ने गैर सरकारी विद्यालयों को दिए जाने वाले सहायता अनुदान में वृद्धि करने का निश्चय किया ताकि विद्यालयों को विभाग से मान्यता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन दिया जा सके और उन उच्च स्तरों तक पहुंचने में समर्थ बनाया जा सके जो हाल ही में विहित किए गए थे। मान्यता की शर्तों को लागू करने के लिए सरकार ने निरीक्षण कर्मचारियों की संख्या भी बढा दी।

(घ) गैर सहायता प्राप्त विद्यालयों से मान्यता प्राप्त विद्यालयों का स्थानांतरण का निषेध: मान्यता के विशेषाधिकारों का सावधानीपूर्वक विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि विद्यालय अनुदानों के प्रयोजनार्थ विभागीय मान्यता को मैद्भिक के प्रयोजनार्थ विश्वविद्यालय मान्यता को महत्व देते थे। इन दोनों प्रलोभनों का उन विद्यालयों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा होगा जो सहायता अनुदान नहीं लेते थे या उसे पाने की आशा नहीं रखते थे (अतः विभाग द्वारा मान्यता देने से इंकार किए जाने अथवा मान्यता वापस ले

लिए जाने की परवाह नहीं करते थे) या जो मैट्रिक तक शिक्षा नहीं देते थे (अत: विश्व-विद्यालय के नियंत्रण में नहीं थे)। चूंकि इस प्रकार के विद्यालयों की संख्या काफी अधिक थी इसलिए उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए एक तरीका निकालना पड़ा। यह कार्य गैर मान्यता प्राप्त विद्यालयों से मान्यता प्राप्त विद्यालयों के छात्रों के स्वत: स्थानांतरण पर रोक लगाकर किया गया। जैसा मद्रास के लोक शिक्षा निदेशक ने कहा था:

इस प्रयोजन के लिए यह नियम काफी प्रभावी था। इसने गैर सहायता प्राप्त विद्यालयों के छात्रों का किसी मान्यता प्राप्त विद्यालय में और इसके परिणामस्वरूप मैट्रिक एवं उच्च माध्यमिक परीक्षा में प्रवेश बंद कर दिया, और वर्तमान स्थितियों में ऐसा कोई भी माध्यमिक विद्यालय सफल होने की आशा नहीं कर सकता है जो इनमें से एक या दूसरी परीक्षा न दिला सके।

इस अयोग्यता के कारण गैर मान्यता प्राप्त विद्यालय फलने फूलने या अधिक समय तक चलते रहने की आशा नहीं कर सकते थे। नई पद्धति में मान्यता लाभ मात्र ही नहीं रह गई थी। वह अस्तित्व की एक शर्त बन गई थी। इससे विभाग लगभग सभी माध्यमिक विद्यालयों को अपने प्रभावी नियंत्रण और पर्यवेक्षण में रखने में समर्थ हो गया।

विभाग तथा विश्वविद्यालय द्वारा नियंत्रण रखे जाने की इस नई नीति का भारतीय जनता ने उसी प्रकार विरोध किया जिस प्रकार भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम का किया था। उदाहरण के लिए, यह कहा गया कि गैर सरकारी माध्यमिक विद्यालयों पर नियंत्रण रखने का प्रयास राजनीतिक कारणों से किया जा रहा है और वास्तव में इसका उद्देश्य राष्ट्रीय भावना और गैर सुरकारी उद्यम की संवृद्धि को रोकना है। इस समस्या के राजनीतिक पहलू पर यहां विचार करने की आवश्यता नहीं है । परंतू ग्रैक्षिक दिष्ट-कोण से भी इस नई नीति को पूरी तरह से उचित ठहरा सकना कठिन है। निर्संदेह, यह बात सही है कि इस काल में अहस्तक्षेप नीति की उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी, उससे बहुधा उच्छ खलता फैल जाती थी और सामान्यतः गैर सरकारी उद्यम को अधिक कठोर नियंत्रण में रखने की आवश्यकता थी। परंतु नई नीति ने आवश्यकता से अधिक उलट फेर कर दी। नियंत्रण रखना आवश्यक है और सीमाओं के अंदर रहने पर वह बहत लाभकारी सिद्ध हो सकता है। परंतु नियंत्रण को सरलता से इतना अधिक बढाया भी जा सकता है कि वह एक कठोर, यांत्रिक और एक रूप पद्धति को जन्म दे दे। बाद के वर्षों में यह प्रवृत्ति बहुधा देखी गई थी। हो सकता है कि कुछ मामलों में यह प्रवृत्ति भले ही किन्हीं अन्य कारणों जैसे निजी उद्यमकर्ताओं के द्वारा उद्यम अथवा उपक्रम न किया जाना या निधियों के अभाव से उत्पन्न हुई तथापि इसका मुख्य कारण यह था कि इस काल की अनुदान संहिताएं कठोर थीं और उन्हें कठोरतापूर्वक लागू किया गया था।

लार्ड कर्जन की माध्यमिक शिक्षा संबंधी नीति का दूसरा उद्देश्य शिक्षण की गुणता को सुधारना था। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने निम्नलिखित कार्रवाइया की :

^{1.} क्विनक्वेनियल रिब्यू आफ दि प्रोग्नेस आफ एजूकेशन इन इंडिया, 1902-7, अंक I, पू० 71।

(क) सरकारी विद्यालयों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए प्रांतीय सरकारों को भारी अनुदान मंजूर किए गए ताकि वे गैर सरकारी उद्यमों के लिए आदर्श विद्यालय बन सकें। इस प्रकार जो अधिक राशि उपलब्ध कराई गई उसका उपयोग भवनों और छात्रावासों का निर्माण करने, कर्मचारियों की तनख्वाहें बढ़ाने और आवश्यक साज समान खरीदने के लिए किया गया।

(ख) गैर सरकारी विद्यालयों के सहायता अनुदानों में वृद्धि करने के लिए भारी निधियां भी मंजूर की गईं ताकि ये विद्यालय सरकारी संस्थाओं के स्तर तक पहुंचने में समर्थ हो सकें।

(ग) माध्यमिक विद्यालयों को प्रशिक्षण देने की आवश्यकता पर जोर दिया गया और इस प्रयोजन के लिए नई संस्थाएं स्थापित करने के कार्य को प्रोत्साहन दिया गया।

(घ) एस० एल० सी० परीक्षाओं की पाठ्यचर्याओं को अधिक उपयोगी एवं ज्यावहारिक बनाने के लिए उनमें परिवर्तन करने का एक अन्य, अधिक प्रबल प्रयास किया गया।

(ङ) यह सिफारिश की गई कि मिडिल चरण में शिक्षा माध्यम के रूप में छात्र की मातृभाषा का ही प्रयोग किया जाए। इस चरण में यह प्रयास भी किया जाए कि छात्र को अंग्रेजी भाषा में पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक निष्णात कर दिया जाए ताकि वह उच्च विद्यालय चरण में ज्यादा अच्छी तरह प्रगति कर सके क्योंकि उच्च विद्यालय चरण में शिक्षा माध्यम अंग्रेजी था।

(च) निरीक्षण विभाग में कर्मचारियों की संख्या बढ़ा दी गई, उनके वेतन बढ़ा दिए गए और विभाग की कार्यकुशलता में वृद्धि कर दी गई ताकि वह माध्यिमक विद्यालयों पर कठोर नियंत्रण रख सके।

कर्जन के बाद भी इस नीति को जारी रखा गया तथा उसका और भी पूरी तरह विकास किया गया। अतः अगले अध्याय में हम इस पर अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

प्राथमिक शिक्षा में कर्जन द्वारा किया गया मार्ग प्रदर्शन: प्राथमिक शिक्षा क्षेत्र में कर्जन की नीति थोड़ी भिन्न थी उच्च शिक्षा में उन्होंने परिणाम की अपेक्षा गुण पर अधिक जोर दिया। परंतु प्राथमिक शिक्षा में उन्होंने सुधार के साथ ही प्रसार पर भी जोर दिया। इनमें से प्रथम विषय के बारे में उनका विचार था कि (क) इस काल में पूर्वकाल की अपेक्षा प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की अधिक आवश्यकता है; (ख) प्राथमिक शिक्षा का प्रसार सदा धीमा रहा है और 1882 से प्रसार की गित और भी धीमी हो गई है; और (ग) प्राथमिक शिक्षा की धीमी प्रगति का मुख्य कारण यह है कि सरकारी निधियों से मिलने वाले अनुदान अपर्याप्त हैं। अतः कर्जन ने प्राथमिक शिक्षा के लिए भारी अनावर्ती अनुदान मंजूर किए ताकि प्लेग और अकाल के प्रभावों को समाप्त किया जा सके। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में देश के अधिकांश भाग प्लेग और अकाल से पीडित रहने लगे थे। कर्जन का इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने

प्राथमिक शिक्षा के लिए भारी आवर्ती अनुदान निर्धारित किए जिनसे प्रांतीय सरकारें स्थानीय बोर्डो और नगरपालिकाओं को दिए जाने वाले सहायता अनुदानों की दर कुल व्यय के एक तिहाई भाग से बढ़ाकर आधा करने में और गैर सरकारी प्राथमिक विद्यालयों को अधिक अनुदान देने में समर्थ हो गई। इस उदार नीति से प्राथमिक विद्यालयों और छात्रों की संख्या में तुरंत ही भारी वृद्धि हो गई। 1881-82, 1901-2 और 1911-12 में प्राथमिक विद्यालयों की छात्र संख्या निम्नलिखित थी:

लाई कर्जन

| | 1881-82 | 1901-2 | 1911-12 |
|---|-----------|-----------|-----------|
| मान्यता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों की संख्या | 82,916 | 93,604 | 1,18,262 |
| उपयुक्त विद्यालयों में छान्नों की संख्या | 20,61,541 | 30,76,671 | 48,06,736 |

टिप्पणी: सभी वर्षों के आंकड़ों में कुछ भारतीय रियासतें शामिल हैं और बर्मा शामिल नहीं है। वर्ष 1911-12 को इसलिए लिया गया की कर्जन की नीति का पूरा प्रभाव इसी समय दिखाई दिया था।

उपर्युक्त आंकड़ों से पता चलता है कि प्राथमिक विद्यालयों की छात्र संख्या में 1901-2 से 1911-12 तक के वर्षों में जो वृद्धि हुई थी वह भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन के बाद अगले बीस वर्षों में हुई वृद्धि की दोगूनी थी।

परंतु चूंकि कर्जन विकास के सिद्धांत के प्रबल समर्थक थे अत: वह केवल छात्र संख्या में वृद्धि होने से संतुष्ट नहीं हो सके। प्राथमिक शिक्षा का गुणता सुघारने की दृष्टि से उन्होंने निम्नलिखित कार्रवाइयां करने की सिफारिश की:

(क) प्राथमिक शिक्षकों का प्रशिक्षण : कर्जन ने प्राथमिक शिक्षकों के लिए और अधिक संख्या में प्रशिक्षण संस्थाएं खोलने पर बल दिया। चूं कि बंगाल में प्रशिक्षित शिक्षकों का प्रतिशत कम था अत: बंगाल में इसकी विशेष रूप से आवश्यकता बताई। उन्होंने यह भी निदेश दिया कि नियमत: प्रशिक्षण की कुल अविध दो वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। परंतु इस विषय पर कर्जन की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने प्रारंभिक कृषि की शिक्षा देने वाले ग्रामीण प्राथमिक विद्यालयों के प्रशिक्षण पर बल दिया। वह चाहते थे कि प्रारंभिक कृषि को सभी ग्राम प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ाया जाए। इन विद्यालयों में अधिकांशत: किसानों के बालक पढ़ने आते थे।

(ख) पाठ्यचर्या का संशोधन: कर्जन ने प्राथमिक विद्यालयों में ऐसी उदार शिक्षा देने की आवश्यकता पर बल दिया जो केवल पढ़ने, लिखने और अंकगणित तक सीमित न रह कर उससे यथासंभव ऊंचे स्तर की हो। भारतीय शिक्षा आयोग ने सिफारिश की थी कि पाठ्यचर्या को सरल बना दिया जाए परंतु कर्जन पाठ्यचर्या को सरल बनाने की चेष्टा के कतई समर्थंक नहीं थे। इसके विपरीत वह पाठ्यचर्या का संवर्धन करना चाहते थे। उनकी

इस इच्छा का पहले ही उल्लेख किया जा चका है कि प्राथमिक विद्यालयों में, विशेषकर देहाती क्षेत्रों में स्थित विद्यालयों में, कृषि को पाठ्यचर्या में शामिल किया जाए। इसके अतिरिक्त उनकी यह भी इच्छा थी कि 'भारतीय शिक्षा के कुछ जन्मजात दोषों को ठीक करने, स्मरण शक्ति पर अनन्य निर्भरता को निरुत्साहित करने और दृष्ट तथ्यों के आधार पर तर्क कर सकने की सामर्थ्य पैदा कर सकने के लिए 'वष्तुनिष्ठ पाठों' का अध्यापन अधिक प्रचलित हो जाए और किंडरगार्टेन पद्धतियों को अधिक अपनाया जाने लगे। यह कार्य विशेषकर ऐसे स्थानों पर अवश्य हो जहां सक्षम शिक्षक उपलब्ध हों। शारीरिक व्यायाम दूसरा ऐसा विषय था जिनको कर्जन व्यापक रूप से अपनाना चाहते थे। परंतु पाठचर्या समस्या के संबंध में उसका सबसे महत्वपूर्ण योगदान था उनका यह विचार कि ग्राम प्राथमिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या शहरी विद्यालयों की पाठ्यचर्या से भिन्न होनी चाहिए और ग्राम प्राथमिक विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा अभिन्न रूप से स्थानीय परिवेश से संबंधित होनी चाहिए। कर्जन को पता था कि प्राथमिक शिक्षा के इन गुणात्मक सुधारों में प्राथमिक शिक्षकों के वेतन में संशोधन करना भी शामिल होगा ! वेतन में बहुत अधिक विविधता पाई जाती थी। वेतन बंगाल में 5 रुपये मासिक था जबिक बंबई में 18 रुपये मासिक था। बहुचा यह वेतन इस पेशे की ओर यथेष्ट व्यक्तियों को आकर्षित करने अथवा इस पेशे में रोके रखने के लिए बहुत कम था। परंतू इस शिक्षा में अंशत: समयाभाव के कारण और अंशतः धनाभाव के कारण उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। इसके परिणामस्वरूप गुणता के परियोजित सुधार अधिक मान्ना में नहीं किए जा साके परंतू उन्होंने प्रसार का जो लक्ष्य रखा था वह शीघ्र पूरा हो गया।

(ग) प्रतिफलानुसर भुगतान पद्धित का परित्यागः भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिश के परिणामस्त्र हुए, 1882 और 1902 के बीच गैर सरकारी विद्यालयों के लिए अनुदानों का निर्धारण करने के साधन के रूप में (यद्यिप केवल एकमात्र साधन नहीं) प्रतिफलानुसार भुगतान पद्धित को व्यापक रूप से अपनाया गया। मद्रास और बंबई में सुप्रबंधित प्राथमिक विद्यालयों को एक नियत अनुदान पद्धित के अनुसार अनुदान दिए गए। परंतु इस प्रकार से अनुदान प्राप्त करने वाले विद्यालयों की संख्या प्रतिफलानुसार भुगतान पद्धित के अनुसार अनुदान प्राप्त करने वाले विद्यालयों की संख्या से बहुत कम थी। बंगाल में प्रतिफल अनुदान की प्रधानता रही, जबिक संयुक्त प्रांत, पंजाब, मध्य प्रांत और असम में प्रतिफल अनुदान विद्यालय के वार्षिक अनुदान का केवल एक भाग होता था; शेष भाग या तो नियत होता था या दूसरी कसौटियों पर निर्भर होता था। परंतु लार्ड कर्जन की नीति के अनुसार, प्रतिफलानुसार भुगतान पद्धित का सर्वत्र परित्याग कर दिया गया और उसके स्थान पर सहायता अनुदान के अधिक वैज्ञानिक और उन्नत तरीके अपना लिए गए।

लार्ड कर्जन द्वारा किए गए अन्य शैक्षिक सुधार : लार्ड कर्जन ने कई महत्वपूर्ण सुधार किए जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

(क) कला विद्यालय: लार्ड कर्जन का नाम कला विद्यालयों के सुधार, कृषि विद्या की संवृद्धि के लिए दिए गए भारी प्रोत्साहन और विदेशों में प्रौद्योगिकीय अध्ययन के लिए

छात्रवृत्तियां आरंभ करने के कार्यों के साथ जुड़ा हुआ है। 1893 से ही भारत में कला विद्यालयों के भविष्य के बारे में विवाद चल रहे थे। कुछ लोगों का यह विश्वास था कि ये विद्यालय भारतीय कलाओं और उद्योगों की उन्नित करने के अपने प्रमुख लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे हैं अतः इन्हें बंद कर देना चाहिए। कुछ अन्य लोगों की सिफारिश यह थी कि इनमें कुछ संशोधनों के साथ भी चालू रखना चाहिए। लार्ड कर्जन ने यह विवाद समाप्त कर दिया और निदेश दिया कि विद्यालयों को उनके लक्ष्यों, तरीकों और संघटन में कुछ संशोधन करके चालू रखा जाए।

- (स) कृषि शिक्षा: कर्जन से पहले भारत में कृषि शिक्षा का विकास नहीं हुआ था। कुछ कृषि महाविद्यालय अवश्य थे किंतु उन्हें न तो सिद्धांत रूप से और न व्यवहार में ही सफलता प्राप्त हुई थी, क्योंकि वे न तो वैज्ञानिक विशेषज्ञ तैयार कर सके और न उन्हें व्यावहारिक कृषक तैयार करने में ही सफलता मिली। लार्ड कर्जन ने इस विषय में एक नई और सफल नीति प्रतिपादित की। उनके अधीन ही कृषि विभागों की व्यवस्था की गई। स्वयं भारत में कृषि प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से उन्होंने पूना में केंद्रीय अनुसंधान संस्थान कीं स्थापना की। दूसरी बात यह है कि उन्होंने यह सिद्धांत निर्धारित किया कि भारत के प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रांत में अपना निजी कृषि महाविद्यालय होना चाहिए और उस विद्यालय में समुचित कर्मचारी तथा साज सामान हों। तीसरी बात यह है कि उन्होंने यह निदेश दिया था कि मिडिल और उच्च विद्यालय चरणों में कृषि को एक विषय के रूप में पढ़ाकर और किसानों के लिए विशेष कक्षाएं चालू करके, लोगों में कृषि शिक्षा का प्रसार करने का प्रयत्न किया जाए।
- (ग) विदेशी छात्रवृत्तियां : कर्जन की तीसरी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने भारतीय छातों को प्रौद्योगिकीय अध्ययन के लिए विदेश भेजने के हेतु छात्ववृत्तियां चालू कीं। प्रौद्योगिकीय शिक्षा की आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस की जा रही थी। परंतु प्रौद्योगिकीय संस्थाओं की ओर आकर्षित होने वाले छात्रों की संभावित संख्या इतनी कम थी कि इन संस्थाओं को भारत में स्थापित करना लाभदायक नहीं समझा गया। अतः लार्ड कर्जन ने विशिष्ट छात्रों के लिए छात्रवृत्तियां प्रारंभ की तािक वे विदेशों में जाकर प्रौद्योगिकीय अध्ययन कर सकें। इस प्रयोजन के लिए चुने गए पाठ्यक्रम सामान्यतः ऐसे थे जिनका भारतीय उद्यागों का विकास करने में महत्वपूर्ण उपयोग किया जा सकता था।
- (घ) नैतिक शिक्षा: शिमला सम्मेलन में धार्मिक शिक्षा के प्रश्न पर एक बार फिर बहस हुई। चूंकि सरकारी विद्यालयों को धर्म निरपेक्ष बनाए रखने का सिद्धांत अब एक सुस्थापित परंपरा बन चुका था अतः उस पर बिल्कुल आपित्त नहीं की गई। 1882-83 के भारतीय शिक्षा आयोग का सुझाव था कि महाविद्यालयों में एक नैतिक प्राइमर या पाठ्य पुस्तक विहित की जानी चाहिए। इस सुझाव को अपर्याप्त बताकर उसकी उपेक्षा कर दी गई। कर्जन ने कहा कि 'यदि छात्र यूक्लिड कंठस्थ कर सकते हैं तो उन्हें नीति शास्त्र कंठस्थ करने में कोई बाधा नहीं हो सकती है।' अतः कांफ्रेंस ने एक अत्यंत व्यावहारिक

विषय पर चर्चा की । विषय यह था कि किसी ऐसी शिक्षा पद्धित में जो धर्म निरपेक्ष रहने को बाध्य हो नैतिक एवं आध्यारिमक मूल्यों को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है । इस विषय में कर्जन प्रशासन का विचार बहुत ही उचित था और उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है । अपने शिक्षा नीति संबंधी संकल्प (1904) में कर्जन ने कहा था:

''सरकारी संस्थाओं में शिक्षा अनन्य रूप से धर्म निरपेक्ष है और रहनी चाहिए। ऐसे मामलों में यदि उपयुक्त कुप्रवृत्तियों का इलाज ढूंढ़ना है तो नैतिक पाठ्य पुस्तकों अथवा वैयिक्तिक आचार नीति संबंधी प्राइमरों के द्वारा अध्यापन प्रणाली की औप-चारिक रीतियों की ओर इतना अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है जितनी सावधानीपूर्वक चुने एवं प्रशिक्षित किए गए अध्यापकों के प्रभाव, अनुशासन का ऊंचा स्तर बनाए रखने, सुप्रबंधित छात्रावासों की स्थापना, पाठ्य पुस्तकों के सही चयन (जैसे जीवन चरित जो उदाहरणों द्वारा शिक्षा देते हैं) और इन सबसे अधिक अपने दैनिक जीवन की समान अभिरुचियों में अध्यापकों एवं छात्रों के साहचर्य की ओर ध्यान देने की है।

दूसरी ओर, कर्जन का विश्वास था कि यह अधिक अच्छा होगा कि सहायता प्राप्त विद्यालय धार्मिक शिक्षा दें।

- (ङ) पुरातत्व विभाग का सर्जन: कर्जन की वास्तव में एक महान देन यह थी कि पुरातत्व विभाग का सर्जन किया गया। उन्हें पता चला था कि भारत में प्राचीन स्मारकों की ठीक से देखभाल नहीं की जा रही है अतः उन्होंने इनकी देखभाल करने के लिए एक विशेष विभाग का सर्जन किया। उन्होंने 1904 का प्राचीन स्मारक परिरक्षण अधिनियम पारित कराया। यह एक महत्वपूर्ण कार्य था और इस विभाग ने अपने पुरातत्वीय अध्ययनों द्वारा तथा सभी महत्वपूर्ण प्राचीन स्मारकों का परिरक्षण करके भारतीय संस्कृति के प्रति भारी सेवा की है।
- (च) भारत में शिक्षा महानिदेशक की नियुक्ति : कर्जन की महान देनों में से एक देन यह थी कि भारत में शिक्षा महानिदेशक के पद का सर्जन किया गया। इस पद को ग्रहण करने वाले सर्वप्रथम अधिकारी एच० डब्ल्यू० आरेंज थे। आपको यह स्मरण होगा कि 1854 के आज्ञापत से राज्यों में शिक्षा विभागों का सर्जन हुआ था; भारत सरकार में शिक्षा विभाग की नींव रखने का श्रेय कर्जन को ही है।

मारतीय शिक्षा को कर्जन की देन : अब हम इस स्थिति में हैं कि भारतीय शिक्षा को दी गई कर्जन की देन का अनुमान लगा सकें। पहले जो कारण बताए जा चुके हैं उनसे कर्जन की उनके जीवन काल में ही बहुत कटु आलोचना हुई। किंतु सौभाग्यवश, उस काल के विवादों में फंसकर हम अपनी समझ बूझ नहीं खो बैठे हैं। अपने हृदय की स्वभावगत विशालता के कारण, भारत ने अपने देशभक्त सपूतों के प्रति कर्जन द्वारा किए गए अपमान को उसी प्रकार क्षमा कर दिया है जिस प्रकार उसने चार्ल्स ग्रांट या मैकाले के मिथ्या-रोपणों को क्षमा कर दिया था। अब, चूंकि हम स्थिति को अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं, हमारे लिए कर्जन के कार्यों का वस्तुनिष्ठ और निर्णायक ढंग से मुल्यांकन कर

पाना संभव है। वास्तव में, ज्वार का रुख अब बदल चुका है और शैक्षिक अंचलों में आज सामान्य भाव से उनकी प्रशंसा की जाती है और उनके साथ मतैक्य व्यक्त किया जाता है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि कर्जन ने शिक्षा के क्षेत्र में उसके गाढ़े हाल में सहायता की थी। वह शैक्षिक पूर्नानमीण के उस महान आंदोलन के प्रवर्तक थे जो वर्तमान शताब्दी के आरंभ में शुरू हुआ था। उन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों के सुधार का श्रीगणेश किया। बाद के वर्षों में यह कार्य बड़ी तेजी से किया जाने लगा। उच्च शिक्षा के स्तर को ऊंचा करने के लिए किए गए उनके प्रयासों से भारी लाभ हआ। प्राथमिक शिक्षा में उन्होंने ही प्रसार के लिए अभियान आरंभ किया था, यद्यपि उनके उत्तरा-धिकारियों ने उसे जारी नहीं रखा। उनके द्वारा कृषि शिक्षा को भारी प्रोत्साहन मिला और भारत में पूरातत्व विभाग के तो वह संस्थापक ही थे। उन्होंने ही शैक्षिक वित्त के संबंध में केंद्रीय दायित्व के लिए और भारत सरकार द्वारा अपना एक शिक्षा विभाग स्थापित किए जाने के लिए आंदोलन चलाए थे। उन्होंने ही आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन को भारी प्रोत्साहन दिया था। संक्षेप में, कर्जन के बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भारतीय शिक्षा के हैर पहल को लिया और उन्होंने जो चीज छुई उसका सुधार अवश्य किया। आज भारत उनकी इन्हीं सेवाओं को स्मरण करता है, उनकी उच्छं खल राजनीतिक नीतियों को नहीं। जैसा कि प्रोफेसर अमरनाथ झा ने कहा था:

अब जब ि अनेक झगड़ों की आग बुझ चुकी है, सभी भारतीय उस महान वायसराय की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति के कृतज्ञ हैं जिसने हमारे प्राचीन स्मारकों का परिरक्षण करने और हमारे शैक्षिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए बहुत महान कार्य किया था। इन उपलब्धियों के कारण वह अब भी जीवित हैं और भारतीय लोग कई पीढ़ियों तक उन्हें आशीष देंगे।

संक्रमण काल

(1905-21)

लार्ड कर्जन 1905 में भारत से चले गए। उनके प्रशासन द्वारा उत्पन्न किए गए तूफान को शांत करने के लिए उत्तरकालीन वायसरायों ने उनकी कुछ नीतियों को उलट दिया । उदाहरण के लिए, कर्जन द्वारा किए गए बंगाल विभाजन को लोकमत का समादर करते हुए समाप्त कर दिया गया । शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग के प्रति अधिकारी तंत्र अधिक सहानु-भृतिपूर्ण और आदरपूर्ण व्यवहार करने लगा। यद्यपि कर्जन ने शिक्षित भारतीयों को परिषदों में स्थान देने से लगातार इंकार किया था तथापि उनके उत्तराधिकारी काफी दूरदर्शी थे। उन्होंने 1909 में मिटो-मार्ले सुधार लागू किए जिनके अधीन भारतीयों को पूर्वकाल की अपेक्षा बहुत अधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किए गए । परंतु जहां तक शिक्षा का संबंध है, कर्जन की शायद ही किसी नीति का परित्याग किया गया हो । वास्तविकता यह है कि उनमें से अधिकांश नीतियों को कर्जन से भी अधिक उत्साह के साथ जारी रखा गया। निस्संदेह, भारतीय जनता इन नीतियों का विरोध करती रही। परंतु भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक पर हुए संघर्ष में जितना विरोध किया गया था उतना विरोध संभवतः गोखले के अनिवार्य शिक्षा संबंधी विधेयक पर हुई चर्चा को छोड़कर अन्य किसी अवसर पर नहीं किया गया । विरोध की उग्रता में जो यह कमी हुई थी उसके कई कारण थे जैसे (क) कर्जन के अविनयी व्यवहार के स्थान पर अब सरकार ने सामान्य रूप से सहान् भूतिपूर्ण रवेया अपना लिया था; (ख) विरोधियों के कुछ विचारों को अधिकारियों ने स्वीकार कर लिया था; (ग) जनता का ध्यान लगातार राजनीति की ओर बढ़ता चला जा रहा था जिसके कारण शैक्षिक सुधारों के लिए कम समय मिलता था; और (घ) राजकीय तंत्र से सलाह किए बिना ही राष्ट्रीय शिक्षा योजनाओं का आयोजन किया जाने लगा था। परंतु विरोध का वेग कम हो जाने के बावजूद, सरकारी और गैर सरकारी नीतियों के बीच चलने वाले प्रमुख विवाद लार्ड कर्जन के चले जाने के बाद भी तत्वतः पूर्ववत चलते रहे। अतः यह सुविधाजनक रहेगा कि 1905 से 1921 तक की घटनाओं का अध्ययन कर्जन की शैक्षिक पुनर्निर्माण योजनाओं की पृष्ठभूमि में किया जाए।

1882 (जब भारतीय शिक्षा आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था) और 1921 (जब भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अधीन शिक्षा भारतीयों के नियंत्रण में

संक्रमण काल 239

दे दी गई थी) के बीच सरकारी नीतियों में हए परिवर्तन की प्रवित्यों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। 1882 और 1900 के बीच सरकार ने गैर सरकारी उद्यम को पूर्ण स्वतंत्रता देते हए अहस्तक्षेप नीति अपनाई थी और यह भी कहा था कि वह अपनी निजी संस्थाएं भी गैर सरकारी नियंत्रण में सौंपकर इस क्षेत्र से पूर्णतया हट जाएगी। लार्ड कर्जन ने इस नीति को उलट दिया। उन्होंने 1901 और 1905 के बीच यह प्रयत्न किया कि राज्य अपेक्षाकृत अधिक पहल करने लगे और गैर सरकारी उद्यम को नियंत्रित कर दिया जाए। जैसा पहले कहा जा चका है कर्जन के इस कदम के पीछे एक राजनीतिक उद्देश्य था। अत: यद्यपि यह कदम सही दिशा में उठाया गया था तथापि इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता था क्योंकि सरकार विदेशी थी। ये नीतियां 1905 और 1921 के बीच जारी रहीं। परंतू चंिक सरकार जनता के प्रति उत्तरदाई नहीं थी अत: ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों शिक्षा के संबंध में सरकार को अतिरिक्त नियंत्रण एवं अधि-कार दिए जाने की प्रस्थापनाओं का समर्थन करने में अधिकाधिक कठिनाई होती गई। अत: भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अधीन इस बात के लिए कार्रवाई की गई कि शिक्षा को भारतीय नियंत्रण में सौंप दिया जाए और उसे भारतीय मंत्रियों के अधीन रख दिया जाए। ये मंत्री एक ऐसे विधानमंडल के प्रति उत्तरदाई थे जिनमें निर्वाचीत भारतीय प्रतिनिधियों का बहमत था।

शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प (1913) विश्वविद्यालय शिक्षा: लोगों को यह जानने में देर नहीं लगी कि भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 को अधिक सफ-लता नहीं मिली है। अतः इस अधिनियम द्वारा संपन्न किए गए कार्य को सुरक्षित रखते हए इस बात को भी समान रूप से आवश्यक समझा गया कि विश्वविद्यालय शिक्षा के विषय में सरकारी नीति को व्यापक बनाया जाए। इंग्लैंड की गतिविधियों का प्रभाव पड़ने से भी इस आंदोलन को काफी बल मिला। ब्रिटिश विश्वविद्यालयों के इतिहास में 1903-13 का काल अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस काल में इंग्लैंड में विश्वविद्यालय व्यवस्था की मूल समस्याओं पर पुनर्विचार किया गया। विशेषज्ञों की राय थी कि विश्वविद्यालय का संघीय स्वरूप संतोषप्रद नहीं है क्योंकि इस प्रकार के विश्वविद्यालय को चलाना एक कठिन कार्य है और इसके द्वारा दूत प्रगति नहीं हो सकती है। अत: 1913 के आसपास संघीय स्वरूप वाली व्यवस्था का परित्याग कर दिया गया और अधिकांश ब्रिटिश विश्व-विद्यालयों का एकात्मक, अध्यापक और आवासिक संस्थाओं के रूप में आवश्यकतानसार पुनर्गठन किया गया। इन गतिविधियों की गूंज भारत में भी हुई, अत: सरकार को विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 बनने के लगभग एक दशक के अंदर ही इस समस्या पर पुनर्विचार करना पड़ा। यह कार्य 21 फरवरी, 1913 के शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प में किया गया। इस संकल्प में यह घोषणा की गई थी कि प्रत्येक प्रांत में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की जाएगी, विश्वविद्यालयों के अध्यापन क्रियाकलापों को प्रोत्साहन दिया जाएगा और मुफस्सिल कस्बों में स्थित महाविद्यालयों को यथासमय अध्यापन विश्वविद्यालय बना दिया जाएगा । परंतु उपर्युक्त दिशा में कोई कार्रवाई नहीं की गई। इसका एक कारण यह था कि सरकार का यह विश्वास था कि कोई निश्चित

कार्रवाही करने से पहले इस प्रश्न पर विशेषज्ञों द्वारा जांच करा लेना आवश्यक है। दूसरा कारण यह था कि विश्वयुद्ध छिड़ गया था।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917-19): 1917 में सरकार ने उपयुक्त समस्या का अध्ययन करने और प्रतिवेदन देने के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया। इसको इसके अध्यक्ष डा० (बाद में सर) एस०ई० सैंडलर के नाम पर 'सैंडलर आयोग' कह जाता है। डा० सैंडलर लीड्स विश्वविद्यालय के कुलपित थे। डा० ग्रेगोरी, मिस्टर (बाद में सर) फिलिप हार्टोग, प्रोफेसर रैंमजे म्योर, बंगाल के शिक्षा निर्देशक सर आशुतोष मुकर्जी और डा० (बाद में सर) जियाउद्दीन अहमद इस आयोग के अन्य सदस्य थे। आयोग का प्रतिवेदन अंतर्पातीय महत्व का दस्तावेज है। यद्यपि यह केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय के संबंध में है तथापि इसमें जिन समस्याओं पर विचार किया गया है, वे न्यूनाधिक अन्य विश्वविद्यालयों की भी समस्याएं हैं। अतः इस आयोग के प्रतिवेदन का संपूर्ण भारत की विश्वविद्यालयों शिक्षा के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

इस आयोग की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं:

- (क) हम देख चुके हैं कि 1882 और 1902 के आयोग उच्च शिक्षा के संबंध में इसलिए पूरा न्याय नहीं कर सके थे क्योंकि इनमें से पहले आयोग के संबंध में प्रतिवेदन देने का और दूसरे आयोग को माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करने का प्रतिषेध कर दिया गया था। परंतु कलकत्ता विश्वविद्यालय ने माध्यमिक शिक्षा तथा विश्वविद्यालय अध्यापन दोनों की ही समस्याओं का अध्ययन किया था क्योंकि उसका यह विचार था कि विश्वविद्यालय अध्यापन में सुधार करने के लिए भी माध्यमिक शिक्षा का सुधार करना आवश्यक है। अतः माध्यमिक विद्यालयों के पुनर्गठन के संबंध में इस आयोग ने आमूल परिवर्तन करने वाली सिफारिशें कीं। ये सिफारिशें संक्षेप में इस प्रकार हैं:
 - (1) विश्वविद्यालय और माध्यमिक पाठ्यक्रमों के बीच मैट्रिक की अपेक्षा इंटर परीक्षा को विभाजन रेखा मानना अधिक उचित है।
 - (2) अतः सरकार को इंटरमीडिएट महाविद्यालय नामक एक नए प्रकार की संस्थाओं का मृजन करना चाहिए। ये संस्थाएं कला, विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र, इंजीनियरिंग, अध्यापन आदि की शिक्षा की व्यवस्था करें। इन महाविद्यालयों को या तो स्वतंत्र संस्था के रूप में चलाया जा सकता है या विशिष्ट उच्च विद्यालयों के साथ संलग्न किया जा सकता है।
 - (3) विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए यह कसौटी रखी जाए कि छात्न इंटर परीक्षा में उत्तीर्ण हो चका हो।
 - (4) एक माध्यमिक एवं इंटरमीडिएट शिक्षा बोर्ड स्थापित किया जाए जिसमें सरकार, विश्वविद्यालय, उच्च विद्यालयों और इंटरमीडिएट महाविद्यालयों के प्रतिनिधि हों। इस बोर्ड को माध्यमिक शिक्षा के प्रशासन और नियंत्रण का काम सौंपा जाए।

इस प्रस्थापना का जो हाल हुआ उस पर अध्याय नौ में चर्चा की जाएगी।

(ख) आयोग इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन चलने

वाले महाविद्यालयों और विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें एक अकेली संस्था नहीं संभाल सकती है। अतः आयोग ने सिफारिश की कि:

- (1) ढाका में तुरंत एक एकात्मक अध्यापन विश्वविद्यालय स्थापित किया जाए;
- (2) कलकत्ता में एक अध्यापन विश्वविद्यालय स्थापित करने की दृष्टि से कलकत्ता सिटी के अध्यापन साधनों का समुच्चयन किया जाए; और
- (3) मुफस्सिल में महाविद्यालयों का इस तरह विकास किया जाए कि उच्चतर अध्यापन के संसाधनों का कुछ स्थानों पर संकेंद्रण हो जाए जिससे नए विश्वविद्यालय केंद्रों के क्रमिक उत्थान को प्रोत्साहन देना संभव हो सके।

पहली सिफारिश को 1920 में कार्यान्वित किया गया। दूसरी और तीसरी सिफारिशें अब भी नेक आकांक्षा मात्र हैं।

- (ग) विश्वविद्यालय के कार्य के संबंध में आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशों कीं:
- (1) विश्वविद्यालयों के कार्य का नियमन करने वाले विनियमों को कम कड़ा कर दिया जाए;
- (2) विश्वविद्यालयों में सामान्य पाठ्यक्रमों से पृथक प्रवीण पाठ्यक्रम चालू किए जाएं ताकि अधिक योग्य विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यवस्था की जा सके;
- (3) उपाधि पाठ्यक्रम की अवधि इंटरमीडिएट चरण के उपरांत तीन वर्ष हो;
- (4) आचार्य पद और उपाचार्य पद के लिए नियुक्तियां विशेष प्रवरण सिमितियां करें; इन सिमितियों में बाह्य विशेषज्ञ भी रहें;
- (5) शिक्षा के संबंध में मुस्लिम जाति के अपेक्षाकृत पिछड़ेपन को ध्यान में रखते हुए मुसलमान विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने और उनके हितों की सुरक्षा करने के लिए सभी उपयुक्त उपाय किए जाएं;
- (6) विद्याधियों के स्वास्थ्य और शारीरिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है अतः प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक व्यायाम प्रशिक्षण निदेशक की नियुक्ति की जाए जिसे आचार्य का ओहदा और वेतन मिले। प्रत्येक विश्वविद्यालय के स्थाई बोर्ड़ों और समितियों में एक छात्र कल्याण बोर्ड भी रहे। इस बोर्ड में चिकित्सक प्रतिनिधि भी हों। विद्याधियों की आवास संबंधी स्थिति का पर्यवेक्षण करने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाएं।
- (घ) अनेक अन्य समस्याओं के बारे में आयोग ने महत्वपूर्ण सिफारिशें कीं जिनमें से कुछ साररूप में निम्न प्रकार हैं:
- (1) स्त्री शिक्षा: उन हिंदू और मुसलमान लड़िकयों के लिए पर्दा विद्यालय चलाए जाएं जिनके माता पिता उन्हें 15 या 16 वर्ष की आयु तक शिक्षा दिलाने को तैयार हों। कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक स्त्री शिक्षा संबंधी विशेष बोर्ड स्थापित किया जाए। इस बोर्ड को यह अधिकार दिया जाए कि वह अध्यापन के ऐसे विशेष पाठ्यक्रम प्रस्तावित करे जो स्त्रियों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हो। इसके अतिरिक्त, वह महिला महाविद्यालयों में, विशेषकर अध्यापिकाओं के प्रशिक्षण और

242

आयुर्विज्ञान पाठ्यक्रमों की तैयारी के लिए, अध्यापन की सहयोगी व्यवस्था करे।

(2) अध्यापकों का प्रशिक्षण : प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या में सारभूत वृद्धि की जाए। ढाका और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में शिक्षा विभाग स्थापित किए जाएं। इंटर, बी० ए० और एम० ए० उपाधि परीक्षाओं में शिक्षा भी एक विषय रहे।

(3) प्रौद्योगिको : विश्वविद्यालय का यह एक महत्वपूर्ण और वस्तुत: एक आवश्यक कृत्य है कि वह अपने पाठ्यकमों में अनुप्रयुक्त विज्ञान और प्रौद्योगिकी को शामिल करे और उपाधियों एवं उपाधि पत्रों द्वारा उनके व्यवस्थित एवं व्यावहारिक अध्ययन को मान्यता दे।

(4) वृत्तिक एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण : ऐसे कर्मचारियों के कृशल प्रशिक्षण के लिए अवश्य व्यवस्था करें जिनकी देश के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यकता हो। नए विश्वविद्यालयों का सर्जन : 21 फरवरी, 1913 के शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प और कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग 1917-19 के प्रतिवेदन के परिणामस्वरूप 1917-22 की अवधि में बहुत से नए विश्वविद्यालयों का सर्जन हुआ। यह बात घ्यान देने योग्य है कि 1887 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय का निगमन होने के पश्चात भारत में 1916 तक किसी नए विश्वविद्यालय की स्थापना नहीं हुई जबकि इन तीस वर्षों में महाविद्यालयों और उनमें पढने वाले विद्यार्थियों की संख्या में काफी विद्धि हो गई थी। इस वृद्धि के फलस्वरूप विद्यमान विश्वविद्यालयों का कार्य काफी बढ़ गया था। इसलिए अनेक नए विश्वविद्यालय खोलने का निर्णय यद्यपि देर से किया गया था तो भी यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण चेष्टा थी। इस चेष्टा को जनता की इस इच्छा से और भी बल मिला कि विश्वविद्यालय अधिक संख्या में हों और जहां कहीं संभव हो अध्यापन और आवासिक विश्वविद्यालय स्थापित कर दिए जाएं। इस संयुक्त प्रयत्न का परिणाम यह हआ कि जबिक भारत में 1916 में विश्वविद्यालयों की संख्या पांच थी। 1921-22 में वह बढकर बारह¹ हो गई। इस प्रकार से जिन नए विश्वविद्यालयों का सर्जन हुआ उनके बारे में यहां निम्नलिखित संक्षिप्त टिप्पणियां दी जाती हैं:

मैसूर: स्वयं रियासत के क्षेत्र के लिए मैसूर में 1916 में एक संबंधन विश्वविद्यालय स्था-पित किया गया। इस विश्वविद्यालय के निगमन से मद्रास विश्वविद्यालय का कार्य काफी घट गया।

पटना : बिहार और उड़ीसा प्रांत के लिए 1917 में पटना में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। यह विश्वविद्यालय सामान्यत: पुराने विश्वविद्यालयों के नमूने पर बनाया गया था परंतु इसका संविधान 1904 के नमूने से कुछ अलग था। ये परिवर्तन इसलिए ध्यान देने योग्य हैं कि उनसे यह पता चलता है कि यद्यपि सरकार ने 1904 में भारतीय जनमत की सरसरी तौर से अवहेलना कर दी थी तथापि सरकार को अंततः उसकी मांगों के आगे किस प्रकार झुकना पड़ा।

1904 के अधिनियमों के उपबंधों से एक महत्वपूर्ण पार्थक्य वह है जिसके द्वारा सरकार को महाविद्यालयों के संबंधन और असंबंधन के बारे में अपना स्वतंत्र निर्णय लेने से वंचित कर दिया गया है और सरकार के अंतिम निर्णय करने के अधिकार को केवल उन्हीं मामलों तक सीमित कर दिया गया है जो अभिषद और सीनेट के अनुमोदन से उसके पास भेजे गए हों। सरकार के अधिकारों में अन्य तरीकों से भी कमी कर दी गई है और लोक नियंत्रण बढ़ गया है। व्यक्त रूप से यह नहीं कहा गया है कि कूलपति विश्वविद्यालय का एक पूर्णकालिक अधिकारी होगा (यद्यपि पहला कूलपित इस शर्त को परा करता है)। सीनेट के मनोनीत सदस्यों की संख्या घटाकर अधिकतम 25 कर दी गई है और अन्य सदस्यों की संख्या बढ़ाकर अधिकतम 50 कर दी गई है। पंजीकृत स्नातकों के अतिरिक्त इन नए निर्वाचक वर्गों को शामिल किया गया है, महाविद्यालयों का अध्यापक वर्ग, विद्यालयों के स्नातक अध्यापक, संघ और सार्वजनिक निकाय। अभिषद में चार पदेन और चौदह निर्वाचित सदस्य होंगे जिनमें से कम से कम सात सदस्य विश्व-विद्यालय अथवा महाविद्यालयों के कर्मचारी होने चाहिए। अतः जबिक इसमें आचार्य वर्ग के व्यक्तियों का बाहुल्य होगा (कूलपति, निदेशक और प्रमुख महा-विद्यालयों के प्रधानाचार्य पदेन सदस्य होंगे), अभिषद में मनोनीत तत्व का विलो-पन कर दिया गया है।1

बनारस: 1915 के एक अधिनियम द्वारा बनारस में एक अध्यापन एवं आवासिक विश्व-विद्यालय स्थापित किया गया और 1917 में उसने अपना कार्य आरंभ किया। यह विश्वविद्यालय बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के नाम से विख्यात है और यह पंडित मदनमोहन मालवीय के महान कार्य के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया।

अलीगढ़: अलीगढ़ के मुस्लिम विश्वविद्यालय के उद्देश्य भी उपर्युक्त विश्वविद्यालय के उद्देश्यों के समान हैं। इसे 1920 में स्थापित किया गया था। इस विश्वविद्यालय का मुसलमानों से उसी प्रकार का संबंध है जिस प्रकार का बनारस विश्वविद्यालय का हिंदुओं से है। यह अलीगढ़ के मुस्लिम आंग्ल-प्राच्य महाविद्यालय से उन्नित करके बना था। इस महाविद्यालय के इतिहास का वर्णन अध्याय पांच में किया जा चुका है। यह विश्वविद्यालय स्वर्गीय सर सैयद अहमद के महान कार्य का एक जीवित स्मारक है।

दोनों उपर्युक्त सांप्रदायिक विश्वविद्यालय सीधे भारत सरकार के अधीन हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों विश्वविद्यालयों के द्वार सभी जातियों और घर्मों के विद्यार्थियों के लिए खुले हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय को शामिल नहीं किया गया है। उसका निगमन अधिनियम मार्च, 1922
 में पारित हो चुका था परंतु उसे मई, 1922 में लागू किया गया। अतः इस विश्वविद्यालय के इतिहास को अगले काल के अंग के रूप में अध्याय ग्यारह में दिया गया है।

^{1.} क्विनक्वेनियल रिव्यू (1912-17), अंक I, पृ० 69।

ढाका: 1920 में ढाका में एक एकात्मक, अध्यापन एवं आवासिक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया।

लखनऊ: 1920 में लखनऊ में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। इसके संविधान और संघटन उसी नमूने के हैं जिसकी कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने सिफारिश की थी।

उस्मानिया: उस्मानिया विश्वविद्यालय को परम महामान्य निजाम ने 1918 में हैदरा-बाद (दक्षिण) में स्थापित किया था। भारत के विश्वविद्यालयों में इसका अद्वितीय स्थान है, क्योंकि इस विश्वविद्यालय में शिक्षा माध्यम उर्दू है, अंग्रेजी नहीं।

उपर्युक्त सात विश्वविद्यालयों के निगमन के अतिरिक्त, सरकार ने 1921 में ढाका विश्वविद्यालय के नमूने पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय का पुनर्गठन भी किया। दोनों विश्वविद्यालयों में महत्वपूर्ण अंतर यह था कि अध्यापन और आवासिक भाग के अति-रिक्त, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का एक वाह्य भाग भी था जिसमें संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, मध्य भारत और राजपूताना में स्थित बहुत से महाविद्यालय थे। इससे पूर्व ये महाविद्यालय इस विश्वविद्यालय से संबंद्ध थे परंतु अब 1921 के अधिनियम के अधीन इन्हें सहयोगी महाविद्यालय कहा जाने लगा।

विश्वविद्यालयों को वित्तीय सहायता (1905-21) : जैसा पहले बताया जा चुका है, लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयी शिक्षा के लिए, पहली बार केवल पांच वर्ष की अवधि के लिए पांच लाख रुपये का वार्षिक अनुदान मंजूर किया था। इस अनुदान को बाद में स्थाई आवर्ती अनुदान बना दिया गया और उसमें से 1,35,000 रुपये की राशि विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए नियत कर दी गई। इसके अतिरिक्त, सरकार ने विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए 1911-12 में 16,00,000 रुपये का अनावर्ती अनुदान और 2,55,000 रुपये का आवर्ती अनुदान मंजूर किया। उदार वित्तीय सहायता की यह नीति 1912 से 1917 तक पांच वर्ष चलती रही। इस अवधि में 43 लाख रुपये के अनावर्ती अनुदान मंजूर किए गए । इसके अतिरिक्त कलकत्ता विश्वविद्यालय को अर्थ-शास्त्र में मिटो आचार्यपद के लिए 1910 से दी गई अनावर्ती अनुदान की 10,000 रुपये की राशि को बढ़ाकर 1913 में 13,000 रुपये कर दिया गया। अर्थशास्त्र एवं समाज-शास्त्र में एक आचार्यपद की स्थापना करने के लिए बंबई विश्वविद्यालय के लिए भी 1914-15 में एक अनुदान मंजूर किया गया जिसकी राशि 12,000 रुपये वार्षिक थी। बनारस और अलीगढ़ विश्वविद्यालयों में से प्रत्येक के लिए 1,00,000 रुपये के वार्षिक आवर्ती अनुदान मंजूर किए गए। नवस्थापित विश्वविद्यालयों के लिए भारी आवर्ती अनुदान भी मजूर किए गए। 1900-1 में विश्वविद्यालयों का कुल खर्च 7,21,000 रुपये था परंतु उन्हें केवल 29,380 रुपये का सरकारी अनुदान दिया गया था और यह अनुदान अकेले पंजाब विश्वविद्यालय को मिला था। परंतु 1921-22 में विश्व-विद्यालयों के लिए सरकारी अनुदान बढ़ाकर 20,54, 000 रुपये कर दिया गया जबिक उनका कुल खर्च बढ़कर 74,13,000 रुपये हो गया था।

विश्वविद्यालयों द्वारा किया गया अध्यापन कार्य (1905-21): जैसी आसानी से

प्रत्याशा की जा सकती है, सरकारी अनुदान मिलते रहने तथा अन्य स्नोतों से आय में वृद्धि हो जाने से विश्वविद्यालयों को भारी वित्तीय संसाधन प्राप्त हुए। उन संसाधानों से उन्होंने न केवल अपने लिए भवन निर्मित कर लिए और पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं का अनुरक्षण एवं विस्तार कर लिया वरन वे अध्यापन कियाकलापों को करने में भी समर्थ हो गए। 1921 में बारह भारतीय विश्वविद्यालय थे। इनमें से पांच नितांत अध्यापन विश्वविद्यालय थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय अध्यापन और संबंधन दोनों ही प्रकार का विश्वविद्यालय था। शेष छः विश्वविद्यालय मुख्यतः संबंधन विश्वविद्यालय थे यद्यपि वे कुछ अध्यापन कार्य करते थे।

संबंधन विश्वविद्यालयों का अध्यापन कार्य निम्नृलिखित तीन प्रकार के कार्यों में से एक या एक से अधिक प्रकार का था:

- (क) भारत के अन्य भागों से अथवा विदेशों से विश्वविद्यालय देखने के लिए आमंत्रित किए गए श्रेष्ठ विद्वानों की विशेष भाषणमाला का आयोजन, अथवा
- (ख) कतिपय विषयों में विश्वविद्यालय में आचार्यपदों की स्थापना, अथवा
- (ग) विश्वविद्यालय द्वारा सीधे संचालित किए जाने वाले प्रवीण विद्यालयों की स्थापना अथवा स्नातकोत्तर कक्षाएं खोलना।

विशिष्ट विद्वानों द्वारा व्याख्यान पाठ्यक्रमों का चलाया जाना कलकता, मद्रास और पंजाब विश्वविद्यालयों के कार्य की एक विशेषता थी। अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों ने समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि विषयों में आचार्यपद भी स्थापित किए। पंजाब विश्वविद्यालय ने प्रवीण विद्यालयों की व्यवस्था की। इन विद्यालयों में अध्यापन को विश्वविद्यालय का एक पूर्णकालिक अधिकारी नियंत्रित करता था। यह अधिकारी विश्वविद्यालय शिक्षण का संकाय अध्यक्ष' कहलाता था। इन विद्यालयों में यह प्रयत्न किया जाता था कि 'विद्यालयों में से अल्प संख्या में जो योग्य छात्र निकलें उन्हें अध्यापक और छात्र के बीच व्यक्तिगत संपर्क रखकर, और भाषणों एवं पाठ्यपुस्तकों का कम सहारा लेकर, इस विश्वास के साथ उन्नत ढंग की शिक्षा दी जाए कि यह उन्नत शिक्षा यद्यपि आरंभ में अल्प संख्या तक ही सीमित रहेगा तथापि दीर्घकाल में उसका विश्वविद्यालय से संबद्ध समस्त महाविद्यालयों के रुझान एवं अध्यापन के तरीकों पर प्रभाव पड़ेगा।' इसी प्रकार कलकत्ता विश्वविद्यालय ने एक स्नातकोत्तर विभाग खोला और नगरेतर क्षेत्रों में कुछ महाविद्यालयों में एम० ए० के अध्यापन का शेष सारा कार्य अपने हाथ में ले लिया।

इस काल के दौरान, यह विचार जोर पकड़ने लगा था कि 1857 में नितांत संबंधन विश्वविद्यालयों का स्थापित किया जाना एक गलती थी और देश के लिए सबसे अच्छे ढंग का विश्वविद्यालय एकात्मक, अध्यापन एवं आवासिक विश्वविद्यालय ही होगा। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग का प्रतिवेदन आने के बाद यह विचार विशेष रूप से

^{1.} क्विनक्वेनियल रिब्यू आफ दि प्रोग्नेस आफ एजूकेशन इन इंडिया, 1917-22, प्॰ 62 ।

सामने आ गया। परंतु चूंकि संसाधनों की कमी थी अतः इस प्रकार के विश्वविद्यालयों की बड़े पैमाने पर स्थापना करने का प्रस्ताव रह कर दिया गया और संबंधन विश्वविद्यालय को ही प्रमुखता दी जाती रही। फिर भी एक मध्य मार्ग के रूप में अब इस बात पर जोर दिया जाने लगा कि संबंधन विश्वविद्यालयों को अध्यापन कार्य करने में समर्थ बनाया जाए और इस कार्य में उनकी सहायता की जाए। यद्यपि यह व्यवस्था एकात्मक अध्यापन विश्वविद्यालय के समान उपयोगी नहीं थी तथापि विश्वविद्यालय के विभागों द्वारा अच्छी शिक्षा की सुविधाएं दिए जाने और संबद्ध महाविद्यालयों में शिक्षा के वातावरण को सुधारने की दृष्टि से यह निस्संदेह महत्वपूर्ण थी।

1905 और 1921 के बीच सामान्य शिक्षा देने वाले महाविद्यालयों का विकास: जैसा हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं, इस काल का ग्रारंभ, 1904 का भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम बनने के बाद, महाविद्यालयी शिक्षा सुधार संबंधी आंदोलन के साथ हुआ था। हम यह भी देख चुके हैं कि इस अधिनियम द्वारा लगाई गई संबंधन की कड़ी शर्तों ने नए महाविद्यालयों की स्थापना को किस प्रकार कठिन बना दिया था और किस प्रकार बहुत सी विद्यमान संस्थाए बंद भी हो गई थीं।

इस काल की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि महाविद्यालयी शिक्षा के स्तर में भारी सुधार हुआ। पूर्ववर्ती काल के महाविद्यालयों की अपेक्षा सामान्यतः इस काल के महाविद्यालयों में अधिक कर्मचारी काम करते थे और महाविद्यालयों के पास अधिक साज सामान और अधिक अच्छे विद्यालय भवन थे। जैसा पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, इसका एक कारण यह था कि 1904 के अधिनियम द्वारा संबंधन की शर्तों को अधिक कड़ा कर दिया गया था। परंतु इसका मुख्य कारण यह था कि फीस से अधिक आय होने, अधिक धर्मदाय और चंदे प्राप्त होने तथा सरकार से अधिक अनुदान मिलने के परिणामस्वरूप महाविद्यालयी संस्थाओं की वित्तीय स्थित में सुधार हो गया था।

महाविद्यालयों की आय का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत फीस है। विचाराधीन काल में, इस स्रोत से आय में यथेष्ट वृद्धि हुई थी। ऐसा अंशतः फीस बढ़ जाने के कारण और अंशतः विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हो जाने के कारण हुआ था। 1901-2 में फीस का प्रति विद्यार्थी भार 57 रुपये वार्षिक था जबिक 1921-22 में यह बढ़कर 84 रुपये वार्षिक हो गया। दूसरी बात यह है कि महाविद्यालयों की औसत छात्र संख्या 1901-2 में 123 थी परंतु 1921-22 में यह बढ़कर 263 हो गई। इन चीजों का सम्मिलित प्रभाव यह पड़ा कि फीस से होने वाली आय में वृद्धि हो गई। इससे प्रबंधक अपनी संस्थाओं का सुधार करने के लिए प्रभावी कदम उठाने में समर्थ हो गए।

इसी प्रकार, विचाराधीन काल में धर्मदायों और चंदों से होने वाली आय में भी यथेष्ट वृद्धि हुई और सरकार भी अधिक अनुदान देने लगी। विश्वविद्यालयों के सुधार के लिए 1905 से भारत सरकार 5 लाख रुपये वार्षिक की मंजूरी देने लगी थी। इसमें से 13.5 लाख रुपये की राशि पहले पांच वर्षों में महाविद्यालयी शिक्षा के सुधार पर खर्च की गई थी। यह अनुदान बाद में एक स्थाई आवर्ती अनुदान बना दिया गया और इसमें से 3,65,000 रुपये वार्षिक महाविद्यालयी शिक्षा के लिए निर्धारित कर दिए गए।

1907 में 1912 तक के पांच वर्षों में भारत सरकार ने महाविद्यालयों के सुधार के लिए 2.45 लाख रुपये का एक अन्य आवर्ती अनुदान मंजूर कर दिया। इसके अतिरिक्त, सरकार ने विशेषकर छात्रावासों के निर्माण के लिए भारी अनावर्ती अनुदान दिए। अगले पांच वर्षों में 2.84 लाख रुपये का एक अन्य आवर्ती अनुदान दिया गया। 1921-22 में सामान्य शिक्षा देने वाली महाविद्यालयी संस्थाओं पर कुल सरकारी व्यय 49.26 लाख रुपये हुआ जिसमें से 15.28 लाख रुपये की राशि गैर सरकारी महाविद्यालयों को सहायता अनुदान के रूप में दी गई।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 1921-22 तक महाविद्यालयी शिक्षा पद्धित में कुछ दोष उत्पन्न हो गए थे और वह शिखर पर बोझिल, प्रधानतः साहित्यिक, तथा देश के औद्योगिक एवं वाणिज्यिक पुनरुजीवन के लिए अनुपयोगी हो गई थी। 1854 के आज्ञा-पत्र में निर्धारित नीति की निम्नलिखित बातों का तर्कसंगत रूप से यही परिणाम निकल सकता था: (क) पाश्चात्य ज्ञान और विज्ञान का प्रसार, (ख) भारतीयों को ऐसी वृत्तियों में प्रशिक्षित करना जिनसे वे सरकार के अच्छे कर्मचारी बन जाएं, और (ग) एक ऐसी पद्धित का विकास जो भारत को ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल का सांभरक और तैयार माल का केता बना दे। इन दोषों के बारे में संभवतः सबसे अच्छी टिप्पणी कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन के निम्नलिखित उद्धरणों में मिलती है। इन उद्धरणों में दिए गए आंकड़े 1917 के हैं और केवल बंगाल के बारे में हैं। परंतु वे जो चित्र उपस्थित करते हैं वह संपूर्ण भारत के बारे में भी सही हैं:

1. बंगाल और वस्तुतः भारत के अभिनव इतिहास की एक सबसे विलक्षण बात यह भी है कि पिछले दो दशकों में, विशेषकर 1904 के विश्वविद्यालय अधिनियम के बाद से, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। 1904 में मद्रास विश्वविद्यालय की इंटर परीक्षा में 2,430, बंबई विश्वविद्यालय की परीक्षा में 457 और कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षा में 3,832 परीक्षार्थी बैठे थे। ये आंकड़े स्वयं ही काफी आकर्षक थे क्योंकि 1904 में इन विश्वविद्यालयों को 50 वर्ष भी पूरे नहीं हुए थे। परंतु 1917 में इंटर परीक्षा में बैठने वाले परीक्षार्थियों की संख्या मद्रास में 5,424, बंबई में 1,281 और कलकत्ता में 8,020 थी। इसका अर्थ यह है कि जबिक परीक्षार्थियों की संख्या में सभी जगह काफी वृद्धि हुई थी, बंगाल में यह भारत के किसी अन्य भाग की अपेक्षा बहुत अधिक हुई थी। संसार के किसी अन्य भाग में इस प्रकार का उदाहरण खोज लेना सरल नहीं है। विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए विद्यार्थियों की जो बाढ़ आई, उसने विश्वविद्यालय और उसके महा-विद्यालयों पर इतना भारी बोझ डाल दिया कि उनके कार्य में बहुत व्यवधान पड़ने लगा। इससे इस पद्धित की प्रत्येक कमी उभरकर सामने आ गई। यदि इस महान

^{1.} केवल अंग्रेजी भारत के कला, विज्ञान और प्राच्य महाविद्यालयों के आंकड़े '(बर्मा के आंकड़े शामिल हैं)।

अवसर का उचित उपयोग करना है और बंगाली युवकों की शिक्षा पाने की लालसा से देश को पूरा लाभ पहुंचाना है तो यह स्पष्ट है कि इस पद्धति में साहसपूर्ण और उग्र परिवर्तन एवं सुधार करना आवश्यक है।

- 2. संभवतः बंगाल और यूनाइटेड किंगडम की तुलना करने पर इन तथ्यों की पूर्ण सार्थकता पर सबसे अधिक प्रकाश पड़ सकता है। इन दोनों ही देशों की आबादी लगभग बराबर अर्थात करीब 4,50,00,000 है। यह भी विचित्र संयोग है कि विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करने के लिए तैयारी करने वाले छात्रों की संख्या भी लगभग समान अर्थात करीब 26,000 है। परंतु चूंकि बंगाल में दस में से केवल एक व्यक्ति ही पढ़ लिख सकता है अतः बंगाल में पूर्णकालिक विश्वविद्यालय पाठ्यकम में भाग लेने वाले शिक्षित लोगों का अनुपात, यूनाइटेड किंगडम के इस प्रकार के व्यक्तियों के अनुपात से लगभग दस गूना है।
- 3. परंत् ऊपर जो बात कही गई है वह इस विरोध की सबसे आश्चर्यजनक बात नहीं है। यूनाइटेड किंगडम के जो आंकड़े हैं उनमें स्वयं बंगाल सहित पूरे ब्रिटिश साम्राज्य से आए हुए विद्यार्थी शामिल हैं, जबिक बंगाल के आंकड़ों में केवल भारत के विद्यार्थी शामिल हैं। फिर, यूनाइटेड किंगडम में छात्राओं की संख्या बहुत काफी है। बंगाल में छाताओं की संख्या निश्चय ही बहुत कम है और वर्तमान सामाजिक स्थिति को देखते हुए बहुत समय तक कम ही रहने की संभावना है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यूनाइटेड किंगडम में छात्र भारी संख्या में वृत्तिक पाठ्यक्रमों का अध्ययन कर रहे हैं जैसे चिकित्साशास्त्र, कानून, अध्यापन, धर्मशास्त्र, इंजी-नियरी अथवा तकनीकी विज्ञान । बंगाल में यद्यपि कानून पढ़ने वाले छात्रों की संख्या बहुत अधिक है तथापि वहां पर चिकित्साशास्त्र के छात्रों की संख्या यूनाइटेड किंगडम की अपेक्षा बहुत कम है, इंजीनियरी के विद्यार्थी बहुत थोड़े हैं और चाहे हिंदू धर्मशास्त्र हो या इस्लामी, धर्मशास्त्र को विद्यार्थी विश्वविद्यालय की उपाधि पाने के लिए नहीं पढ़ते । बंगाल में अध्यापन का प्रशिक्षण लेने वाले छात्र बहुत कम हैं और तकनीकी विज्ञान के छात्र तो एक प्रकार से बिल्कुल ही नहीं हैं क्योंकि बंगाल के वैज्ञानिक उद्योग अभी शैशवावस्था में ही हैं और वे अपने विशेषज्ञ मुख्यतः इंग्लैंड से बूलाते हैं।
- 4. अत: ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने के लिए तो शिक्षित पुरुष यूनाइटेड किंगडम की अपेक्षा बंगाल में बहुत अधिक संख्या में जाते हैं परंतु व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए विश्वविद्यालय जाने वाले लोगों का अनुपात बहुत कम है। 26,000 छातों में से 22,000 से भी अधिक छात्न इस प्रकार के विशुद्ध साहित्यिक पाठ्यक्रमों को पढ़ते हैं जो उन्हें केंवल प्रशासनिक, लिपिक, अध्यापन और (अप्रत्यक्ष रूप से) विधिक वृत्तियों के ही योग्य बनाते हैं। यूनाइटेड किंगडम में (यदि अध्यापकों के प्रशिक्षण को व्यावसायिक प्रशिक्षण समझा जाए) यह संभव है कि ये अनुपात लगभग बिल्कुल उल्टे हों। किसी अन्य बड़े पैमाने और धनी आबादी वाले राज्य के साथ तुलना करने से और भी कम अच्छा नतीजा निकलेगा।

किसी अन्य सभ्य देश में ऐसा नहीं है जैसा बंगाल में है कि शिक्षित वर्गों के लोगों ने इस कार्य को अपना स्वाभाविक ध्येय बना लिया है कि विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करनी है। इस लक्ष्य को वे ऐसे अध्ययनों के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं जो विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप वाले हैं जिससे उनसे कोई प्रत्यक्ष वृत्तिक प्रशिक्षण नहीं मिलता है।

माध्यिमक शिक्षा (1905-21): इस काल में माध्यिमक शिक्षा में अपूर्व प्रसार हुआ और 1921-22 में माध्यिमक विद्यालयों की संख्या 5,124 (जिनमें 5,90,129 छात्र थे) से बढ़कर 7,530 (जिनमें 11,06,803 छात्र थे) हो गई। यह प्रसार मुख्यत: गैर सरकारी भारतीय उद्यम के द्वारा और उस काल में हुई भारी सामाजिक एवं राजनीतिक जागृति के कारण हुआ था।

तो भी, इस संपूर्ण काल में सरकारी प्रयासों का लक्ष्य परिमाणात्मक सुधार करना नहीं, वरन गुणात्मक सुधार करना रहा था। इस संबंध में सरकार का जो मत था उसका सबसे अच्छा विवरण शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प (1913) के बाइसवें अनुच्छेद में मिलता है:

माध्यमिक अंग्रेजी विद्यालयों के संबंध में भारत सरकार की नीति निम्नलिखित होगी, तथापि उसमें स्थानीय स्थितियों को घ्यान में रखते हुए परिवर्तन किया जा सकता है:

- (1) जो थोड़े से सरकारी विद्यालय विद्यमान हैं उनका निम्नलिखित कार्यों द्वारा सुधार करना:
- (क) केवल स्नातकों अथवा प्रशिक्षित अध्यापकों को नियुक्त करके;
- (ख) अंग्रेजी पढ़ाने वाले अध्यापकों के लिए 40 रुपये न्यूनतम वेतन और 400 रुपये मासिक अधिकतम वेतन रखकर एक पद कमानुसार सेवा चालु करके;
- (ग) छात्रावासों की उचित व्यवस्था करके:
- (घ) एक ऐसे विद्यालय पाठ्यक्रम को समाविष्ट करके जो स्वयं में पूर्ण हो और जिसके लिए भौगोलिक एवं ऐतिहासिक बोध की ओर विशेष ध्यान देकर आधुनिक शिक्षा देने के लिए पर्याप्त कर्मचारी हों;
- (ङ) हाथ के काम का प्रशिक्षण आरंभ करके और विज्ञान के अध्यापन में सुधार करके।
- (2) सरकारी विद्यालयों के साथ ही सहायता प्राप्त विद्यालय भी उपर्युक्त दिशा में अपने यहां सुधार कर सकें, इसके लिए सहायता प्राप्त विद्यालयों को दिए जाने वाले सहायता अनुदान में भारी वृद्धि करना और जहां आवश्यक हो, नई सहायता प्राप्त संस्थाओं की स्थापना को प्रोत्साहन देना।
- (3) प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या में वृद्धि करना और उनका सुधार करना

ताकि सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के लिए प्रशिक्षित अध्यापक उपलब्ध हो सकें।

(4) ऐसे इलाकों में सरकारी विद्यालयों की स्थापना करना जहां स्थानीय स्थिति की जांच करने पर और शैक्षिक प्रयत्न एवं व्यय की बचत को ध्यान में रखते हुए सरकारी विद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता हो।

इस नीति संबंधी विवरण के चार भाग हैं: भारतीय शिक्षा आयोग ने जिस नीति की सिफारिश की थी, दूसरे और तीसरे भाग उसी नीति के अनुवर्ती हैं। चौथा भाग विनिवर्तन की सामान्य नीति के एक अपवाद की केवल पुनरावृत्ति है। यह एक ऐसा अपवाद था जिसका स्वयं आयोग ने पूर्वानुमान कर लिया था और उसे आवश्यक माना था:

- (क) आदर्श संस्थाओं का सिद्धांत: परंतु पहले भाग में उस नीति से स्पष्ट पार्थंक्य दिखाई देता है जिसकी आयोग ने सिफारिश की थी। अध्याय पांच में हमने बताया था कि आयोग ने यह सिफारिश की थी कि सरकार शिक्षा संस्थाओं का सीधा प्रबंध करना छोड़ दे। यद्यपि इस सिफारिश पर अमल नहीं किया गया था तथापि अब भी यह एक घोषित नीति बनी हुई थी। 1913 के सरकारी संकल्प में इस नीति का परित्याग कर दिया गया और कहा गया कि सरकार का यह कर्तव्य है कि अपनी वर्तमान संस्थाओं का ऐसी संस्थाओं के रूप में अनुरक्षण करे जो गैर सरकारी उद्यम के लिए 'आदर्श' हों। पुरानी नीति से हटने की इस आवश्यकता और उपयोगिता को बहुधा चुनौती दी जाती रही। पहली बात तो यह कही गई कि यह नीति गैर सरकारी विद्यालयों को अधिक बड़े अनुदान दिए जाने में बाधक है। अपनी संस्थाओं को आदर्श संस्थाएं बनाने के प्रयास में सरकार को अपने द्वारा अनुरक्षित कुछ संस्थाओं पर भारी धनराशि व्यय करनी पड़ती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि चूंकि गैर सरकारी माध्यमिक विद्यालयों की संख्या अधिक थी, अतः उन्हें उतनी सहायता नहीं मिली जितनी वे अपनी संख्या के आधार पर पाने के हकदार थे और जिसका उन्हें उपर्यक्त सरकारी संकल्प के अनुच्छेद 22 (2) में लालच दिया गया था। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि भारतीय जनता बहुधा 'आदर्श' संस्थाओं के अनुरक्षण की समीचीनता के बारे में संदेह प्रकट करती थी। उदाहरण के लिए, यह कहा जाता था कि गैर सरकारी विद्यालयों के सूधार की समस्या मुख्यतः धन की समस्या है और उनके कार्यकुशल न होने का कारण यह नहीं है कि कोई ऐसी आदर्श संस्था मौजूद नहीं है जिससे वे प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर सकें; वरन उनके कार्यक्रशल न होने का कारण यह है कि उनके पास पर्याप्त वित्तीय साधन नहीं हैं। अतः यह अनुरोध किया गया कि सरकार को अपनी संस्थाएं बंद कर देनी चाहिए और इस प्रकार से बचाई गई निधियों का उपयोग गैर सरकारी विद्यालयों को अधिक भारी अनुदान देने के लिए करना चाहिए ताकि वे अपनी कार्यकृशलता बढ़ाने में समर्थ हो सकें।
- (ख़) व्यावसायिक पाठ्यकमों की व्यवस्था: पूर्ववर्ती कालों के समान ही इन वर्षों में भी मैट्रिक के स्थान पर वैकल्पिक परीक्षाओं की व्यवस्था करने और विद्यार्थियों को

विभिन्न व्यवसायों की ओर उन्मुख करने के लिए प्रयास होते रहे। परंतु विगत काल के समान ही ये प्रयास भी सफल नहीं हुए, यद्यपि इनसे पाठ्यचर्या का कुछ संवर्धन और परीक्षा प्रणाली में कुछ सुधार अवश्य हुआ।

यहां जो एक प्रसंगानुकूल प्रश्न उठता है वह यह है: वे कारण क्या थे जिनसे 1882 से लेकर अब तक विद्यार्थियों को विभिन्न व्यवसायों की ओर उन्मुख करने के लिए मैट्रिक के स्थान पर वैकल्पिक परीक्षाओं की व्यवस्था करने के सारे प्रयास असफल रहे थे ? इस प्रश्न का निम्नलिखित उत्तर दिया जा सकता है:

- (i) उच्च माध्यमिक चरण में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को समाविष्ट करने के लिए निम्नलिखित कार्रवाइयां की जानी चाहिए थीं:
 - (1) शिक्षित श्रमिकों के नियोजकों, जैसे बैंकों, रेलों, वाणिज्यिक फर्मों इत्यादि के प्रतिनिधियों से परामर्श करके व्यावसायिक शिक्षा की सावधानीपूर्वक परिकल्पित योजनाएं तैयार करना;
 - (2) सरकारी संस्थाओं में उपर्युक्त पाठ्यक्रमों के अध्यापन की व्यवस्था करना;
 - (3) गैर सरकारी विद्यालयों को विशेष अनुदान देना ताकि वे उपर्युक्त पाठ्यक्रमों के अध्यापन के लिए अपने विद्यालयों में पर्याप्त कर्मचारी और साज-सामान रखने में समर्थ हो सकें;
 - (4) इन विशेष पाठ्यक्रमों के लिए अपेक्षित अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए विशेष संस्थाओं का संचालन करना;
 - (5) इन विशेष पाठ्यक्रमों की शिक्षा पाए हुए विद्यार्थियों के लिए रोजगार के और अधिक अवसरों का सर्जन करने के लिए देश में व्यापार और उद्योगों का विकास करना।
- (ii) परंतु ये कार्रवाइयां नहीं की गईं यद्यपि इनमें से कुछ को भारतीय शिक्षा आयोग ने भी दृष्टिगत किया था। इसके विपरीत, वास्तविक समस्या को इस विश्वास के कारण टाल दिया गया कि इस समय जितनी आवश्यकताएं हैं उन सबकी पूर्ति एक वैकित्पक परीक्षा से हो जाएगी। 1882 और 1921 के बीच अधिकांश प्रयत्न इसी प्रकार की परीक्षा का सर्जन करने के लिए किए गए।
- (iii) अत: इन प्रयासों से यद्यपि माध्यमिक पाठ्यक्रम का कुछ संवर्धन हुआ और परीक्षा प्रणाली में कुछ सुधार भी हुए तथापि उन्हें व्यावसायिक अथवा पूर्व व्यावसायिक शिक्षा प्रारंभ करने में कोई सफलता नहीं मिली।
- (iv) दूसरी ओर, यह बात अवश्य स्वीकार करनी होगी कि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को प्रारंभ करने के लिए जनता की ओर से कोई स्पष्ट मांग नहीं की गई थी और उन्हें प्रारंभ करने के प्रयास बहुधा अलोकप्रिय हो जाते थे। ऐसा कई कारणों से हुआ था जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:
 - (1) इस काल में बहुत बाद तक शिक्षित बेरोजगारी की समस्या ने गंभीर रूप धारण नहीं किया था। अंग्रेजी का ज्ञान रखने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए सर-कार के अधीन अथवा गैर सरकारी विद्यालयों अथवा व्यापार में कोई न कोई

रोजगार पा लेना अब भी संभव था। दूसरे शब्दों में, अंग्रेजी के ज्ञान से रोजगार मिलता था अत: वह अब भी व्यावसायिक प्रशिक्षण के तुल्य था और जब तक इस स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ, वास्तविक व्यावसायिक प्रशिक्षण के लोकप्रिय होने की अधिक संभावना नहीं थी।

- (2) उच्च माध्यमिक स्तर के छात्र अधिकांशत: (आर्थिक दृष्टि से) मध्य वर्गों में आते थे। इन वर्गों के लोग शताब्दियों से श्रम की अपेक्षा बौद्धिक कार्य द्वारा जीवन यापन करने के आदी थे। अतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि इन छात्रों ने शारीरिक कार्य और व्यावसायिक प्रशिक्षण को आनंदप्रद नहीं माना।
- (3) अंतिम बात यह है कि प्राथमिक एवं निम्न माध्यमिक चरण में हाथ के काम आदि की व्यवस्था न होना उच्च माध्यमिक चरण में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को प्रारंभ करने के मार्ग में एक और बाधा सिद्ध हुई। जिन बालकों ने पूर्णतः किताबी पाठ्यचर्या को ही पढ़ा था उनके बारे में यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे अध्ययन के दसवें वर्ष में शारीरिक कार्य को आनंदपूर्वक करने लगेंगे। वास्तव में आवश्यकता इस बात की थी कि आरंभ से ही विद्यालय पाठ्यक्रम में काफी मात्रा में कार्य तत्व हो।
- (ग) अंग्रेजी के अध्यापन में सुधार : अध्याय छ: में यह बताया गया था कि 1902 तक अंग्रेजी का अध्यापन माध्यमिक पाठ्यक्रम का प्रमुख लक्ष्य बन गया था। संपूर्ण विचारा-धीन काल में अंग्रेजी के अध्ययन को बढ़ा चढ़ा कर महत्व दिया जाता रहा और अंग्रेजी के अध्यापन को सुधारने के लिए विभिन्न उपाय किए गए। अध्यापन के नए तरीकों, जैसे प्रत्यक्ष प्रणाली, को प्रारंभ किया गया। जहां तक हो सका अंग्रेजी पढाने के लिए केवल प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति की गई। निचली कक्षाओं में अंग्रेजी के अध्यापन का कार्य विद्यालय में उपलब्ध सर्वाधिक सक्षम अध्यापकों को सौंपा गया। पाठ्य पूस्तकें विहित करके अथवा उनको पाठ्यक्रम से निकाल कर तथा उत्तीर्ण होने के लिए अपेक्षित अंकों के न्यनतम प्रतिशत को बढ़ाकर और परीक्षाओं आदि में अधिक कड़े मानदंड अपनाकर भी अंग्रेजी के अध्यापन को सुधारने का प्रयत्न किया गया । परंतू यदि परीक्षाओं के प्रति-वेदन परीक्षार्थियों की उपलब्धियों के सूचक हैं तो यह कहा जा सकता है कि 1921-22 में अंग्रेजी का स्तर 1901-2 के स्तर से अधिक भिन्न नहीं था। वास्तव में, हमें यह महसस होता है कि इस काल के शिक्षाविद एक असंभव कार्य करने का प्रयत्न कर रहे थे। जो भी व्यक्ति माध्यमिक विद्यालय में पढ़ने आता या वे उसे अंग्रेजी भाषा में निष्णात बना देना चाहते थे। परंतु थोड़े से लोगों को ही निष्णात बनाया जा सकता था और अन्य सभी व्यक्तियों को निष्णात बना सकना संभव नहीं था। अतः अंग्रेजी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए जोर दिए जाने का एक प्रकार से यह अर्थ था कि औसत छात्र को यातना दी जाए । अंग्रेजी के अध्ययन में उसका काफी समय लग जाता था और इसके फलस्वरूप पाठ्यचर्या में उदार विषयों का सम्यक अध्ययन करने में बाधा पडती थी। इसके अतिरिक्त, विदेशी भाषा पर अधिकार करने के लिए छात्र द्वारा किए गए तमाम प्रयत्नों के बावजूद उसे उपलब्धि बहुत कम होती थी।

(घ) शिक्षा माध्यम : अंग्रेजी के अध्ययन को बढ़ा चढ़ाकर जो महत्व दिया गया उसके परिणामस्वरूप उस आंदोलन में काफी बाघा पड़ी जो माध्यमिक चरण में शिक्षा माध्यम के रूप में आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रयोग किए जाने के लिए चल रहा था। हम पहले ही देख चुके हैं कि कर्जन ने किस प्रकार यह निदेश दिया था कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का निम्न माध्यमिक कक्षाओं में शिक्षा माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाए। विचाराधीन काल में उनकी सिफारिशों को सामान्यत: कार्यान्वित कर दिया गया। 1921-22 तक आधुनिक भारतीय भाषाओं का मिडिल स्कूल चरण में शिक्षा माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाने लगा था। परंतु उच्च विद्यालय चरण में माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग समाप्त कर दिए जाने का प्रश्न एक बार फिर अनिर्णीत रह गया।

(ङ) अध्यापकों का प्रशिक्षण: परंतु माध्यमिक विद्यालयों के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के संबंध में अच्छी सफलता मिली। लार्ड कर्जन की उस महत्वपूर्ण घोषणा का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है जिसने माध्यमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण के एक नए युग का सूत्रपात किया था। 1912 तक माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए 15 प्रतिक्षण संस्थाएं हो गई थीं जिनमें लगभग 1,400 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। 1913 के शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प में यह बात कहकर एक कदम और आगे बढ़ाया गया कि 'अंततः आधुनिक शिक्षा पद्धितयों के अंतर्गत किसी भी ऐसे अध्यापक को अध्यापन कार्य न करने दिया जाए जिसके पास यह प्रमाणपत्न न हो कि उसने अध्यापन कार्य करने की अर्हता प्राप्त कर ली है।' संकल्प में यह भी कहा गया कि सरकार प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या को बढ़ाना और इन महाविद्यालयों का सुधार करना चाहती है ताकि सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के लिए प्रशिक्षित अध्यापक उपलब्ध हो सकें। इसके परिणामस्वरूप, 1904-21 में माध्यमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण की सुविधाओं में भारी वृद्ध हुई। 1921-22 में माध्यमिक (अंग्रेजी) अध्यापकों लिए प्रशिक्षण महा-विद्यालयों की संख्या बढ़कर 13 हो गई जबकि 1904 में 6 थी।

अतः 1920-21 में माध्यमिक शिक्षा की उपलब्धियां गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों ही थीं। इन दोनों दशकों में माध्यमिक विद्यालयों और विद्यार्थियों दोनों ही की संख्या में काफी वृद्धि हो गई थी। इसके साथ ही स्पष्ट रूप से गुणात्मक सुधार भी हुआ था। यह सुधार मुख्यतः इस कारण हुआ था कि मान्यता की शर्तों को अधिक कड़ा कर दिया गया था, सभी स्नोतों से व्यय में वृद्धि हो गई थी और प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या बढ़ गई थी। जिन समस्याओं को अब भी हल करना शेष था वे निम्नलिखित थीं: (i) उच्च माध्यमिक चरण में आधुनिक भारतीय भाषाओं का शिक्षा माध्यम के रूप में अपनाया जाना, और (ii) व्यावसायिक अथवा पूर्व व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था। अगले काल (अर्थात 1921-37) में इन्हीं समस्याओं को हल करने के लिए प्रयास किए गए। इन प्रयासों का वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

अतिवार्य प्राथमिक शिक्षा के संबंध में गोखले के प्रयास (1910-12) : जैसा पहले कहा जा चुका है, लार्ड कर्जन ने प्राथमिक शिक्षा के लिए अधिक अनुदान देने की एक नई

नीति का सूत्रपात किया था जिससे 1905 और 1912 के बीच प्राथमिक शिक्षा का काफी प्रसार हुआ था। परंतु शीघ्र ही गुणात्मक सुधार को सरकारी अधिमान्यता दिए जाने के प्रभाव को लोग महसूस करने लगे। सरकार अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धांत को स्वीकार करने के बजाय गुणात्मक सुधार की ओर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान देती गई। भारतीय राष्ट्रवादियों ने इस बात को पसंद नहीं किया और वे सरकार पर अनिवार्य शिक्षा आरंभ करने के लिए दबाव डालने लगे। इस मांग को इस बात से और भी बल मिला कि बड़ौदा के गायकवाड़ ने 1906 में अपनी संपूर्ण रियासत में अनिवार्य शिक्षा आरंभ कर दी थी। जनता ने शीघ्र ही यह कहना शुरू कर दिया कि गायकवाड़ ने अपनी रियासत के लिए जो कार्य किया है उसे ब्रिटिश सरकार अपने राज्य क्षेत्रों के लिए आसानी से कर सकती है। श्री गोपालकृष्ण गोखले इस मांग के बहुत बड़े आख्याता थे।

1910 और 1913 के बीच गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धांत को सरकार से मनवाने के लिए भारी प्रयत्न किए। 19 मार्च, 1913 को उन्होंने साम्राज्यिक विधान परिषद में निम्नलिखित संकल्प उपस्थित किया:

कि यह परिषद सिफारिश करती है कि प्रारंभिक शिक्षा को देश भर में नि:शुल्क और अनिवार्य करने की दिशा में कार्रवाई की जाए और निश्चायक प्रस्थापनाएं तैयार करने के लिए शीघ्र ही सरकारी और गैर सरकारी व्यक्तियों का एक मिलाजुला आयोग स्थापित किया जाए।

सरकार से यह आश्वासन मिलने पर इस संकल्प को वापस लें लिया गया कि इस संपूर्ण विषय पर सावधानीपूर्वक विचार किया जाएगा। परंतु 16 मार्च, 1911 को गोखले ने फिर प्रहार किया और प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार के लिए ज्यादा अच्छी व्यवस्था करने के लिए अपना विधेयक पुनःस्थापित किया। इस विधेयक में 19 मार्च, 1910 के उनके भाषण की अधिकांश प्रस्थापनाएं समाविष्ट थीं। मुख्यतः यह विधेयक इंग्लैंड के 1870 और 1876 के अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों और 1892 के आयरिश शिक्षा अधिनियम पर आधारित था। लक्ष्य एवं कारण संबंधी विवरण से उद्धृत निम्नलिखित उद्धरण से इस विधेयक की मुख्य बातों की स्पष्ट जानकारी मिलती है:

इस विधेयक का लक्ष्य देश की प्रारंभिक शिक्षा पद्धित में बाध्यता के सिद्धांत का क्रिमिक समावेश करना है। अन्य देशों के अनुभव से यह बात निविवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि जनता के बीच प्रारंभिक शिक्षाक़ व्यापक प्रसार को सुनिश्चित करने का एकमात्र प्रभावी तरीका यह है कि किसी ने किसी रूप में बाध्यता का प्रयोग किया जाए। अब समय आ गया है जबिक भारत में इस दिशा में गुरुआत तो की ही जानी चाहिए। यह विधेयक नितांत अनुज्ञात्मक स्वरूप का है और इसके उप-बंध नगरपालिकाओं अथवा जिला बोर्डों द्वारा अधिसूचित क्षेत्रों पर लागू होंगे। इसके लिए जितने परिवधित व्यय की आवश्यकता होगी, उसे इन नगरपालिकाओं अथवा जिला बोर्डों को उस अनुपात में वहन करना होगा जो भारत सरकार नियमों द्वारा निर्धारित करे। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि प्रांतीय सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई भी क्षेत्र अधिसूचित नहीं किया जा सकता है और भारत

सरकार नियमों द्वारा उस नगरपालिका या जिला बोर्ड की सीमा में पहले से ही विद्यालयों में शिक्षा पा रहे बालकों के प्रतिशत के संबंध में जो मानदंड निर्धारित करेगी उसे भी पूरा करना होगा। अंतिम बात यह है कि पहले इन उपबंधों को लड़कों पर लागू करने का विचार है, यद्यपि बाद में स्थानीय निकाय उनका विस्तार लड़िकयों के लिए भी कर सकता है। प्रस्तावित आयु सीमा केवल छः और दस वर्ष हैं। यह आशा की जाती है कि किसी उग्र अथवा विवेकहीन कार्य के विरुद्ध ये पर्याप्त सुरक्षण हैं, भले ही कुछ लोगों को यह प्रतीत हो कि कम सावधानी बरती जा रही है।

इस विधेयक को राय जानने के लिए परिचालित किया गया और 17 मार्च, 1912 को इस पर पुनः चर्चा आरंभ हुई। यह वादिववाद दो दिन चला और यह स्पष्ट हो गया कि सरकार उस समय इस प्रकार के साधारण विधेयक को भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। चूंकि उस समय के केंद्रीय विधान मंडल में सरकारी सदस्यों का स्पष्ट बहुमत था और बहुत से गैर सरकारी सदस्य किसी न किसी कारण से इस विधेयक के विष्छ थे अतः विधेयक को सफलता मिलने की कोई संभावना नहीं थी। अतः गोखले का संपूर्ण वक्तृतापूर्ण पक्षसमर्थंन व्यर्थ सिद्ध हुआ। जब विधेयक को प्रवर समिति को सौंपने के प्रस्ताव पर मतदान लिया गया तो उसे 38 के विष्छ 13 मतों से रह कर दिया गया। निस्संदेह, इस बात से किसी को भी आश्चर्य नहीं हुआ और गोखले को तो बिल्कुल भी नहीं हुआ। उन्होंने स्थिति का सही अनुमान लगाया था और वादिववाद के दौरान मतदान के प्रत्याशित परिणाम का निम्नलिखित गरिमामय शब्दों में पहले ही उल्लेख कर दिया था:

श्रीमन, मैं जानता हूं कि दिन समाप्त होने से पहले ही मेरे विधेयक को रह कर दिया जाएगा। इस विषय में मुभे कोई शिकायत नहीं है। मुझे अवसाद भी नहीं होगा। मुझे कोई शिकायत या अवसाद इसलिए नहीं है क्योंकि मुझे उन आरंभिक प्रयत्नों का इतिहास भली प्रकार ज्ञात है जिनकी इंग्लैंड में भी 1870 का अधिनियम बनने से पहले आवश्यकता पड़ी थी। इसके अतिरिक्त मैंने सदैव यह बात महसूस की है और अक्सर कही भी है कि हम भारत की वर्तमान पीढ़ी के लोग केवल अपनी असफलताओं के द्वारा ही अपने देश की सेवा करने की आशा कर सकते हैं। वे स्त्री पुरुष बाद में आएंगे जिन्हें अपनी सफलताओं द्वारा देश की सेवा करने का विशेषाधिकार प्राप्त होगा। हम आगे की ओर जो प्रयाण कर रहे हैं उसमें हमारे लिए जो स्थान निर्धारित किया गया है, हमें उसी को सहर्ष स्वीकार करके संतुष्ट रहना चाहिए। आज जिस विधेयक को रह किया गया है वह बार बार तब तक उपस्थित किया जाता रहेगा जब तक इसी के नक्शे कदम पर अंतत: एक ऐसा विधान नहीं बन जाएगा जो देशभर में ज्ञान का प्रकाश फैलाएगा। हो सकता है कि हमारी यह प्रत्याशा पूरी न हो। यह भी हो सकता है कि हमारे प्रयत्नों से उस महान उद्देश्य को पूरा करने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रेरणा मिले जो हम सबके मन में है और अंत में ये प्रयत्न हथेली पर सरसों जमाने जैसे ही सिद्ध हों।

परंतु, श्रीमन, हमारे काम का चाहे जो भी परिणाम निकले, जहां कर्तव्य की मांग स्पष्ट हो, वहां कर्तई श्रम न करने की अपेक्षा श्रम करके असफल हो जाना ज्यादा अच्छा है। 1

इस प्रकार भारत में अनिवार्य शिक्षा के इतिहास का प्रथम अध्याय समाप्त हो गया और गोखले ने अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए यद्यपि भारी उत्साह और योग्यता से काम किया था तथापि उनका मुख्य उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। यद्यपि आज इस विधेयक में अंतर्निहित सिद्धांत साधारण प्रतीत होते हैं तथापि वास्तव में इन सिद्धांतों को समय से बहुत पूर्व प्रस्तुत कर दिया गया था और उस काल के सतर्क और अनुदार कर्मचारी इन्हें व्यावहारिक प्रस्थापनाएं नहीं मानते थे। परंतु गोखले के प्रयत्न पूर्णतया निष्कल नहीं हुए। जैसा हम देख चुके हैं, इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारत सरकार के अधीन शिक्षा विभाग का सर्जन हुआ। इन प्रयत्नों से सार्वजनिक शिक्षा के लिए चलने वाले आंदोलन को भी काफी बल मिला। उन्होंने सरकार को सर्वसाधारण की शिक्षा के बारे में जागरूक कर दिया। यह अधिकांशतः गोखले के इन प्रयत्नों का ही अप्रत्यक्ष परिणाम था कि 1912 से 1917 तक के पांच वर्षों में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार बहुत कियाशील रही।

1913 का सरकारी संकल्प: यद्यपि सरकार ने गोखले के विधेयक को अस्वीकार कर दिया था तथापि वह इस बढ़ती हुई जनतांत्रिक मांग की पूरी तरह उपेक्षा नहीं कर सकी कि सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार किया जाए। उसे इस विषय में कुछ कदम उठाने पड़े और इसके लिए 1911-12 में महामहिम सम्राट जार्ज पंचम की भारत यात्रा ने एक सुअवसर प्रदान किया। महामहिम के राज्याभिषेक के अवसर पर सार्वजनिक शिक्षा के लिए 50,00,000 रुपये का एक आवर्ती अनुदान नियत किया गया। इसके बाद 21 फरवरी, 1913 का शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प आया। इस संकल्प में प्राथ-मिक शिक्षा के प्रसार और सुधार के लिए निम्नलिखित सिद्धांत निर्धारित किए गए थे:

यह प्रस्थापना कि निरक्षरता को समाप्त किया जाना चाहिए और भारत की वर्तमान परिस्थितियों में प्राथमिक शिक्षा का लोक निधियों पर प्रमुख अधिकार है, एक ऐसी स्वीकृति नीति को प्रस्तुत करती है जो अब चर्चा का विषय नहीं रह गई है। प्रबल वित्तीय तथा प्रशासनिक कारणों से भारत सरकार ने अनिवार्य शिक्षा के सिद्धांत को मानने से इंकार कर दिया है भूरंतु सरकार चाहती है कि स्वैच्छिक आधार पर प्राथमिक शिक्षा का अधिक से अधिक प्रसार हो। जहां तक नि:शुल्क प्रारंभिक शिक्षा का संबंध है, अभी वह समय नहीं आया है जब उन अनेक ग्रामों के साथ जिनमें विद्यालयों की व्यवस्था होने की अभी प्रतीक्षा ही की जा रही है अन्याय किए बिना फीस को पूरी तरह समाप्त कर देना व्यवहार्य हो सके। जो छात्र फीस दे सकते हैं उनसे मिलने वाली फीस को अब प्राथमिक शिक्षा के अनुरक्षण

और प्रसार पर खर्च किया जाता है। फीस को पुरी तरह माफ कर देने से उन ग्रामों में जिनमें इस समय विद्यालय नहीं हैं। विद्यालयों की व्यवस्था करने के कार्य को कुछ हद तक और लंबे समय तक स्थिगत कर देना पड़ेगा। कुछ प्रांतों में पहले से ही नि:शुल्क प्रारंभिक शिक्षा दी जाँती है और अधिकांश प्रांतों में उन लडकों को नि:शुल्क प्रारंभिक शिक्षा ने के लिए पहले से ही उदार प्रतिबंध मौजूद हैं जिनके माता पिता फीस नहीं दे सकते हैं। स्थानीय शासनों से निवेदन किया गया है कि नि: गुल्क प्रारंभिक शिक्षा के सिद्धांत को जनता के निर्धन और अधिक पिछड़े वर्गों पर भी लागु करें। इससे भी बढकर बात यह है कि इस समय यह संभव नहीं है... भारत सरकार की यह इच्छा है और वह आशा भी करती है कि इस समय लडकों के लिए जो 1,00,000 प्राथमिक सरकारी विद्यालय पहले से ही मौजूद हैं उनमें निकट भविष्य में लगभग 91,000 की और वृद्धि हो जाएगी तथा इस समय इन विद्यालयों में जो 42.5 लाख छात्र शिक्षा पा रहे हैं उनकी संख्या दुगुनी हो जाएगी। इसी नीति संबंधी विवरण पर कोई टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। यह स्पष्ट है कि गुण और परिणाम के बीच चलने वाला जो संघर्ष अब तक केवल महा-विद्यालयी और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित रहा था वह अब प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रवेश कर गया था। यह सच है कि इस संकल्प में यह आशा व्यक्त की गई थी कि यद्यपि सरकार का मुख्य लक्ष्य सुधार करना होगा, तथापि वह प्रसार की उपेक्षा नहीं करेगी और विद्यालयों तथा छात्रों की संख्या को दुगुना करने के लिए कदम उठाए जाएंगे। परंतु जैसा बाद की घटनाओं से पता चला ये आशाएं पूरी नहीं हुईं। पटेल अधिनियम (1918) तथा अनिवार्य प्राथिमक शिक्षा संबंधी अन्य प्रांतीय अधिनियम: गोखले के कार्य को प्रांतीय स्तर पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के एक महान नेता विद्रलभाई जे० पटेल ने हाथ में ले लिया। नगरपालिका क्षेत्रों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आरंभ करने के उनके विधेयक को बंबई विधान परिषद ने स्वीकार कर लिया और यह 1918 का बंबई प्राथमिक शिक्षा (जिला नगरपालिकाएं) अधिनियम

श्री विट्ठलभाई पटेल के इस उदाहरण का व्यापक रूप से अनुकरण किया गया। उनके अधिनियम की सामान्य योजना के आधार पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के संबंध में 1921 से पहले कई अधिनियम बनाए गए।

बन गया। यह पटेल अधिनियम के नाम से विख्यात है।

इन अधिनियमों के विस्तृत उपबंधों पर अध्याय नौ में विचार किया जाएगा। यहां पर इतना ही बता देना पर्याप्त है कि इन अधिनियमों को भारी उत्साह के साथ अधिनियमित किया गया था और इन अधिनियमों का एक ऐतिहासिक एवं सैंद्धांतिक महत्व है क्योंकि संबंधित प्रांतीय सरकारों ने इन्हीं अधिनियमों के द्वारा बाध्यता को प्रथम बार मान्यता दी थी।

प्राथमिक शिक्षा की परिमाणात्मक स्थित (1921-22): बाध्यता न होने और परिमाण के बजाय गुण के प्रति सरकारी पूर्वाभिरुचि होने के कारण 1911-12 के पश्चात प्राथमिक शिक्षा का प्रसार अपेक्षाकृत धीमी गति से हुआ था अतः भारत में 1921-22

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा संबंधी अधिनियम

| वर्ष | प्रांत | अधिनियम का नाम | बाध्यता लड़कों के लिए हैं या लड़कियों के लिए | ग्रामीण क्षेत्रों पर लागू है या शहरी क्षेत्रों पर |
|------|-------------------------|-------------------------------------|--|---|
| 1919 | पंजाब | प्राथमिक शिक्षा अधिनियम | लड़के | दोनों |
| " | संयुक्त प्रांत बंगाल | " | दोनों लड़के (1932 में एक संशोधन द्वारा इस का विस्तार लड़कियों के लिए कर दिया गया) | नगरपालिका ** |
| ,, | बिहार और उड़ीसा | | लड़के | दोनों |
| 1920 | बंबई | बंबई नगर प्राथमिक शिक्षा अधिनियम | दोनों | केवल बंबई नगर पर लागू |
| " | मध्य प्रांत | प्राथमिक शिक्षा अधिनियम | " | दोनों |
| " | मद्रास | प्रारंभिक शिक्षा अधिनियम | 2) | n |

में प्राथमिक शिक्षा की परिमाणात्मक स्थिति अच्छी हाहीं थी। विद्यालयों में पढ़ने वाले बालकों की संख्या कुल जनसंख्या का (प्रत्याशित 15 प्रतिशत के बजाय) केवल 2.6 प्रतिशत थी। 1921 में हुई जनगणना में तैयार किए गए साक्षरता के आंकड़े भी समान रूप से निराशाजनक थे। उनके बारे में टिप्पणी करते हुए, हाटोंग समिति ने कहा है:

1892 और 1922 के बीच, ब्रिटिश भारत में पांच वर्ष तक उससे अधिक आयु के साक्षर पुरुषों का प्रतिशत केवल 1.4 प्रतिशत (13.0 से 14.4) और साक्षर स्त्रियों का 1.3 प्रतिशत (0.7 से 2.0) बढ़ा था। 1921 में सभी आयु के साक्षर स्त्री पुरुषों का प्रतिशत केवल 7.2 था। प्रगति अत्यत धीमी रही है।

प्राथमिक शिक्षा में गुणात्मक सुधार (1905-22) : सरकार ने गुणात्मक सुधार

करने के लिए जो अभियान चलाया था यदि उसे सारभूत सफलता मिल गई होती तो कुछ हद तक उस क्षति में अवश्य कमी हो जाती जो सरकार द्वारा शिक्षा का तेजी से प्रसार न किए जाने के कारण हुई थी। परंतु सरकार का अभियान सफल नहीं हुआ।

- (क) अध्यापकों का प्रशिक्षण: इस काल की सर्वश्रेष्ठ गुणात्मक उपलब्धि यह थी कि प्राथमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण में सुधार हुआ। भारतीय शिक्षा आयोग (1882-83) द्वारा महत्वपूर्ण निदेश दिए जाने के समय से ही, विशेषकर 1901 से 1921 तक, प्राथमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण की समस्या की ओर प्राथमिक यथेष्ट ध्यान दिया गया था। इस संबंध में मुख्य घटनाएं संक्षेप में इस प्रकार हैं:
- (1) सरकार ने आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया कि प्राथमिक अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का उत्तरदायित्व राज्य का है। इसके परिणामस्वरूप, सरकार बहुत सी प्रशिक्षण संस्थाओं का सीधे संचालन करने लगी। इसके अतिरिक्त, सरकार ने स्थानीय निकायों अथवा गैर सरकारी अभिकर्ताओं द्वारा संचालित प्रशिक्षण संस्थाओं को सारभूत वित्तीय सहायता दी।
- (2) विचाराधीन काल में प्रशिक्षण संस्थाओं का लगातार प्रसार हुआ। 1921-22 में, बर्मा सहित अंग्रेजी भारत में पुरुषों के लिए 926 प्रशिक्षण संस्थाएं (जिनकी छात्र संख्या 22,774 थी) और स्त्रियों के लिए 146 प्रशिक्षण संस्थाएं (जिनकी छात्र संख्या 4,157 थी) विद्यमान थीं। इनमें से 433 का संचालन सरकार करती थी, 483 का संचालन सरकारी अनुदानों की सहायता से स्थानीय बोर्ड और नगरपालिकाएं करते थे और 156 का संचालन गैर सरकारी निकायों के हाथों में था। गैर सरकारी निकायों में 151 सहायता प्राप्त और 5 गैर सहायता प्राप्त निकाय थे। मिशनों द्वारा संचालित प्रशिक्षण सस्थाओं की संख्या 92 थी।
- (3) बर्मा सिंहत अंग्रेजी भारत में 1921-22 में जो मान्यता प्राप्त प्राथमिक विद्यालय मौजूद थे उनमें काम करने वाले प्रशिक्षित एवं अप्रशिक्षित अध्यापकों के संबंध में (अंग्रेजी अथवा शास्त्रीय भाषा के अध्यापकों को छोड़कर) निम्नलिखित आंकड़े उपलब्ध हैं:

| प्राथमिक विद्यालय प्रबंधक | प्रशिक्षित अध्यापक | अप्रशिक्षित अध्यापक | योग |
|---------------------------------|-----------------------|------------------------|----------|
| सरकार द्वारा प्रबंधित | 1,155 | 888 | 2,043 |
| स्थानीय बोर्डों द्वारा प्रबंधित | 38,757 | 31,002 | 69,759 |
| नगरपालिकाओं द्वारा प्रबंधित | 5,898 | 5,767 | 11,665 |
| सहायता प्राप्त | 20,689 | 65,229 | 85,918 |
| गैर सहायता प्राप्त | 1,114 | 10,787 | 11,901 |
| , | | | |
| योग | 67,613 | 1,13,673 | 1,81,286 |

प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या अध्यापकों की कुल संख्या की 38 प्रतिशत बैठती है। सरकार द्वारा संचालित संस्थाओं में प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत सबसे अधिक था और गैर सहायता प्राप्त विद्यालयों में सबसे कम था। सरकार द्वारा संचालित विद्यालय अधिकांशत: शिक्षणाभ्यास विद्यालय थे। ये प्रशिक्षण संस्थाओं से संलग्न थे अतः इन्हें आदर्श्वसंसंस्थाओं के रूप में चलाया जाता है।

(ख) प्राथमिक अध्यापकों का पारिश्रमिक: इस संबंध में कुछ प्रांतों में काफी सुधार किए गए। बंबई प्रांत सबसे आगे रहा। वहां विद्यालय अधिकांशः स्थानीय शासक के थे अतः समस्या कठिन नहीं थी। 1901-2 में, प्राथमिक अध्यापक का औसत वेतन केवल आठ रुपये के लगभग होता था और कोई वर्धमान वेतनमान भी नहीं थे। 1921-22 तक, निश्चित वर्धमान वेतनमान लागू कर दिए गए और प्राथमिक अध्यापक का औसत वेतन बढ़ाकर 33 रुपये मासिक कर दिया गया। इसी प्रकार पंजाब और मध्य प्रांत जैसे अन्य प्रांतों में भी, जहां अधिकांश प्राथमिक विद्यालयों का संचालन स्थानीय निकायों के हाथ में था, प्रगति हुई। परंतु यह प्रगति उतनी अधिक नहीं थी जितनी बंबई में हुई थी। बंगाल, बिहार अथवा मद्रास जैसे प्रांतों में, जहां अधिकांश प्राथमिक विद्यालय गैर सरकारी थे, उतने अच्छे परिणाम नहीं निकले जितने बंबई, पंजाब अथवा मध्य प्रांत में निकले थे। उदाहरण के लिए, बंगाल में औसत वेतन आठ रुपये मासिक ही चलता रहा। इसका कारण मुख्यतः यह था कि प्रांतीय सरकार ने या तो प्राथमिक शिक्षा पर यथेष्ट रूप से धन खर्च नहीं किया अथवा प्राथमिक विद्यालयों को उदार सहायता अनुदान नहीं दिए।

ऊपर जो स्थित बताई गई है उसकी एक कमी यह थी कि 1902 से और विशेषकर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद, निर्वाह व्यय में लगातार वृद्धि हुई थी। ऐडम के अनुसार 1835 में बंगाल में एक अध्यापक को लगभग तीन रुपये से पांच रुपये तक मासिक वेतन मिलता था। 1921 तक यह बढ़कर आठ रुपये मासिक के लगभग हो गया था। परंतु इस बीच निर्वाह व्यय में इतनी अधिक बार वृद्धि हो चुकी थी कि यह कहना बिल्कुल सही होगा कि 1921 के सहायता प्राप्त चिद्यालय के अध्यापक की अपेक्षा 1835 के देशी विद्यालय का अध्यापक निश्चय ही अधिक संपन्न था। जब दो भिन्न कालू के वेतन की रुपये के रूप में तुलना की जाती है तो रुपये की क्रय शक्ति में हुई वृद्धि अथवा कमी को ध्यान में रखना पड़ता है। अतः इस प्रकार की कमी अथवा वृद्धि के लिए उचित गुंजाइश रखते हुए हमें यह स्वीकार करना होगा कि प्राथमिक अध्यापकों की आर्थिक स्थित में (संभवतः बंबई को छोड़कर) कोई बहुत सराहनीय सुधार नहीं हुआ था।

(ग) पाठ्यचर्या: इस काल में पाठ्यचर्या में संशोधन करने की सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि उसे अधिक जटिल और विशद बना दिया जाए और उसमें अनेकानेक विषय जोड़ दिए जाएं। पाठ्यचर्या में 1902 तक जितने विषय आ चुके थे उनके अतिरिक्त इस काल के दो प्रिय विषय विद्यालय बागबानी और प्रकृति अध्ययन को भी अनेक प्रांतों में प्राथमिक पाठ्यचर्याओं में शामिल किया गया। यह बात भी उल्लेखनीय है कि कर्जन के इस विचार को कि ग्राम और नगर विद्यालयों के बीच भेद किया जाए, 1921 तक लोग सामान्यतः गलत मानने लगे थे। 1877-78 से बंबई में गांवों के लिए जो पृथक मानदंड

विद्यमान थे उन्हें 1916-17 में बिल्कुल समाप्त कर दिया गया। जिन अन्य प्रांतों में कर्जन के उपर्युक्त विचार पर अमल किया गया था, उनमें से अधिकांश प्रांतों में भी यही हाल हुआ। 1916-17 में ही यह कह दिया गया कि 'ग्राम और नगर के पाठ्यक्रमों में बहुत थोड़ा अंतर है और वह भी अब खत्म होने लगा है। अब मुख्य अंतर प्रेक्षण पाठों के लिए प्रस्तुत की जाने वाली वस्तुओं का है।'

- (घ) भवन और साज सामान : भवनों और साज सामान के संबंध में कुछ सुधार हुआ। परंतु प्राथमिक शिक्षा का प्रसार तेजी से हो रहा था जिससे कुल मिलाकर पूरे देश में भवन और साज सामान संबंधी स्थिति सुधरने के बजाय बिगड ही गई।
- (इ) गुणात्मक पक्षों का अध्ययन : सरकार द्वारा गुण पर जोर दिए जाने से एक ऐसी चर्चा छिड़ी जिसके फलस्वरूप कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण संप्रत्यय प्राप्त हुए। किसी प्राथमिक शिक्षा पद्धित के गुण और प्रभाविता का निर्णय इन्हीं संप्रत्ययों द्वारा किया जाना था। उदाहरण के लिए, इस समस्या पर निम्नलिखित बातों की चर्चा हुई: छात्र के विद्यार्थी जीवन की औसत अवधि, गतिहीनता, अपव्यय, पुनः निरक्षर हो जाना, एक शिक्षक विद्यालय, अनियमत उपस्थित, स्थानीय स्थित के अनुसार छुट्टियों का समायोजन, आदि। निस्संदेई बहुत सी अस्पष्ट बातचीत भी हुई और अनेक बार गलत आकलन प्रणालियों का भी प्रयोग किया गया। परंतु आगे की दिशा में यह एक बड़ा कदम उठाया गया था कि प्राथमिक शिक्षा की कार्यकुशलता का निर्णय करने के लिए कतिपय वस्तुनिष्ठ मापदंड खोज लिए गए। 1921 से पहले ये विचार शुरू ही हुए थे। परंतु जैसा हम बाद में देखेंगे, आगामी काल में यही विचार प्रमुख विचार बन गए।

कुल मिलाकर 1921-22 में प्राथमिक शिक्षा की यथार्थ गुणात्मक स्थिति क्या थी ? इस प्रश्न का जो उत्तर मिलता है उससे यह पता चलता है कि उन अधिकारियों को अधिक श्रेय नहीं दिया जा सकता है जिन्होंने इस संपूर्ण काल में गुणात्मक सुधारों पर अत्यधिक जोर दिया था। प्राथमिक शिक्षा की पाठ्यचर्या मूलतः इस दृष्टि से तैयार की गई थी कि लोगों को उनकी मानृभाषा के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा दी जा सके; बाद में उसमें दो अन्य उद्देश्य और जुड़ गए। इनमें से एक उद्देश्य यह था कि छात्रों को माध्यमिक विद्यालयों के लिए तैयार किया जाए। दूसरा उद्देश्य यह था कि छात्रों को सरकारी सेवा के ऐसे निम्न पदों के लिए तैयार किया जाए जिनके लिए अंग्रेजी ज्ञान आवश्यक नहीं था। पाठ्यचर्याओं में तमाम संशोधन हो जाने के बाद भी, 1921-22 में भी यही तीन उद्देश्य थे। भारी अपव्यय और गतिरोध हो रहा था। लड़कों के विद्यालय जीवन की अवधि कम थी तथा लड़कियों के विद्यालय जीवन की अवधि और भी कम थी। सामान्यतः संशोधित पाठ्यचर्या केवल कागजी ही रही। विद्यालयों में वास्तव में किए जाने वाले अध्यापन कार्य का स्तर प्रायः असंतोषजनक रहा क्योंकि सभी विद्यालयों के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की पूर्ति कर देना संभव नहीं/था अथवा उनमें साज सामान

की कमी थी या पर्यवेक्षण अपर्याप्त था। ऐसा कोई संफल प्रयोग नहीं किया गया जो प्राम विद्यालयों के अध्यापन का उनके परिवेश के साथ समन्वय स्थापित कराता। अतः यह कहना सही होगा कि गुणात्मक मामलों में भी अब तक प्राप्त की गई सफलता कर्तई संतोषजनक नहीं थी।

आधुनिक भारतीय भाषाएं: 1904 का भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम लागू होने के पश्चात विश्वविद्यालयों पाठ्यक्रमों में आधुनिक भारतीय भाषाओं की स्थिति में सुधार होने लगा। जैसा क्विनक्वेनियल रिव्यू आफ दि प्रोग्रेस आफ एजूकेशन इन इंडिया, 1902-7 में कहा गया है:

अगली उल्लेखनीय बात यह है कि भारत की देशी भाषाओं को कुछ अधिक आदर प्रदान किया गया है। पहले मद्रास विश्वविद्यालय को छोड़ कर, जहां इन भाषाओं को शास्त्रीय भाषाओं के विकल्प के रूप में रखा जाता था, किसी भी अन्य विश्वविद्यालय में देशी भाषाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया था। अब दो विश्वविद्यालयों अर्थात कलकता और मद्रास ने देशी भाषा को इंटर परीक्षा के लिए अध्ययन का अनिवार्य विषय बना दिया है। कलकता विश्वविद्यालय में बी० ए० उपाधि के सभी परीक्षार्थियों को देशी भाषा की मौखिक परीक्षा देनी आवश्यक है। मद्रास विश्वविद्यालय में यद्यपि बी० ए० के लिए किसी देशी भाषा का अध्ययन करना आवश्यक नहीं है, तथापि वहां विभिन्न वैकल्पिक विषयों में से स्थानीय इतिहास और देशी भाषा साहित्य को चुनने की अनुमित है। अन्य विश्वविद्यालयों में देशी भाषाएं अध्ययन के लिए न तो ऐच्छिक विषय के रूप में रखी गई हैं और न अनिवार्य विषय के रूप में।

तो भी कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने इस विषय पर बहुत अधिक जोर दिया था। उसने कहा था:

हमारा यह निश्चित मत है कि ऐसी शिक्षा प्रणाली में अवश्य कुछ दोष है जिसके कारण युवक अपने पाठ्यक्रम को पूरा करने के बाद भी अपनी मातृभाषा को ठीक ठीक और धाराप्रवाह रूप से बोलने और लिखने में असमर्थ रहता है। इस प्रकार यह बात निविवाद है कि अब माध्यमिक विद्यालयों, इंटरमीडिएट महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भाषाओं के गंभीर अध्ययनों को प्रोत्साहन देने के लिए बाकायदा प्रयत्न किया जाना चाहिए। विश्वविद्यालय ने हाल ही में एम० ए० परीक्षा के लिए भारत की देशी भाषाओं के आलोचनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के संबंध में जो विशव योजना मंजूर की है, वह एक ऐसे भवन के छज्जे में काम आने वाले पत्थर के समान है जिसकी सुदृढ़ नींव अभी रखनी बाकी है। यह कार्य तभी संभव हो सकता है जब एक ऐसा ढांचा तैयार कर लिया जाए जिससे बंगाल के पास अपनी जनता की गरिमा और सभ्यता के अनुहूप

साहित्य हो सके।¹

परंतु इन सिफारिशों के अनुसार अभी कार्रवाई की भी नहीं गई थी कि विचारा-धीन काल समाप्त हो गया। अतः कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 1921-22 में भी भारतीय विश्वविद्यालयों में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन पर पर्याप्त जोर नहीं दिया गया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि अंग्रेजी और शास्त्रीय भाषाओं पर जोर दिया गया था। आधुनिक भारतीय भाषाओं की इस अवहेलना के परिणामस्वरूप इन भाषाओं के विकास पर और इनको शिक्षा माध्यम स्वीकार किए जाने के मामले पर सारभूत प्रभाव पड़ा।

शिक्षा विभाग: भारतीय शिक्षा सेवा की व्यवस्था का पहले ही अध्याय पांच में उल्लेख किया जा चुका है। विभाग के सभी उच्च पद इसी सेवा के लोगों को मिलते थे और इनकी भर्ती इंग्लैंड में होती थी। भारतीय उन सभी लोक सेवाओं के घोर विरोधी थे जिनके लिए भर्ती इंग्लैंड में की जाती थी। उनका कहना था कि यह नीति 1833 के चार्टर अधिनियम और महारानी की 1858 की उद्षोषणा में दिए इन वचनों का उल्लंघन करने के तूल्य थी कि भारतीय सर्वोच्च पदों तक पहुंचने की आशा कर सकते हैं। इस नीति के इस निहितार्थ पर भी कि भारतीय जनता नैतिक एवं बौद्धिक दृष्टि से हीन है उन्होंने रोष प्रकट किया। तीसरी बात यह है कि उनका कहना था कि जनता को स्वशासन प्रदान करने के कार्यक्रम का पहला अत्यावश्यक कदम सेवाओं का भारतीयकरण है। चौथी बात यह है कि इन सेवाओं के लोगों के ऊंचे वेतनों की बहुधा आलोचना की जाती थी और यह कहा जाता था कि भारत जैसा गरीब देश वेतन का इतना भार कभी वहन नहीं कर सकता है अंतिम बात यह है कि यह भावना जोर पकड़ती जा रही थी कि ये केंद्रीय सेवाएं राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रतिकृत हैं। इस विषय पर आंदोलन इस काल में इतना प्रबल हो गया कि 20 अगस्त, 1917 को भारतमंत्री ने यह घोषणा की कि महामहिम की सरकार की यह नीति है और इस नीति से भारत सरकार परी तरह सहमत है कि भारतीय प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों का साहचर्य उत्तरोतर बढता चला जाए। इस प्रकार 1887 के लोक सेवा आयोग की उस नीति को सरकारी तौर पर दफना दिया गया जिसे लार्ड कर्जन और उनके उत्तराधिकारियों ने भारी उत्साह के साथ जारी रखा था। साथ ही, शिक्षा विभाग के तेजी से भारतीयकरण का एक नया काल आरंभ हो गया। उदाहरण के लिए अग्रलिखित आंकड़ों पर विचार कीजिए।

अतः जब विचाराधीन काल समाप्त हुआ तो स्थिति काफी सुधरने लगी थी।
राष्ट्रीय सिक्षा: इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना यह थी कि इस काल में राष्ट्रीय
शिक्षा के सप्रत्यय का जन्म हुआ। निस्संदेह इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्नीसवीं शताब्दी
में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्न को कभी प्रस्तुत ही नहीं किया गया था। जैसा अध्याय पांच
में पहले ही बताया जा चुका है, 1882-83 में भारतीय शिक्षा स्नायोग द्वारा की गई जांच

के दौरान शैक्षिक विचारधारा के संबंध में राष्ट्रव्यापी जागृति पैदा हुई थी और उस समय ही शिक्षित भारतीयों ने आयोग के समक्ष उपस्थित होकर अपना साक्ष्य प्रस्तुत किया था। उन्होंने आयोग के समक्ष इस बात पर भी बल दिया था कि भारतीय शिक्षा के इस प्रकार के कुछ दोषों को दूर करने की आवश्यकता है। जैसे धार्मिक शिक्षा का नहोना, जन

| | 1921-22 |
|---|-----------|
| भारतीय शिक्षा सेवा (पुरुष) में पदों की संख्या जिन पर निम्नलिखित थे | |
| यूरोपीय | 200 |
| भारतीय रिक्त | 120 53 |
| योग भारतीय शिक्षा सेवा (महिला) में पदों की संख्या जिन पर | 373 |
| निम्नलिखित यीं | |
| यूरोपीय • | 31 |
| भारतीय | 2 |
| रिक्त | 9 |
| योग | 42 |

शिक्षा की धीमी प्रगति आदि। जैसे जैसे समय बीतता गया, सरकारी पद्धित की आलोचना की यह अभिवृत्ति अधिकाधिक प्रखर होती चली गई। बहुत सी ऐसी संस्थाएं स्थापित हो गईं जिनका यह कहना था कि उनका एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण है क्योंकि कुंछ बातों में वे सरकारी अथवा मिशनरी विद्यालयों अथवा महाविद्यालयों से भिन्न हैं। इन संस्थाओं की अत्यंत सामान्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं: (क) भारतीय प्रबंध; (ख) संस्था के संस्थापकों और अध्यापकों में त्याग की भावना; (ग) धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था; (घ) भारतीय जनता की विशेष सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ पाठ्यक्रमों की व्यवस्था (विश्वविद्यालयों एवं शिक्षा विभागों द्वारा मान्य सामान्य पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त); (ङ) प्राच्य शास्त्रीय भाषाओं का मुख्यतः इस अभिप्राय से गंभीर अध्ययन कि प्राचीन परंपराओं के प्रति आत्मसम्मान और प्रेम उत्पन्न हो और यह दिखाया जा सके कि यदि प्राच्य सभ्यता पश्चिमी सभ्यता से ज्यादा अच्छी नहीं तो उसके समकक्ष तो

है ही; (च) आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाना; और (छ) कम फीस। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये सब संस्थाएं इस अर्थ में सरकारी पद्धित के अंतर्गत ही कार्य करती थीं कि उनका विभाग द्वारा निरीक्षण किया जाता था तथा उन्हें सहायता अनुदान मिलते थे। वास्तव में ये संस्थाएं सरकारी पद्धित के कुछ दोषों को दूर करने का प्रयास मान्न थीं, उसके विरुद्ध अटल विद्रोह का संकेत नहीं। बहुधा उनका स्वरूप सांप्रदायिक होता था अत: उनमें वास्तविक राष्ट्रीयता की इतनी ही कमी थी।

लार्ड कर्जन के प्रशासन और नीतियों ने न केवल एक नई युयुत्सु राष्ट्रीयता को जन्म दिया वरन राष्ट्रीय शिक्षा को भी जन्म दिया। बंगाल के विभाजन के तुरंत बाद स्वदेशी आंदोलन की शुरुआत हुई। यद्यपि मूलतः और प्रवृत्ति के अनुसार यह आंदोलन आर्थिक आंदोलन था तथापि उसकी जीवंत विचारधारा का हर श्रेणी के लोगों पर प्रभाव पड़ा। शीझ ही स्वदेशी शिक्षा की मांग की जाने लगी। चूंकि सरकारी नीतियों के साथ बार-बार टकराव हुआ और शिक्षा के बारे में जो भारतीय दृष्टिकोण था, उसे भारतीय लोग कर्मचारियों को बिल्कुल नहीं समझा सके। अतः स्वदेशी शिक्षा की मांग को बहुत अधिक बल मिला। 1905 और 1921 के बीच भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अंतर्गत शैक्षिक विचारधारा की भारी हलचल रही। निस्संदेह इस प्रारंभिक काल में विचार अधिक स्पष्ट नहीं थे। ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि विचारों में परिशुद्धता और स्पष्टता सामान्यतः थोड़ा समय बीत जाने और पर्याप्त प्रयोग के बाद ही आती है। परंतु उपर्युक्त दोष के बावजूद यह बात अवश्य है कि इस काल में राष्ट्रीय शिक्षा के विषय पर जो विवाद छिड़े थे वे भावी घटनाकम की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

इस बात पर लगभग सभी राष्ट्रीय विचारक एकमत थे। वे विद्यमान सरकारी शिक्षा पद्धित की यह कह कर निंदा करते थे कि यह पद्धित राष्ट्रीय विकास के लिए न केवल अनुपयोगी है, अपितु राष्ट्रीय विकास की विरोधी भी है। तो भी, जब इस बात की यथार्थ परिभाषा करने का प्रश्न सामने आया कि नई राष्ट्रीय शिक्षा क्या हो तो जैसा स्वाभाविक ही था, लोगों की राय एक समान नहीं थी। परंतु थोड़े ही समय बाद राष्ट्रीय शिक्षा के कितपय मूल सिद्धांतों को सार्वित्रक रूप से स्वीकार किया जाने लगा। निस्संदेह इन सिद्धांतों को सरकारी पद्धित के कुछ प्रमुख दोषों को ध्यान में रख कर तैयार किया गया था। ये सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

(क) भारतीय नियंत्रण: राष्ट्रवादी भारत को सबसे पहले इस बात पर रोष था कि भारतीय शिक्षा नीतियों को अंग्रेज नियंत्रित करते थे। राष्ट्रीय भारत की मांग थी कि अंग्रेजों के नियंत्रण के स्थान पर भारतीय नियंत्रण हो। अतः राष्ट्रीय शिक्षा को एक ऐसी शिक्षा बताया गया जिसे श्रीमती एनी बेसेंट के शब्दों में:

भारतीय नियंत्रित करें, भारतीय रूप प्रदान करें और भारतीय ही चलाएं। वह निष्ठा, प्रज्ञान और नैतिकता के भारतीय आदर्शों को लेकर चलें और संप्रदायों के ग्रंथानुशीलन पर जोर देने के बजाय भारतीय धार्मिक भावना से परिव्याप्त हों। यह भावना प्रशस्त, उदार और सर्वांगीण है और इसके अनुसार मनुष्य अनेक मार्गों से ्रईश्वर के पास ही जाता है और सभी पैगंबर इसी के पास से आए थे। 1

(स) मातृभूमि प्रेम की शिक्षा देना: दूसरी बात यह है कि यह महसूस किया गया कि राष्ट्रीय शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह लोगों के हृदय में मातृभूमि और उसकी शानदार परंपराओं के प्रति प्रेम और आदर की भावना भर दे। जैसा श्रीमती बेसेंट ने लिखा था:

राष्ट्रीय शिक्षा के लिए स्वाभिमानपूर्ण एवं गौरवमय देशभिक्त का वातावरण होना चाहिए और इस वातावरण को भारतीय साहित्य एवं इतिहास के अध्ययन तथा विज्ञान, कला, राजनीति, युद्ध, बस्तियां बसाने, विनिर्माण, व्थापार एवं वाणिज्य में भारतीयों द्वारा प्राप्त की गई सफलताओं के अध्ययन द्वारा मनोरम, ताजा, और स्फूर्तिदायक रखना चाहिए।

(ग) बासोचित अनुकरण नहीं: तीसरी बात यह है कि इस सरकारी प्रयास पर भारी रोष प्रकट किया गया इंग्लैंड की नकल की जाए, भारत पर अंग्रेजी आदर्शों को लादा जाए और ऐसे व्यक्तियों का एक नया वर्ग तैयार किया जाए जो रक्त और वर्ण से भारतीय होंगे परंतु अन्य सब बातों में अंग्रेज होंगे। अतः राष्ट्रीय नेताओं ने कहा कि पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य का प्रसार करने का वह पुराना आदर्श जिसे 1854 के आज्ञापत्र में प्रतिपादित किया गया था और तब से लगातार अपनाया जाता रहा था। अब व्यवहारातीत हो चुका है। उनका कहना था कि अब इसे पूरी तरह संशोधित करने की आवश्यकता है। श्रीमती बेसेंट ने लिखा था:

राष्ट्रीय शिक्षा को सर्वत राष्ट्रीय स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए और राष्ट्रीय चिरत्न का विकास करना चाहिए। भारत को छोटा अथवा बड़ा, इंग्लैंड नहीं बनना है वरन शक्तिशाली भारत बनना है। अंग्रेजी आदर्श इंग्लैंड के लिए ठीक हैं लेकिन भारत के लिए भारत के आदर्श ही अच्छे हैं। न हम गूंज चाहते हैं और न एक तान। हम राष्ट्रों की एक समवेत धुन चाहते हैं। जिसमें प्रकृति एवं ईश्वर के विभिन्न गुण व्यक्त होते हों। क्या प्रकृति एक ही रंग प्रविश्वत करेगी और पेड़, फूलों पहाड़ों एवं आकाश को एक ही रंग दिखाएगी? पूर्णता की निशानी सामंजस्यपूर्ण विविधता है, एकरसता नहीं। भारत के लिए कोई क्षमायाचना न करो। भारत की प्रथाओं, रीति-रिवाजों और परंपराओं के बारे में कोई तिरस्कारात्मक स्पष्टीकरण न दो। भारत की अलग सत्ता है और उसके लिए कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि निश्चय ही ईश्वर ने अपने पूर्ण सौंदर्य के तमाम प्रकीर्ण प्रतिबिंबों में भारत से अधिक बड़ा और उत्कृष्ट राष्ट्र कोई नहीं बनाया है।

परंतु यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह विवरण एक ऐसे संकीर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकीण

को प्रकट करता है जिस पर कोई बाहरी प्रभाव नहीं पड़ सकते थे। इस काल के राजनीतिक विवादों की गर्मागर्मी में लोग कभी कभी अपना संत्रलन खो बैठे। भारतीय इतिहास का अध्ययन सत्य की निष्पक्ष खोज करने के बजाय राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का एक हथियार बन गया। शासक वर्ग के प्रजातीय दर्प और अभिनति अथवा पर्वग्रह पर आधारित भर्त्सना का प्रतिकार करने के लिए प्राचीन भारत की ओर से सभी प्रकार के अति काल्पनिक दावे किए गए। अति संकीर्ण राष्ट्रीयता में विश्वास रखने वाले लोगों का बहुधायह दावा रहा कि भारत को पश्चिम से कुछ भी नहीं सीखना है। परंतु यह पराकाष्ठा वास्तव में इस काल के उग्र राजनीतिक संघर्षों के कारण हुई थीं। वास्तव में राष्ट्रवादी निम्नलिखित बातें कहते थे : (1) भारत के अतीत और परंपराओं की एकदम निंदा करना उचित नहीं है; (2) भारत अपने अतीत के बारे में ठीक ही गर्व कर सकता है; (3) अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति के क्षेत्र में भारत ऐसा भिखारी नहीं है जो लौटाने में समर्थ न होने के कारण केवल प्राप्ति ही करता है वरन वह अन्य राष्ट्रों के साथ बराबर का भागीदार है; (4) जबिक भारत अन्य देशों से अनेक बहुमूल्य सबक सीख रहा है, विश्व संस्कृति एवं विचारधारा को देने के लिए उसके पास अपनी अद्वितीय एवं बहु मूल्य देन है; और (5) राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का यह कर्तव्य है कि मौलिकता और आत्म सम्मान की अभिवृत्तियों को विकसित करे; इसके साथ ही सभी स्रोत्तों से नए और लाभप्रद विचारों को ग्रहण करे।

(घ) अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो: चौथी बात यह है कि राष्ट्रीय शिक्षा यह चाहती थी कि अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो, विशेषकर, शिक्षा_माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग समाप्त कर दिया जाए। अंग्रेजी का सबसे दृढ़ विरोध महात्मा गांधी ने किया। इस काल में ही उन्होंने अपना यह मत प्रकट कर दिया था कि भारत की राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी हो और शिक्षा के किसी भी चरण में अंग्रेजी शिक्षा माध्यम न रहे। निस्संदेह, उनके इन विचारों से कई अन्य नेता सहमत नहीं थे। परंतु महात्मा गांधी ने उग्र स्थित अपनाई वह उस प्रतिक्रिया का स्वाभाविक परिणाम थी जो सरकार द्वारा अंग्रेजी पर बल दिए जाने से हुई थी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, भारतीय जनमत पर अन्य नेताओं की अपेक्षा महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव बढ़ता चला गया।

(ङ) ध्यावसायिक शिक्षा पर जोर बिया जाए: पांचवीं बात यह है कि इस बात की घोर निंदा की गई कि आधुनिक शिक्षा पद्धित ने देश का आर्थिक विकास नहीं किया। इसके साथ ही इस पद्धित के बढ़ते हुए खर्चीले स्वरूप पर खेद प्रकट किया गया। अतः भारतीय जनता का यह कहना था कि राष्ट्रीय शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा को उचित स्थान प्रदान करे और उसका खर्च उतना ही हो जिसे सामान्य भारतीय वहन कर सके। यह काल समाप्त होने के समय तक भी सरकारी पद्धित के अंतर्गत बहुत थोड़ी प्रगित हुई थी। अतः भारतीय जनता यह कहने लगी कि राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित देश के आर्थिक विकास पर बल दे और आर्थिक विकास करने में सहायता करे। परंतु उन साधनों के बारे में मतभेद था जिनके द्वारा यह कार्य किया जा सकता था। कुछ लोग यह मानते थे कि यंत्र शक्ति का उपयोग करके ही उद्योगों का विकास हो सकता है। अन्य लोग यंत्रों के उपयोग की

^{1.} लाला लाजपतराय: पूर्वोक्त कृति, पृ० 28-29।

^{2.} उपर्युक्त, पृ० 29।

^{3.} लाला लाजपतराय: पूर्वोक्त कृति, पृ॰ 29-30।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक कारणों से निंदा करते थे। स्पष्ट है कि यह संघर्ष मूलभूत था और तत्काल समाप्त नहीं हो सकता था। परंतु यह रोचक बात है कि महात्मा गांधी ने 1921 में ही कुछ ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित कर दिए थे जो बाद में बुनियादी शिक्षा, की वर्धा योजना बने।

राष्ट्रीय शिक्षा के आदशों का यह नियतन संभवतः उसके विभिन्न पहलुओं में सबसे सरल पहलू था। नए संप्रत्यय से संबंधित संघटन और कार्यान्वयन की समस्याएं थीं अपेक्षाकृत बहुत अधिक कठिन थीं। प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय चरण तक राष्ट्रीय शिक्षा देने की व्यवस्था करनी थीं। उनके लिए अपेक्षित अध्यापकों को नियुक्त करना और उन्हें विशेष रूप से प्रशिक्षित करना था। नई पाठ्यचर्याएं तैयार करनी थीं। माता पिता को समझाना बुझाना था कि अपने बालकों को सरकारी विद्यालयों में न भेजकर राष्ट्रीय विद्यालयों में भेजें। राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा दी जाने वाली उपाधियों और उपाधि पत्रों के लिए सामाजिक मान्यता प्राप्त करनी थी। व्यापक पैमाने पर राष्ट्रीय विद्यालयों के अन्रक्षण के लिए अपेक्षित धनराशि को वर्षानुवर्ष एकत्र करना था। स्पष्ट है कि ये इस प्रकार के काम थे जो उस समय की राष्ट्रीय संस्थाओं के वित्तीय एवं मानवीय साधनों के द्वारा संपन्न नहीं किए जा सकते थे। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय शिक्षा के संपूर्ण प्रयोग को इस काल में भारी विषमताओं का सामना करना पड़ा।

राष्ट्रीय विद्यालय खोलने के प्रयास दो पृथक कालों में हुए। पहला विप्लव बंगाल के विभाजन के त्रंत बाद हुआ। सरकार ने आदेश जारी करके विद्यार्थियों पर यह रोक लगा दी कि राजनीतिक सभाओं और प्रदर्शनों में भाग न लें। इन आदेशों से अनेक विद्यार्थी विद्यालयों और महाविद्यालयों का बहिष्कार करने के लिए बाध्य हो गए। बहत से अन्य विद्यार्थी राजनीतिक गतिविधि में भाग लेने के कारण प्राधिकारियों द्वारा निष्कासित कर दिए गए। इस प्रकार से जिन नवयुवकों को हानि पहुंची थी उनकी शिक्षा की व्यवस्था करना राष्ट्रीय कर्तव्य समझा गया। अतः श्री गुरुदास बनर्जी की अध्यक्षता में बंगाल राष्ट्रीय शिक्षा संवर्धन सिमति की स्थापना की गई। इस आंदोलन को भारी प्रोत्साहन मिला क्योंकि कलकत्ता कांग्रेस (1906) ने यह संकल्प किया कि अब समय आ गया है 'जब कि संपूर्ण देश की जनता लड़कों और लड़कियों दोनों ही राष्ट्रीय शिक्षा के सवाल पर गंभीरतापूर्वक विचार करे और राष्ट्रीय आधार पर एवं राष्ट्रॉय नियंत्रण में ्र तथा राष्ट्रीय गंतव्य की ओर ले जाने वाली एक ऐसी साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा पद्धित की व्यवस्थ करे जो देश की आवश्यकताओं के उपयुक्त हो । बंगाल राष्ट्रीय शिक्षा संवर्धन समिति ने बहुत से राष्ट्रीय उच्च विद्यालय खोले और एक बार तो बंगाल में 11 और पूर्वी बंगाल में 40 उच्च विद्यालय हो गए थे। वाबू सतीशचंद्र मुखर्जी इस समिति के प्रमुख कार्यकर्ता थे और यह कलकत्ता कांग्रेस के संकल्प के अनुसार शिक्षा दे रही थी। बंगाल के बाहर केवल एक ही उल्लेखनीय विद्यालय था और वह था पुना के

निकट तलगांव में 'समर्थ विद्यालय'। परंतु बहुत शीघ्र ही स्थिति बिगड़नी शुरू हो गई। विभाजन द्वारा उत्पन्न राजनीतिक प्रवेग, विशेषकर बंगाल को पुनः एक कर दिए जाने के बाद, समाप्त हो गया। लाला लाजपतराय को 1920 में ही एक समय अत्यंत लोकप्रिय राष्ट्रीय उच्च विद्यालय समाप्त हो जाने पर शोक मनाना पड़ गया। उन्होंने लिखा था:

राष्ट्रीय शिक्षा परिषद अब भी मौजूद है पर वह नाममाल के लिए ही है। इसके दो सबसे मजबूत स्तंभों श्री टी॰ पलित और श्री रासबिहारी घोष ने इसे उस समय घातक चोट पहुंचाई जब उन्होंने अपनी उत्कृष्ट धर्मदाय को स्वयं अपने द्वारा स्थापित और मार्गर्दाशत राष्ट्रीय शिक्षा परिषद को देने के बजाय कलकता विश्वविद्यालय को सौंप दिया। कुछ विद्वान जिन्होंने विशिष्ट आत्मत्याग करके, राष्ट्रीय महाविद्यालय के विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिए अपने अपने व्यवसाय छोड़ दिए थे, अब तितर बितर हो गए हैं। वे सरकारी सहायता प्राप्त संस्थाओं में नौकरी खोज रहे हैं। परिषद द्वारा खोले गए अधिकांश राष्ट्रीय विद्यालय परिस्थित विघटित हो गए हैं और इस समय यह आंदोलन देश की शैक्षिक प्रगति में एक जीर्ण शीर्ण तिरस्कृत सीमा चिह्न मात्र है। 2

दूसरा विष्लव 1920-22 में हुआ। पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे पुराने राजमर्मज्ञों के भारी विरोध के बावज्द, महात्मा गांधी ने सरकारी विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के बहिष्कार का उपदेश देना आरंभ कर दिया था। मुख्यत: उन्हीं के आग्रह पर 1920 में नागपुर कांग्रेस द्वारा पारित असहयोग संकल्प में 'सरकारी अथवा सरकार द्वारा सहायता प्राप्त अथवा सरकार द्वारा नियंत्रित विद्यालय एवं महाविद्यालयों से अपने बालकों को धीरे घीरे हटा लेने और इस प्रकार के विद्यालयों एवं महाविद्यालयों के स्थान पर विभिन्न प्रांतों में राष्ट्रीय विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना करने की' गंभीर सलाह दी गई थी। 3 गांधी जी ने इस संकल्प का तीन कारणों से समर्थन किया था। इनमें सर्वप्रथम कारण यह था कि राजनीतिक दृष्टि से ऐसे नवयुवकों की अत्यधिक आवश्यकता थी जो अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते। गांधी जी ने 1920-21 का असहयोग आंदोलन मूरुयत: इस विचार से चलाया था कि यदि जनता सामान्यत: उनकी सलाह को मान ले और, विशेष रूप से सरकार द्वारा संचालित संस्थाओं का पूर्ण बहिष्कार करके अपनी समांतर संस्थाएं स्थापित कर ले तो एक वर्ष के भीतर स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। वह विदेशी शासकों से असहयोग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण, समन्वित और व्यापक प्रयास करने के लिए जनता का आह्वान करके पूर्ण गतिरोध उत्पन्न करना और सरकार को ठप कर देना चाहते थे। वह स्वाभाविक रूप से यह आशा करते थे कि देश के युवक,

^{1.} देखिए क्विनक्वेनियल रिब्यू (1907-12), अनुच्छेद 670।

^{1.} यह उल्लेख सर तारकनाथ पिलत और रासिबहारी घोष द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय को दी गई कमशः 15 लाख रुपये और $12\frac{1}{2}$ लाख रुपये के धर्मदायों के बारे में है ।

^{2.} लाला लाजपतराय: पूर्वोक्त कृति, प्॰ 25-26।

^{3.} डा॰ पट्टाभि सीतारमैया : हिस्ट्री आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड I, पृ॰ 203 ।

जिनमें विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में पढने वाले विद्यार्थी शामिल थे, इस प्रोग्राम में प्रमुख भाग लेंगे तथा राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए अपने जीवन का एक वर्ष न्यौछावर कर देंगे। दूसरी बात यह है कि वह इस बात को अनैतिक और आध्यात्मिक तौर पर हीन समझते थे कि देश के युवा स्त्री पूरुष ऐसी सरकार की संस्थाओं में अपना अध्ययन जारी रखें जो पंजाब में और खिलाफत आंदोलन के दौरान अनेक अनुचित कार्य करने की अपराधिनी थी। अंतिम बात यह है कि उन्हें इस बात का भी विश्वास था कि जनता यह क्षमता रखती है कि आपात कार्रवाई के तौर पर, सरकार से कोई वित्तीय सहायता लिए बिना, समांतर शिक्षा संस्थाओं, विशेषकर माध्यमिक विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का अनरक्षण कर सके।

देश के युवकों से की गई गांधी जी की यह अपील व्यर्थ नहीं गई। इस अपील का अन्य अनेक राष्ट्रीय नेताओं और विशेषकर अली बंधुओं ने¹ जोरदार समर्थन किया था। वास्तव में, विद्यालयों एवं महाविद्यालयों का बहिष्कार किए जाने के आह्वान के प्रति विद्यार्थियों की अनुिक्रया कांग्रेस द्वारा बताए गए बहिष्कार अथवा असहयोग के अन्य रूपों के प्रति हुई अनुिकया की अपेक्षा बहुत ही अच्छी रही। सबसे पहले मैदान में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के छात्र उतरे। जब महात्मा गांधी और अली बंधुओं ने अलीगढ़ का दौरा किया और छात्रों के बीच भाषण दिया तो उसकी भारी अनुक्रिया हुई और विद्यार्थियों ने असहयोग के पक्ष में तथा समस्त सरकारी सहायता को अस्वीकार कर देने का निश्चय किया। भारी उत्साह के साथ उन्होंने एक संकल्प पारित किया जिसमें मांग की गई थी कि सरकार से सभी संबंध तोड़कर और अपनी पाठ्यचर्या का राष्ट्रीय ढंग से संशोधन करके विश्वविद्यालय का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। परंतु, दुर्भाग्यवश विद्यार्थियों की एकता अधिक समय तक कायम नहीं रही। उनमें से बहुत से विद्यार्थियों को उनके माता पिता ने घर बूला लिया। कुछ अन्य विद्यार्थियों को अपने विचार बदल लेने के लिए राजी कर लिया गया। तो भी पराक्रमी मौलाना मुहम्मद अली के नेतृत्व में विश्वस्त सेनानियों की एक छोटी सी टोली विश्वविद्यालय के परिसर में जमी रही और यह दावा करती रही कि इस संस्था का उनकी मांग के अनुसार पूरी तरह राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। यह लड़ाई कुछ सप्ताह तक जारी रही परंतु अंत में विश्वविद्यालय के न्यासियों ने पूलिस से सहायता मांगी और उन सब को विश्वविद्यालय से निकाल बाहर किया जो राष्ट्रीयकरण के लिए लड़ रहे थे। ये लोग बहुत उकसाने के बावजूद चुपचाप विश्वविद्यालय छोड़कर चले गए क्योंकि अहिंसात्मक सत्याग्रह इस आंदोलन का मुख्य राजनीतिक कार्यक्रम था। उन्होंने लगभग तत्काल ही अलीगढ़ में एक नया विश्वविद्यालय जामिया मिलिया इस्लामिया (राष्ट्रीय मुस्लिम विश्वविद्यालय) स्थापित किया।

अलीगढ़ द्वारा दिखाए गए इस रास्ते पर शीघ्र ही भारत के अन्य भागों के लोग भी

चलने लगे । जैसा डा० पटटाभि सीतारमैया ने कहा है :

देश के विभिन्न भागों में राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय महाविद्यालय और सभी श्रेणियों के राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित किए गए। संयुक्त प्रांत, पंजाब और बंबई में आंदोलन पूरे जोर पर था। बंगाल भी पीछे नहीं रहा और कलकत्ता में ऐसी रोमांचकारी घटनाएं देखने को मिलीं जो उस डेढ़ वर्ष के स्मरणीय काल में काफी संख्या में और जल्दी जल्दी घटित होती रही थीं। जनवरी के मध्य में देशबंघ सी० आर० दास की अपील पर हजारों विद्यार्थियों ने अपने महाविद्यालय छोड़ दिए और परीक्षाओं में नहीं बैठे। गांघी जी कलकत्ता गए और वहां 4 फरवरी को राष्ट्रीय महाविद्यालय खोला। वह पटना दूसरी बार भी गए और वहां भी औपचारिक रूप से राष्ट्रीय महाविद्यालय खोला तथा बिहार विद्यापीठ का उद्घाटन किया। इस प्रकार चार महीने से कम समय में राष्ट्रीय शिक्षा को दिए गए भारी प्रोत्साहन के फलस्वरूप देश के सभी भागों में भारी संख्या में सभी श्रेणियों के राष्ट्रीय विद्यालय खोले गए जिनमें हजारों विद्यार्थी पढ़ते थे। इसके अतिरिक्त अलीगढ़ का राष्ट्रीय मूस्लिम विश्वविद्यालय, गुजरात विद्यापीठ, बिहार विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, बंगाल राष्ट्रीय विश्वविद्यालय एवं तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ भी खोल दिए गए।1 इन राष्ट्रीय संस्थाओं को कितनी कठिनाइयों के बीच काम करना पड़ा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। लगभग रातों रात उन्हें एक ऐसे ढंग की पूर्ण शिक्षा संस्थाओं के रूप में कार्य करना आरंभ कर देना पड़ा जिसे अतीत काल में शायद ही कभी स्पष्ट रूप से दिष्टिगत किया गया हो। यह बात साफ दिखाई देती थी कि उनमें उपयुक्त भवनों और साज सामानों की कमी है और उनके पास पर्याप्त वित्त तथा प्रशिक्षित कर्मचारी नहीं हैं। इस पर भी इन संस्थाओं के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों से यह आशा की जाती थी कि वे अपने दीर्घावकाशों में, और यहां तक कि कभी कभी सत्रकाल में भी जनता के बीच, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के बीच राजनीतिक प्रचार करेंगे। सरकार इस कार्य का सदैव विरोध करती थी और बहुत उार तो विद्यार्थियों अथवा अध्यापकों में से प्रमुख कार्यकर्ताओं को कोई न कोई आरोप लगाकर गिरफ्तार करके जेल में ठंस देती थी। परंतु उन सब बाधाओं और कठिनाइयों के बावजद इन राष्ट्रीय संस्थाओं ने राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धांतों का निरूपण करके, राष्ट्रीय आवश्यकताओं के उपयुक्त वैकल्पिक पाठ्यक्रम तैयार करके और आधूनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम के रूप में अपना कर भारी सहायता की। यदि यह कहा जाए कि सबसे पहले शिक्षा के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मूलभूत सिद्धांतों को इन्हीं

दुर्भाग्यवश, इस संपूर्ण आंदोलन को बहुत शीघ्र ही एक धक्का लगा। कुछ समय

राष्ट्रीय संस्थाओं की प्रयोगशाला में विकसित किया गया था तो कोई अत्युक्ति नहीं

होगी ।

^{1.} मौलाना शौकत अली और मुहम्मद अली।

^{2.} इस बात का एकमात्र संभावित अपवाद 'मतदान न करो' आंदोलन हो सकता है।

^{1.} हिस्ट्री आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, खंड I, पू० 211 ।

273

पश्चात असहयोग आंदोलन का प्रवेग समाप्त हो गया। चूंकि हिंसा की कुछ घटनाएं घटित होने लगीं, अतः गांधी जी ने इस आंदोलन को ही वापस ले लिया। एक वर्ष के भीतर स्वराज्य का मूलभूत संप्रत्यय साकार नहीं हो पाया। चूंकि शी घ्र ही स्वाधीनता मिलने की अब संभावना दिखाई नहीं दे रही थी अतः विद्यार्थियों का उत्साह ठंडा पड़ने लगा। राष्ट्रीय नेताओं ने भी यह महसूस किया कि विद्यार्थियों से यह आशा करना गलत होगा कि वे अपनी प्रगति के मार्ग को रोकने के लिए तैयार हो जाएंगे। अतः असहयोग की पूर्ववर्ती नीति में तदनुसार परिवर्तन कर लिया गया और कुछ चोटी की संस्थाओं को छोड़ कर अन्य संस्थाओं को फिर से सरकारी मान्यता प्राप्त करने की छूट दे दी गई। ऐसे विद्यार्थियों को, अपना संपूर्ण जीवन राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यतीत करना चाहते थे, छोड़ कर अन्य विद्यार्थियों को मान्यता प्राप्त विद्यालयों में दाखिला लेने और अपना प्रशिक्षण पूरा करने की अनुमित दे दी गई। 1922 तक ज्वार लगभग पूरी तरह उत्तर गया था।

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से पता चलेगा, राष्ट्रीय शिक्षा में यह दूसरा विष्लव पहले विष्लव से कई बातों में सारभूत रूप से भिन्न था। यह विष्लव अधिक गहन और अधिक व्यापक था। इसमें अंतर्ग्रस्त विद्यार्थियों एवं अध्यापकों की संख्या बहुत अधिक थी। रचनात्मक शैक्षिक विचारधारा के लिए इसकी देन बहुत अधिक थी। यह आंदोलन जारी रहा और असहयोग आंदोलन समाप्त हो जाने के बाद भी कोई उपयोगी अग्रणी कार्य बंद नहीं हुआ जबिक पहले विष्लव के बाद इस प्रकार का कोई चिह्न शेष नहीं बचा था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस विष्लव से एक नए राष्ट्रीय नेतृत्व का जन्म हुआ और 'आजकल के प्रांतीय तथा जिला नेताओं में ऐसे लोग कम नहीं हैं जो इन···विद्यार्थियों में से है जिन्होंने 1902 में असहयोग किया था।' इसने न केवल राष्ट्रीय विद्यार्थियों के बीच, वरन संपूर्ण विद्यार्थी समुदाय के बीच देशभिक्त की लहर भी पैदा की। यहां तक कि भारतीय शिक्षा सेवा के अनुदार नौकरशाहों पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा। वे यह महसूस करने लगे कि वास्तव में भारत वर्तमान पद्धित से संतुष्ट नहीं है और उसके पुर्निर्माण की तुरंत आवश्यकता है। जैसा 'क्विनक्वेनियल रिब्यू आफ दि प्रोग्नेस आफ एजकेशन इन इंडिया, 1917-22' में कहा गया है:

संक्षेप में इस संकट से यह विश्वास हो गया है कि हमारे शैक्षिक उद्देश्यों का फिर से उल्लेख किए जाने की आवश्यकता है। यदि शिक्षा का कार्य भावी नागरिक को उसके परिवेश के अनुकूल बनाना है, तो शिक्षा की विषय वस्तु को उस परिवेश में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप बदलते रहना चाहिए। भारत की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो रहा है और राष्ट्रीय विद्यालय आंदोलन कम से कम यह दावा तो कर ही सकता है कि उसने शैक्षिक सुधार के पक्ष समर्थकों को शक्ति प्रदान की है।

1. डा॰ पट्टाभि सीतारमैयाः पूर्वोक्त कृति, पृ॰ 211।

1855 से 1921 तक के काल का सामान्य पुनरीक्षण: 1905 से 1921 तक की मुख्य शैक्षिक गतिविधियों के इस सर्वेक्षण को हम अब संपूर्ण भारत की 1855 और 1921 के बीच की शैक्षिक गतिविधियों का संक्षिप्त एवं सामान्य पुनरीक्षण करके समाप्त कर सकते हैं। ये 66 वर्ष भारत के आधुनिक शिक्षा के इतिहास में अद्वितीय हैं। 1855 से पहले, शिक्षा विभागों का अस्तित्व ही नहीं था। 1921 में शिक्षा का नियंत्रण विधानमंडल के प्रति उत्तरदाई भारतीय मंत्रियों के हाथों में दे दिया गया। विधान मंडल में निर्वाचित सदस्यों का भारी बहुमत होता था। लगभग सात दशकों के अंतरिम काल में, शिक्षा में, सर्वोच्च प्राधिकारी एक अधिकारी तंत्र था, चाहे वे शिक्षा विभागों के अधिकारियों का अधिकारी तंत्र रहा हो या अंततः भारतीय असैनिक सेवा का। अतः शिक्षा में इस नौकरशाही राज की मुख्य उपलब्धियों का मूल्यांकन करना और यह देख लेना वांछनीय होगा कि भारतीय शिक्षा मंत्रियों को यथार्थतः कहां से कार्य आरंभ करना पड़ा था।

(क) प्रसार: उसका विस्तार क्षेत्र और परिसीमाएं: इस तथा पूर्ववर्ती तीन अध्यायों में उल्लिखित घटनाओं के वर्णन से यह ज्ञात हो जाएगा कि 1854 और 1921 के बीच आधुनिक शिक्षा पद्धित का भारी प्रसार हुआ था। अतः 1855 के आंकड़ों की 1921-22 के आंकड़ों के साथ तुलना करना अच्छा होगा:

| * | 1855 | 1921-22 |
|--|-------------------|-----------------|
| 1. विश्वविद्यालय | | 10 |
| 2. कला महाविद्यालय | 21 | 165 |
| 3. वृत्तिक महाविद्यालय (इस शीर्ष के अधीन 1855 के आंकडों में नार्मल स्कूलों | | |
| को छोड़कर वृत्तिक विद्यालय शामिल हैं) | 13 | 64 |
| 4. माध्यमिक विद्यालय | 281 | 7,530 |
| 5. प्राथमिक विद्यालय | 2,810 | 1,55,017 |
| 6. विशेष विद्यालय | 7 | 3,344 |
| 7. मान्यता प्राप्त संस्थाओं की कुल संख्या 8. मान्यता प्राप्त संस्थाओं में विद्यार्थियों | 3,132 | 1,66,130 |
| की कुल संख्या | 1,35,079 | 73,96,560 |
| 9. शिक्षा पर कुल व्यय | 9,99,898 হ৹ | 17,35,88,099 ছ০ |
| 10. शिक्षा पर सरकारी व्यय | ज्ञात नहीं, परंतु | 8,56,01,366 |
| | उपर्युक्त धनराशि | |
| | में से अधिकांश | |
| • | सरकार द्वारा व्यय | |
| | की गई। | |

टिप्पणी: 1855 के आंकड़े भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन, सामान्य सारिणी संख्या 1 ए से लिए गए हैं। 1921-22 के आंकड़े केवल अंग्रेजी भारत के हैं और उनमें बर्मा शामिल नहीं है। राजकीय शिक्षा पद्धित का उपर्युक्त प्रसार निश्चय ही एक श्रेयस्कर कार्य है। परंतु यह ध्यान रखना होगा कि यदि एक ओर यह उपलब्धि हुई तो दूसरी ओर विचाराधीन काल में देशी पद्धित का अधिकांशतः लोप हो जाने के कारण भारी हानि भी हुई। हम अध्याय एक में देख चुके हैं कि यह विश्वास करने के लिए हमारे पास पर्याप्त साक्ष्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में लगभग प्रत्येक गांव में किसी न किसी तरह का एक विद्यालय अवश्य था। यह व्यापक देशी शिक्षा पद्धित लगभग समाप्त हो गई और 1921-22 तक गैर मान्यता प्राप्त संस्थाओं की संख्या केवल 16,322 थी और उनके छात्रों की संख्या केवल 4,22,165 रह गई थी। इन संस्थाओं में राजकीय पद्धित से बाहर की सभी जात शिक्षा संस्थाएं शामिल हैं। मुख्यतः इनकी संख्या में यह कमी हो जाने के कारण ही

| | ऐडम के आंकड़ें (तीसरे प्रतिवेदन में छः थानों के उनके गहन अध्य- यन से लिए गए, देखिए अध्याय एक) | 1921-22 में ब्रिटिश भारत की स्थिति (बर्मा को छोड़ दिया गया है) |
|--|---|--|
| (क) शिक्षा केंद्र अर्थात विद्यालय, सरकारी | | |
| और घरेलू, जिस रूप में वे ऐडम द्वारा दिए गए हैं; और विद्यालय, मान्यता | | |
| प्राप्त और गैर मान्यता प्राप्त, जिस रूप | | |
| में विभागीय प्रतिवेदनों में बताए गए हैं | 2,210 | 1,82,752 |
| | (225 व्यक्तियों | (1,280 व्यक्तियों |
| | कें लिए 1) | के लिए 1) |
| (ख) शिक्षा पाने वाले छात्र | 6,786 | 78,18,725 |
| (ग) कुल जनसंख्या के साथ शिक्षा पाने वाले | | |
| छात्रों का प्रतिशत (यह लगभग 15 | 1.4 | 2.2 |
| प्रतिशत होना चाहिए) (घ) 15 वर्ष से अधिक आयु के प्रौढ़ साक्षरों ¹ | 1.4 | 3.3 |
| की संख्या (ऐडम के आंकड़े 14 वर्ष से | , | |
| ऊपर के साक्षरों के लिए हैं) | 21,911 | 1,24,60,170 |
| (ङ) कुल जनसंख्या के साथ प्रौढ़ साक्षरों का | | ,= -,, |
| प्रतिशत । | 4.4 | 5.2 |
| | | |

यहां पर दिए गए आंकड़े अजमेर, मेरवाड़ा, अंडमान तथा निकोबार, ब्रिटिश बलूचिस्तान, कुर्ग और दिल्ली को छोड़कर संपूर्ण भारत के हैं। इन स्थानों के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

ऐडम द्वारा उल्लिखित साक्षरता का प्रतिशत 1921-22 के प्रतिशत से सारभूत रूप से भिन्न नहीं है। उदाहरण के लिए, पीछे पृष्ठ 274 पर आंकड़ों को देएख।

यदि हम यह भी मान लें कि ऐडम के आंकड़े अपूर्ण थे क्योंकि ऐडम के समय में शिक्षा की अवनित हो रही थी और उन्होंने जिस क्षेत्र का (इस क्षेत्र में दीर्घकाल तक अराजकता फैली रही थी) सर्वेक्षण किया था वह शिक्षा में संभवत: भारत के उन भागों की अपेक्षा अधिक पिछड़ा था जो न्यूनाधिक स्थाई सरकार के अधीन रहे थे, तो भी यह स्पष्ट है कि 1921-22 में भारत की शैक्षिक स्थिति 1821-22 की स्थिति से अधिक भिन्न नहीं थी, विशेषकर, उस कार्य की दृष्टि से जिसे अभी करना बाकी था।

अतः आधुनिक शिक्षा पद्धति की उपलब्धियां परिमाणात्मक द्ष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में, जब राज्य ने जनता की शिक्षा की कोई जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं ली थी साहित्यानुशीलन जनता के एक छोटे से भाग तक ही सीमित था। अधिकांश जनता, जिसमें लगभग समस्त स्त्रियां शामिल थीं पढ़ लिख नहीं सकती थीं। 1921-22 में भी स्थिति में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ था। शिक्षा अब भी बहत थोंडे लोगों तक सीमित थी। 1921 में भी भारत में साक्षरता का प्रतिशत कम था और अधिकांश जनता अब भी शिक्षा पद्धति से बाहर थी। निस्संदेह यह बात सच है कि आध्निक शिक्षा पद्धति से कुछ महत्वपूर्ण लाभ हुए। उदाहरण के लिए, स्त्री शिक्षा के प्रति जनता की अभिवृत्ति में क्रमिक परिवर्तन हुआ। अब स्त्रियां शिक्षा संस्थाओं में उत्तरोत्तर मात्रा में पढ़ने आ रही थीं। इसी प्रकार, समाज के कम उन्नत वर्गों में भी जागति पैदा हो गई थी और इन वर्गों के छात्र सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब बहुत अधिक अनुपात में शिक्षा संस्थाओं में दाखिल थे। परंतु इन उपलब्धियों के महत्व को कम किए बिना यह कहा जा सकता है कि 1921-22 में शिक्षा का प्रसार 1835-38 में हए शिक्षा प्रसार की अपेक्षा सारभूत रूप से अधिक व्यापक नहीं था। बहुत से लोग तो विचारा-धीन काल में हुए राजकीय विद्यालय पद्धति के भारी प्रसार को देखते हुए इस प्रसार को निराशाजनक समझते थे।

(क) अपर्याप्त परिमाणात्मक प्रसार के कारण: अतः 1921-22 में शैक्षिक स्थिति एक प्रकार से विरोधाभासपूर्ण थी। एक ओर, राजकीय शिक्षा पद्धित का यथेष्ट प्रसार हुआ था। सरकारी निधियों से किए जाने वाले व्यय में हुई वृद्धि ध्यान देने योग्य है। 1821 में यह व्यय लगभग 1 लाख रुपये था परंतु 1921 में यह बढ़कर 902 लाख रुपये हो गया था। दूसरी ओर, विद्यालयों में नामांकित छात्रों की संख्या में जितने प्रतिशत वृद्धि हुई थी, व्यय में उतने प्रतिशत वृद्धि नहीं हुई। साक्षरता में भी उतने प्रतिशत वृद्धि नहीं हुई जितने प्रतिशत वृद्धि शिक्षा पा रहे छात्रों की संख्या में हुई थी। जैसा कि सरलता से पूर्वानुमान लगाया जा सकता है, यह एक ऐसा विरोधाभास था जिसे शिक्षाविदों से स्पष्ट करने को कहा गया।

एक विचार संप्रदाय के लोगों ने समस्या की आंतरिक कठिनाइयों और शिक्षा पद्धति में अंतर्ग्रस्त अपव्यय और अप्रभाविता को बताकर इस स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इस विचार संप्रदाय के अनुसार, सार्वजनिक शिक्षा की प्रगति धीमी होने (i) जनसंख्या में भारी वृद्धि;

(ii) ऊंची जन्म दर जिससे ऐसे लोगों की संख्या में लाखों की वृद्धि हो गई जिनको शिक्षा दी जानी थी;

(iii) ऊची मृत्यु दर जिससे विद्यालयों से पढ़कर निकले साक्षरों की संख्या में काफी कमी हो गई;

(iv) गितहीनता, मृत्यु, विद्यालयों को समय पूर्व ही छोड़ दिए जाने, आदि के कारण होने वाली क्षिति जिससे विद्यालयों में नामांकित बालकों में से बहुत कम बालक साक्षर बन सकें;

(v) जो लोग एक बार साक्षर बन चुके थे. उनका साक्षरता को कायम रखने के लिए उपयुक्त परिवेश न होने के कारण निरक्षर बन जाना;

(vi) शिक्षा समस्या की आंतरिक कठिनाइयां जैसे जनसंख्या केंद्रों का दूर दूर फैले होना, निर्धनता, जनता की उदासीनता, जातियों, संप्रदायों और भाषा आदि का बाहल्य इत्यादि।

दूसरे विचार संप्रदाय के लोगों ने न तो यह कहा कि आंतरिक कठिनाइयां कम हैं और न उस कार्य के महत्व को ही घटाकर बताया जो पहले किया जा चुका था। परंतु उनकी राय थी कि सार्वजनिक शिक्षा की घीमी प्रगति का मुख्य कारण उपर्युक्त कठिनाइयां एवं बुटियां नहीं वरन निम्नलिखित बातें थीं:

(i) देशी शिक्षा पद्धति का लगभग पूरी तरह लोप हो जाना;

(ii) पर्याप्त निधियों का न होना;

(iii) महाविद्यालयी और माध्यमिक शिक्षा के विकास पर बल दिया जाना जिससे अवश्य ही वित्तीय कारणों से प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा होनी थी;

(iv) जबिक गैर सरकारी संस्थाओं के द्वारा सरकार अपेक्षाकृत कम खर्च पर प्रसार कर सकती थी तो भी गैर सरकारी संस्थाओं पर बल देने की अपेक्षा अधिक खर्चीली विभागीय संस्थाओं पर अधिक बल दिया जाना;

(v) विशेषकर प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में परिमाण पर बल न देकर गुण पर बल दिया जाना;

(vi) आधुनिक भारतीय भाषाओं की उपेक्षा;

(vii) शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का अपनाया जाना;

(viii) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का न होना।

स्पष्ट है कि इन दोनों विचार संप्रदायों के मतभेदों का इस समस्या के लिए बुनियादी महत्व है। अतः यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि एक विचार संप्रदाय ने सुधार करने के लिए जो सुझाव दिए थे वे दूसरे विचार संप्रदाय द्वारा प्रस्तुत सुझावों से बिल्कुल भिन्न थे। जैसा आप बाद में अध्याय ग्यारह में देखेंगे, अगले काल में प्राथमिक शिक्षा का इतिहास मुख्यतः इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों के बीच संघर्ष का इतिहास रहा था।

(ग) राजकीय शिक्षा पद्धति की गुणात्मक उपलब्धियां : नई शिक्षा पद्धति की मुख्य

उपलब्धियां परिमाणात्मक की अपेक्षा गुणात्मक ही थीं। यह पद्धति प्रारंभिक और उच्च दोनों ही प्रकार की देशी संस्थाओं के स्थान पर स्थापित हुई थीं और एक नई एवं अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्शल शिक्षा पद्धति थी। यद्यपि कुछ बातों में आधिनक प्राथमिक विद्यालयों में निश्चय ही सुधार दिखाई देता है तथापि प्रारंभिक चरण में यह अंतर अधिक स्पष्ट नहीं था। नई पद्धति के प्राथमिक विद्यालयों की पाठयचर्या अधिक व्यापक और अधिक उदार है; अध्यापन प्रणालियां अधिक अच्छी और आधिनक काल के अधिक उपयुक्त हैं; मुद्रित पुस्तकों का प्रयोग किया जाना निश्चय ही एक अच्छाई है; कुल मिलाकर आधिनक विद्यालयों के अध्यापक देशी विद्यालयों के अध्यापकों से अधिक योग्य हैं। दूसरी ओर यह शिकायत की जाती है कि आधनिक प्राथमिक विद्यालय में देशी पद्धति जैसा लोच नहीं रह गया है और इसका ग्रामीण जनसंख्या की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के साथ इतना अच्छा समायोजन नहीं है जितना देशी शिक्षा का था तथापि इसमें कोई संदेह नहीं है कि टोलों, पाठशालाओं एवं मदरसों से आधुनिक माध्यमिक विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में बहुत अंतर पाया जाता है। देशी उच्च शिक्षा पद्धति मध्य युग का स्मृतिचिह्न थी। उसमें धर्म की प्रमुखता थी और वह कल जनसंख्या के एक छोटे से भाग तक सीमित थी। विज्ञान की आधनिक गृतिविधियों से उसका कोई संबंध नहीं था। इस पद्धति को ठुकरा दिए जाने पर एक अन्य पद्धति की स्थापना हुई। इस नई पद्धित का उद्देश्य पाश्चात्य ज्ञान एवं विज्ञान का प्रसार करना था। अत: यह एक भारी उपलब्धि थी। यह सत्य है कि आरंभ में नई पद्धति का भकाव गलत दिशा की ओर था। प्राच्य उच्च शिक्षा को गलत ही घुणा की दृष्टि से देखा गया और उसकी निंदा की गई। इसके साथ ही पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का भी अनुचित गुणगान किया गया। परंतु जब राष्ट्रीय भाव विकसित होने लगा और भारतीय विश्व-विद्यालय प्राच्य शास्त्रीय भाषाओं का बृद्धिपरक और वैज्ञानिक अध्ययन करने लगे तो ये पराकाष्ठाएं समाप्त हो गईं। कूल मिलाकर, नई शिक्षा पद्धति ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को भारी उद्दीपन दिया, उन अनेक बंधनों को काट दिया जो समाज की प्रगति में बाधक हो रहे थे और राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में महान पूनर्जागरण किया।

तो भी, यह ध्यान रखना होगा कि इन बड़ी बड़ी गुणात्मक उपलब्धियों की भी अपनी परिसीमाएं थीं। उदाहरण के लिए, जो शिक्षा दी जा रहीं थी वह बहुत अधिक साहित्यिक थी। वह विद्यार्थी का केवल लिपि अथवा अध्यापन व्यवसायों के लिए तैयार करती थी। व्यावसायिक शिक्षा का विकास नहीं किया गया था। संपूर्ण पाठ्यक्रम में एक कठोर परीक्षा पद्धित को ही प्रमुखता दी गई थी और अंग्रेजी का शिक्षा माध्यम के रूप में प्रयोग किए जाने से बाधा पड़ रही थी।

शिक्षा का भारतीय नियंत्रण में ग्रंतरण: ऐसे ही समय में भारत सरकार अधिनियम, 1919 में उल्लिखित सुधार आरंभ किए गए और शिक्षा विभाग को (कितपय शर्तों के अधीन रहते हुए) भारतीय मंत्रियों के नियंत्रण में अंतरित कर दिया गया।

भारतीयों को शिक्षा विभाग सौंप जाने के बारे में जो विवाद उठ खड़ा हुआ था वह

संक्रमण काल

विषय माना गया।

निम्नलिखित विषयों पर विधान बनाने का प्राधिकार मुख्यत: इस विचार से केंद्रीय विधान मंडल के लिए आरक्षित विषय माना गया कि भारत सरकार कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन पर उपयुक्त कार्रवाई करने में समर्थ हो सके:

- (क) नए विश्वविद्यालय की स्थापना, संघटन और कार्यों से संबंधित मामले;
- (ख) किसी विश्वविद्यालप का अधिकार क्षेत्र अपने प्रांत से बाहर होने पर उस अधिकार क्षेत्र पर प्रभाव डालने वाले मामले; और
- (ग) बंगाल में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय संबंधी मामले (सुधारों को आरंभ किए जाने के बाद केवल पांच वर्ष की अवधि तक)।

शिक्षा को 'अंशत: अखिल भारतीय, अंशत: प्रतिबंध सहित अंतरित और अंशत: बिना किसी परिसीमा के अंतरित' मान कर इन आदेशों ने एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी। इनसे उस कठिनाई का स्पष्ट पता चलता है जिसके साथ अंत में उपर्युक्त विभिन्न विरोधी अभिमतों के बीच एक काम चलाऊ समझौता हुआ।

शिक्षा के भारतीय नियंत्रण में अंतरित किए जाने के साथ ही भारत में आधुनिक शिक्षा के इतिहास का पांचवां काल आरंभ होता है और इसकी मुख्य घटनाओं की अगले अध्याय में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

भी कुछ रोचक है। 1919 के सुधार तत्कालीन भारत मंत्री लार्ड मांटेग्यू और तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड चेम्सफोर्ड के संयुक्त प्रतिवेदन के आधार पर किए गए थे। इस प्रतिवेदन में कहा गया था कि 'निर्देश सिद्धांत यह होना चाहिए कि अंतरण सूची में इस प्रकार के विभागों को शामिल किया जाए जो स्थानीय ज्ञान और समाज सेवा के लिए सर्वीधिक अवसर प्रदान करें, जिनमें स्वयं भारतीयों ने अपनी भारी रुचि दिखाई है, जिनमें यदि गंभीर गलतियां भी हो जाएं तो वे असाध्य न हों और जिनमें विकास की सबसे अधिक आवश्यकता है।'1 इस सिद्धांत के अनुसार, यह आशा करना स्वाभाविक ही था कि शिक्षा को अंतरित विषय के रूप में वर्गीकृत किया जाएगा। परंत् यह रोचक बात है कि भारतीयों को शिक्षा का पूर्ण नियंत्रण सौंप दिए जाने का काफी विरोध हुआ और अनेक कठिनाइयां बताई गईं। आंग्ल भारतीयों और यूरोपीय लोगों को व्यर्थ ही डर था कि भारतीय मंत्रियों के हाथों में उनके हित सुरक्षित नहीं रहेंगे और उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि आंग्ल भारतीय तथा युरोपीय शिक्षा को केंद्रीय अथवा आरक्षित विषय माना जाना चाहिए। प्रांतीय सरकारों के बीच भी भारी मतभेद था। बंगाल सरकार महाविद्यालयी एवं यरोपीय शिक्षा को आरक्षित रखना चाहती थी। संयुक्त प्रांत सरकार ने शिक्षा के संपूर्ण विषयों को अंतरित करने की सलाह दी थी। परंत्र जिस शिक्षा समिति ने सरकार को उपर्युक्त सलाह दी थी उसके सदस्यों में भी आपस में मतभेद था। पंजाब सरकार ने उच्च शिक्षा के अंतरण के बारे में अपनी राय व्यक्त नहीं की। बिहार और उड़ीसा की सरकार ने माध्यमिक, तकनीकी और महाविद्यालयी शिक्षा के अंतरण का कड़ा विरोध किया। असम के मुख्य आयुक्त ने महाविद्यालयी शिक्षा का भारी विरोध किया। मद्रास सरकार ने संपूर्ण शिक्षा विभाग के अंतरण का विरोध किया। भारत सरकार मोटे तौर पर बंगाल के विचार से सहमत थी परंत्र यह देश का सौभाग्य था कि भारत सरकार को कुछ सदबृद्धि आई और निम्नलिखित प्रतिबंधों के अधीन रहते हुए, संपूर्ण शिक्षा विवाद भारतीय मंत्रियों को सौंप दिया गया:

- 1. बनारस हिंदू विश्वविद्यालय तथा ऐसे अन्य नए विश्वविद्यालयों को जिन्हें सपरिषद गवर्नर जनरल अखिल भारतीय घोषित कर दें, इस आधार पर शामिल नहीं किया गया कि ये संस्थाएं अखिल भारतीय स्वरूप की थीं और यह ज्यादा अच्छा था कि स्वयं भारत सरकार इनसे संबंध रखे;
- 2. भारतीय सामंतों के लिए चलने वाले महाविद्यालयों और महामिहम की सेनाओं के लोगों तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों अथवा उनके बालकों के कल्याण के लिए सपरिषद गवर्नर जनरल द्वारा अनुरक्षित शिक्षा संस्थाओं को भी इस आधार पर शामिल नहीं किया गया कि इन संस्थाओं को भारत सरकार के सीधे नियंत्रण में होना चाहिए; और
- 3. आंग्ल-भारतीय और यूरोपीय लोगों की शिक्षा को प्रांतीय परंतु आरक्षित

द्वैधशासन में शिक्षा

(1921-1937)

भारत सरकार अधिनियम, 1919 द्वारा लागू किया गया संविधान द्वैधशासन अथवा दो के शासन के नाम से प्रसिद्ध है। इस द्वैधशासन प्रणाली के अधीन प्रांतीय सरकार के किया-कलाप के क्षेत्र को दो भागों में बांट दिया गया, आरिक्षत विभाग और अंतरित विभाग। राज्यपाल को, जो प्रांतीय सरकार का शासनाध्यक्ष था, कुछ कार्यकारी पार्षदों की सहायता से आरिक्षत विभागों का प्रशासन करना था तथा उनके उचित प्रबंध के लिए भारतीय कार्य मंत्री के प्रति (भारत सरकार के द्वारा) उत्तरदाई रहना था। इसके अतिरिक्त उससे यह भी आशा की जाती थी कि वह अंतरित विभागों का उन मंत्रियों की सहायता से प्रशासन करेगा जो भारतमंत्री के प्रति उत्तरदाई नहीं, वरन एक ऐसे प्रांतीय विधानमंडल के प्रति उत्तरदाई थे जिसमें निर्वाचित लोगों का भारी बहुमत था। प्रांतीय कार्यपालिका के दो भागों में बंट जाने के कारण ही इस प्रणाली का नाम द्वैधशासन पड़ा और इसी असामान्य ढंग के राजनीतिक संविधान के कारण पहली बार भारतीयों का शिक्षा विभाग पर नियंत्रण हुआ। इस सांविधानिक प्रशासन के गुण दोषों पर विचार करना इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की बात है। परंतु भारतीय मंत्रियों को जिन किटनाइयों के बीच काम करना पड़ा उन पर इस प्रशासन की निम्नलिखित विशेषताओं के वर्णन से प्रकाश पड़ेगा।

विक्तीय व्यवस्थाएं: विक्त की कमी भारतीय मंत्रियों के कार्य में सबसे महत्वपूर्ण वाधा सिद्ध हुई। अतः 1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा जो विक्तीय व्यवस्थाएं की गई थीं उन पर सावधानीपूर्व कि विचार करने की आवश्यकता है। अधिनियम से पूर्व भारत के तमाम राजस्वों को तीन भागों में बांटा जाता था, केंद्रीय, प्रांतीय और विभक्त। राजस्व के कुछ स्रोतों जैसे सीमा शुल्क, रेलवे, डाक और तार को केंद्रीय माना जाता था, अर्थात वे एकमात्र भारत सरकार के थे। राजस्व के कुछ अन्य स्रोतों जैसे वनों को अनन्य रूप से प्रांतीय माना जाता था। कुछ स्रोतों को विभक्त माना जाता था तथा उनकी कुल आय को एक निश्चित अनुपात में भारत सरकार एवं संबंधित प्रांतीय सरकार के बीच बांट लिया जाता था। 1919 के सुधारों में यह प्रस्ताव रखा गया था कि विभक्त स्रोतों को बांटकर केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच राजस्वों का स्पष्ट विभाजन

द्वैधशासन में शिक्षा 281

किया जाए। इन विभक्त स्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण स्रोत भू राजस्व, आयकर, उत्पादक शुल्क, स्टांप और सिंचाई थे। कुछ कारणों से आयकर को छोड़कर उपर्युक्त तमाम स्रोतों को प्रांतीय राजस्व मानने का निर्णय किया गया। इन कारणों पर विचार करना इस पुस्तक क्षेत्र से बाहर की बात है। इस निर्णय से केंद्रीय सरकार को भारी हानि हुई। अतः यह प्रस्ताव रखा गया कि प्रांतीय सरकारें केंद्रीय सरकार को तब तक कुछ वार्षिक अनुदान देती रहें जब तक केंद्रीय सरकार अपना बजट व्यवस्थित न कर ले। प्रांतीय सरकारों द्वारा इस प्रकार दिए जाने वाले अंग्रदान को उनके राजस्वों का प्रथम कार्य निश्चित कर दिया गया था और शेष राशि का प्रांत के आरक्षित तथा अंतरित दोनों प्रकार के विभागों को उपयोग करना था।

इस विषय में भारी विवाद उठ खडे हए कि प्रांत के भीतर यह बंटवारा किस प्रकार किया जाना है। एक मत यह था कि चूंकि कार्यकारी पार्षद आरक्षित विभागों के प्रभारी हैं और मंत्रीगण अंतरित विभागों के प्रभारी हैं अतः वे राज्यपाल की अध्यक्षता में एक साथ बैठकर निर्णय करें कि प्रांत के सभी विभागों को प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार राजस्व की कितनी धनराशि बांटी जाएं। यह प्रणाली संयुक्त कोष प्रणाली कहलाई। इस मत के विरोधियों ने एक भिन्न योजना का पक्षपोषण किया। इस योजना के अन्-सार सरकार के दो बराबर भागों के बीच प्रांतीय राजस्व का स्पष्ट विभाजन किया जाना था और इनमें से प्रत्येक भाग को उस दशा में अतिरिक्त कराधान के अपने तरीकों का प्रस्ताव रखना था जबिक वर्तमान साधन अपर्याप्त सिद्ध हों। यह योजना पृथक कोष प्रणाली कहलाई । अंततः पहला मत विजयी हुआ और संयुक्त कोष प्रणाली को स्वीकार कर लिया गया। जैसा बाद की घटनाओं से पता चलता है, वित्त की इस प्रणाली से सामान्यत: अंतरित विभागों को और विशेषकर शिक्षा को कोई मदद नहीं मिली। भारत सरकार को देय अंशदानों के कारण प्रांतीय सरकारों की वित्तीय स्थिति बहुत निर्वल हो गई। आयकर से प्राप्त होने वाला राजस्व बंबई जैसे औद्योगिक प्रांतों में आय का एक लाभप्रद, लोचदार और वर्धमान स्रोत था। अतः आयकर के केंद्रीकरण से प्रांतीय वित्त व्यवस्थाओं को भारी धक्का लगा। वित्त विभाग एक आरक्षित विषय था और वह कार्यकारी पार्षद के अधीन होता था। इन्हीं तथा अन्य कारणों से भारतीय मंत्री का बडे पैमाने पर विस्तार और पूनर्गठन करने के लिए आवश्यक निधियां प्राप्त नहीं कर सके। सेवाओं पर नियंत्रण: द्वैधशासनात्मक प्रशासन की दूसरी विशेषता यह थी कि देश की शिक्षा सेवाओं पर भारतीय मंत्रियों का नियंत्रण बहत सीमित था। 1921 में शिक्षा विभाग में अधिकांश प्रधान पदों पर भारतीय शिक्षा सेवा के सदस्य पदाधीन थे और विचाराधीन काल में अधिकांश समय इन पदों पर वे ही लोग पदासीन रहे। शिक्षा को भारतीय नियंत्रण में अंतरित किए जाने के समय जो महत्वपूर्ण समस्याएं उठी थीं उनमें से एक समस्या भारतीय शिक्षा सेवा के सदस्यों के भावी अधिकारों एवं विशेषाधिकारों के संबंध में थी और उस पर जोरदार विवाद छिड़ गया। अंतत: जो निर्णय किए गए वे भारत में सूपीरियर सिविल सर्विस संबंधी राजकीय आयोग (1923-24) की सिफारिशों पर आधारित थे। यह आयोग ली आयोग के नाम से प्रसिद्ध है। इस

282

आयोग की सिफारिशें संक्षेप में इस प्रकार हैं:

(क) ली आयोग ने इस सिद्धांत को स्वीकार किया कि किसी विशेष विषय के प्रशासन के लिए जो प्राधिकारी उत्तरदाई है उसी को यह अधिकार होना चाहिए कि अपने विषय के प्रशासन में नियोजित सेवाओं को उस रीति से गठित करे जिसे वह सबसे अच्छा समझे और इन सेवाओं में भर्ती करने तथा इन पर अंतिम नियंत्रण रखने का अधिकार भी उसी प्राधिकारी को दिया जाना चाहिए। अतः आयोग ने यह सिफारिश की कि 'स्थानीय सरकारों के प्रयोजनार्थ, अंतरित क्षेत्रों में कार्य करने वाली अखिल भारतीय सेवाओं में और आगे भर्ती न की जाए। भविष्य में प्रशासन की इन शाखाओं के लिए अपेक्षित कर्मचारी वर्ग की भर्ती स्थानीय सरकारों करें।'' सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया और 1924 में भारतीय शिक्षा सेवा के लिए भर्ती करना बंद कर दिया गया।

(ख) भारतीय शिक्षा सेवा के विद्यमान अधिकारों एवं विशेषाधिकारों को प्रत्याभूत कर दिया गया। इनमें निम्नलिखित अधिकार एवं विशेषाधिकार शौमिल थे: (i) भारतीय शिक्षा सेवा के लिए अतीत में आरक्षित किसी भी पद पर तब तक किसी प्रांतीय अधिकारी की नियुक्ति नहीं की जानी थी जब तक भारतीय शिक्षा सेवा का कोई भी सदस्य उस पद को पाने का पात रहता; (ii) भारतीय शिक्षा सेवा का कोई अधि-कारी सपरिषद मंत्री को छोड़कर अन्य किसी प्राधिकारी द्वारा अपनी सेवा से बरखास्त नहीं किया जा सकता था; (iii) भारतीय शिक्षा सेवा के अधिकारी को उस दशा में परिषद से अपील करने का अधिकार था यदि महत्वपूर्ण अनुशासनाटमक विषयों में उसके साथ प्रतिकल व्यवहार किया गया हो; (iv) राज्यपाल की वैयक्तिक सहमति के बिना कोई ऐसा आदेश जारी नहीं किया जा सकता था जिससे भारतीय शिक्षा सेवा के अधि-कारी की परिलब्धियों पर प्रतिकृत प्रभाव पड़ता हो अथवा जिसमें उसकी निंदा की गई हो; (v) उसके वेतन और पेंशन तथा उसके आश्रितों के लिए देय धनराशि पर किसी विधानमंडल में मतदान नहीं होना था; और (vi) अखिल भारतीय सेवाओं के जो सदस्य पेंशन पर सेवानिवृत्त होने के लिए साधारणतः अपेक्षित सेवा पूरी करने से पहले ही सेवानिवृत्त होना चाहें उन्हें उसके लिए अनुमति देने की भी व्यवस्था की गई थी और ऐसी दशा में उनकी पेंशन के विषय में अनुकूल विचार किया जाता था।

(ग) भारतीय शिक्षा सेवा के यूरोपीय सदस्यों को कुछ अतिरिक्त रियासतें भी दी गई थीं। ये रिसायतें अंशत: निर्वाह व्यय में वृद्धि हो जाने के कारण और अंशत: उन बदली हुई परिस्थितियों के कारण हुई क्षिति को पूरा करने के लिए दी गई थीं जिनमें उन्हें कार्य करना था।

इस प्रकार इन सुधारों के अधीन, भारतीय शिक्षा सेवा की स्थिति विषम थी। इसके परिणामस्वरूप, दोनों ओर काफी दुर्भावना पैदा हुई। यह वताना कठिन है कि व्यवहार में इस प्रणाली ने वस्तुतः किस प्रकार कार्य किया क्योंकि उपलब्ध साक्ष्य परस्पर विरोधी हैं। एक ओर यह आरोप लगाया गया कि गैर सरकारी भारतीय जनमत
पुर्नानर्माण के लिए जिन विचारों को प्रस्तुत कर रहा है उनके प्रति भारतीय शिक्षा सेवा
के अधिकारियों को सहानुभूति नहीं है और किसी ऐसी नीति को कार्यान्वित करना कठिन
हैं जिसके प्रति मुख्य कार्यपालक अधिकारियों की सहानुभूति न हो। यह भी कहा गया है
कि भारतीय शिक्षा सेवा को दिए गए विशेषाधिकार भारतीय मंत्रियों के अपने विधान
मंडलों के प्रति उत्तरदायित्व में कटौती किए जाने के बराबर हैं। दूसरी ओर अधिकारियों
को यह शिकायत थी कि नीति में बारंबार परिवर्तन किए जाते हैं और प्रशासन के दैनंदिन
अधिशासी कार्य में हस्तक्षेप किया जाता है। इस विषय में कोई सामान्यीकृत कथन संभव
नहीं है क्योंकि एक प्रांत से दूसरे प्रांत में स्थिति अवश्य भिन्न रही होगी और संबंधित
पक्षों के वैयक्तिक समीकरण पर अत्यधिक निर्भर रही होगी। परंतु कुल मिलाकर यह
अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रयोग भली प्रकार सफल नहीं हुआ और इस बात
की बहुत आवश्यकता महसूस की गई कि मंत्रियों और कार्यपालिका के बीच सामंजस्य
हो। परंतु इस समस्या के प्रति लोगों की छचि शीझ ही समाप्त हो गई क्योंकि भारतीय
शिक्षा सेवा में यूरोपीय तत्व 1936-37 तक एक प्रकार से समाप्त ही हो गया था।

कंद्रीय रुचि एवं सहायता का प्रभाव: द्वैधशासनात्मक प्रणाली की जिस तीसरी विशेषता के कारण शैक्षिक विस्तार और सुधार के मार्ग में कठिनाइयां पैदा हुई थीं, वह यह थीं कि केंद्रीय सरकार से अचानक ही वित्तीय सहायता मिलनी बंद हो गई थी। हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि केंद्रीय सरकार ने 1902 और 1918 के बीच भारी अनुदान दिए थे और उनसे शिक्षा में भारी प्रसार अथवा सुधार हुआ था। इस प्रकार के अनुदानों को इस काल में भी जारी रखना चाहिए था। परंतु दुर्भाग्यवश, द्वैधशासन की वित्तीय व्यवस्थाओं ने इस कार्य को असंभव बना दिया। जैसा पहले बताया जा चुका है, केंद्रीय सरकार ने न केवल प्रांतों को अपने अनुदान देना बंद कर दिया वरन प्रक्रिया को ही उलट दिया। प्रांतों से उल्टे अब यह अपेक्षा की जाती थी कि वे केंद्रीय सरकार को अंशदान देंगी। यह बात निस्संदेह सच है कि 1927-28 में इन अंशदानों को बंद कर दिया गया था। परंतु इससे हमारे कथन में कोई अंतर नहीं पड़ता कि 1921 और 1937 के बीच शिक्षा को केंद्र से वित्तीय सहायता उपलब्ध नहीं हुई।

इसी प्रकार, पूर्ववर्ती काल में केंद्रीय सरकार ने शैक्षिक विषयों में जो गहरी रुचि दिखाई थी, द्वैधशासन के आरंभ होने के साथ वह अचानक समाप्त हो गई। यद्यपि 1870 से शिक्षा को प्रांतीय विषय माना जाता रहा था तथापि भारत सरकार तमाम शिक्षा नीतियों के लिए स्वयं को उत्तरदाई मानती रही थी। जैसा पहले बताया जा चुका है, उसने शिक्षा में लगातार, विशेषकर 1902 और 1921 के बीच, गहरी रुचि ली थी। परंतु 1921 में यह सब कुछ बदल गया। भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अनुसार, शिक्षा न केवल एक प्रांतीय विषय बन गई वरन अंतरित विषय भी बन गई और सांविधानिक रूप से केंद्र का अंतरित विभागों पर कोई नियंत्रण नहीं रहा। इस निदेश का व्यवहार में इस प्रकार से निवंचन किया गया कि भारत सरकार ने शैक्षिक विषयों में

¹ क्विनक्वेनियल रिब्यू आफ दि प्रोग्नेस आफ एजूकेशन इन इंडिया, 1922-27, खंड I, पृ० 39 I

रिच लेना बंद कर दिया। उसने अपने उन कार्यों को भी संपन्न करने से इंकार कर दिया जिनमें नियंत्रण का तत्व अंतर्ग्रस्त नहीं था (जैसे प्रांतीय कार्यकलापों का समन्वय करना)। यह सच है कि शिक्षा के वार्षिक और पंचवार्षिक पुनरीक्षण तब भी प्रकाशित किए जाते रहे परंतु अन्य कोई भी कार्य नहीं किया गया। प्रांतीय सरकारों को विशेषज्ञ परामर्श देकर सहायता करने की दृष्टि से 1920 में एक केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड का गठन किया गया। यद्यपि उसने उपयोगी कार्य किया तथापि छंटनी की कुल्हाड़ी चलने पर उसे भी 1923 में समाप्त कर दिया गया। इन्हीं कारणों से भारत में शिक्षा विभाग का भी स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया और उसे अन्य विभागों के साथ मिला दिया गया। हार्टोंग समिति ने शिक्षा में केंद्रीय अनुदानों एवं रुचि के इस अभाव को शिक्षा से भारत सरकार का दुर्भाग्यपूर्ण संबंध विच्छेद बताया है। इस विषय पर समिति के जो विचार हैं और जिनसे अधिकांश शिक्षाविद सहमत होंगे वे निम्नलिखित हैं:

हमारी राय है कि शिक्षा से भारत सरकार का संबंध विच्छेद होना एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है। हम यह मानते हैं कि शिक्षा अनिवार्य रूप से एक राष्ट्रीय सेवा है। अतः हमारी राय है कि शिक्षा के साथ केंद्रीय सरकार के संबंध के बारे में नए सिरे से विचार करने के लिए कदम उठाए जाएं। हमने सुझाव दिया है कि भारत सरकार संपूर्ण भारत के लिए एक शैक्षिक सूचना केंद्र और विभिन्न प्रांतों के शैक्षिक अनुभव को समन्वित करने के लिए एक साधन बने। परंतु हम मानते हैं कि केंद्रीय सरकार के कर्तंच्य इससे भी अधिक हैं। यह मत हमें स्वीकार्य नहीं है कि केंद्रीय सरकार को उन सब उत्तरदायित्वों से पूरी तरह मुक्त कर दिया जाए जो सर्वजनीन प्राथमिक शिक्षा की लक्ष्य प्राप्ति के संबंध में होने चाहिए। हो सकता है कि समस्त प्रयत्नों के बावजूद कुछ प्रांत इस प्रयोजन के लिए आवश्यक निधियों की व्यवस्था न कर सकें। अत: संपूर्ण भारत के हित में, इस प्रकार की वित्तीय किमयों को पूरा करने के लिए भारत सरकार को सांविधानिक अधिकार देना चाहिए।

इस सिफारिश के परिणामस्वरूप केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड को 1935 में पुन: जीवित कर दिया गया। इस प्रकार इस काल की समाप्ति के समय स्थिति कुछ सुधर गई थी। परंतु यह बात माननी होगी कि जहां तक इस काल के अधिकांश भाग का संबंध है, भारत सरकार ने शैक्षिक विषयों में कोई रुचि नहीं ली और उसने प्रांतों को उनके शैक्षिक कार्यक्रमों के लिए कोई भी वित्तीय सहायता नहीं दी।

अन्य किठनाइयां: उपर्युक्त चर्चा से उन अन्य मुख्य किठनाइयों का पता चल जाता है जो उन सांविधानिक व्यवस्थाओं में अंतर्निहित थीं जिनके अधीन शिक्षा विभाग पहली बार भारतीयों के नियंत्रण में आए थे। इन किठनाइयों में वाह्य परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न किठनाइयां और जोड़ देनी चाहिए। उदाहरण के लिए, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

उस समय भारत का सबसे बड़ा राजनीतिक दल बन चुकी थी। उसने 1919 के सुधारों को असंतोषजनक समझा, विधान परिषदों का बहिष्कार कर दिया और असहयोग आंदोलन चलाया। इसी प्रकार उसने 1930-32 में सिवनय अवज्ञा आंदोलन चलाया। संपूर्ण विचाराधीन काल में देश के राष्ट्रीय जीवन में इन्हीं दो राजनीतिक आंदोलनों की धूम मची रही अत: जनता का ध्यान शैक्षिक समस्याओं की अपेक्षा राजनीतिक समस्याओं की ओर ही अधिक लगा रहा।

द्वैधशासन में शिक्षा

इन राजनीतिक कठिनाइयों में उन वित्तीय कठिनाइयों को भी जोड़ दिया जाना चाहिए जो लगभग 1930 में आरंभ हुई विश्वव्यापी मंदी के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। लोग यह सोचते होंगे कि विश्वव्यापी आर्थिक मंदी द्वारा उत्पन्न वित्तीय कठिनाइयों का शिक्षा पर या तो थोड़ा सा प्रभाव पड़ना चाहिए या बिल्कुल भी नहीं पड़ना चाहिए। शिक्षा विभाग को छंटनी रूपी कुल्हाड़ी के प्रहार से इसलिए बच जाना चाहिए था कि वह निर्माण करने वाला एक महत्वपूर्ण विभाग था और अतीत में बहुत समय तक इसे सरकारी राजस्वों में से इसका उचित अंश नहीं दिया गया था। दुर्भाग्यवश, इस काल की घटनाओं से पता चलता है कि राष्ट्र निर्माण करने वाले विभागों विशेषकर शिक्षा विभाग पर इस कुल्हाड़ी का कठोर प्रहार हुआ।

इस काल की मुख्य उपलब्धियां : उपर्युंक्त पृष्ठभूमि को घ्यान में रखते हुए अब हम इस काल की मुख्य उपलब्धियों पर आते हैं।

अग्रलिखित [पृष्ठ 286 पर] आंकड़ों में 1921-22 के ग्रैक्षिक परिणामों की 1936-37 के ग्रैक्षिक परिणामों के साथ तूलना की गई है।

उन आंकड़ों से यह पता चलता है कि परिणाम आश्चर्यजनक रूप से अच्छे हैं, उपर्युक्त अनेक कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए वे कुछ अप्रत्याशित भी हैं। वे परिणाम किन कारणों से निकले हैं? हम इस विरोधाभासी स्थिति को किस प्रकार स्पष्ट करें कि विद्या-लयों की और शिक्षा पाने वाले छातों की संख्या में इस तथ्य के बावजूद सर्वतोमुखी और अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी कि आर्थिक संकट के कारण सरकारी प्रयत्नों का विस्तार सारभूत रूप से कम हो गया ?

भारत में इस काल में जो महान राजनीतिक एवं सामाजिक जागृति हुई थी उससे उपर्युक्त विरोधाभास के बारे में स्थित स्पष्ट हो सकती है। इस काल में दो दस्तावेजों के निम्नलिखित उद्धरणों से उन कारणों का पता चल जाएगा जिनसे शिक्षा का इतना उल्लेखनीय विस्तार हुआ था:

शिक्षा की लहर फैल जाने के कारण बालक विद्यालयों में अनुपम त्वरित गित से भर्ती हुए। लोगों के मन में शिक्षा के महत्व के बारे में प्राय: बालकों जैसा विश्वास उत्पन्न कर दिया गया। अपने बालकों की शिक्षा के लिए माता पिता कोई भी त्याग करने को तैयार थे। जीवन में कम भाग्यशाली व्यक्ति के प्रति सहिष्णुता का बीज प्रस्फुटित हुआ। विकास के संबंध में महत्वाकांक्षी और विशद कार्यक्रम तैयार किए गए जिनका उद्देश्य साक्षर भारत के स्वप्नों को पूरा करना था। मुस्लिम समुदाय जो बहुत समय से शिक्षा में पिछड़ा हुआ था, अतीत की किमयों को दूर करने के

^{1.} विस्तृत विवरण के लिए देखिए पृ० 325।

^{2.} रिपोर्ट, पृ० 346।

लिए आनुरता के साथ आगे बढ़ा। भारतीय बालिकाओं की शिक्षा के विरुद्ध जो प्राचीन पूर्वग्रह फैले हुए थे प्रबुद्ध महिलाओं ने उनके विरुद्ध धावा बोलना आरंभ कर दिया। सरकार ने विधान परिषदों की पूर्ण सहमति से शिक्षा के लिए भारी धनराशि प्रदान की जबिक दस वर्ष पूर्व इसी बात को ज्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र से बाहर की बात मान लिया गया होता।

| संख्या का प्रकार | संस्थाओं व | की संख्या | छात्रों व | ही संख्या |
|--------------------------------------|------------|-----------|-------------------------|------------------|
| | 1921-22 | 1936-37 | 1921-22 | 1936-37 |
| 1. विश्वविद्यालय | 10 | 15 | आंकड़े उप- लब्ध नहीं | 9,697 |
| 2. कला महाविद्यालय | 165 | 271 | 45,418 | 86,273 |
| 3. वृत्तिक महाविद्यालय | 64 | 75 | 13,662 | 20,645 |
| 4. माध्यमिक विद्यालय | 7,530 | 13,056 | 11,06,803 | 22,87,872 |
| 5. प्राथमिक विद्यालय | 1,55,017 | 1,92,244 | 61,09,752 | 1,02,24,288 |
| 6. विशेष विद्यालय | 3,344 | 3,647 | 1,20,925 | 2,59,269 |
| मान्यताप्राप्त संस्थाओं का योग | 1,66,130 | 2,11,308 | 73,96,560 | 1,28,88,044 |
| 7. गैर मान्यताप्राप्त संस्थाएं | 16,322 | 16,647 | 4,22,165 | 5,01,530 |
| कुल योग | 1,82,452 | 2,27,955 | 78,18,725 | 1,33,89,574 |

टिप्पणी : आंकड़े केवल ब्रिटिश भारत के हैं और वर्मा शामिल नहीं है।

शिक्षा को सामान्यतः प्रमुख राष्ट्रीय महत्व का विषय, राष्ट्र निर्माण के कठिन कार्य में एक अपरिहार्य अभिकरण माना जाने लगा है। विधान परिषदों ने इसकी ओर जो ध्यान दिया है वह इस मान्यता का लक्षण और प्रमाण दोनों ही है। शिक्षा विभाग को एक मंत्री के अधीन लोक नियंत्रण में अंतरित किए जाने से उसके प्रति जनता की रुचि भी बढ़ गई है और उसे आवश्यकताओं एवं लोकमत की प्रवृत्तियों के प्रति अधिक संवेदनशील बना दिया है ८ऐसा नहीं है कि केवल प्राधिकारियों एवं संपन्न वर्गों ने ही शिक्षा के प्रसार का स्वागत किया है और उसे प्रोत्साहन दिया है । मुस्लिम समुदाय जैसे अनेक समुदाय जो बहुत दिनों से शैक्षिक रूप से पिछड़े थे अब अपने बालकों की शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं एवं संभावनाओं के बारे में सचेत हो गए हैं। यह आंदोलन दिलत वर्गों, यहां तक कि आदिवासियों के बीच भी फैल गया है और इसने अधिकार के तौर पर शिक्षा की मांग करने के लिए पहले की अपेक्षा अब बहुत अधिक लोगों को आंदोलित कर दिया है।

इन उद्धरणों से, कुल मिलाकर, उन कारणों का पता चलता है जिनसे विचाराधीन काल में अपूर्व प्रसार हुआ था।

हार्टोग समिति प्रतिवेदन और उसकी प्रतिक्रियाएं: पंद्रह वर्ष की इस अविध में शिक्षा का जो द्रुत प्रसार हुआ उससे शिक्षा के कुछ विद्यमान दोषों से तो मुक्ति मिली, परंतु उसने अपनी नई समस्याएं भी पैदा कर दीं। इसके परिणामस्वरूप, सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में शिक्षा पद्धित के विरुद्ध यथेष्ट रूप से असंतोष बढ़ा। इस असंतोष का उल्लेख वर्तमान शताब्दी के आरंभिक दशकों पर विचार करते समय किया जा चुका है। उदाहरण के लिए, सरकारी मत यह था कि परिमाण में अचानक वृद्धि होने से गुण में भारी गिरावट आ गई है और भारत की शिक्षा पद्धित अधिकांशतः अप्रभावी और अपव्ययपूर्ण है। इस विचार को 'भारतीय सांविधिक आयोग की सहायक समिति के, जो अपने अध्यक्ष सर फिलिप हार्टोग के नाम पर हार्टोग सिमिति² के नाम से प्रसिद्ध है प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। यह प्रतिवेदन इस काल के सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेजों में से है और इसका ध्यानपूर्वक अवलोकन करने की आवश्यकता है। सिमिति के मुख्य निष्कर्षों और सिफारिशों पर बाद में उपयुक्त प्रसंग में चर्चा की जाएगी। इस समय हम उसके प्रतिवेदन का अग्रलिखित सारांश उद्धत कर देते हैं।

1. रिपोर्ट आफ दि हार्टोग कमेटी, प० 31 ।

2. 1919 के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार, सांविधानिक सुधारों के संबंध में 1929 में एक शाही आयोग नियुक्त किया जाना था। परंतु चूंकि भारत में लगातार यह आंदोलन चल रहा था कि 1919 के सुधार असंतोषजनक हैं अतः 1927 में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया जिसके अध्यक्ष सर जान साइमन थे। 1919 के भारत सरकार अधिनियम की धारा 84 ए (3) के अधीन, इस आयोग से ब्रिटिश भारत में शिक्षा संवृद्धि के बारे में प्रतिवेदन देने को कहा गया था और उसे इस प्रयोजन के लिए यदि आवश्यक हो तो एक सहायक समिति नियुक्त करने का भी प्राधिकार दिया गया था। तदनुसार आयोग ने यह समिति नियुक्त की जिसके अध्यक्ष सर फिलिप हार्टोंग थे। वे अनेक वर्षों तक भारत में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के सदस्य और ढाका विश्वविद्यालय के कुलपति रह चुके थे।

^{1.} विवनववेनियल रिन्यू आफ दि प्रोग्नेस आफ एजूकेशन इन इंडिया, 1927-32, अंक I, पृ० 3।

द्वैधशासन में शिक्षा

हमने शिक्षा की संवृद्धि के बारे में जो पुनरीक्षण किया है उससे भारत के राजनीतिक भविष्य के संबंध में मूलभूत हित की कई बातों का पता चलता है। चूंकि प्राथमिक विद्यालयों की छात्र संख्या में भारी वृद्धि हो गई है अतः ज्ञात होता है कि जनता की पुरानी उदासीनता अब समाप्त हो रही है। भारत की महिलाओं में सामाजिक और राजनीतिक जागृति फैली है और उनकी ओर से शिक्षा एवं समाज सुधार की स्पष्ट मांग की गई है। शिक्षा पाने वाले मुसलमानों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। दिलत वर्गों की दशा को सुधारने के लिए प्रयत्न किए गए हैं और उन प्रयत्नों का इन वर्गों पर प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया है। वे शिक्षा पाने के अपने अधिकार को जताने लगे हैं। सभी ओर जननेताओं की यह इच्छा रही है कि शिक्षा को जटिल एवं कठिन समस्याओं को समझें और उनका हल निकालने का प्रयत्न करें। शिक्षा मंतियों ने अधिक अतिरिक्त ब्यय किए जाने का प्रस्ताव रखा है तथा विद्यान परिषदों ने मतदान द्वारा इच्छापूर्वक स्वीकृति प्रदान कर दी है। यह इस तस्वीर का एक पहलू है। इसके अतिरिक्त दूसरा पहलू भी है।

संपूर्ण शिक्षा पद्धति में अपन्यय और अप्रभाविता है। हमारे विचार से प्राथमिक पद्धति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे साक्षरता बढ़े और बुद्धिमतापूर्वक मतदान करने की क्षमता पैदा हो। परंतु यहां प्राथमिक पद्धति में जो अपव्यय हो रहा है उसे देखकर स्तब्घ रह जाना पड़ता है । जहां तक हम समझ सके हैं प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में भारी वृद्धि हो जाने पर भी साक्षरता में तदनुरूप वृद्धि नहीं हुई है क्योंकि प्राथमिक चरण के छात्रों में से बहुत कम अनुपात में छात्र चतुर्थ कक्षा तक पहुंचते हैं। चतुर्थ कक्षा वह कक्षा है जिसमें साक्षरता प्राप्ति होने की आशा की जा सकती है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के मामले में अपव्यय और भी चिताजनक है... माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कुछ पहलुओं में प्रगति हुई है। विशेषकर यह प्रगति अध्यापक समुदाय की औसत क्षमताओं में उनकी सेवा की सुधरी हुई शर्तों एवं प्रशिक्षण में और विद्यालय जीवन के सामान्य कार्यकलापों को व्यापक बनाने के प्रयास में दिखाई देती है। परंतु उसमें भी संघटन संबंधी दोष हैं। संपूर्ण माध्यमिक शिक्षा पद्धति में अब भी इस आदर्श को प्रमुखता दी जाती है कि माध्यमिक विद्यालय में जो भी छात्र प्रवेश करे उसे विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने की दृष्टि से तैयारी करनी चाहिए। मैट्रिक तथा विश्वविद्यालय परीक्षा में छात्रों के भारी संख्या में अनुत्तीर्ण होने से इस बात का पता चलता है कि सारे प्रयत्न बेकार जा रहे हैं। व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रशिक्षण देने के लिए जो प्रयास किए गए हैं उनका शिक्षा पद्धति के साथ कोई संपर्क नहीं है। अतः वे अधिकांशतः निष्फल ही हुए हैं। अनेक विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों की अध्यापन विधियों में और उनके द्वारा किए गए मौलिक कार्य के परिमाण में स्पष्ट सुधार दिखाई दे रहा है। उनमें से कुछ में निस्संदेह पहले की अपेक्षा अब समिष्ट जीवन बिताने के लिए ज्यादा अच्छा प्रशिक्षण मिलता है। परंत्र भारत में अब भी इस सिद्धांत को बहुत बड़े पैमाने पर स्वीकार किया जाता है कि विश्वविद्यालय यदि पूर्णतया नहीं तो मुख्यतः विद्यार्थियों को परीक्षाओं में उत्तीर्ण करने के लिए होता। हम चाहते हैं कि इस बात के और अधिक संकेत मिलते कि विश्वविद्यालय उदारमना, सिहष्णु और आत्मिनभर नागिरिकों के प्रशिक्षण को अपना एक प्रमुख कार्य मानते हैं। उनके कार्य में इसलिए बाधा पड़ी है कि उनमें ऐसे विद्यार्थियों की भीड़ है जो विश्वविद्यालय शिक्षा पाने की क्षमता नहीं रखते तथा इनमें से बहुत से विद्यार्थियों के अन्य व्यवसायों में सफल होने की अधिक संभावना है।

हमें इस बात में कोई संदेह नहीं है कि भारत के विधानमंडल शिक्षा के लिए बड़ी खुशी से अधिकाधिक धनराशि निर्धारित करेंगे। परंतु जैसा हम बता चुके हैं कि शिक्षा का सुधार एवं विस्तार केवल धन पर ही निर्भंर नहीं करता है। निरसंदेह धन का होना अत्यावश्यक है परंतु इससे भी अधिक आवश्यकता एक सुनिदेशित नीति की है जिसे ऐसे प्रभावी और सक्षम अभिकरण कार्यान्वित करें जो सभी प्रकार के अपव्यय को रोकने के लिए कृतसंकल्प हों। हमसे शिक्षा व्यवस्था के बारे में प्रतिवेदन देने को कहा गया था। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा व्यवस्था से संबंधित प्राय: सभी विषयों पर पुनर्विचार किया जाए और इस व्यवस्था को मजबूत बनाया जाए। इस बात की भी आवश्यकता है कि शिक्षा व्यवस्था के लिए उत्तरदाई निकायों के संबंधों का पुन: समायोजन किया जाए।

स्पष्ट है कि इस प्रतिवेदन का मुख्य निष्कर्ष यह है कि गुण की बिल देकर परिमाण को प्राप्त किया गया है और तात्कालिक आवश्यकता इस बात की है कि छात्न संख्या को और भी अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करने के बजाए गुण में सुधार किया जाए। सरकारी क्षेत्रों में इस जांच परिणाम का तुरंत और हार्दिक स्वागत हुआ। वास्तव में इसका अर्थ यह था कि सरकार का वह गुणात्मक सुधार संबंधी दृष्टिकोण विजयी रहा जिसकी 1902 और 1921 के बीच प्रमुखता रही थी और जिसे 1922 और 1927 के बीच भारतीय मंत्रियों ने रह कर दिया था। सरकारी क्षेत्र अब यह कह सकते थे कि 'हमने आपसे ऐसा कहा था।'

गैर सरकारी क्षेत्रों में इस प्रतिवेदन की तीव्र आलोचना हुई। यह आलोचना विशेष-कर दो कारणों से हुई। पहला कारण यह था कि इस प्रतिवेदन से यह ध्वनित होता था कि उसमें शिक्षा के भारतीय नियंत्रण की निदा की गई है क्योंकि उसमें वस्तुत: यह कहा गया था कि भारतीय मंत्रियों ने विस्तार की जो नीति अपनाई थी वह अविवेकपूर्ण थी। भारतीय मत इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकता था। सामान्य भावना यह थी कि प्रशासन के द्वैधशासनात्मक रूप में जो किठनाइयां अंतर्निहित थीं उनको देखते हुए यह आश्चर्य की बात है कि भारतीय मंत्रियों ने इसके बावजूद इतनी अधिक उपलब्धि प्राप्त की थी। दूसरा कारण यह है कि भारतीय लोकमत अब भी यह समझता था कि विद्यमान स्थिति में पहली आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा का और अधिक विस्तार किया जाए तथा अनिवार्य शिक्षा आरंभ की जाए । वह गुणात्मक सुधारों के विरुद्ध नहीं था परंतु वह जिस प्रकार के सुधारों की मांग करता था वे बिल्कुल भिन्न प्रकार के थे। उदाहरण के लिए, यदि हार्टोंग प्रतिवेदन में अंग्रेजी का स्तर गिर जाने पर शोक प्रकट किया गया था तो गैर सरकारी मत को यह शिकायत थी कि संपूर्ण विद्यालय एवं महा-विद्यालय पाठ्यक्रम में अंग्रेजी का ही प्रभुत्व है और उसका यह प्रस्ताव था कि अंग्रेजी को वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाया जाए। यहां तक कि उसने यह भी सुझाव दिया था कि अंग्रेजी के स्थान पर राष्ट्रभाषा के रूप में एक भारतीय भाषा, उदाहरणार्थ, हिंदुस्तानी का अध्ययन कराया जाए । गैर सरकारी क्षेत्र में शिक्षा पद्धति की जो आलोचना हुई थी अथवा सुधार के संबंध में गैर सरकारी क्षेत्र-ने जो प्रस्थापनाएं रखी थीं हमें इस समय उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे तात्कालिक प्रयोजन के लिए इतना ही पर्याप्त है कि हम उन मुख्य प्रवृत्तियों को बता दें जो शिक्षा में राष्ट्रीय विचार-धारा ने प्रदर्शित की हैं। ये प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं: पश्चिम के बौद्धिक प्रभुत्व के विरुद्ध प्रत्यापति; पाश्चात्य आदशों की नकल करने की बजाय राष्ट्रीय आकांक्षाओं के उपयक्त एक नई शिक्षा पद्धति का सर्जन करने की इच्छा; यह बात सिद्ध करने का प्रयास कि यह आवश्यक नहीं है कि अच्छी शिक्षा खर्चीली ही हो; और यह प्रदर्शित करने के लिए संघर्ष कि भारत जैसे निर्धन देश के संसाधनों से ही एक शिक्षा पद्धति का किस प्रकार विकास किया जा सकता है।

इससे यह पता चलता है कि सरकारी और गैर सरकारी विचारों के बीच दरार बहुत चौड़ी थी। यदि दोनों पक्षों का एक साथ कार्य करना संभव हो सका होता तो यह खाई भरी जा सकती थी। दुर्भाग्यवश उस समय देश की राजनीतिक स्थिति इस प्रकार का कोई भी प्रयोग किए जाने के अनुकूल नहीं थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उस समय देश में सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक संस्था थी और उसने द्वैधशासन को चलाने में सरकार का साथ नहीं दिया। इसके परिणामस्वरूप इस काल के भारतीय मंत्रीगण वास्तव में जनता का समर्थन नहीं प्राप्त कर सके। उन्हें बहुधा सरकारी समर्थन पर निर्भर करना पड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि चोटी पर किसी भारतीय मंत्री के होने पर भी वास्तव में अंततः, विशेषकर 1927 के बाद, भारतीय शिक्षा सेवा ही, संपूर्ण सरकारी नीतियों को नियंत्रित करती रही। वास्तविक भारतीय मत सरकार के बाहर ही रहा और उसने सरकारी पद्धति के अंदर रहने के बजाय बाहर रहकर ही कार्य करना पसंद किया । इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी तौर पर शिक्षा को भारतीय नियंत्रण में दे दिए जाने पर भी नौकरशाही और राष्ट्रवादी विचारधाराएं अब भी पूर्ववर्ती काल (1920-21) की तरह एक दूसरे का विरोध करती रहीं। वास्तव में इस संघर्ष का अंत 1937 में तब हुआ जबिक प्रांतीय स्वशासन आरंभ हुआ, भारतीय शिक्षा सेवा को अधिकांशतः समाप्त कर दिया गया और भारत के अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस सत्तारूढ़ हो गई।

विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयी शिक्षा: 1921 से 1937 तक के 16 वर्षों में विश्व-विद्यालय शिक्षा की भारी प्रगति हुई। इस काल की मुख्य घटनाएं अग्रलिखित हैं। (क) अंतिबश्विवद्यालय बोर्ड : कलकत्ता विश्विवद्यालय आयोग ने इस बात पर बहुत जोर दिया था कि भारतीय विश्विवद्यालयों के कार्य का समन्वय करने की आवश्यकता है। 1921 में साम्राज्य विश्विवद्यालय कांग्रेस से भी भारतीय प्रतिनिधियों ने इसी प्रकार की सिफारिश की थी। इंग्लैंड में भारतीय विद्यार्थियों से संबंधित लिटन सिनित ने भी यह आशा व्यक्त की थी कि भारतीय विश्विवद्यालय भारत में अध्ययन कमों को समन्वित करने के लिए और विदेशों में अपनी मान्यता में एकरूपता लाने के लिए शीघ्र ही एक अंतिवश्विवद्यालय बोर्ड का गठन करेंगे। इन तमाम सिफारिशों के परिणामस्वरूप भारतीय विश्विवद्यालयों का पहला अखिल भारतीय सम्मेलन 1924 में शिमला में हुआ और एक अंतिवश्विवद्यालय बोर्ड स्थापित किया गया। बोर्ड में सर्भी भारतीय विश्विद्यालयों के प्रतिनिधि हैं और वह 1925 से विभिन्न विश्विवद्यालय केंद्रों में अपनी वार्षिक बैठकें करता रहा है। उसने कई दिशाओं में उपयोगी कार्य किया है और अब भारतीय विश्विद्यालय व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बन गया है।

(ख) नए विश्वविद्यालयों का निगमन: आपको यह स्मरण होगा कि 21 फरवरी 1913 के शिक्षा नीति संबंधी सरकारी संकल्प में यह सिद्धांत निर्धारित किया गया था कि प्रत्येक प्रांत का अपना एक विश्वविद्यालय होना चाहिए और अधिक से अधिक केंद्रों पर अध्यापन विश्वविद्यालय स्थापित किए जाने चाहिए। विचाराधीन काल में इसी सिद्धांत के आधार पर विस्तार किया गया और पांच नए विश्वविद्यालय निगमित हुए। दिल्ली के केंद्र प्रशासित प्रांत के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय और मध्य प्रांत और बरार के लिए नागपुर विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। मद्रास प्रेसीडेंसी के तेलुगू भाषी क्षेत्रों के लिए आंध्र विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। आगरा विश्वविद्यालय को संयुक्त प्रांत, मध्य भारत और खालियर के लिए संबंधन विश्वविद्यालय के रूप में निगमित किया गया। सबसे अंत में मद्रास के प्रेसीडेंसी में चिदंबरम् में एक एकात्मक, अध्यापन और अधिकांशतः आवासिक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया और उससे दानशील दाता राजा सर अन्नामलाई चेट्टियार के नाम पर उसका नामकरण किया गया।

- (ग) पुराने संबंधन विश्वविद्यालयों में परिवर्तन: भारत के बहुत से पुराने विश्वविद्यालयों में भी विचाराधीन काल में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। मद्रास विश्वविद्यालय के संविधान में 1923 और 1929 के संशोधन अधिनियमों द्वारा यथेष्ट संशोधन कर दिया गया। बंबई विश्वविद्यालय के संविधान में 1928 के अधिनियम द्वारा और पटना विश्वविद्यालय के संविधान में 1932 के अधिनियम द्वारा संशोधन किए गए। इन सब अधिनियमों का उद्देश मुख्यतः विश्वविद्यालयों के प्रशासन में सुधार करना और उन्हें 'उच्च शिक्षा तथा अनुसंधान की और अधिक सुविधाएं देने के लिए' समर्थ बनाना था। विचाराधीन काल में, इलाहाबाद विश्वविद्यालय नितात अध्यापन निकाय बन गया और कलकत्ता तथा पंजाब के विश्वविद्यालयों ने विस्तृत अध्यापन कार्य आरंभ कर दिया।
- (घ) विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रसार: विश्वविद्यालयों के विभागों और घटक अथवा संबद्ध महाविद्यालयों की संख्या 1921-22 में 207 थी परंतु वह 1936-37 में बढ़कर 446 हो गई और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या 66,258 से बढ़कर 1,26,228 हो

गई। इसके अतिरिक्त बहुत से संकाय खोले गए और अनेक नए पाठ्यक्रमों के अध्यापन की व्यवस्था की गई।

(ङ) अनुसंधान के लिए व्यवस्था: विचाराधीन काल की एक प्रमुख विशेषता यह है कि सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में अनुसंधान के लिए विशेष व्यवस्था की गई। 1854-1902 के दौरान भारतीय विश्वविद्यालयों का मुख्य कार्य 'उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन देने से भी अधिक यह था कि भारतीय मस्तिष्क को पुरानी दुनिया के विचारों से मुक्त कराया जाए और पश्चिम के जीवन, विचार और चरित्न में जो कुछ सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट है उसे आत्मसात किया जाए। 1 1902-21 के दौरान विश्वविद्यालयों ने शिक्षण और अनुसंधान की ओर ध्यान दिया यद्यपि इसकी वास्तिविक उपलब्धियां यथेष्ट नहीं थी, 1921-37 के बीच की अवधि में विश्वविद्यालयों ने पहले की अपेक्षा अधिक बड़े पैमाने पर अनुसंधान कार्य की व्यवस्था की। यह व्यवस्था (क) पुस्तकालयों और अनुसंधान विभागों का अनुरक्षण करके, (ख) अनुसंधान उपाधियों की संस्थापना करके, (ग) अनुसंधान के लिए छात्ववृत्तियों तथा अध्येतावृत्तियों की व्यवस्था करके, और (घ) विश्वविद्यालयों के बुलेटिनों अथवा प्रकाशनों द्वारा की गई। इस प्रकार ज्ञान की परिधि का विस्तार करने के लिए भारतीय विश्वविद्यालय पहले से ही युद्ध आरंभ कर चुके थे और यह आशा करने के लिए तमाम कारण मौजूद थे कि वे शीघ्र ही एक ऐसी भूमिका अदा करने लगेंगे जो इस देश की परंपराओं के अनुरूप होगी।

(च) अंतर्महाविद्यालय और अंतिवश्वविद्यालय कार्यकलापों का विकास: विचाराधीन काल की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि अंतर्महाविद्यालय खेलकूद तथा अंतर्महाविद्यालय प्रतियोगिताओं का विकास हुआ। ये शी घ्र ही प्रायः सभी भारतीय विश्वविद्यालयों की विशेषता बन गए। अंतिवश्वविद्यालय बोर्ड भी अंतिवश्वविद्यालय खेलकूद और खेल प्रतियोगिताए कराने लगा। इन कार्यकलापों से देश के विभिन्त भागों में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के बीच सुरुचिपूर्ण संपर्क स्थापित हुआ और ये भारत के पल्लवित होते हुए राष्ट्रीय जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू बन गए।

(छ) इंटरमीडिएट महाविद्यालय: कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की एक सबसे महत्व-पूर्ण सिफारिश यह थी कि विद्यालय शिक्षा और विश्वविद्यालय शिक्षा के बीच विभाजन की रेखा मैट्रिक परीक्षा नहीं वरन इंटर परीक्षा हो। आयोग का विचार था कि भारतीय विश्वविद्यालय की इंटर कक्षाएं वास्तव में उच्च विद्यालय पाठ्यक्रम का अंग हैं और इन कक्षाओं में विद्यार्थियों को उन प्रणालियों की अपेक्षा विद्यालय प्रणाली से ज्यादा प्रभावी रूप से पढ़ाया जा सकता है जिन्हें सामान्यत: विश्वविद्यालयों में अपनाया जाता है। अतः आयोग ने सिफारिश की कि विशिष्ट उच्च विद्यालयों में दो कक्षाएं और जोड़ कर इंटरमीडिएट महाविद्यालय नामक नई प्रकार की संस्थाएं स्थापित की जाएं और विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम इंटर परीक्षा के बाद आरंभ हो तथा दो वर्ष के बजाय तीन वर्ष का हो। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आयोग ने यह भी सिफारिश की कि एक

माध्यमिक तथा इंटरमीडिएट शिक्षा बोर्ड की स्थापना की जाए और इस बोर्ड का मुख्य उद्देश्य आयोग द्वारा बताए गए आधारों पर उच्च विद्यालयों और इंटरमीडिएट शिक्षा को मान्यता देना हो। 1

द्वैधशासन में शिक्षा

इस सिफारिश का भारतीय शैक्षिक विचार घारा पर भारी प्रभाव पड़ा और कुछ समय तक ऐसा प्रतीत हुआ कि इस सिफारिश को व्यापक स्वीकृति मिल जाएगी। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग का प्रतिवेदन आने के बाद अगले कुछ वर्षों में जो विश्व-विद्यालय अधिनियम बने, उनमें इंटरमीडिएट शिक्षा को विश्वविद्यालयों के क्षेत्र से या तो निकाल दिया गया या निकाल देने का प्रस्ताव रखा गया । इस प्रकार ढाका विश्वविद्यालय अधिनियम, 1921 ने इंटरमीडिएट शिक्षा को अपने क्षेत्र से निकाल दिया और उसे बंगाल सरकार के प्राधिकार में एक गैर विश्वविद्यालय बोर्ड को सौंप दिया। इसी प्रकार इलाहाबाद, लखनऊ और अलीगढ़ के विश्वविद्यालय अधिनियमों में इंटरमीडिएट शिक्षा को विश्वविद्यालयों के क्षेत्र से निकाल देने का उपबंध किया गया और इंटरमीडिएट शिक्षा को दो माध्यमिक तथा इंटरमीडिएट शिक्षा बोर्डों को सौंप दिया। इनमें से एक बोर्ड इलाहाबाद और लखनऊ विश्वविद्यालयों की क्षेत्रीय सीमाओं में कार्य करता था और दूसरा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के अधिकार क्षेत्र में । दिल्ली विश्वविद्यालय अधि-नियम, 1922 में भी यह व्यवस्था कर दी गई कि विश्वविद्यालय अपनी स्थापना की तारीख से पांच वर्ष की अवधि तक अथवा और आगे इस तारीख तक जिस तक सपरिषद गवर्नर जनरल निदेश दें इंटरमीडिएट शिक्षा को नियंत्रित करें। इसी प्रकार, 1923 के मद्रास विश्वविद्यालय अधिनियम में यह व्यवस्था की गई थी कि जैसे ही परीक्षार्थियों को इंटर परीक्षा के लिए तैयार करने वाली संस्थाओं के पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण के लिए पर्याप्त व्यवस्था कर दी जाए, प्रांतीय सरकार इंटरमीडिएट शिक्षा को विश्वविद्यालय के क्षेत्र से निकाल सकती है।2

परंतु शीघ्र ही परिवर्तन हुआ और शैक्षिक मत बदलने लगा। वह उपर्युक्त प्रस्थापना का कुछ अन्य कारणों के साथ निम्नलिखित कारणों से विरोध करने लगा:

- (i) कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने जिस प्रकार के इंटरमीडिएट महाविद्यालयों की सिफारिश की थी उस प्रकार के महाविद्यालय उन आशाओं को पूरा नहीं कर सके जो उनसे की जाती थीं। अत: सुधार का ज्यादा अच्छा तरीका यह होगा कि उच्च विद्यालयों में शिक्षा का स्तर सुधारा जाए।
- (ii) इंटरमीडिएट कक्षाएं उपाधि महाविद्यालयों के लिए आय का स्रोत हैं अत: यदि इंटरमीडिएट कक्षाओं को इन महाविद्यालयों से हटा लिया जाएगा तो उन्हें भारी आर्थिक घाटा होगा।

^{1.} इस प्रस्थापना के ब्योरों के लिए रिपोर्ट आफ दि कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमाशन, अंक IV के अध्याय 31 और 32 देखिए।

^{2.} अधिनियम की धारा 36 और 37।

(iii) इंटरमीडिएट महाविद्यालयों को उस प्रकार के सक्षम अध्यापकों की सेवाएं लेना संभव नहीं होगा जिस प्रकार के सामान्यत: महाविद्यालयों में उपलब्ध थीं।

(iv) इंटरमीडिएट और उपाधि कक्षाओं को एक ही संस्था में चलाने की प्रस्थापना वित्तीय एवं शैक्षिक दोनों ही दृष्टियों से ज्यादा अच्छी थी क्योंकि इस प्रस्थापना से प्रबंध में यह कार्य कर सकता है कि इंटरमीडिएट कक्षाओं में जो बचत हो उसका उपयोग उपाधि पाठ्यक्रमों के संबंध में हुए घाटे को पूरा करने के लिए कर ले और उपाधि कक्षाओं के योग्य अध्यापकों की सेवाओं का उपयोग इंटरमीडिएट कक्षाओं में भी शिक्षा देने के लिए कर ले।

(v) कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिश इस प्रस्थापना के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है कि उपाधि पाठ्यक्रम की अवधि बढ़ाकर तीन वर्ष कर दी जाए। परंतु बाद में बताए गए इस सुधार को जनता इस कारण से स्वीकार नहीं करेगी कि इससे उच्च शिक्षा खर्चीली हो जाएगी और यह उस समय को और आगे बढ़ा देगी, जिस समय किसी नवयुवक को अपनी रोजी कमाने का व्यवसाय शुरू कर देना चाहिए।

(vi) इंटरमीडिएट शिक्षा को विश्वविद्यालय के क्षेत्र से पृथक कर देने से विश्व-विद्यालय उस सार्वभूत आय से वंचित हो जाएगा जो उसे इस समय इंटर और मैट्रिक परीक्षाओं के परीक्षार्थियों की फीस से प्राप्त होती है।

इन तथा अन्य कारणों से 1922 से 1926 के बीच इस प्रश्न पर जोरदार चर्चा छिड़ी और शैक्षिक मत धीरे धीरे इस सुधार का अधिकाधिक विरोधी होता गया। इस बदलते हुए दृष्टिकोण का एक संकेत 1926 और उसके बाद बनाए गए विश्वविद्यालय अधिनियमों में मिलता है। 1926 के आंध्र विश्वविद्यालय अधिनियम, 1928 के बंबई विश्वविद्यालय अधिनियम, 1929 के अन्ना मलई विश्वविद्यालय अधिनियम और 1932 के पटना विश्वविद्यालयों अधिनियम में विश्वविद्यालयों को इंटरमीडिएट शिक्षा को नियंत्रित करने की निश्चय ही अनुमित दी गई है। सामान्यतः इंटरमीडिएट शिक्षा पर दिल्ली विश्वविद्यालय का नियंत्रण 1927 में समाप्त हो जाना चाहिए था परंतु उसके नियंत्रण की अविध वर्षानुवर्ष बढ़ाई जाती रही। यहां तक कि संयुक्त प्रांत में यद्यपि उपर्युक्त प्रयोग जी लगा कर किया गया था तथापि वहां भी शैक्षिक राय इस सिफारिश के विश्व हो गई। 1927 के आगरा विश्वविद्यालय अधिनियम ने विश्वविद्यालय से संबद्ध महाविद्यालयों में इंटरमीडिएट कक्षाएं चलाने की अनुमित प्रदान कर दी। यद्यपि इस प्रकार की कक्षाओं को 'उच्च विद्यालय तथा इंटरमीडिएट शिक्षा बोर्ड' नामक एक गैर विश्वविद्यालय निकाय के नियंत्रण में रखा गया था। यह उदाहरण यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि किस प्रकार भारत में शैक्षिक विचारधारा सैंडलर द्वारा दिए गए सुझाव के पूरी तरह विरुद्ध हो गई।

ढाका विश्वविद्यालय और तीन प्रांतों अर्थात संयुक्त प्रांत, पंजाब और बिहार ने इस सुझाव को स्वीकार करके आजमाइश की। ढाका विश्वविद्यालय ने अपना कार्य इंटर-मीडिएट चरण के बाद से गुरू किया। संयुक्त प्रांत ने एक उच्च विद्यालय तथा इंटर-मीडिएट शिक्षा बोर्ड बनाया। इसके कार्य निम्नलिखित थे: (1) उच्च विद्यालय तथा इंटर परीक्षाएं लेना, (2) उच्च विद्यालय तथा इंटर परीक्षाएं लेना, (2) उच्च विद्यालय तथा इंटरमीडिएट चरणों के लिए अध्ययन

कम निहित करना, (3) उच्च विद्यालयों तथा इंटरमीडिएट महाविद्यालयों के लिए मान्यता प्रदान करना, (4) मान्यता प्राप्त संस्थाओं का आवधिक निरीक्षण, इत्यादि। इस प्रांत में भारी संख्या में इंटरमीडिएट महाविद्यालय खोले गए परंतु आयोग की इस पूरक सिफारिश को स्वीकार नहीं किया गया कि अवधि पाठ्यक्रम को दो वर्ष से बढ़ाकर तीन वर्ष कर दिया जाए। पंजाब ने इंटरमीडिएट महाविद्यालयों की मुख्यत: इस दृष्टि से व्यवस्था की कि विद्यार्थियों को लाहौर में भीड़ भाड़ करने से रोका जाए और ऐसे मुफिस्सल स्थानों पर उच्च शिक्षा का अवसर प्रदान किया जाए जहां प्रथम श्रेणी का महाविद्यालय चलाना संभव न हो। बिहार ने प्रयोग के तौर पर कुछ महाविद्यालय खोले परंतु किसी भी प्रांत ने प्रथम उपाधि के लिए दिवर्षीय पाठ्यक्रम स्वीकार नहीं किया।

इन प्रांतों में हुआ अनुभव घ्यान देने योग्य है। 1931-32 के बिहार के प्रतिवेदन में कहा गया है कि 'इन संस्थानों के अधिक सफल होने की संभावना नहीं है क्योंकि अच्छे विद्यार्थी, यदि वे दाखिल हो सकते हैं, तो सदैव प्रथम वर्षीय स्तर से ही प्रथम श्रेणी के महाविद्यालय में दाखिला लेंगे। '1 और 1936-37 के प्रतिवेदन में कहा गया है कि 'स्थिति वैसी है जैसी कि पिछले पंचवाषिक पुनरीक्षण में बताई गई थी, अर्थात, इन संस्थाओं के अधिक सफल होने की संभावना कर्तई नहीं है। '2 पंजाब के 1936-37 के प्रतिवेदन में कहा गया है कि 'इंटरमीडिएट महाविद्यालयों की लोकप्रियता कम हो गई है और चतुवार्षिक संस्थाओं के रूप में वे सफल नहीं हुए हैं। सरकार ऐसी संस्थाओं पर प्रत्येक वर्ष भारी धनराशि खर्च नहीं कर सकती है जो अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध नहीं कर पाई हैं, विशेषकर ऐसी स्थिति में जबिक अन्य अधिक उपयुक्त एवं अधिक आवश्यक प्रयोजनों के लिए धन की अत्यधिक आवश्यकता है। '3 केवल संयुक्त प्रांत का प्रतिवेदन आशावादी है। उसमें कहा गया है कि 'उपाधि महाविद्यालयों से संलग्न इंटरमीडिएट कक्षाओं से पढ़ कर निकले विद्यार्थियों की अपेक्षा इंटरमीडिएट महाविद्यालयों से पढ़ कर निकले विद्यार्थि ज्यादा अच्छी तरह शिक्षित और उच्च शिक्षा से लाभ उठाने में अधिक समर्थ होते हैं। '

हार्टोग समिति ने इस विषय पर विचार तो किया परंतु कोई निश्चायक सिफारिश नहीं की। इस विषय पर अंतर्विश्वविद्यालय बोर्ड ने भी विचार किया था और वह जिस परिणाम पर पहुंचा वह इस सिफारिश के प्रतिकूल था। बाद में इस विषय पर केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने विचार किया। उसने समझौते का एक रास्ता निकाला और सुझाव दिया कि अवर इंटरमीडिएट कक्षा तो विद्यालय पाठ्यक्रम का अंग बने और प्रवर इंटरमीडिएट कक्षा उपाधि कार्यक्रम का अंग बने। परंतु विचाराधीन काल में इस सुझाव को कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया।

^{1.} पृ० 30 (अंग्रेजी संस्करण) ।

^{2.} पु० 38 (अंग्रेजी संस्करण) ।

^{3.} गवर्नमेंट रेजोल्यूशन, पृ० 2।

^{4.} रिपोर्ट, 1936-37, प्॰ 40।

विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध में हार्टोंग समिति के विचार : सामान्यतया पूर्वोक्त प्रगति की सराहना करते हुए हार्टोंग समिति ने ऐसी अनेक कमजोरियां बताईं जो विश्वविद्यालय शिक्षा व्यवस्था में आ गई थीं। उदाहरण के लिए, उसने कहा कि गूणात्मक एवं परि-माणात्मक दोनों ही दिष्टियों से विश्वविद्यालय समाज के नेता पैदा करने में असमर्थ रहे हैं; अंधाध्य दाखिले, माध्यमिक विद्यालयों में घटिया काम और विश्वविद्यालयों के बीच भी प्रतियोगिता होने से विश्वविद्यालयों का स्तर निश्चय ही गिरा है; प्रवीण पाठ्यक्रमों की ठीक प्रकार व्यवस्था नहीं की गई है; पुस्तकालयों को और अधिक समृद्ध बनाने की आवश्यकता है; समष्टि विद्यार्थी जीवन का विकास करने की आवश्यकता है; विश्वविद्यालयों से पढ़ कर निकले स्नातकों में बेरोजगारी बढ़ रही है। अत: सिमिति ने इस बात की भारी आवश्यकता महसूस की कि 'स्वयं विश्वविद्यालय शिक्षा के हित में और उससे भी बढ़कर उन निचली शिक्षा संस्थाओं के हित में, जहां से विश्वविद्यालयों में छात्र आते हैं, तथा उन कक्षाओं के हित में जिनसे विश्वविद्यालय के लिए विद्यार्थी लिए जाते हैं, अब समय आ गया है जबिक इस बात का पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए कि विश्व-विद्यालय के कार्य को सुधारा जाए, विश्वविद्यालय केवल अपने इस उचित कृत्य को ही करे कि ऐसे विद्यार्थियों के लिए अच्छी उन्नत शिक्षा दी जाए जो उसे प्राप्त करने के योग्य हों, और, वस्तुतः विश्वविद्यालय को समाज के जीवन में अधिक लाभकर तथा कम निराशाजनक अभिकरण बना दिया जाए।'1

माध्यमिक शिक्षा (1921-37): माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति इतनी अच्छी नहीं है जितनी विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में है। यह सच है कि विद्यालयों और छात्रों की संख्या में भारी वृद्धि हुई थी। यहां तक कि यह वृद्धि महाविद्यालयी चरण में हुई वृद्धि से भी अधिक थी। परंतु शिक्षा माध्यम तथा काफी हद तक अध्यापकों की समस्या को छोड़कर इस पद्धित के मूल दोष पूर्ववत कायम रहे।

(क) प्रसार : इस काल में माध्यमिक शिक्षा में हुए प्रसार का पता 1921-22 और 1936-37 के निम्नलिखित आंकडों से चलता है:

| | 1921-22 | 1936-37 |
|--|--------------------|---------------------|
| मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की संख्या मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या | 7,530 11,06,803 | 13,056 22,87,872 |

टिप्पणी : आंकड़े केवल ब्रिटिश भारत के हैं, बर्मा शामिल नहीं है।

परंतु यह घ्यान रखना चाहिए कि इन आंकड़ों की भी वही सांख्यकीय तुलना संबंधी परिसीमाएं हैं जिनका उल्लेख अध्याय छ: में किया जा चुका है। अत: यह नहीं माना जा सकता है कि माध्यमिक शिक्षा का 1921-22 अथवा 1936-37 में जितना प्रसार था ये आंकड़े उसका यथार्थ चित्र उपस्थित करते हैं। परंतु इन दोनों वर्षों के आंकड़ों में ये दोष समान रूप से मौजूद हैं और तुलना करने के प्रयोजनार्थ इनकी उपेक्षा की जा सकती है। इन आंकड़ों से निश्चय ही माध्यमिक शिक्षा के उस भारी प्रसार का पता चलता है जो उस काल में हआ था।

यह द्रुत प्रसार कई कारणों से हुआ था। इनमें से निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण थे: जनता में जागृति फैलाना, अर्धनगरीय अथवा ग्राम्य क्षेत्रों में माध्यमिक विद्यालयों का खुलना और जनता के कम उन्नत वर्गों के बीच उच्च शिक्षा का प्रसार करने के लिए किए गए विशेष प्रयत्न। जैसा पूर्ववर्ती परिच्छेद में बताया गया था विचाराधीन काल में जनता के बीच भारी जागृति फैली। इस जागृति के फलस्वरूप उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई और उस इच्छा का परिणाम यह हुआ कि जनता के वे वर्ग भी अब भारी संख्या में अपने बालकों को माध्यमिक विद्यालयों में भेजने लगे जिन्होंने अब तक उच्च शिक्षा के बारे में उत्कट इच्छा प्रदिशत नहीं की थी।

दूसरी बात यह है कि इस काल में उद्यमी व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने मुफिस्सल कस्बों और बड़े बड़े गांवों में बड़ी संख्या में नए माध्यमिक विद्यालय खोले। ये विद्यालय कई कारणों से स्थापित किए गए। बहुधा इनकी स्थापना या तो स्थान विशेष से प्रेम होने के कारण की जाती थी अथवा माता पिता की इस इच्छा के कारण की जाती थी कि उनके सुकुमार बालकों को दूरस्थ नगरों में न भेजकर अपने ही इलाके में माध्यमिक शिक्षा दी जाए। कभी कभी ऐसे कार्यकर्ता भी विद्यालय खोलते थे जो ग्राम्य तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में उच्च शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे। कभी-कभी किन्हीं दुखद परिस्थितयों के फलस्वरूप-भी नए विद्यालय स्थापित किए जाते थे, जैसे पुराने विद्यालयों में गुट बनने से कार्यकर्ताओं के अलग अलग बंट जाने पर। शिक्षित व्यक्तियों में बेरोजगारी बढ़ जाने पर कई स्थानों पर कुछ लोगों ने केवल इसलिए विद्यालय स्थापित किए कि वे जीवन में अन्य किसी व्यवसाय में मन नहीं लगा सके। परंतु इन अंतिम कारणों से वास्तव में ही बहुत कम विद्यालय खोले गए और यह कहा जा सकता है कि इस काल के अधिकांश नए माध्यमिक विद्यालय ऊपर बताई गई पहली दो श्रीणयों में ही आते थे।

छोटे कस्बों और बड़े बड़े गांवों में इन नए माध्यमिक विद्यालयों का खोला जाना ग्राम्य क्षेत्रों में रहने वाले माता पिता के लिए सचमुच एक वरदान था। पहले यदि वे अपने बालकों को माध्यमिक शिक्षा का लाभ पहुंचाना चाहते थे तो उन्हें बालकों को बड़े कस्बों और नगरों में भेजना पड़ता था। यह खर्चीला काम था। इसके अतिरिक्त, जैसा पहले बताया जा चुका है, माता पिता सामान्यतः अपने कम उम्र के बालकों को इस डर से बड़े कस्बों और नगरों में भेजना नहीं चाहते थे कि वे नगरीय जीवन के प्रलोभनों में फंस जाएंगे। परंतु जब ग्राम्य अथवा अर्धनगरीय क्षेत्रों में माध्यमिक विद्यालय खुलने लगे तो

गांवों के लोगों ने इस अवसर का तुरंत लाभ उठाया। अतः इस काल में ग्राम्य क्षेत्रों के छात्रों की संख्या में भारी वृद्धि हुई।

अंतिम बात यह है कि यह वृद्धि अंशतः उन व्यापक प्रयत्नों के कारण हुई जो इस काल में जनता के कम उन्नत वर्गों तथा स्त्रियों में उच्च शिक्षा का प्रसार करने के लिए किए गए थे। इन प्रयत्नों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है:

- (i) सरकार द्वारा किए गए प्रयास जैसे विशेष संस्थाओं का खोला जाना, सरकारी संस्थाओं में स्थान का आरक्षण, छात्रवृत्तियों और निःशुल्क अधिछात्रवृत्तियों का दिया जाना, सरकारी सेवाओं में तरजीह देना, इत्यादि;
- (ii) छात्रवृत्तियों, छात्रावासों के अनुरक्षण, इत्यादि के लिए निधियों की व्यवस्था करने के लिए स्वयं समुदायों द्वारा किए गए प्रयास; और
- (iii) परोपकारी अथवा समाजसेवी संगठनों द्वारा किए गए प्रयास ।

प्रासंगिक रूप से यह कहा जा सकता है कि इसमें से अधिकांश प्रसार गैर सरकारी उद्यम के कारण हुआ था।

- (स) शिक्षा माध्यम : विचाराधीन काल की दूसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि माध्यमिक चरण में आधुनिक भारतीय भाषाओं को बड़े पैमाने पर शिक्षा माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया गया। जहां तक कागजी आदेश दिए जाने का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि माध्यमिक चरण में मातृभाषा को अनन्य रूप से शिक्षा माध्यम के रूप में अपना लिया गया। परंतु 'कथनी और करनी में भेद रहा' और अनेक कारणों से शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग को पूरी तरह से नहीं छोड़ा गया। इनमें से कुछ कारण निम्नलिखित हैं:
- (i) विद्यालयों के कई प्रबंधक अब भी अंग्रेजी को इस कारण से शिक्षा माध्यम बनाए रहे कि विश्वविद्यालय चरण में शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी का ही प्रयोग किया जाता था और वे इस तथ्य को जानते थे कि यद्यपि माध्यमिक पाठ्यक्रम को अपने में भरी-पूरी इकाई होना चाहिए तथापि विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम का केवल एक उपांग है।
- (ii) माता पिता और छात्र भी अंग्रेजी में प्रवीणता चाहते थे क्योंकि सरकारी प्रतियोगी परीक्षाओं में शिक्षा माध्यम अंग्रेजी ही था और जिस व्यक्ति का अंग्रेजी पर अच्छा अधिकार होता था उसके लिए ही सामान्यतः इस बात की अधिक संभावना रहती थी कि वह परीक्षाओं में सफल हो जाएगा और सरकारी रोजगार प्राप्त कर लेगा।
- (iii) चूंकि बहुभाषी क्षेत्रों में वित्तीय कारणों से यह संभव नहीं था कि सभी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जा सके अतः वहां प्रायः अंग्रेजी को ही शिक्षा माध्यम स्वीकार कर लिया जाता था।
- (iv) प्रयोग की प्रारंभिक अवस्थाओं में इस प्रकार की कठिनाइयों को बहुत उछाला गया था जैसे वैज्ञानिक शब्दावली का अभाव, उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों एवं सक्षम अध्यापकों की कमी, आदि। इन शिकायतों का अब ज्यादा व्यावहारिक महत्व नहीं था तो भी उन्हें अंग्रेजी का लगातार प्रयोग करने के लिए एक कारण बताया जाता था।

(v) हिंदी-उर्दू क्षेत्रों, जैसे संयुक्त प्रांत में, भाषा की किठनाइयों की अपेक्षा लिपि की किठनाइयों को अधिक महत्वपूर्ण पाया गया। उदाहरण के लिए, संयुक्त प्रांत में एक विभागीय आदेश यह दिया गया था कि शिक्षण के लिए जिस भारतीयभाषा का प्रयोग किया जाए वह ऐसी होनी चाहिए जिसे हिंदीभाषी और उर्दूभाषी छात्र समझ सकें। इस आदेश का पालन करने में लिपि संबंधी किठनाइयां पैदा हुईं और श्यामपट्ट पर कार्य देवनागरी और उर्दू अथवा रोमन लिपियों में करना पड़ा। तो भी, हिंदीभाषी और उर्दूभाषी दोनों ही प्रकार के छात्रों द्वारा समान रूप से समझी जाने वाली भाषा का इस्तेमाल करने के प्रयोग के अपने व्यावहारिक लाभ हैं और यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि इससे एक ऐसी 'मिश्रित भाषा' का विकास हो सकता है ' जो संस्कृतिनष्ठ हिंदी अथवा फारसी-नष्ठ उर्दू से ज्यादा अच्छी भाषा होगी।' यहां तक भी कहा जाता है कि प्रधानाध्यापकों को जिसके बारे में पहले शिकायत थी, ऐसी 'अवर्गीकृत भाषाजाल से एक सुंदर और सजीव भाषा विकसित की जा रही है ।'

यह कहा जा सकता है कि माध्यमिक चरण में शिक्षा माध्यम की समस्या 1937 में प्राय: समाप्त ही हो गई थी। यह सच है कि पूर्ण सफलता मिलने में अब भी कुछ कठिनाइयां थीं। परंतु यह महसूस होने लगा था कि वे दुस्तर नहीं थीं। सबसे अधिक दुर्जेय बाधा यह थी कि विश्वविद्यालय चरण में माध्यम के रूप में अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता था। अत: अब शिक्षाविदों का ध्यान इस प्रकार की समस्याओं की ओर गया जैसे विश्वविद्यालय में शिक्षा माध्यम की समस्या, भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा के विकास की समस्या और एकरूप वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करने की समस्या।

(ग) माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की समस्याएं: पूर्ववर्ती काल में माध्यमिक शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए जो आंदोलन चला था, विचाराधीन काल में वह और भी अधिक जोर से चलता रहा। 1936-37 में ऐसी 15 संस्थाएं थीं जो माध्यमिक (अंग्रेजी) विद्यालयों के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षण देती थीं। इनकी छात्न संख्या 1,488 थीं जिसमें से 147 स्त्रियां थीं।

तो भी इस काल की मुख्य विशेषता यह नहीं थी कि माध्यिमक विद्यालयों के प्रिशिक्षण में सुधार हुआ था। इस काल की मुख्य विशेषता यह थी गैर सरकारी विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन और सेवा की शतों की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाने लगा। गैर सरकारी विद्यालयों का इस समय तक बहुत प्रसार हो चुका था और उनकी संख्या में भी भारी वृद्धि हो चुकी थी। इनमें अध्यापकों के वेतन कम थे क्योंकि गैर सरकारी माध्यमिक विद्यालयों की आय के साधन संतोषजनक नहीं थे। सेवा की शतों में भी बहुत कुछ सुधार करना वांछित था। कुछ गिने चुने उदाहरणों को छोड़कर न तो इन विद्यालयों में पूरे कार्यकाल में नौकरी की ही सुरक्षा थी और न वृद्धावस्था के लिए ही कोई व्यवस्था थी। अध्यापकों की कठिनाइयों की ओर शीघ्र ही ध्यान दिया गया और गैर

^{1.} डी० पी० आईज रिपोर्ट (यू० पी०), 1927-32, पृ० 42।

सरकारी माध्यमिक विद्यालयों में वेतन और सेवा की शर्तों को सुधारने के लिए कुछ प्रयास किए गए।

(घ) व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था: पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा इस काल में माध्यमिक चरण में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करने की समस्या और भी अधिक महत्वपूर्ण एवं जटिल बन गई। इसके तीन कारण थे। पहला कारण यह था कि माध्य-मिक शिक्षा का प्रसार होने से बहुत से इस प्रकार के छात्र भर्ती हुए जिन्हें औसत माध्यमिक विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा पूरी तरह सुविधाजनक प्रतीत नहीं हुई क्योंकि वह प्राय: अनन्य रूप से साहित्यिक थी। यदि इन छात्रों ने किसी व्यावसायिक कौशल को सीखा होता तो वे ज्यादा अच्छी तरह आत्माभिव्यक्ति कर सके होते । दूसरा कारण यह था कि ग्राम्य क्षेत्रों में भारी संख्या में माध्यमिक विद्यालय खुलने से एक ऐसी समस्या पैदा हो गई जो पहले नहीं थी। यह माध्यमिक विद्यालयों को ग्रामों की आवश्य-कताओं तथा परिवेश के अनुकूल बनाने की समस्या थी। अंतिम कारण यह था कि माध्य-मिक कन्या विद्यालयों की संख्या में भारी वृद्धि हो जाने से उनकी आवश्यकताओं के उपयुक्त विशेष पाठ्यक्रम तैयार करने की समस्या पैदा हो गई थी। दुर्भाग्यवश इस समस्या का कोई संतोषजनक हल नहीं निकल सका। अतः भारत सरकार ने महामहिम की सरकार से यह प्रार्थना की कि वह कुछ विशेषज्ञों को भारत भेजे जो इस समस्या का अध्ययन करके सिफारिशें करें । तदनुसार सर्वश्री वुड और ऐबट भारत आए और विस्तृत जांच करने के बाद उन्होंने भारत में व्यावसायिक शिक्षा की उचित व्यवस्था के संबंध में एक महत्वपूर्णं प्रतिवेदन प्रस्तृत किया।

माध्यमिक शिक्षा के संबंध में हाटोंग समिति के विचार : हाटोंग समिति का माध्यमिक शिक्षा का सर्वेक्षण विश्वविद्यालयों के सर्वेक्षण की भांति व्यापक नहीं है। समिति ने केवल कुछ प्रमुख दोषों पर ही जोर दिया है और उन्हें दूर करने के उपाय बताए हैं। सिमिति को यह पता चला था कि संपूर्ण माध्यमिक पाठ्यक्रम में मैंट्रिक परीक्षा को ही प्रमुखता दी जाती है। अधिकांश छात उस संकीर्ण मार्ग को ही पसंद करते थे जो मैंट्रिक के द्वारा विश्वविद्यालयों की ओर ले जाता था। इसके साथ ही, मैंट्रिक परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों का प्रतिशत कई मामलों में बहुत अधिक था। इससे विद्यार्थियों के समय, प्रयत्न और धन की बर्बादी होती थी। सिमिति की राय में इसके मुख्यतः निम्नलिखित कारण थे: (क) माध्यमिक विद्यालयों में एक कक्षा से दूसरी कक्षा में कक्षोन्नति देने में असावधानी और (ख) एक ऐसी उचित चयनात्मक पद्धित का न होना जो बहुत से ऐसे छात्रों को महाविद्यालयी शिक्षा के मार्ग पर कभी आगे नहीं बढ़ने देती जो उच्च विद्यालय में पढ़ रहे थे। माध्यमिक शिक्षा पद्धित की उपर्युक्त तथा अन्य बुराइयों को दूर करने के लिए इस सिमिति ने निम्नलिखित सिफारिशों की:

- (क) छात्रों को गैर साहित्यिक व्यवसायों की ओर भेजना : मैट्रिक की प्रमुखता को कम करने के लिए समिति ने सिफारिश की कि :
 - (i) मिडिल देशी भाषा विद्यालयों में ऐसे लड़कों को अधिक संख्या में रखा जाए जो ग्राम व्यवसायों के लिए अभीष्ट हों; इसके साथ ही, इन विद्यालयों में अधिक

बहुशाखी पाठ्यचर्या का समावेश किया जाए;

- (ii) मिडिल चरण के अंत में अधिक लड़कों को औद्योगिक और वाणिज्यिक व्यवसायों में भेजा जाए। इसके लिए मिडिल चरण में वैकल्पिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जानी चाहिए और ये पाठ्यक्रम तकनीकी तथा औद्योगिक विद्यालयों में विशेष शिक्षा पाने के लिए प्राकृ प्रवेश पाठ्यक्रम होने चाहिए।
- (ख) माध्यमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण एवं सेवा की शर्तों में सुधार: इस समिति की इससे भी महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि माध्यमिक अध्यापकों की सेवा की शर्तों को सुधारने के लिए कुछ किया जाना चाहिए। माध्यमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण के संबंध में 1904 से जो सुधार किया गया था उसकी सराहना करते हुए समिति ने यह महसूस किया कि अब भी आगे काफी कार्रवाई करने की आवश्यकता है। उसने कहा:

प्राथमिक विद्यालयों की भांति ही अध्यापक की और अध्यापन का औसत गण काफी हद तक वेतन तथा सेवा की शतों पर निर्भर करता है। जब तक वेतन और सेवा की शर्तें असंतोषजनक रहेंगी, सर्वश्रेष्ठ कोटि के व्यक्तियों को इस व्यवसाय की ओर आर्काषत नहीं किया जा सकता है और सामान्यतः तो अध्यापकों का अपने कार्य में मन लगता ही नहीं है। किसी भी प्रांत में अध्यापक का वेतन उसको वह दर्जा देने के लिए पर्याप्त नहीं है जो उसके कार्य के परिणामस्वरूप उसे मिलना चाहिए। कुछ प्रांतों, जैसे बंगाल और बिहार में अध्यापक का वेतन प्राय: बहत ही कम है। सेवा की शर्तें यद्यपि अब भी बहुत कम संतोषजनक हैं तथापि हाल के वर्षों में सुधरी हैं और भविष्य निधि तथा पेंशन योजनाओं को व्यापक रूप से आरंभ किया गया है । परंतु गैर सरकारी प्रबंध वाले अधिकांश विद्यालयों में और स्थानीय निकायों द्वारा प्रबंधित कुछ विद्यालयों में अध्यापक के सामने गंभीरतम समस्या यह है कि वहां कार्यकाल की सुरक्षा नहीं है। उनमें सामान्यतः कोई संविदा अथवा करार नहीं किए जाते हैं और अध्यापकों को प्रायः अत्यंत अल्प सूचना देकर नौकरी से निकाल बाहर किया जाता है। हमें इस बात का साक्ष्य मिला है कि कुछ विद्यालयों ने यह एक प्रथा ही बना ली है कि अध्यापकों को अस्थाई रूप से केवल नौ महीने के लिए ही भर्ती किया जाए जिससे अवकाश तथा वेतन वृद्धियों का भुगतान करने और स्थाई प्रशिक्षित व्यक्ति नियुक्त करने की आवश्यकता न रहे। सामान्यतः अध्यापकों को वेतन बहुत अनियमित रूप से दिया जाता है और अध्यापकों की इस मामुली कमाई में से भी कभी कभी विद्यालय के प्रयोजनों के लिए अनिवार्य रूप से पैसा काट लिया जाता है। हाल के वर्षों में जो कुछ किया गया है उसके बावज्द, इस बात की आवश्यकता है कि माध्यमिक शिक्षा का गुण संतोषजनक बनाने से पूर्व अध्यापक की सेवा की शर्तों में भारी परिवर्तन किया जाए।2

^{1.} रिपोर्ट, पु॰ 107 ।

^{2.} रिपोर्ट, पु॰ 117-18।

प्राथमिक शिक्षा: द्वैधशासन के अंतर्गत भारतीय शिक्षा के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना यह थी कि सार्वजनिक शिक्षा का द्रुत विकास हुआ। हम अध्याय आठ में देख चुके हैं कि सार्वजनिक शिक्षा की धीमी प्रगति भारत की आधुनिक शिक्षा पद्धति की सबसे कमजोर कड़ी थी और इसी कारणवश प्राय: सरकारी नीति की आलोचना की जाती थी। भारतीय लोकमत ने सार्वजनिक शिक्षा के प्रति और निरक्षरता समाप्त करने के कार्य में अपनी बहत गहरी रुचि दिखाई थी। अतः सामान्य रूप से यह आशा की जाती थी कि भारतीय मंत्रीगण सर्वजनीन, नि:शूल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की समस्या को हल करने को कोशिश करेंगे। वस्तुत: उन्होंने ऐसा ही किया। निम्नलिखित संक्षिप्त टिप्पणियों से यह पता चल जाएगा कि निरक्षरता के विरुद्ध यह लडाई सामान्यत: किस प्रकार से आयोजित की गई थी।

(क) प्राथमिक शिक्षा का अधिनियम : 1917-27 के दशक की सबसे महत्वपूर्ण घटना यह थी कि ब्रिटिश भारत के अधिकांश प्रांतों में अनिवार्य शिक्षा अधिनियम बनाए गए। यह सच है कि इनमें से कुछ अधिनियम भारतीय मंत्रियों को शिक्षा विभाग सौंपने से पूर्व ही बना दिए गए थे। परंतु चुंकि उनमें से अधिकांश अधिनियमों पर विचाराधीन काल के दौरान ही कार्रवाई आरंभ की गई थी, अत: यही अधिक उचित होगा कि उनका द्वैधशासन के अंतर्गत शिक्षा के विकास के एक अंग के रूप में अध्ययन किया जाए।

ये अनिवार्य शिक्षा संबंधी विभिन्न प्रांतीय अधिनियम इस काल के अंत में जिस रूप में प्रवर्तित थे, उसका ब्योरा निम्नलिखित सारणी [पेज 303 पर] में दिया गया है:

अलग अलग अधिनियम का विस्तृत अध्ययन करना इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर की बात है। परंत् उनकी मुख्य विशेषताओं के संबंध में निम्नलिखित टिप्पणियां रोचक प्रतीत होंगी:

- (1) इन अधिनियमों ने प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन और नियंत्रण संबंधी भारी शक्तियों को स्थानीय शासनों को, अर्थात उन स्थानीय स्वायत शासन संस्थाओं को अंतरित कर दिया जिन्हें यह उत्तरदायित्व सौंपा गया था कि वे अपने क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था करें।
- (2) सभी अधिनियमों के अनुसार स्थानीय शासनों का यह कर्तव्य है कि वे दोनों क्षेत्रों की आवश्यकताओं का अध्ययन करें और अपने अधिकार क्षेत्र में प्राथमिकता शिक्षा के प्रसार एवं विकास के लिए योजनाएं तैयार करें।
- (3) बाध्यता का सुत्रपात करने के लिए सभी अधिनियमों में यह व्यवस्था की गई है कि स्थानीय निकायों को पहल करनी होगी। कुछ अधिनियमों में, जैसे बंबई के अधि-नियम में कुछ परिस्थितियों में अनिवार्य शिक्षा का सूत्रपात करने और लागृ करने में पहल करने की शक्ति सरकार के लिए आरक्षित रखी गई है।
- (4) सभी प्रांतों में स्थानीय शासनों को यह शक्ति दी गई है कि वे प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए अपने हिस्से के व्यय को पूरा करने के लिए शिक्षा उपकर लगाएं. चाहे यह बाध्यता के आधार पर हो या स्वैच्छिक आधार पर।
 - (5) सभी प्रांतों में, सरकार स्थानीय शासनों की वित्तीय सहायता करने के लिए

वचनबद्ध है ताकि वे अनिवार्य शिक्षा का सूत्रपात करने में समर्थ हो सकें।

द्रैधशासन में शिक्षा

(6) प्रारंभिक शिक्षा के लिए बाध्यता आयू प्रत्येक प्रांत में अलग अलग है। जिन प्रांतों में चतुर्वर्षीय पाठ्यक्रम चल रहा है, उनमें छः वर्ष से दस वर्ष तक की आयू निश्चित की गई है। केवल पंजाब में सात वर्ष से ग्यारह वर्ष की वैकल्पिक आयु कालावधि का भी

| वर्ष प्रांत अधिनियम का नाम निए या लड़कों के लिए या लड़कियों लागू या नग के लिए या लड़कियों लागू या नग के लिए यो लड़के दोनों अधिनियम संयुक्त प्रांत ,, बंगाल ,, बंगाल ,, बंहित यो के लिए भी ,, जड़िसा ,, जड़िसा ,, जड़िक दोनों लड़के दोनों लड़के (1932 में एक संशोधन द्वारा लड़िकयों के लिए भी | ारीय ों |
|--|------------|
| अधिनियम संयुक्त प्रांत ,, दोनों नगरपालि ,, बंगाल ,, लड़के (1932 में एक संशोधन द्वारा लड़िकयों के लिए भी ,, बिहार और उड़ीसा ,, लड़के दोनों | का |
| ,, बंगाल ,, लड़के (1932 में एक संशोधन द्वारा लड़िकयों के लिए भी जड़ीसा ,, लड़के दोनों | का |
| ,, बंगाल ,, लड़के (1932 में एक संशोधन द्वारा लड़िकयों के लिए भी जड़ीसा ,, लड़के दोनों | |
| एक संशोधन द्वारा लड़िक्यों के लिए भी उड़ीसा ,, लड़के दोनों | |
| भी बहार और उड़ीसा ,, लड़के दोनों | |
| ,, बिहार और उड़ीसा ,, लड़के दोनों | |
| उड़ीसा ,, लड़के दोनों | |
| | |
| 1920 बंबई बंबई नगर प्राथमिक दोनों केवल बंबई | नगर |
| शिक्षा अधिनियम में लागू | |
| ,, मध्य प्रांत प्राथमिक शिक्षा ,, दोनों | |
| अधिनियम | |
| ,, मद्रास प्रारंभिक शिक्षा ,, ,, अधिनियम | |
| 1923 बंबई प्राथमिक शिक्षा | |
| अधिनियाम नं-६ नमर - | हो |
| जावानयम ,, बबइनगरव छोड़कर संपू | |
| प्रांत में लाग | \ ' Т |
| 1926 असम ,, दोनों | ŗ |
| ,, संयुक्त प्रांत जिला बोर्ड प्राथमिक ,, केवल ग्राम्य | |
| शिक्षा अधिनियम क्षेत्र में | |
| 1930 बंगाल बंगाल (ग्राम) ,, ,, | |
| प्राथिमके शिक्षा | |
| अधिनियम | |

उपबंध किया गया है। दूसरी ओर, जिन प्रांतों में पंचवर्षीय पाठ्यक्रम चल रहा है उनमें बाध्यता आयु सामान्यत: छः वर्ष से ग्यारह वर्ष तक निश्चित की गई है।

(7) अधिनियमों में यह व्यवस्था की गई है कि अपने बालकों को विद्यालय न

भेजने के लिए माता पिता को अभियोजित भी किया जा सकता है और मद्रास के अधि-नियम को छोड़करं सभी अधिनियमों में यह व्यवस्था है कि उन क्षेत्रों में जहां अनिवार्य शिक्षा चालू है, बाध्यता की आयु कालाविध के बालकों को नौकरी में रखे जाने पर दंड दिया जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह पता चलेगा कि अधिकांश प्रांतों का यह विचार था कि प्राथमिक शिक्षा स्थानीय प्रशासन का विषय और उत्तरदायित्व है। इसी विचार के अनुसार प्रांतीय सरकारों ने स्थानीय स्वायत शासन संस्थाओं के गठन को उदार बना दिया, उन्हें कराधान के अतिरिक्त अधिकार दे दिए और उन्हें अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को आरंभ करने और लागू करने के लिए उत्तरदाई बना दिया। स्थानीय स्वायत शासन संस्थाओं को प्राथमिक शिक्षा में प्राधिकार का यह जो अवक्रमण हुआ वह इस प्रकार की संस्थाओं के विकास में दूसरा आगे बढ़ा हुआ कदम है। पहला कदम लार्ड रिपन ने उठाया था। यह दूसरा कदम विचाराधीन काल की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

(ख) 1922-27 की उपलब्धियां : जैसा सरलता अनुमान लगाया जा सकता है, 1922 से 1927 तक के पांच वर्षों में प्राथमिक शिक्षा का बहुत तेजी से विस्तार हुआ था। निम्निलिखित आंकड़े अपनी रामकहानी स्वयं कह रहे हैं:

सारणी I सामान्य परिणाम

| | 1921-22 | 1926-27 |
|--|----------------|----------------|
| प्राथमिक विद्यालयों की संख्या प्राथमिक विद्यालयों में छात्रों | 1,55,017 | 1,84,829 |
| की संख्या 3. प्राथमिक शिक्षा पर व्यय | 61,09,752 | 80,17,923 |
| (प्रत्यक्ष) | 4,94,69,080 হ৹ | 6,75,14,802 হ৹ |

इस परिणामों के बारे में टिप्पणी करते हुए क्विनक्वेनियल रिव्यू आफ दि प्रोग्रेस आफ एजूकेशन इन इंडिया, 1922-27 में कहा गया है:

इन त्वरित प्रसार के कारण ढूंढ़ना कठिन नहीं है। आधिक स्थित सुधर गई है, प्रांतों के आधिक साधन बढ़ गए हैं, युद्धोत्तर काल की कठिनाइयां अधिकांशत: अदृश्य हो गई हैं, प्राथमिक एवं सार्वेजनिक शिक्षा के प्रति जनहिच पैदा कर दी गई है, विभिन्न प्रांतों में प्रारंमिक शिक्षा अधिनियम के अंतर्गत और उनसे बाहर शैक्षिक प्रसार के कार्यकमों को आरंभ किया गया है, भारी संख्या में नए विद्यालय खोले गए हैं, गैर मान्यताप्राप्त विद्यालयों को मान्यता दी गई है और जिन क्षेत्रों में बाध्यता

वाध्यता आरंभ की गई है उनकी संख्या में वृद्धि हो गई है। म सारणी II बाध्यता वाले क्षेत्र

| प्रांत | नगरपालिकाएं तथा नगरीय क्षेत्र | जिला बोर्ड तथा ग्राम्य क्षेत्र |
|-------------------|----------------------------------|-----------------------------------|
| मद्रास बंबई | 21 6 | 1 |
| संयुक्त प्रांत | 25 | |
| पंजाब | 57 | 1,499 |
| बिहार और उड़ीसा | 1 | 3 |
| मध्य प्रांत | 3 | 66 |
| ्र दि ल्ली | 1 | |
| योग | 114 | 1,571 |

टिप्पणी : पंजाब में ग्राम्य क्षेत्र वे क्षेत्र हैं जिनमें एक-एक विद्यालय है।

(ग) हाटोंग समिति का प्रतिवेदन: अगले पांच वर्षों में प्रसार की गित मुख्यत: दो कारणों से धीमी रही। पहला कारण आर्थिक मंदा थी जिसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। आर्थिक मंदी के कारण प्रसार की अधिकांश योजनाओं का परित्याग कर दिया गया और वर्तमान व्यय में भी भारी कटौती करने की आवश्यकता पड़ गई। प्रसार की गिति धीमी पड़ने का दूसरा कारण हाटोंग समिति की इस आशय की सिफारिश थी कि सरकार विस्तार की अपेक्षा समेकन की नीति अपनाए। 1927-37 के दौरान सामान्यत: सरकारी दृष्टिकोण में इसी सिफारिश को प्रमुखता दी जाती रही।

सबसे पहले तो सिमिति ने यह बताया कि प्राथमिक शिक्षा की प्रगति के मार्ग में विशेष बाधाएं थीं, जैसे :

- (1) भारत में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्यत: एक ग्राम समस्या है क्योंकि 87 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में रहती है;
- (2) सामान्य माता पिता निर्धन निरक्षर और रूढ़िवादी हैं। इसका परिणाम यह है कि वे शिक्षा के लाभों को बहुत धीरे धीरे समझ पाते हैं, अपने बालकों को विद्यालय भेजने की अथवा उन्हें वहां काफी लंबे समय तक रखने की इच्छा नहीं रखते हैं और वित्तीय त्याग नहीं कर सकते हैं जो अच्छी शिक्षा दिलाने के लिए आवश्यक है:
 - (3) जनसंख्या कम सघन है, बहुधा संचार के साधन अपर्याप्त हैं, पहाड़ी क्षेत्रों

1. 90 115-161

और डेल्टाओं जैसी भौतिक बाधाएं हैं तथा प्रतिकूल जलवायु है;

- (4) लंबे चौड़े पिछड़े क्षेत्रों का होना;
- (5) उपर्युक्त (ख) में उल्लिखित कारणों से तथा महामारी एवं मौसमी बीमारी के कारण भी छात्नों की अनियमित उपस्थित; और
- (6) जाति बंधनों द्वारा तथा धार्मिक, सांप्रदायिक एवं भाषाई मतभेदों द्वारा उत्पन्न कठिनाइयां।

इसके बाद समिति ने प्राथमिक विद्यालयों की और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में द्रुत गित से हुई वृद्धि की ओर घ्यान आर्काषत किया। परंतु समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि स्थित उतनी अच्छी नहीं है जितना कि आंकड़ों से अनुमान होता है। समिति को यह पता चला कि इस पद्धित से भारी अपव्यय होता था जिससे वह लाभ भी घट गया जो प्राथमिक विद्यालयों तथा उनके छातों की संख्या में वृद्धि होने से हुआ था। समिति की राय में इस अपव्यय के मुख्य कारण निम्नलिखित थे: (क) बरवादी और गितरोध; (ख) साक्षरों का पुनः निरक्षर बन जाना; (ग) प्रौढ़ शिक्षा के लिए कमबद्ध प्रयास न होना; (घ) विद्यमान विद्यालयों की अपर्याप्त व्यवस्था, उनका असंतोषजनक वितरण तथा अपर्याप्त उपयोग; एक अध्यापक विद्यालयों की भारी संख्या; अनेक अपूर्ण विद्यालयों का विद्यमान होना; बहुत से प्राथमिक विद्यालयों का अल्पकालिक स्वरूप; अनुपयुंक्त पाठ्यचर्या; अप्रभावी अध्यापन; और निरीक्षण कर्मचारी वर्ग की अपर्याप्तता। अतः सिमिति ने निश्चय ही अविचारित प्रसार नीति की निंदा की और समेकन तथा सुधार पर ही घ्यान केंद्रित करने की सिफारिश की। उसकी मुख्य सिफारिशें संक्षेप में इस प्रकार हैं:

- (1) प्रसार की नीति से समेकन की नीति को अधिमाण्यता देकर इसे ही अपनाय। जाए।
 - (2) प्राथमिक पाठ्यक्रम की न्यूनतम अवधि चार वर्ष हो।
- (3) प्राथ मिक अध्यापकों की समामान्य शिक्षा का स्तर ऊंचा किया जाए; प्रशिक्षण पाठ्यक्रम काफी लंबा हो। प्राथमिक अध्यापकों के लिए जो प्रशिक्षण संस्थाएं हैं उनमें पर्याप्त कर्मचारी हों और प्राथमिक अध्यापकों का पारिश्रमिक तथा सेवा की शर्ते उनकी कार्यकुशलता बढ़ाई जाए;

ऐसी हों जिससे इस व्यवसाय की ओर गुणवान व्यक्ति आकर्षित हों और इसी व्यवसाय में रहें।

- (4) प्राथमिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या को उदार बनाया जाए।
- (5) विद्यालय का समय और छुट्टियां मौसमी तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार रखे जाएं।
- (6) प्राथमिक विद्यालयों में सबसे निचली कक्षा की ओर विशेष घ्यान दिया जाए और इस समय इनमें जो भारी हीनता और अपव्यय जारी है उसे कम करने के लिए दृढ संकल्प के साथ प्रयत्न किए जाएं।
 - (7) ग्रामोद्धार का काम आरंभ किया जाए और उसका केंद्र विद्यालय रहे।

- (8) प्राथमिक शिक्षा में प्राधिकार का स्थानीय निकायों को जो अवक्रमण हुआ वह एक पराकाष्ठा थी। प्राथमिक शिक्षा राष्ट्रीय महत्व का विषय है अत: सरकार का यह कर्तव्य है कि नियंत्रण की आवश्यक शक्तियों को ग्रहण करे और प्रशासन की कार्य कुशलता बढ़ाए।
 - (9) सरकार के निरीक्षण कर्मचारी वर्ग की संख्या काफी बढाई जाए।
- (10) बाध्यता आरंभ करने के लिए जल्दबाजी में कदम न उठाए जाएं वरन सावधानीपूर्वक आधार तैयार करने की ओर ध्यान दिया जाए।

हार्टोग समिति के प्रतिवेदन की आलोचना, सरकारी मत: सरकारी क्षेत्रों में इस प्रतिवेदन का हार्दिक स्वागत किया गया और संपूर्ण विचाराधीन काल में सरकारी विचारधारा में इसी को प्रमुखता दी जाती रही। इस काल के प्रांतीय लोक शिक्षा निदेशकों के प्रतिवेदनों का अध्ययन करने से विचारों की सामान्य एक रूपता का पता चलता है। इनमें सामान्यतः इस प्रकार के दोषों पर जोर दिया गया है जैसे अपव्यय और गतिहीनता का होना, स्थानीय निकायों को प्राधिकार का चरम अवक्रमण, निरीक्षण कर्मचारी वर्ग की अपर्याप्तता। सरकारी मत अब भी प्रमुखतः समेकन की उस नीति के पक्ष में था जिसे 1913 के सरकारी संकल्प द्वारा निर्धारित किया गया था। शक्तिशाली लोकमत का आदर करते हुए, उसने प्रसार की नीति को अस्थाई रूप से स्वीकार कर लिया था जिसकी 1922 से 1927 तक के पांच वर्षों में प्रमुखता रही थी। हार्टोग समिति का प्रतिवेदन सरकारी मत की विजय के रूप में सामने आया क्योंकि उसने यह दिखाने का प्रयास किया था कि प्रसार की नीति अप्रभावी और अपव्ययपूर्ण सिद्ध हुई है और केवल समेकन की नीति ही भारतीय परिस्थितियों के उपयुक्त है।

इस काल की प्रांतीय नीतियों का संक्षिप्त सर्वेक्षण भी बहुत रोचक प्रतीत होगा। उदाहरण के लिए, 'प्राथमिक विद्यालयों के दु:साहसपूर्ण एवं बड़ी तेजी से किए जानेवाले बहुलीकरण के विरुद्ध' अनेक क्षेत्रों की ओर से प्रत्यापित की गई। 1927-32 के मध्य प्रांत के प्रतिवेदन में प्रांतीय सरकार को इस विचार से सांत्वना मिली है कि 'गैर कुशल विद्यालयों को संघर्ष में से हटा दिया गया है 'अपेक्षाकृत कम छात संख्या वाले कई विद्यालय बंद हो गए हैं।' बहार और उड़ीसा के 1927-32 के प्रतिवेदन में कहा गया है कि इन पांच वर्षों में शुरू के वर्षों में 'बहुत से बोर्डी एवं व्यक्तियों ने उससे अधिक तेजी से विद्यालय खोल दिए जितनी तेजी से उनका खोला जाना विवेकसम्मत था।' उसमें आगे यह भी कहा गया है कि छंटनी का अच्छा प्रभाव पड़ा क्योंकि इससे गैर सहायता प्राप्त संस्थाएं लुप्त हो गईं। बंबई में पांच वर्षों (1927-32) में प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में 797 की वृद्धि हुई। यह ऐसी घटना थी जिसके बारे में भारत सरकार के शिक्षा

^{1.} क्विनक्वेनियल रिव्यू, 1927-32, पृ० 4।

^{2.} पृ० 42।

^{3.} qo 51 1

आयुक्त को भी यह कहना पड़ा कि इस बात में संदेह है कि 'यह प्रांत अपनी जर्जर अर्थव्यवस्था के द्वारा, इतनी द्रुत गित से प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि कर सकता
है, विशेषकर जबिक शिक्षा के अन्य पहलुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है। '' मद्रास में
प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 1927 में 46,389 थी परंतु 1937 में घटकर 41,141
रह गई और शिक्षा निदेशक ने कहा: '1920 और 1930 के बीच विस्तार की जो नीति
पूरे जोर से चल रही थी उसके परिणामस्वरूप संख्या में ऐसे अकुशल, अलाभकर तथा
फालतू विद्यालयों की स्थापना हुई जो बिल्कुल ही बेकार सिद्ध हुए। प्रसार की इस नीति
के प्रतिक्रियास्वरूप ही संकेंद्रण एवं विलोपन हुआ है और यही प्रतिक्रिया प्रारंभिक
विद्यालयों की संख्या में कमी होने के लिए आंशिक रूप से उत्तरदाई है। '' हमें और
अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। उपर जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे यह
पता चल जाएगा कि इस काल में सरकारी दृष्टिकोण में किस प्रकार हार्टोंग सिमिति के
प्रतिवेदन को ही प्रमुखता दी जाती रही।

हार्टोग समिति के प्रतिवेदन की आलोचना, गैर सरकारी मत: दूसरी ओर गैर सरकारी मत हार्टोग समिति के प्रतिवेदन के बारे में सामान्यत: उदासीन और विरोधी रवैया अपनाए हुए था। इस आलोचना की मुख्य बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं:

- (1) गैर सरकारी मत सामान्यतः प्रसार के पक्ष में था। वह बहुत द्रुत प्रसार चाहता था। इस संबंध में निम्नलिखित बातें कही गईं: भारत में सार्वजनिक साक्षरता के प्रसार की गित बहुत धीमी है; जबिक साक्षरता का प्रतिशत 1881 में 3.5 था, 1931 में वह केवल 8.0 हुआ है; यह वृद्धि एक प्रतिशत प्रति दशक से भी कम हुई है; साक्षरता में वृद्धि की दर जनसंख्या की वृद्धि दर के अनुरूप नहीं रही है; साक्षरता में हुई वृद्धि से निरक्षरों की संख्या में हुई वृद्धि कहीं अधिक है; 'शिक्षा प्रवाहित होनी चाहिए, बूंद-बूंद करके रिसनी नहीं चाहिए'; और जब तक निरक्षरता को समाप्त करने के लिए एक निश्चित कार्यक्रम तैयार और कार्यान्वित नहीं किया जाएगा तब तक भारत में सार्वजनिक शिक्षा की समस्या को हल नहीं किया जा सकेगा।
- (2) दूसरी बात यह है कि गैर सरकारी मत ने सिमिति की इस राय को नहीं माना कि गुणता को परिमाण की अपेक्षा प्रमुखता दी जानी चाहिए। यह अनुरोध किया गया कि माध्यमिक अथवा विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में यह मत चाहे गुणकारी रहे या दोष-पूर्ण सिद्ध हो परंतु भारत जैसे देश में, जिसकी 92 प्रतिशत जनसंख्या अब भी निरक्षर है, सरकारी नीति का प्रथम लक्ष्य यह होना चाहिए कि देश से निरक्षरता को समाप्त कर दिया जाए और शिक्षा के गुण की बात निरक्षरता समाप्त होने के बाद ही उठनी चाहिए।
- (3) तीसरी बात यह है कि समिति द्वारा निकाले गए अनेक निष्कर्षों की वैधता को भी भारी चुनौती दी गई। उदाहरण के लिए, यह कहा गया कि समिति ने अपव्यय

की राशि को बहुत बढ़ा चढ़ाकर बताया है और अपव्यय का मूल्यांकन करने की उसने जो रीति अपनाई है वह सांख्यिकीय रूप से दोषपूर्ण है। इसके साथ ही यह भी कहा गया कि समिति का यह निष्कर्ष तर्कसंगत नहीं है कि विद्यालयों में जितने छात्र साक्षर बनते हैं उनमें से काफी प्रतिशत छात्र बाद में निरक्षर बन जाते हैं।

उपर्युक्त आलोचनाएं उन आलोचनाओं में से कुछ हैं जो वास्तव में ही की गई थीं। इनसे पता चलता है कि विचाराधीन काल में सरकारी और गैर सरकारी मतों के बीच खाई किस प्रकार चौड़ी हो गई थी। अतः 1937 में भारत करीब करीब अनिर्णयात्मक स्थिति में था। उसे दो मतों में से किसी एक को चुनना था। उसे या तो द्रुत प्रसार की नीति को स्वीकार करना था जिसमें यदि आवश्यक हुआ तो गुण की हानि हो सकती थी अथवा गुणता का सुधार करने के लिए सोइंश्य प्रसार करने की नीति को अपनाना था जिसमें प्रसार के कार्यक्रम में अवश्य ही कटौती करनी पड़ती थी।

(घ) 1927-37 की उपलिब्बियां: हार्टोग सिमिति द्वारा किए गए मार्गप्रदर्शन तथा विश्वव्यापी आर्थिक मंदी द्वारा उत्पन्न वित्तीय संकट का मिलाजुला प्रभाव यह हुआ कि 1927 और 1937 के बीच प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षाकृत कम प्रगति हुई। निम्नलिखित आंकड़ों की तुलना कीजिए:

| | 1921-22 | 1926-27 | 1931-32 | 1936-37 |
|--|-------------|-------------|---------------------------------------|-------------|
| 1. मान्यता प्राप्त प्राथमिक विद्यालयों की | | | · · · · · · · · · · · · · · · · · · · | |
| संख्या 2. उपर्युक्त विद्यालयों में छात्रों की | 1,55,017 | 1,84,829 | 1,96,708 | 1,92,244 |
| संख्या 3. प्राथमिक शिक्षा पर कुल | 61,09,752 | 80,17,923 | 91,62,450 | 1,02,24,288 |
| प्रत्यक्ष व्यय | 4,94,69,080 | 6,75,14,802 | 7,87,95,236 | 8,13,38,015 |
| _ | रु० | रु० | रु० | रु० |

इन आंकड़ों से पता चलेगा कि शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या में 1922 से 1927 तक पांच वर्ष में जितनी वृद्धि हुई थी उसकी अपेक्षा 1927 से 1937 तक दस वर्ष में केवल थोड़ी सी वृद्धि अधिक हुई थी। 1927-37 में विद्यालयों की संख्या केवल 7,415 बढ़ी जबिक इससे पूर्व के पांच वर्षों में 29,812 बढ़ी थी; और व्यय केवल 138 लाख रुपये बढ़ा जबिक इससे पूर्व के पांच वर्षों में लगभग 181 लाख रुपये बढ़ा था। व्यय में हुई इस

^{1.} विवनववेनियल रिव्यू, 1927-32, पु॰ 128।

^{2.} रिपोर्ट फार 1932-37, पू॰ 86।

द्वैधशासन

थोड़ी सी वृद्धि में भी सरकारी अंशदान गैर सरकारी स्रोतों से होने वाले अंशदानों की अपेक्षा कम था।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि बाध्यता को व्यापक रूप से अथवा दृढ़ता के साथ लागू करने के लिए कोई गंभीर प्रयास नहीं किए गए। 1936-37 में जिन क्षेत्रों में बाध्यता लागू थी उनकी स्थित संक्षेप में इस प्रकार थी:

| प्रांत | नगरीय क्षेत्र | ग्राम्य क्षेत्र | ग्राम्य क्षेत्रों में बाध्यता के अधीन ग्रामों की संख्या |
|---------------------|---------------|-----------------|---|
| मद्रास | 27 | 7 | 104 |
| बंबई | 9 | 1 | 143 |
| बंगाल | 1 | - | |
| संयुक्त प्रांत | 36 | 25 | 1,224 |
| पंजाब | 63 | 2,981 | 10,450 |
| बिहार | 1 | 1 | 1 |
| मध्य प्रांत और बरार | 27 | 8 | 508 |
| सिंध | 1 | 1 | 613 |
| उ ड़ीसा | 1 | 1 | 14 |
| दिल्ली | 1 | 9 | 15 |
| योग | 167 | 3,034 | 13,072 |

इस स्थिति की निम्नलिखित विशेषताएं उल्लेखनीय हैं:

- (1) ग्राम्य क्षेत्रों की अपेक्षा नगरीय क्षेत्रों में बहुत अधिक प्रगति हुई है। ऐसा दो कारणों से हुआ है। पहला कारण यह है कि बाध्यता लागू करने के लिए नगरीय क्षेत्रों में अधिक अनुकूल स्थिति होती है। दूसरा कारण यह है कि सरकार और स्थानीय शासन क्षोनों को ही नगरीय क्षेत्रों में योजनाएं आरंभ करने का लालच होता है क्योंकि इन क्षेत्रों में बाध्यता का अतिरिक्त खर्च ग्राम्य क्षेत्रों में होने वाले बाध्यता के खर्च की अपेक्षा बहुत कम होता है।
- (2) पंजाब को छोड़कर, ग्राम्य क्षेत्रों में बाध्यता की प्रगति बहुत कम हुई है। भारत के पांच लाख गांवों में से केवल लगभग 13,072 गांवों को बाध्यता के अधीन लाया गया है। इनमें से 10,450 गांव केवल पंजाब में ही हैं। बाध्यता की समस्या मुख्यत: एक ग्राम समस्या है और उसे हल करने के लिए अभी तक पर्याप्त प्रयास नहीं किया गया है।
- (3) लड़कों की अपेक्षा लड़िकयों को बाध्यता की अधिक आवश्यकता है। फिर भी, लड़िकयों की अपेक्षा अधिक लड़कों को बाध्यता के अधीन लाया गया है। कुछ प्रांतों, उदाहरणतः, पंजाब में बाध्यता को केवल लड़कों पर लागू किया जा सकता है। अन्य

प्रांतों में यद्यपि कानून लड़कियों के बारे में बाध्यता लागू करने की इजाजत देता है तो भी अधिकांशतः अनिवार्य योजनाएं केवल लड़कों पर ही लागू हो सकती हैं।

- (4) बाध्यता के प्रसार की गित बहुत धीमी रही है। जिस गित से इस काल में प्रगित हुई है उस गित से भारत को सर्वजनीन बाध्यता आरंभ करने में लगभग 500 वर्ष लगेंगे। उदाहरण के लिए, बंबई में 1923 के प्राथमिक शिक्षा अधिनियम में यह अपेक्षा की गई थी कि दस वर्ष में सर्वजनीन बाध्यता की शुरूआत कर दी जाएगी। परंतु इस अधिनियम के बनने के चौदह वर्ष बाद 1937 में भी केवल तीन प्रतिशत जनसंख्या को ही बाध्यता के अधीन लाया जा सका था। (बंबई नगर को, जो उपयुक्त अधिनियम द्वारा शासित नहीं होता है, इन परिकलनों में शामिल नहीं किया गया है।)
- (5) जिन क्षेत्रों में बाध्यता आरंभ की गई थी उनमें भी उसका प्रवर्तन संतोषजनक नहीं था। बालकों की भर्ती सराहनीय नहीं थी और सामान्यत: विद्यालय आयु के केवल 60 से 80 प्रतिशत बालक ही भर्ती किए गए थे। औसत उपस्थित कम थी और उन विद्यालयों से शायद ही अच्छी रही हो जिनमें कोई बाध्यता नहीं थी। बाध्यता वाले क्षेत्रों में भी गैर बाध्यता वाले क्षेत्रों के बराबर ही अपव्यय होता था। स्थानीय शासन व्यति-क्रमी माता पिता को अभियोजित नहीं करना चाहते थे और अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों के अंतर्गत बहुत कम अभियोग चलाए गए थे। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बाध्यता को कठोरता के साथ प्रवर्तित नहीं किया गया और वह न्यूनाधिक कागजी ही रही।

अतः इस संपूर्ण काल में सरकारी प्रयास गुणात्मक सुधार करने के लिए ही होते रहे। परंतु इस दिशा में उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। अध्यापकों के प्रशिक्षण में कुछ सुधार अवश्य हुआ। 1927 में प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत 44 था जो 1937 में 57 हो गया। प्रशिक्षण संस्थाओं की पाठ्यचर्या में भी कुछ परिवर्तन कर दिए गए थे। ये परिकृ वर्तन मुख्यतः इस दृष्टि से किए गए थे कि शिक्षण का ग्राम्य जीवन और परिवेश के साथ समन्वय करने में अध्यापक समर्थ हो सकें। कुछ प्रांतों में प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए 'अधिक उपयुक्त' प्रत्याशी भर्ती करने के लिए भी प्रयास किया गया।

सफलता के बारे में इतना ही कहा जा सकता है। शेष इतिहास सफलता का नहीं है। यहां तक कि इस काल के अंत में भी सरकारी प्रतिवेदनों में यह कहा गया था कि भारी अपव्यय हो रहा है और गितहीनता जारी है। उस परिवेश को, जिनमें साक्षर लोग निरक्षर हो जाते हैं, बदलने की दृष्टि से वाचनालयों एवं पुस्तकालयों की व्यवस्था करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। इस काल के अंत में निरीक्षण कर्मचारी वर्ग की व्यवस्था और भी अधिक अपर्याप्त थी क्योंकि 'अतिरिक्त निरीक्षकों की जितनी व्यवस्था की गई थी उसकी अपेक्षा शिक्षा का प्रसार, विशेषकर लड़कियों की शिक्षा का प्रसार बहुत अधिक हुआ था। '''एक शिक्षक विद्यालयों का अब भी प्राधान्य था। प्राथमिक अघ्यापकों के वेतनों में बंबई में, जहां वेतन सबसे अधिक थे, हास हुआ था। अन्य प्रांतों में उनके वेतनों में

1. प्रोग्रेस भाफ एजूकेशन इन इंडिया, 1932-37, प्० 34 ।

कोई सुधार नहीं हुआ था। इन सब बातों पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गुणात्मक सुधार अधिक नहीं हुआ था और जितना सुधार हुआ था वह परिमाण में हुई हानि को दूर करने के लिए किसी प्रकार पर्याप्त नहीं था।

शिक्षा विभाग: विचाराधीन काल में शिक्षा विभागों के स्वरूप और उनकी व्यवस्था में पूरी तरह परिवर्तन हो गया। जैसा पहले बताया जा चुका है, भारतीय शिक्षा सेवा के लिए नई भर्ती 1924 में बंद कर दी गई थी परंतु उसका स्थान लेने के लिए एक प्रांतीय सेवा (श्रेणी I) का सर्जन करने में अधिकांश प्रांतों को आर्थिक संकट और 1922 में शुरू होने वाली छंटनी की लहर के कारण काफी अधिक समय लगा। इस विलंब का एक कारण यह भी था कि भारतीय शिक्षा सेवा को समाप्त होने में अत्यधिक समय लगा। क्योंकि सभी विद्यमान पदधारियों को, उनके अधिकारों एवं विशेषाधिकारों को पूरी तरह संरक्षण प्रदान करके, अपने पदों पर बना रहने दिया गया था। 1929 में, हार्टोंग समिति को यह ज्ञात हुआ कि भारतीय शिक्षा सेवा का क्रमिक विलोप और उसके साथ ही प्रांतीय सेवाओं का पुनर्गठन न किया जाना भारतीय शिक्षा व्यवस्था के लिए अनर्थनकारी रहा है और उसने सिफारिश की कि प्रांतीय शिक्षा सेवाओं के पुनर्गठन में और विलंब नहीं किया जाना चाहिए। इससे प्रांतीय सरकारें तुरंत सिक्रय हो गई और 1936-37 तक मद्रास और उत्तर पिश्चम सीमा प्रांत को छोड़कर सभी प्रांतों में एक प्रांतीय सेवा (श्रेणी I) का सर्जन किया जा चुका था।

इस काल में शिकायत का एक अन्य सामान्य कारण यह था कि निरीक्षण कर्मचारी वर्ग की संख्या पर्याप्त नहीं थी। एक ओर, शिक्षा संस्थाओं की संख्या बहुत तेजी से बढ़ रही थी। विशेषकर उन शिक्षा संस्थाओं की संख्या बहुत तेजी से बढ़ी जो गैर सरकारी प्रबंध में थीं। दूसरी ओर, वित्तीय संकट (और उसके साथ ही यह विचार कि निदेशन एवं निरीक्षण पर भारी 'ऊपरी व्यय' अनावश्यक है) निरीक्षण स्थापना में संगत वृद्धि नहीं होने दे रहा था। प्रायः इसका परिणाम यह हुआ कि शैक्षिक अदक्षता बढ़ गई।

परंतु इस काल का ईपर्युक्त विवादों से भी अधिक महत्वपूर्ण विवाद इस संबंध में था कि प्राथमिक शिक्षा के साथ विभाग के क्या संबंध हों। 1921 से पूर्व यद्यपि इस विषय को, कम से कम सिद्धांत के रूप में, स्थानीय निकायों को अंतरित कर दिया गया था तथापि शिक्षा विभाग का प्राथमिक शिक्षा पर यथेष्ट नियंत्रण रहा। परंतु जैसा इस अध्याय में पहले बताया जा चुका है, 1919 और 1930 के बीच बनाए गए अधिनियमों ने स्थानीय निकायों को नियंत्रण के भारी अधिकार अंतरित कर दिए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्थानीय निकायों के प्रशासन में विभाग का कोई दखल नहीं रहा। प्रायः ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे ही भारतीय मंत्रियों को शिक्षा पर प्राधिकार प्राप्त हुआ उन्होंने तुरंत प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय निकायों को अंतरित करके स्वयं को इस

प्राधिकार के सबसे बड़े और सबसे बहुमूल्य अंग से वंचित कर देने की कार्रवाई कर दी। इस कदम की बुद्धिमानी और परिणामों के बारे में इस काल के आरंभ में ही विवाद उठ खड़े हुए। हार्टोंग समिति ने इस कदम पर विस्तारपूर्वक विचार किया और इसके बिरुद्ध निर्णय दिया। यह सही है कि समिति यह नहीं मानती थी कि स्थानीय निकायों द्वारा प्राथमिक शिक्षा का प्रशासन किया जाना सिद्धांततः गलत है। बिल्क वह यह महसूस करती थी कि इस प्रकार का प्रशासन वांछनीय है। इसके साथ ही वह यह भी महसूस करती थी कि स्थानीय निकायों के प्राधिकार का अत्यधिक अवक्रमण हुआ है। उसने उस रीति पर सावधानी से विचार किया जिस रीति से स्थानीय निकायों ने अपने को सौंपी गई नई शक्तियों का प्रयोग किया था। वह इस निष्कर्ष पर पहुंची कि कुल मिलाकर इन शक्तियों का ठीक से प्रयोग नहीं किया गया है। सारे तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए समिति की यह राय थी कि प्राथमिक शिक्षा के हित में यह परम आवश्यक है कि विभाग की स्थिति को मजबूत किया जाए और उसे उनमें से कुछ शक्तियां पुनः अंतरित कर दी जाएं जिनका हाल के वर्षों में स्थानीय प्राधिकारियों को अवक्रमण किया गया था। उसने कहा:

हमने यह सुझाव न दिया है और न देते हैं कि प्रांतों में मंत्रियों के उत्तरदायित्वों को कम कर दिया जाए। इसके विपरीत हमारी यह राय है कि स्थानीय निकायों को अवक्रमण होने से पूर्व ये उत्तरदायित्व पहले ही बहुत कम हो चुके हैं क्योंकि इस अवक्रमण ने प्राथमिक शिक्षा के नियंत्रण को बहुत कुछ मंत्रियों के हाथ से ले लिया है और इसके दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम निकले हैं। प्रांतीय सरकारों और स्थानीय निकायों के संबंधों के बारे में और आगे विचार तथा समायोजन किए जाने की आवश्यकता है। शिक्षित निर्वाचित वर्ग का निर्माण करना राष्ट्रका काम है। अभिनव विधान के अधीन, स्थानीय निकायों को शवितयों का अवक्रमण इस प्रकार किया गया है कि विधानमंडल के प्रति उत्तरदाई मंत्रियों का सार्वजनिक शिक्षा के लिए दत्तमत धनराशि के व्यय पर कोई प्रभावी नियंत्रण नहीं रह गया है। कुछ मामलों में अपर्याप्त निरीक्षण के कारण उपर्युक्त व्यय के परिणामों के बारे में उनके पास कोई सूचना ही नहीं है। यह स्पष्ट है कि मंत्रीमंडलीय उत्तरदायित्व के नए कारक को पर्याप्त रूप से ध्यान में नहीं रखा गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा (1921-37): 1920-22 के विष्लव के शांत हो जाने के बाद, राष्ट्रीय शिक्षा के आंदोलन को इस अर्थ में परिमाणात्मक धक्का लगा कि उन शिक्षा संस्थाओं की संख्या में भारी कमी हो गई जो अपने को राष्ट्रीय कहती थीं। जैसा पहले बताया जा चुका है विद्यार्थियों से सामान्य संस्थाओं को छोड़ने को कहने और उनके लिए विद्यालयों की एक समांतर व्यवस्था करने का जो पुराना विचार था वह मुख्यत: इस धारणा पर आधारित था कि स्वराज एक वर्ष में ही प्राप्त कर लिया जाएगा परंतु जैसे जैसे यह वात

^{1.} विवनववेनियल रिब्यू, 1927-32, पृ० 47 ।

^{2.} रिपोर्ट, पृ० 347 ।

अधिक स्पष्ट होती गई कि राजनीतिक संघर्ष आगामी कुछ वर्षों तक जारी रहेगा, समांतर शिक्षा पद्धित चलाने के संप्रत्यय को न्यूनाधिक त्याग दिया गया। लाला लाजपतराय राय पहले ही अपना यह मत व्यक्त कर चुके थे कि राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित की व्यवस्था गैर सरकारी उद्यम द्वारा नहीं वरन केवल राष्ट्रीय सरकार द्वारा की जा सकती है अतः शिक्षा के विकास के लिए स्वाधीनता प्राप्ति की प्रतीक्षा करनी होगी। इस मत को अधिकाधिक लोग स्वीकार करते चले गए और इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय शिक्षा कार्य अब प्रायोगिक आधार पर कुछ संस्थाओं की व्यवस्था करने तक ही सीमित रह गया। यह एक अच्छा परिवर्तन हुआ क्योंकि मनुष्यों एवं धन संबंधी सीमित साधनों को निचले स्तर पर सार्वजनिक कार्य में विसरित कर देने के बजाए अब नए विचारों और संप्रत्ययों के कार्य में लगाया जा सकता था।

- (क) जामिया मिलिया इस्लामिया: 1920 और 1921 के बीच जो अनेक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय अस्तित्व में आए उनका न्यूनाधिक बहुविध व्यवसाय था। गुजरात, बिहार और काशी के विद्यापीठों का उल्लेख किया जा सकता है। परंतु जामिया मिलिया इस्लामिया सिक्तय और उपयोगी कार्य करता रहा। प्रशासिक कारणों से उसे 1925 में अलीगढ़ से दिल्ली स्थानांतरित कर दिया गया। उसने सरकार से मान्यता लेना स्वीकार नहीं किया क्योंकि अपनं प्रवर्तकों के शब्दों में वह 'एक स्थाई अनुदान की शिक्तिहीन बनाने वाली ऐसी सुरक्षा के स्थान पर, जो उसकी महानतम महत्वाकांक्षाओं को भंग कर देगी, एक सम्मानप्रद स्वाधीनता के कष्टों एवं अग्नि परीक्षाओं को' अधिमान्यता देता था। उसके उद्देश्य निम्नलिखित बताए गए थे:
- (1) यह दूसरों की संस्कृति में जो कुछ सच्चा और उपयोगी है उसे अस्वीकार किए बिना, नवयुवकों की शिक्षा को उनकी अपनी सांस्कृतिक विरासत के आधार पर व्यापक बनाना चाहता है। यह सेवा, सिहष्णुता, आत्मनियंत्रण और आत्मसम्मान की भावना पैदा करता है।
- (2) इसका लक्ष्य यह है कि व्रॉमान मन की बोद्धिक एवं संवेगात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने की पर्याप्त व्यवस्था करके, सिक्रिय आत्मप्रकाशन के लिए निरंतर अवसर प्रदान करके और भय से उत्पन्न किए जाने वाले अनुशासान के स्थान पर पहल तथा उत्तरदायित्व का विकास करके चरित्र निर्माण किए जाए।

जामिया मिलिया निम्नलिखित संस्थाओं का संचालन कर रहा था:

- (1) एक आवासिक विश्वविद्यालय कालेज जो कला और सामाजिक विज्ञानों में उच्च शिक्षा देता है। इसमें अरबी मदरसों के स्नातकों को आधुनिक भाषाओं एवं सामाजिक विज्ञानों की शिक्षा देने की विशेष व्यवस्था है। इसमें संबंध निर्देश और अध्ययन के लिए एक पुस्तकालय है जिसमें 20,000 से अधिक पुस्तकों हैं, तथा एक प्राकृतिक विज्ञान प्रयोगशाला है।
- (2) आधुनिक तरीके का एक आवासिक उच्च विद्यालय जिसमें कला और शिल्प में कौशल प्राप्त करने का अवसर मिलता है और व्यक्तिगत कार्य पर विशेष जोर दिया जाता है।

- (3) एक आवासिक प्राथमिक विद्यालय जिसे अधिकांशत: परियोजना प्रणाली के ढंग पर चलाया जाता है। इसमें एक विद्यालय वाटिका, एक विद्यालय बैंक और एक सहकारी दुकान हैं जिनका प्रबंध लड़के ही करते हैं।
- (4) जामिया शिक्षा केंद्र संख्या एक जो परियोजित संख्या में स्थापित किए जाने वाले प्राथमिक एवं प्रौढ शिक्षा केंद्रों में पहला है।
- (5) जामिया रासायनिक उद्योग जो दैनिक उपयोग के विभिन्न रासायनिक पदार्थों का विनिर्माण करने के लिए जामिया विज्ञान प्रयोगशाला से संलग्न है।
- (6) उर्दू अकादमी जिसने अपने प्रकाशनों द्वारा उर्दू में गंभीर साहित्य के लिए सारभूत देन दी है।
- (7) जामिया जो सामाजिक विज्ञान एवं साहित्य की उर्दू मासिक पत्निका है।
- (8) मकतब (जामिया बुक डिपो) जिसमें उर्दू किताबों का लगभग सबसे बड़ा भंडार है और शैक्षिक साहित्य के प्रकाशन में जिसका श्रेयस्कर इतिहास है।

भारत के विभिन्न भागों तथा अन्य एशियाई देशों के लगभग चार सौ विद्यार्थी जामिया में अध्ययन कर रहे थे।

जामिया के पास स्थाई निधियां नहीं थीं और प्रवर्तकों के अनुसार, 'जो लोग उसे चला रहे हैं उनके साहस एवं बिलदान तथा जनता से प्राप्त होने वाली सराहना एवं सहानुभूति से अधिक शायद कभी हों भी नहीं।' इसे परम महामान्य निजाम तथा भोपाल की सरकारों से और दिल्ली नगरपालिका से भी सारभूत सहायता मिलती थी परंतु इसकी आय का सबसे बड़ा स्रोत हमदर्दीने जामिया कहलाने वाले इसके समर्थक थे जिनकी संख्या लगभग 7,000 थी और जो अपनी आय का एक भाग जामिया के अनुरक्षण के लिए देते थे।

- (ख) विश्वभारती: यह अखिल भारतीय स्वरूप की एक अन्य संस्था थी जिसकी सरकारी अनुदानों के बिना स्थापना की गई थी। इसे डा० रवींद्रनाथ टैगोर ने 6 मई, 1912 को स्थापित और दान किया था। इसके घोषित उद्देश्य निम्नलिखित थे:
 - (1) पूर्व की विविध संस्कृतियों का एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध स्थापित करना;
- (2) पश्चिम के विज्ञान और संस्कृति को उनकी एकता के दृष्टिकोण से समझना; और
- (3) सर्वसामान्य भ्रातृत्व एवं लोकोपकारी कार्य में पूर्व और पश्चिम की मैत्नी का अनुभव करना और इस प्रकार ऐसी स्थिति पैदा करना जिससे विश्व में सामंजस्यस्थापित हो सके।

यह संस्था सहिशक्षीय एवं आवासिक है और इसमें न केवल भारत के प्रत्येक भाग से, वरन एशिया तथा यूरोप के दूरस्थ भागों से भी विद्यार्थी पढ़ने आते हैं। यह निम्न-लिखित विभागों का अनुकरण करता है।

(1) विद्या भवन अथवा अनुसंघान विद्यालय जहां संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिंदी, अरबी, फारसी, उर्दू और बंगला साहित्य में तथा भारतीय दर्शन, बौद्धमत एवं भारतीय रहस्यवाद में अनुसंधान करने की सुविधाएं उपलब्ध हैं;

- (2) चीन भवन : अथवा चीनी भारतीय अध्ययन विद्यालय जिसमें एक पुस्तकालय है। इसमें चीनी भाषा के लगभग 1,00,000 ग्रंथ मौजूद हैं। इसका उद्देश्य भारतीय विद्यार्थियों को चीनी संस्कृति तथा चीनी विद्यार्थियों के लिए भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहन देना है;
- (3) शिक्षा भवन: महाविद्यालय जो कलकत्ता विश्वविद्यालय से संबद्ध है;
- (4) कला भवन: लिलत कला विभाग जिसने चित्रकला की नई तूलिका को जन्म दिया जिसे विश्व भर् में मान्यता प्राप्त हो चुकी है;
- (5) संगीत भवन: अथवा एक संगीत तथा नृत्य विद्यालय;
- (6) श्रीनिकेतन: अथवा एक ग्राम पुनर्निर्माण संस्थान; और
- (7) शिल्प भवन : अथवा एक उद्योग विद्यालय जिसका उद्देश्य जिले में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देना और उनका संवर्धन करना है।

राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या के विषय में, उन कुछ महान संस्थाओं का भी अवश्य उल्लेख किया जाना चाहिए जो सरकारी पद्धित से अलग रहकर कार्य करती रहीं और प्राचीन हिंदू अथवा मुस्लिम शिक्षा के आदर्शों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न करती रहीं। इस प्रकार की अनेक संस्थाओं में से हम उनकी प्रतिनिधि संस्थाओं के रूप में तीन संस्थाओं को चुनते हैं, गुरुकुल विश्वविद्यालय जो प्राचीन भारतीय आदर्शों को पुनः जीवित करने का प्रयत्न करता है और दारुल उलूम, देवबंद तथा लखनऊ में दारुल उलूम नदवातुल उलेमा, जो शिक्षा में मुस्लिम आदर्शों को पुनः जीवित करने का प्रयत्न करते हैं।

(क) गुरुकुल विश्वविद्यालय: गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थापना आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने 1902 में की थी। इसकी शुरुआत एक छोटे से प्रारंभिक विद्यालय के रूप में हुई थी और यह अब एक पूर्ण विश्वविद्यालय बन गया है। आरंभ से ही यह विश्वविद्यालय सरकारी अनुदान लेने से इंकार करता रहा अत: समस्त सरकारी प्रभाव एवं नियंत्रण से मुक्त रहा है। 1924 में इसे कांगड़ी में अपने वर्तमान स्थान पर ले जाया गया जहां यह 'जंगल के एकांतवास में नगरीय जीवन के अशैक्षिक प्रभावों से मुक्त' रहकर कार्य करता है। यह छ: से आठ (अथवा अपवाद रूप से योग्य होने पर दस) वर्ष तक की आयु के विद्यार्थियों को दाखिल करता है। सामान्य शिक्षा कार्यक्रम 14 वर्ष तक चलता है इसके उपरांत विद्यार्थी स्नातक बन जाता है। दो वर्ष और अध्ययन करने पर उसे वाचस्पित की उपाधि मिलती है। यह गुरुकुल पद्धित लड़कों एवं लड़िकयों दोनों के लिए है और लड़िकयों के लिए महाविद्यालय स्तर तक शिक्षा देने वाला एक गुरुकुल दिहरादन में 1923 से कार्य कर रहा है।

पहली चार कक्षाओं में संस्कृत, हिंदी, अंकगणित, भूगोल, ड्राइंग, इतिहास, धर्म-शास्त्र और नीतिशास्त्र पढ़ाए जाते हैं। हस्तचक्षु प्रशिक्षण के लिए मृतिका प्रति-रूपण, चटाई बुनने, कताई करने, किंडरगाटेंन इत्यादि की शिक्षा दी जाती है। पांचवीं कक्षा में, अंग्रेजी तथा भौतिक विज्ञान को और जोड़ दिया जाता है। अधिकारी अथवा प्रवेशिका परीक्षा के बाद, विद्यार्थी विश्वविद्यालय कक्षाओं में पहुंचता है। इन कक्षाओं को तीन महाविद्यालयों में बांटा गया है अर्थात वेद महाविद्यालय अथवा धर्मशास्त्र महाविद्यालय, साधारण महाविद्यालय अथवा कला महाविद्यालय और आयुर्वेद महाविद्यालय अथवा मेडिकल कालेज। पहले दो महाविद्यालयों में अध्ययन के विषय ये हैं: वेद, दर्शन (अर्थात भारतीय दर्शनशास्त्र), संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी, इतिहास, अर्थशास्त्र, पाश्चात्य दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्रों का नुलनात्मक अध्ययन और रसायन शास्त्र। इनमें से कुछ विषयों में विद्यार्थी स्नातकोत्तर पाठ्यकम भी लेते है। आयुर्वेद महाविद्यालय में विद्यार्थी को भारतीय आयुर्विज्ञान के अतिरिक्त आधुनिक चिकित्साशास्त्र की भी शिक्षा दी जाती है। कुल मिलाकर, विश्वविद्यालय में शिक्षा माध्यम हिंदी है और संस्कृत के अध्ययन को भारी महत्व दिया जाता है।

गुरुकुल शिक्षा पद्धति प्राचीन भारतीय शिक्षा के कतिपय आदर्शों को पुन: जीवित करने का प्रयत्न करती है। इसके मूलभूत सिद्धांत इस प्रकार बताए गए हैं:

- (1) शिक्षा आवासिक संस्थाओं में ही दी जाने जानी चाहिए और इन संस्थाओं में घर और विद्यालय एक ही होंगे। गुरुकुल शब्द का अर्थ है अध्यापक का घर। गुरुकुल पद्धित में बालक अपने पिता के छोटे से परिवार से हटकर अध्यापक के बड़े परिवार में चला जाता है। परंतु वहां घर का वातावरण बनाए रखा जाता है और उसे घर और विद्यालय दोनों से ही हो सकने वाली सर्वोच्च उपलब्धि प्राप्त होती है।
- (2) शिक्षा नि:शुल्क ही होनी चाहिए; अध्यापक के घर में प्रत्येक बालक के लिए नि:शुल्क आवास और भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए।
- (3) किसी बालक के विकास में जन्म अथवा हैसियत के आधार पर विभेद नहीं किया जाता है। सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है और सभी बालक एक तरह रहते हैं, एक सी पोशाक पहनते हैं और अपना समय एक तरह व्यतीत करते हैं।
- (4) सहनशीलता तथा निर्भीकता के गुणों को पैदा करने के लिए सतत प्रयास किया जाता है।
- (5) चरित्र निर्माण, ब्रह्मचर्य पालन और कामप्रवृत्ति के उदात्तीकरण पर अत्यंत जोर दिया जाता है।
- (ख) दारल-उलूम, देवबंध: यह संस्था 1864 में स्थापित हुई थी। यह एक मुस्लिम विश्वविद्यालय है जिसे कट्टरपंथी ढंग से चलाया जाता है। इसमें न केवल भारत, वरन इस्लामी जगत के भी सभी भागों से विद्यार्थी आते हैं। इसे संसार का चौथा विश्वविद्यालय माना जाता है: पहले तीन विश्वविद्यालय जामिया अजहर, जामिया जैतून और जामिया ट्यूनिस हैं। दारुल-उलूम पूर्णतया आवासिक विश्वविद्यालय है और अरबी, फारसी, तजवीद (पिवत्र कुरान का पाठ), तिब्ब (यूनानी चिकित्साशास्त्र और तब्लीग (मिशनरी कार्यकलाप) की शिक्षा दी जाती है, इसमें एक कला एवं शिल्प विभाग भी है और ड्रिल एवं शारीरिक व्यायाम पर जोर दिया जाता है। इस संस्था से पढ़कर निकलने पर इसके भूतपूर्व छात्र अपने नाम के आगे देवबंदी जोड़ देते हैं और उन्हें फाजिल उपाधि दी जाती है। इसकी छात्न संख्या लगभग 1,600 थी जिसमें 100 छात्र विदेशों के थे।

(ग) दारुल-उलूम नदवातुल उलेमा, लखनऊ: यह संस्था 1898 में स्थापित हुई थी और इसकी सैंद्धांतिक स्थिति देवबंद के कट्टरपंथी विश्वविद्यालय अथवा अलीगढ़ जैंसे आधुनिक विश्वविद्यालय के बीच की है। इस संस्था से इस प्रकार के लोग पढ़कर निकलते हैं जिन्हें आधुनिक मौलवी कहा जा सकता है। इस संस्था में भारत के सभी भागों से तथा अन्य इस्लामी देशों से छात्र पढ़ने आते हैं। इसके भूतपूर्व छात्र अपने नाम के आगे नदवी जोड़ते हैं। इस काल में छात्रों की संख्या 300 थी। दारुल-उलूम, देवबंद की भांति यह भी एक आवासिक संस्था है।

यह नहीं मान लेना चाहिए कि राष्ट्रीय शिक्षा का संप्रत्यय केवल अपने को राष्ट्रीय कहने वाले कुछ स्थानों की चहारदीवारी तक ही सीमित था। इस संप्रत्यय की कुछ बातें बहत सामान्य होती जा रही थीं। यहां तक कि सरकारी पद्धति में भी उन्हें अपनाया जा रहा था। उदाहरण के लिए, इस काल में अधिकांश माध्यमिक विद्यालयों में आधुनिक भार-तीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम बनवाने में जो सफलता मिली थी, वह मुख्यतः राष्ट्रीय शिक्षा के संबंध में हुए संघर्ष के कारण ही मिली थी। इसी प्रकार, वे प्रयास भी राष्ट्रीय शिक्षा के अभ्यत्थान का ही परिणाम थे जो राष्ट्रभाषा का विकास करने और उसे लोकप्रिय बनाने के लिए इस समय किए गए थे। यहां तक कि मान्यता प्राप्त विद्यालयों के वाता-वरण में भी भारी परिवर्तन होने लगा। सम्राट के फोटो अथवा 'गाड सेव दि किंग' के गाने के लिए पहले की तरह आग्रह करना, विशेषकर गैर सरकारी विद्यालयों में, अब प्राय: समाप्त ही हो गया । विद्यालयों में राष्ट्रीय नेताओं के फोटो दिखाई देने लगे और अब उन पर आपत्ति नहीं की जाती थी। कुछ तनावपूर्ण अवसरों को छोड़कर, अधिकांश विद्यालय सभाओं में 'बंदे मातरम' अथवा अन्य राष्ट्रीय गीतों का गाया जाना एक आम बात हो गई। संक्षेप में, यह कह सकते हैं कि माध्यमिक तथा महाविद्यालयी संस्थाओं में एक ऐसा वातावरण रहने लगा था जो देशभिवत के विकास के लिए अधिक अनुकृल था। अत: यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं की संख्या में कमी होने से जो हानि पहुंची थी उसे राष्ट्रीय शिक्षा की इन तथा इस प्रकार की अन्य सफलताओं ने अच्छी तरह पूरा कर दिया।

प्रोढ़ साक्षरता: भारत के शैक्षिक इतिहास की 1921 और 1937 के बीच की मुख्य घटनाओं के इस पुनरीक्षण को अब एक और क्षेत्र का विवरण देकर समाप्त किया जा सकता है। इस काल में प्रौढ़ों के बीव साक्षरता फैलाने की समस्या के बारे में अग्रणी कार्य किया गया था। यद्यपि साक्षरता शिक्षा का पर्याय नहीं है, तो भी यह शिक्षा की ओर एक अपरिहार्य कदम है। भारत जैसे देश में, जहां 1921 की जनगणना के अनुसार भी 93 प्रतिशत लोग निरक्षर थे, प्रौढ़ निरक्षरता को समाप्त करने के अभियान की परम आवश्यकता के बारे में कोई विशेष दलील देने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय मंत्रियों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इस दिशा में कुछ प्रथम कदम उठाए। यहां तक कि 1927 में भी

1. मुस्लिम ईयर बुक आफ इंडिया, 1948-49, पु० 244 ।

प्रौढ़ों के लिए, 11,205 विद्यालय चल रहे थे। इनकी छात्र संख्या 2,90,352 थी। परंतू आर्थिक मंदी और उसके परिणामस्वरूप 1927 के उपरांत आरंभ हुए वित्तीय संकट के कारण पुनः इस समस्या के प्रति रुचि कम हो गई और अगले दशक में रात्रि पाठशालाओं अथवा प्रौढ़ कक्षाओं की संख्या काफी घट गई। 1936-37 में केवल 2,027 विद्यालय रह गए जिनमें भर्ती प्रौढ़ों की संख्या 63,637 थी। अत: यह पता चलता है कि 1937 से पूर्व प्रौढ़ों में साक्षरता फैलाने के लिए जो कार्य किया गया था वह परिणात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं था। परंतु प्रारंभिक कार्य के रूप में उसकी यथेष्ट सैद्धांतिक सार्थकता एवं उपयोगिता है। इन्हीं प्रारंभिक प्रयासों, विशेषकर 1917 तथा 1937 के बीच किए गए प्रयासों ने इस समस्या के प्रति जनरुचि पैदा की और उसे कायम रखा। इन्हीं प्रयासों में पहली बार ये विचार विकसित हुए कि मालिकों को अपने कर्मचारियों को साक्षर बनाने के लिए मजबूर किया जाए, साक्षरता आंदोलन का विस्तार करने के लिए विद्या-र्थियों की सेवा भावना का उपयोग किया जाए और साक्षरता शिक्षा का खर्च घटाने तथा इस कार्य में सहायता देने के लिए स्थानीय निकायों, सहकारी समितियों तथा अन्य अर्धसरकारी और गैर सरकारी अभिकरणों को इसके पक्ष में किया जाए। जैसा बाद में पता चलेगा, इन विचारों का कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने उस समय पूरा लाभ उठाया, जब वे 1937 में सत्तारूढ़ हुए और उन्होंने व्यापक साक्षरता अभियानों को संगठित करने का प्रयत्न किया।

इस काल का पुनरीक्षण (1921-37) : अब हम इस स्थिति में हैं कि भारतीय मंत्रियों की उन मुख्य उपलब्धियों को द्रुत सर्वेक्षण कर सकें जो प्रांतों में द्वैधशासन के सोलह वर्षों (1921-37) में हुई थीं। विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में निम्नलिखित उपलब्धियां हुई थीं: (क) अंतिवश्वविद्यालय बोर्ड का गठन; (ख) पांच नए विश्वविद्यालयों का निगमन; (ग) सीनेट में निर्वाचित स्थानों की संख्या में वृद्धि करके पुराने विश्वविद्यालयों का लोकतंत्रीकरण, (घ) महाविद्यालयों में विद्यार्थियों में संख्या में भारी वृद्धि, (ङ) अनेक नए संकायों का खोला जाना, (च) अध्ययन एवं अनुसंधान के अनेक नए पाठ्य-कमों की व्यवस्था, (छ) अंतर्महाविद्यालय और अंतिवश्वविद्यालयों कार्यंकलायों का विकास, (ज) सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था (यद्यपि छोटे पैमाने पर), और (झ) विद्यार्थियों की शारीरिक शिक्षा,स्वास्थ्य एवं आवास की-ओर अधिक ध्यान दिया जाना।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में निम्नलिखित उपलब्धियां हुई थीं : (क) कुल मिलाकर माध्यमिक शिक्षा का अभूतपूर्व प्रसार, (ख) ग्राम्य क्षेत्रों में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में भारी वृद्धि, (ग) लड़िकयों की माध्यमिक शिक्षा का भारी प्रसार, (घ) संपूर्ण माध्यमिक पाठ्यक्रम में मातृभाषा को बड़े पैमाने पर शिक्षा माध्यम के रूप में अपनाया जाना, (ङ) माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण एवं सेवा की शर्तों में कुछ सुधार।

प्राथमिक शिक्षा में निम्नलिखित कार्य हुए: (क) प्राथमिक शिक्षा संबंधी अनेक अधिनियमों का अधिनियम (ख) स्वैच्छिक आधार पर बाध्यता तथा प्रसार की अनेक योजनाओं का कार्यान्वयन, (ग) विद्यालयों और छात्नों की संख्या में भारी वृद्धि (यद्यिप सर्वजनीन, अनिवार्य और नि:शुल्क प्राथमिक शिक्षा का आदर्श पूरा होने की कोई

संभावना नहीं थी)और (घ) गुणात्मक पहलुओं में कुछ सुधार।

प्रौढ़ों में साक्षरता फैलाने के लिए भी कुछ प्रयास किए गए यद्यिप दुर्भाग्यवश वे छिटपुट और अपर्याप्त थे। व्यावसायिक शिक्षा में सामान्य सर्वतोमुखी विकास हुआ और स्वयं भारत में सर्वोच्त्र प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए कुछ गंभीर प्रयत्न किए गए। 1924 में भारतीय शिक्षा सेवा के लिए भर्ती बंद कर दी गई और उसके स्थान पर एक नई प्रांतीय (श्रेणी-1) सेवा चालू की गई तथा 1936-37 तक संपूर्ण शिक्षा विभाग का एक प्रकार से भारतीयकरण कर दिया गया। मुसलमानों ने, जो शिक्षा में बहुत समय से पिछड़े हुए थे, अब विगत काल की अपनी किमयों को दूर कर दिया और कुछ अर्थों में वे अन्य संप्रदायों से भी आगे बढ़ गए। स्त्री शिक्षा के संबंध में भी भारी प्रगति हुई। इस काल में स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए अनेक कानून बने, उन्हें राजनीतिक विशेषाधिकार दिए गए तथा उनके बीच से एक नए नेतृत्व का जन्म हुआ। इस काल में महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए भारी अभियान चलाया और हरिजनों को डा० बी० आर० अंबेडकर जैसे व्यक्तियों के नेतृत्व में राजनीतिक रूप से संगठित किया गया। इसके परिणामस्वरूप, सरकारी पद्धित हरिजनों के विशेष विद्यालयों की संख्या को (यदि पूरी तरह समाप्त नहीं तो) सारभूत रूप से कम कर सकी और हरिजनों के बीच शिक्षा का भारी प्रसार करने में सहायता कर सकी।

ये उपलब्धियां वास्तव में महान हैं। ये उस समय और भी सार्थंक प्रतीत होती हैं जब हम यह स्मरण करते हैं कि इस काल के भारतीय मंत्रियों को अनेक किठनाइयों का सामना करते हुए काम करना पड़ा था जैसे (क) केंद्रीय अनुदानों का न होना, (ख) सामान्य वित्तीय संकट, (ग) कांग्रेस का समर्थन प्राप्त न होना, (घ) आवधिक राजनीतिक संघर्ष तथा उनसे संबद्ध अनिवार्य उपद्रव, और (ङ) इस काल के अधिकांश भाग में भारतीय शिक्षा सेवा से आवश्यक सहयोग न मिलना। इन उपलब्धियों से उन लोगों की आशंका निश्चय ही निर्मूल सिद्ध हो गई जिन्होंने 1921 में शिक्षा को लोक नियंत्रण में अंतरित करने का विरोध किया था और ऐसे लोगों के दृष्टिकोण को बल मिला जो अच्छे परिणामों की आशा करते थे। वास्तव में ये उपलब्धियां इस विचार को उचित ठहराने के लिए काफी अच्छी थीं कि शक्तियों का आगे भी अंतरण किए जाने की आवश्यकता है और शिक्षा को बिना किन्हीं परिसीमाओं के पूरी तरह से भारतीय नियंत्रण में अंतरित कर दिया जाना चाहिए। 1937 में जब ब्रिटिश भारत के ग्यारह प्रांतों में प्रांतीय स्वाशासन स्थापित हो गया और भारतीय मंत्रियों को शिक्षा पर और अधिक (अथवा लगभग संपूर्ण) नियंत्रण प्राप्त हो गया तो करीब करीब ऐसा ही हुआ। शैक्षिक इतिहास के इस नए काल की प्रमुख घटनाओं का अगले अध्याय में वर्णन किया जाएगा।

10

प्रांतीय स्वशासन के अधीन शिक्षा (1937-47)

प्रांतीय स्वशासन: भारत पूर्ण राजनीतिक स्वाधीनता की ओर जो प्रयाण कर रहा था भारत सरकार अधिनियम, 1935 उस प्रयाण में आगे की ओर बढ़ाया गया एक अगला कदम था। इस अधिनियम ने प्रशासन की सहज रूप से दोषपूर्ण द्वैधशासन प्रणाली को समाप्त कर दिया, आरक्षित और अंतरित विभागों का भेद खत्म कर दिया और संपूर्ण प्रांतीय प्रशासन क्षेत्र को एक मंत्रालय के अधीन कर दिया। यह मंत्रालय एक ऐसे विधान मंडल के प्रति उत्तरदाई था जिसमें निर्वाचित सदस्यों का प्रचुर बहुमत था। यह नई शासन प्रणाली, जो प्रांतीय स्वशासन के नाम से प्रसिद्ध है, 1937 में ब्रिटिश भारत के ग्यारह प्रांतों में लागू हुई थी।

प्रांतीय स्वशासन के आरंभ होने के साथ ही महान शैक्षिक प्रगति की गहरी अ।शाएं बंध गईं। जिन किठनाइयों ने 1921 और 1937 के बीच भारतीय मंत्रियों के कार्य में बाधा डाली थी, उनमें से अधिकांश किठनाइयां अब शेष नहीं थीं। विश्वव्यापी आर्थिक मंदी समाप्त हो गई थी और इस आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप जो वित्तीय संकट उत्पन्न हुआ था वह भी अब समाप्त हो चुका था। धन का प्रवाह अधिक मुक्त रूप से प्रवाहित होने लगा था और वित्त विभाग अब ऐसे कार्यकारी पार्षद के हाथ में नहीं था जिस पर मंत्रियों का प्रभाव नहीं पड़ता था। भारतीय शिक्षा सेवा का लगभग परिसमापन कर दिया गया था और अब उसमें यूरोपीय अधिकारियों की संख्या बहुत ही कम हो गई थी। चूकि कांग्रेस अब देश में सबसे अधिक प्रभावी राजनीतिक संस्था थी और उसने ग्यारह में से सात प्रांतों में सत्ता सम्हाल ली थी तथा शेष चार प्रांतों में भी मंत्रीमंडलों को जनता के बहुमत का स्पष्ट समर्थन प्राप्त था अत: लोक समर्थन प्राप्त होना सुनिश्चित था। नई प्रांतीय सरकारें भारत सरकार अधिनियम 1935 के अधीन कार्य कर रही थीं और उनसे यह आशा की जाती थी कि वे शैक्षिक पुनर्निमाण की योजना बना सकेंगी तथा उसे साहस और दृढ़ता के साथ दृत गित से कार्योन्वत कर सकेंगी।

दुर्भाग्यवश ये आशाएं पूरी नहीं हुईं। इस असफलता का सर्वप्रथम कारण यह था कि कांग्रेस थोड़े समय के लिए ही सतारूढ़ रही। वह 1937 में प्रथम बार सत्तारूढ़ हुई थी। परंतु दो वर्षों के भीतर ही सितंबर, 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया और शीघ्र ही कांग्रेस तथा अंग्रेज सरकार के बीच मतभेद पैदा हो गए। ये मतभेद मित्र राष्ट्रों के 'युद्ध और शांति संबंधी उद्देश्यों' के प्रश्न पर (भारत में उनके लागू होने के विशेष संदर्भ में) हए। इसके फलस्वरूप कांग्रेस ने तीन वर्ष से भी कम अवधि तक सत्तारू ढ़ रहने के बाद 1940 में इस्तीफा दे दिया। 1940 और 1945 के बीच 'घारा 93' अथवा 'कामचलाऊ सरकारों का शासन रहा। इनका मूख्य उद्देश्य युद्ध को चलाते रहना था इसलिए शैक्षिक पूर्नीनर्मीण थोड़ा बहुत तब तक रुका रहा जब तक कि 1946 में पून: लोकप्रिय मंत्रीमंडल सत्तारूढ न हो गए । अत: कांग्रेस 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश सत्ता के भारत से हटने तक दसरी बार लगभग दो वर्ष तक पून: सत्तारूढ़ रही। दूसरे शब्दों में, प्रांतीय स्वशासन के दस वर्षों में लोकप्रिय सरकारें केवल पांच वर्ष तक ही सत्तारूढ रहीं। दूसरी बात यह है कि यह एक ऐसा समय था जब राजनीतिक समस्याओं को ही प्रमुखता दी जाती रही। इसके परिणामस्वरूप शैक्षिक विषयों को वहत गौण स्थान दिया गया। 1937-38 में प्रधानतः राज्यपालों की आरक्षित शक्तियों के बारे में विवाद चलते रहे। 1939-40 में प्रमुख रूप से मित्र राष्ट्रों के युद्ध और शांति संबंधी उद्देश्यों पर चर्चा होती रही। 1940-45 में द्वितीय विश्व युद्ध और 'भारत छोड़ो' आंदोलन चलते रहे । 1946-47 में ब्रिटिश सत्ता के भारत से हटने और भारत विभाजन की तैयारियां हुईं। अत: शायद ही कोई ऐसा समय रहा होगा जब राजनीतिक या कोई दूसरा संकट सामने उपस्थित न रहा हो। तीसरी बात यह है कि उस संपूर्ण काल में अंग्रेजों, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच इतना तेज और महत्वपूर्ण विपक्षीय संघर्ष चलता रहा कि अन्य सभी विषय उसके सामने पूरी तरह से महत्वहीन हो गए। इन्हीं सब कारणों से इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि राष्ट्रीय नेतागण शैक्षिक पूर्नीनर्माण के लिए पर्याप्त समय और धन नहीं दे सके और प्रांतीय स्व-शासन के अधीन शैक्षिक प्रगति उस सीमा तक नहीं हो सकी जिस सीमा तक उसके विषय में 1937 में भारी आशा लगा ली गई थी।

इस काल की उपलब्धियों का अध्ययन करने के लिए उन्हें तीन समूहों में बांट लेना सुविधाजनक रहेगा। प्रथम समूह में हम इन विषयों को रखेंगे: (क) वे परिवर्तन जो भारत सरकार अधिनियम 1935 के द्वारा गैंक्षिक प्रशासन में किए गए; (ख) भारत सरकार के गैंक्षिक कियाकलाप; और (ग) विश्वविद्यालय शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा संबंधी गतिविधियां। दूसरे समूह में हम कांग्रेस मंत्रीमंडल की तीन सबसे विशिष्ट देनों का अध्ययन करेंगे। ये देनें हैं: (क) बुनियादी शिक्षा, (ख) प्रौढ़ शिक्षा (बड़े पैमाने पर चलाए गए साक्षरता अभियानों सहित) और (ग) अस्पृथ्यता समाप्त करने तथा हरिजनों के बीच शिक्षा का प्रसार करने के लिए किए गए जोरदार प्रयत्न। तीसरे समूह में, हम भारत में ग्रैक्षिक विकास की उन विभिन्न अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक योजनाओं का विश्लेषण करेंगे जिन्हें इस काल में तैयार किया गया था अर्थात् (क) राष्ट्रीय योजना समिति, (ख) अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन, (ग) केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड द्वारा तैयार की गई योजनाएं, और (घ) भारत में केंद्रीय, प्रांतीय तथा राज्य सरकारों द्वारा तैयार की गई पंचवर्षीय योजनाएं (1947-52)।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अधीन शिक्षा: इन परिचयात्मक टिप्पणियों के बाद अब हम 1937-47 के दशक के शैक्षिक इतिहास की मुख्य घटनाओं का वर्णन करेंगे।

सबसे पहले यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि भारत सरकार अधिनियम 1935 का शिक्षा की स्थित पर क्या असर पड़ा था। जैसा पहले बताया जा चुका है, 1919 के अधिनियम में शिक्षा को एक ऐसा विषय बना दिया था जो 'अंशत: अखिल भारतीय, अंशत: आरक्षित, अंशत परिसीमाओं के रहते हुए अंतरित और अंशत परिसीमाओं के बिना अंतरित था। भारत सरकार अधिनियम, 1935 ने इस असंगत स्थिति में काफी सुधार किया और संपूर्ण शैक्षिक कियाकलापों को केवल दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया। ये श्रेणियां थीं: संघीय (या केंद्रीय) और राज्य (या प्रांतीय)। कियाकलापों का विभाजन निम्नलिखित ढंग से किया गया था:

(क) संघीय (अथवा केंद्रीय) विषय

- (1) साम्राज्यिक पुस्तकालय, कलकत्ता; भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता; साम्रा-ज्यिक युद्ध संग्रहालय; विक्टोरिया स्मारक, कलकत्ता; और संघ द्वारा नियंत्रित अयवा अर्थ युक्त की गई अन्य कोई सदृश संस्था;
- (2) रक्षा सेनाओं में शिक्षा;
- (3) बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय;
- (4) प्राचीन तथा ऐतिहासिक स्मारकों का परिरक्षण;
- (5) पुरातत्व; और
- (6) केंद्र प्रशासित क्षेत्रों में शिक्षा।

(ख) राज्य (अथवा प्रांतीय) विषय:

जिन विषयों को उपर्युक्त संघीय सूची में शामिल कर लिया गया है उन्हें छोड़कर शिक्षा संबंधी सभी विषयों को राज्य अथवा प्रांतीय विषय माना गया था।

द्वैधशासन की समाप्ति के साथ ही आरक्षित और अंतरित विषयों का पुराना भेद समाप्त हो गया और आंग्ल भारतीयों तथा यूरोपीय लोगों की शिक्षा आरक्षित विषय नहीं रही।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 से केंद्रीय सरकार का स्वरूप नहीं बदला क्योंकि उसके द्वारा अपेक्षित संघ 1947 तक नहीं बना। अतः संपूर्ण विचाराधीन काल में केंद्रीय सरकार ब्रिटिश पालियामेंट के प्रति उत्तरदाई बनी रही। तो भी, 1946 में जब पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपना अंतरिम मंत्रीमंडल बनाया तो केंद्रीय सरकार का शिक्षा विभाग पहली बार राष्ट्रवादी नियंत्रण में आया। 15 अगस्त, 1947 को उसे एक पूर्ण मंत्रालय बना दिया गया और मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रथम संघीय शिक्षामंत्री बने। विश्वविद्यालय शिक्षा का भारी प्रसार हुआ। जबिक विश्वविद्यालयों में पड़ने वाले विद्याथियों की संख्या 1936-37

में 1,26,228 थी (इसमें उन विश्वविद्यालयों के आंकड़े भी शामिल हैं जो अब पाकिस्तान में हैं), 1946-47 में वह 2,41,794 हो गई (इसमें उन विश्वविद्यालयों के आंकड़े शामिल नहीं हैं जो अब पाकिस्तान में हैं)। अगले पृष्ठ पर दी गई सारणी से 1946-47 की स्थिति का पता चलता है। यह सारणी भारतीय विश्वविद्यालय आयोग द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर तैयार की गई है।

विश्वविद्यालय शिक्षा का यह भारी प्रसार कई कारणों से हुआ। इनमें से कुछ कारण इस प्रकार हैं: युद्ध और 'भारत छोड़ो आंदोलन' के कारण जनता में सामान्य जागृति फैलना, माध्यमिक शिक्षा का प्रसार, स्त्रियों एवं पिछड़े वर्गों में उच्च शिक्षा पाने के लिए तेजी से बढ़ती हुई इच्छा, युद्ध द्वारा किया गया द्वुत नगरीकरण, और वाणिज्यिक समुदाय अथवा समाज के उन वर्गों द्वारा शिक्षा के लिए उदारतापूर्वक दिया गया दान, जिन्होंने युद्धकाल में भारी मुनाफे कमाए थे। युद्ध के कारण प्रशिक्षित कर्मचारियों की मांग भी अधिक होने लगी। अतः सरकार ने विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रसार के लिए अधिक अनुदान दिए। ये अनुदान विशेषकर उन शाखाओं में दिए गए जिनका युद्ध संबंधी प्रयत्नों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष संबंध था। इन तथा अन्य कारणों से इस काल में विश्वविद्यालय शिक्षा का अभूतपूर्व प्रसार हुआ। अनेक नए महाविद्यालय स्थापित हुए, अनेक नए संकाय खोले गए, चार नए विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और पुराने विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों की छात्र संख्या में सारभत वृद्धि हुई।

यद्यपि यह प्रसार एक अच्छी बात थी तथापि कितपय क्षेत्रों में सामान्य रूप से व्यक्त किए गए इन विचारों के लिए औचित्य नहीं था कि भारत की शिक्षा पद्धित 'शिखर' पर बोझिल हो गई है; पहले ही एक ऐसी स्थित आ चुकी है जिसमें उच्च शिक्षा संबंधी सुविधाओं का विस्तार किए जाने के बजाए उनमें कटौती की जानी चाहिए; और इस प्रकार से बचाए गए धन को सार्वजनिक शिक्षा पर व्यय किया जाना चाहिए। वस्तुतः भारतीय विश्वविद्यालय आयोग, 1949 ने यह समझा था कि हमारे विश्वविद्यालयों की छात्र संख्या की अधिकांश पाश्चात्य देशों की छात्र संख्या से तुलना नहीं की जा सकती। धार्जेट प्रतिवेदन में निम्नलिखित बातें कही गई थीं।

इसके विपरीत यदि कुल जनसंख्या के हिसाब से विश्वविद्यालयों की छात्र संख्या की गणना की जाए तो यह ज्ञात होगा कि विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध में भारत संसार के तमाम प्रमुख राष्ट्रों में सबसे पिछड़ा देश है। युद्ध-पूर्व जर्मनी में संपूर्ण जनसंख्या

| का नाम 2 | स्याप्ता की तिथि 3 | x E 4 | नियानिया की संख्या 5 | अल ब्यय (ह्यारों में) 6 | सरकारा अनुदान (हजारों में) 7 | कुल आय के साथ सरकारी अनुदान का प्रतिशक्त 8 |
|-----------------|--------------------------|-------------------|----------------------------|-------------------------------|------------------------------------|--|
| कलकत्ता | . 1857 | संबंधन और अध्यापन | 45.008 | 3.922 | 938 | 22.0 |
| ख. ख. ख. | 1857 | यथोपरि | 43,090 | 2,695 | 209 | 9.8 |
| मद्रास | 1857 | यथोपरि । संघात्मक | 28,888 | 1,650 | 460 | 23.4 |
| इलाहाबाद | 1887 | अध्यापन | 3,502 | 1,627 | 793 | 52.88 |
| बनारस | 1916 | अध्यापन | 5,083 | 12,580 | 1,270 | 9.5 |
| मैसूर | 1916 | अध्यापन और संबंधन | 9,350 | 2,548 | 1,700 | 69.2 |
| पटना | 1917 | यथोपरि | 5,471 | 864 | 61 | 7.2 |
| उस्मानिया | 1918 | अध्यापन | 4,862 | 3,492 | 3,498 | 91.3 |
| अलीगढ़ | 1920 | यथोपरि | 4,009 | 1,570 | 995 | 35.7 |
| लखनऊ | 1920 | यथोपरि | 3,893 | 2,223 | 1,070 | 53.3 |
| दिल्ली | 1922 | यथोपरि। संघात्मक | 4,311 | 716 | 593 | 52.4 |
| नागपुर | 1923 | अध्यापन और संबंधन | 5,734 | 849 | 113 | 15.4 |
| आंध | 1926 | यथोपरि | 9,445 | 1,136 | 307 | 20.4 |
| आगरा | 1927 | संबंधन | 9,936 | 360 | 40 | 96.6 |
| अन्नामलाई | 1929 | अध्यापन | 1,981 | 1,283 | 612 | 47.62 |
| ट्रावनकोर | 1937 | अध्यापन और संबंधन | 5,715 | 2,572 | 2,226 | 9.82 |
| उत्कल | 1943 | संबंधन | 3,662 | 235 | 40 | 9.61 |
| सागर | 1946 | अध्यापन और संबंधन | 1,828 | 247 | 100 | 33.39 |
| राजपूताना | 1947 | संबंधन | उपलब्ध नहीं | 234 | 215 | 48.23 |

^{1.} भारतीय विश्वविद्यालय आयोग को केंद्रीय सरकार ने भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रतिवेदन देने के लिए 1948 में नियुक्त किया था। इसके अध्यक्ष सर एस० राधाकृष्णन थे। इसका प्रतिवेदन, जिसे 1949 में प्रस्तुत किया गया था, एक अत्यंत बहुमूल्य दस्तावेज है। इसमें विश्वविद्यालय चरण की शिक्षा की सभी प्रमुख समस्याओं पर विचार किया गया है।

^{2.} रिपोर्ट, पृ० 346।

के साथ विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों का अनुपात 690 पर 1, ग्रेट ब्रिटेन में 837 पर 1, संयुक्त राज्य अमरीका में 225 पर 1 और रूस में 300 पर 1 था। जबिक भारत में यह अनुपात 2,206 पर 1 है।

इंग्लैंड में 4.1 करोड़ जनसंख्या के लिए 12 विश्वविद्यालय हैं। कनाडा में 85 लाख जनसंख्या के लिए 13 और आस्ट्रेलिया में 55 लाख जनसंख्या के लिए 6 विश्वविद्यालय हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में 13 करोड़ जनसंख्या के लिए विश्वविद्यालय के ढंग की शिक्षा देने के लिए 1,720 संस्थाएं हैं जबिक भारत में 40 करोड़ जनसंख्या के लिए 18 विश्वविद्यालय हैं। इन सबसे सिद्ध होता है कि जब भारत में उचित शिक्षा पद्धति होगी तो भारत को विश्वविद्यालय शिक्षा की आवश्यकता उसकी अपेक्षा कम न होकर अधिक ही होगी जितनी इस समय उपलब्ध है।

अतः यह कहना सही नहीं होगा कि भारतीय शिक्षा पद्धति शिखर पर बोझिल थी। वास्तविक बात यह है कि उसकी नींव कमजोर थी। निस्संदेह, सार्वजनिक शिक्षा सर्वोच्च आवश्यक एवं अपरिहार्य है परंतु विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में भी अभी और विस्तार किए जाने की आवश्यकता है।

इस बात को भी दिन पर दिन अधिक महसूस किया जा रहा था कि देश को विश्वविद्यालयों में छात्नों के लिए जो सीमित स्थान उपलब्ध हैं, उनका भी मूँरा लाभ नहीं मिलता है। इस दुखद परिणाम के दो कारण थे: पहली बात यह है कि विश्वविद्यालयों में दाखिल के लिए विद्यार्थियों का चयन करने के लिए प्रयास नहीं किए जाते थे और कम से कम कला महाविद्यालय में तो सामान्यत: किसी भी ऐसे विद्यार्थी को प्रवेश मिल जाता था जो फीस दे सकता था। दूसरी बात यह है कि बहुत से प्रतिभाशाली बालक विश्वविद्यालय में इसलिए दाखिला नहीं ले पाते थे कि उनके सामने आधिक बाधाएं थीं और छात्रवृत्तियों की पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी। अतः हमारी उच्च शिक्षा पद्धित को दोनों प्रकार से हानि पहुंची, भारी संख्या में ऐसे अयोग्य छात्नों को दाखिल करके जिन्हें दूसरे कारोबारों में लग जाना चाहिए था, और ऐसे अनेक श्रेष्ठ परंतु निर्धन विद्यार्थियों को दाखिल न करके जिन्हें दाखिल किया जाना चाहिए था। इस प्रकार की पद्धित में जो सहज सामाजिक अन्याय और अपव्यय होता था उसे इस काल में पहले की अपेक्षा अधिक महसूस किया गया क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध ने सामाजिक न्याय और सभी के लिए शैक्षिक अवसरों की समानता के विचारों को बहुत व्यापक रूप से फैला दिया था।

विश्वविद्यालय शिक्षा का एक अन्य तथा अधिक गंभीर दोष यह था कि कुल छात्न संख्या में वृद्धि होने के बावजूद वैज्ञानिक, तकनीकी, कृषि अथवा व्यावसायिक शाखाओं से बाहर आने वाले प्रशिक्षित कीमक देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बहुत अपर्याप्त थे। यह सच है कि विश्वविद्यालय शिक्षा पद्धित के इस दोष के बारे में 1902 से लगातार बल दिया जाता रहा था परंतु विगत काल की अपेक्षा विचाराधीन काल में इसे अधिक महसूस किया गया क्योंकि केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों की युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन विकास योजनाओं ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी जिसमें प्रशिक्षित कींमकों की बहुत भारी कमी महसूस की गई।

माध्यमिक शिक्षा (1937-47): माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कोई असाधारण गति-विधियां नहीं हुईं। इस काल में भी विद्यालयों एवं छात्रों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। परंतु प्रसार की गति वह नहीं थी जो पूर्ववर्ती कालों में रही थी। इस वृद्धि से भी वही दोष उभर कर सामने आए जो पहले ही स्पष्ट हो चुके थे। इन दोषों को दूर करने और स्थिति को सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न किए गए परंतु पूर्ववर्ती कालों की भांति वे आवश्यकता से बहुत कम रहे। अतः 1946-47 में माध्यमिक शिक्षा की स्थिति ऐसी नहीं थी जिसे 1936-37 की स्थिति से ज्यादा अच्छा कहा जा सके। वास्तव में माध्यमिक अध्यापकों में बढ़ते हुए असंतोष और युद्ध द्वारा उत्पन्न सामाजिक आर्थिक शक्तियों के दबाव के कारण माध्यमिक शिक्षा की स्थिति और भी बिगड गई थी।

(क) प्रसार: 1946-47 के संबंध में माध्यमिक शिक्षा के आंकड़े अगले पृष्ठ पर दिए गए है। 1936-37 के आंकड़ों की 1946-47 के आंकड़ों के साथ तुलना करते समय, पाकिस्तान की स्थापना को ध्यान में रखना होगा। पाकिस्तान की जनसंख्या 7.5 करोड़ थी जबिक भारत की जनसंख्या 31.8 करोड़ थी (1941 की जनगणना के अनुसार)। अतः जनसंख्या के आधार पर हमें यह मानना होगा कि भारत संघ में 1936-37 में केवल लगभग 10,400 माध्यमिक विद्यालय थे और उनमें लगभग 18.30 लाख छात्र थे (अर्थात 1936-37 के लिए दी गई वास्तविक संख्या के लगभग चार बटा पांच थे)। यदि इन आंकड़ों की 1946-47 के आंकड़ों के साथ तुलना की जाए तो, निस्संदेह हम यह पाएंगे कि विद्याधियों की संख्या में वृद्धि हुई है; परंतु उनकी कुल संख्या दुगुनी नहीं हुई है जैसे प्रत्येक पूर्ववर्ती काल में होती रही थी। यह ध्यान रखना चाहिए कि पाकिस्तान के बावजूद 1936-37 और 1946-47 के बीच विश्वविद्यालयों के विद्याधियों की संख्या लगभग दुगुनी हो गई थी। यही स्थिति माध्यमिक शिक्षा के संबंध में भी होनी चाहिए थी। परंतु उपर्युक्त आंकड़ों से यही निष्कर्ष निकल सकता है कि 1936-37 और 1946-47 के बीच माध्यमिक शिक्षा का केवल साधारण रूप से तेज गित से प्रसार हुआ था परंतु वह उतनी तेज नहीं थी जितनी पूर्ववर्ती कालों में देखी गई थी।

इस गित के धीमी पड़ जाने के क्या कारण हो सकते हैं ? इसके बारे में कई कारण बताए जा सकते हैं । हो सकता है कि इसका कारण यह हो कि हम माध्यमिक शिक्षा के संतृष्त बिंदु पर पहुंचने जा रहे हैं । चूं कि जिन बालकों को माध्यमिक विद्यालयों में होना चाहिए था उनमें से अधिकांश बालक पहले ही वहां मौजूद हैं अत: माध्यमिक शिक्षा के प्रसार की गित धीमी पड़ जानी लाजिमी है । तो भी, यह युक्ति प्रसंभाव्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि भारत में माध्यमिक विद्यालयों की वर्तमान छात्न संख्या विश्व के अन्य प्रगतिशील देशों की अपेआ बहुत कम है । एक अन्य युक्ति यह प्रस्तुत की जा सकती है कि संख्या वृद्धि के सीमित हो जाने का कारण यह हो सकता है कि चयन की प्रक्रिया ऐसी धी जिसके अंतर्गत केवल उन्हीं छात्रों को माध्यमिक विद्यालयों में दाखिल किया गया था

| | | विद्यालय | | | জাস | |
|--------------------------|-----------|-------------|--------|-----------|-----------|-----------|
| | लड़कों के | लड्कियों के | योग | ल के | लड़िक्यां | योग |
| मिडिल अंग्रेजी विद्यालय | 4,169 | 620 | 4,789 | 5,40,441 | 85,484 | 6,25,925 |
| मिडिल देशी भाषा विद्यालय | 2,914 | 292 | 3,481 | 4,04,377 | 92,300 | 4,96,677 |
| उच्च विद्यालय | 3,061 | 576 | 3,637 | 13,81,038 | 1,78,341 | 15,59,379 |
| 1946-47 का योग | 10,144 | 1,763 | 11,907 | 23,25,856 | 3,56,125 | 26,81,981 |
| 1936-37 का योग | [| | 13,056 | | 1 | 22,87,872 |
| | | | | | | |

जो माध्यमिक शिक्षा पाने के योग्य थे। परंतु विचाराधीन काल में माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों का दाखिला बिना चयन किए होता रहा था और प्रत्येक ऐसे छात्र को अंततः दाखिला मिल जाता था जिसने दाखिला लेना चाहा हो। अतः इस संभावना को भी रद्द कर देना चाहिए कि गति के धीमा पड़ जाने का कारण यह था कि चयनात्मक छंटाई की जाती थी।

जब हम तथ्यों का विश्लेषण करते हैं तो गित के धीमा पड़ने के केवल दो कारण दिखाई देते हैं। इनमें से सर्वप्रथम कारण यह है कि प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की गित धीमी पड़ गई थी। इस विषय पर अगले परिच्छेद में चर्चा की जाएगी। दूसरा कारण वह आर्थिक स्थिति है जो युद्ध के कारण उत्पन्न हुई थी। जो बालक माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ने आते हैं उनमें से अधिकांश बालक नगरीय मध्यम वर्ग के होते हैं। दुर्भाग्यवश समाज के इस वर्ग के लोगों को एक ओर बढ़ते हुए निर्वाह व्यय और दूसरी ओर बढ़ते हुए शिक्षा व्यय से (फीस में वृद्धि, शैक्षिक साज सामान के मूल्यों में वृद्धि आदि के कारण) भारी धक्का लगा था। इसके परिणामस्वरूप, समाज के इस वर्ग के बालकों की माध्यमिक शिक्षा अब पहले की अपेक्षा संकुचित हो गई। इसके अतिरिक्त निर्धन श्रमिक वर्ग के बालकों के लिए भी माध्यमिक विद्यालयों में जाना उत्तरोत्तर कठिन होता गया। ऐसा दो कारणों से हुआ। पहला कारण यह था कि उनके परिवारों की निर्धनता बढ़ गई थी। दूसरा कारण यह था कि माध्यमिक शिक्षा का खर्च बढ़ता जा रहा था। माध्यमिक शिक्षा के संबंध में अवसरों का यह जो आकुचन हुआ उसका परिणाम यह हुआ कि सभी वर्गों में माध्यमिक शिक्षा के प्रसार की गित अपेक्षाकृत धीमी हो गई।

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि हमारी माध्यमिक शिक्षा पद्धति की प्रक्रिया अब अत्यधिक चयनात्मक है। यह प्रक्रिया बौद्धिक आधार पर नहीं वरन आधिक आधार पर चल रही है। इसमें समाज के धनिक वर्गों के प्राय: सभी बालकों को दाखिल कर लिया जाता है। बहुत से उपलब्ध स्थान इस प्रकार के छात्रों को मिल जाने से जो निश्चित रूप से इस प्रकार की शिक्षा पाने के योग्य नहीं होते हैं, अपव्यय होता है। दूसरी ओर, दाखिला पाने के लिए बौद्धिक रूप से योग्य होने के बावजूद मध्यम वर्ग के कुछ बालक आर्थिक कारणों से विद्यालयों में दाखिला लेने से वंचित रह जाते हैं जबिक निर्धन वर्ग के थोड़े से बालक ही उनमें दाखिला पाने में सफल हो पाते हैं। अत: विश्वविद्यालय शिक्षा की भांति ही माध्यमिक शिक्षा की समस्या के भी तीन पहलू हैं। पहली बात यह है कि इंग्लैंड अथवा किसी अन्य प्रगतिशील देश के समान भारत में भी माध्यमिक विद्यालयों का भारी सर्वसमावेशी विस्तार होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि यह सुनिश्चित करने के लिए नि:शूल्क स्थानों और छात्रवृत्तियों की बहुत उदार पैमाने पर व्यवस्था की जानी चाहिए कि कोई भी ऐसा श्रेष्ठ बालक निर्धनता के कारण माध्यमिक शिक्षा पाने से वंचित न हो जो उससे लाभ उठा सकने की क्षमता रखता हो। तीसरी बात यह है कि माध्यमिक विद्यालयों के लिए बालकों को चयन करने की वैज्ञानिक एवं प्रशासनिक रूप से सुविधाजनक रीतियां विकसित करनी हैं। जब तक छंटाई प्रक्रिया को पहले माध्यमिक स्तर पर नहीं अपनाया जाएगा तब तक बाद में इसे मैट्रिक स्तर पर अपनाना और विश्वविद्यालय शिक्षा की स्थिति और स्तर को सूधारना संभव नहीं होगा।

- (ख) शिक्षा माध्यम : विचाराधीन काल में शिक्षा माध्यम की समस्या की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया। जिन कठिनाइयों ने पूर्ववर्ती काल (1921-37) में आधूनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम के रूप में अपनाए जाने के मार्ग में बाधा उपस्थित की थी, वे वास्तविक अथवा काल्पनिक कठिनाइयां अब लगभग पूरी तरह समाप्त हो चकी थीं। अच्छी किस्म की पाठय पुस्तकों काफी संख्या में प्रकाशित हो चकी थीं। शब्दावलियां तैयार की जाने लगी थीं और उन्हें आधुनिक बनाया जा रहा था। यद्यपि इन शब्दावलियों में भारत के तमाम भागों में एकरूपता नहीं पाई जाती थी, और इन्हें व्यापक स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई थी तथापि इन्होंने भारतीय भाषाओं में प्रयोग के लिए समान शब्दावलियों की तैयारी के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। अध्यापकगण घीरे घीरे मातृभाषा के माध्यम से पढाने के अभ्यस्त हो गए और बीजगणित, ज्यामिति, भौतिकी, रसायनशास्त्र अथवा वनस्पति विज्ञान जैसे विषय भी भारतीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ाए जाने लगे। अतः यह कहा जा सकता है कि माध्यमिक चरण में मातुभाषा शिक्षा माध्यम बन चुकी थी और एकमात्र समस्या जो हल नहीं हो पाई थी वह विश्वविद्यालय चरण में शिक्षा माध्यम की समस्या थी।
- (ग) व्यावसायिक अथवा वैकल्पिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था: माध्यमिक चरण में वैकल्पिक अथवा व्यावसायिक पाठ्यकमों की व्यवस्था के संबंध में भी कुछ प्रगति हुई। प्रांतीय सरकारों ने तकनीकी, वाणिज्यिक अथवा कृषि उच्च विद्यालय खोले और असाहित्यिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करने वाले गैर सरकारी विद्यालयों को भारी अनु-दान भी देने शुरू किए। युद्ध ने इस प्रवृत्ति में विशेष सहायता की। युद्ध के लिए भारी संख्या में तकनीकी तौर पर प्रशिक्षित रंगरूटों की आवश्यकता थी । इस प्रकार तकनीकी शिक्षा की मांग बढ़ गई। इस मांग ने छात्रों को मैट्कि की ओर ले जाने वाले संकीर्ण मार्ग से थोड़ा हटा दिया। युद्ध के दौरान भारतीय उद्योगों का विकास होने से भी इस प्रिक्रिया को सहायता मिली। युद्ध के उपरांत भी यह प्रक्रिया जारी रही और केंद्र में तथा सभी प्रांतों में 1 अप्रैल, 1947 से शैक्षिक पूर्निर्माण की जो पंचवर्षीय योजनाएं आरंभ की गईं उनमें सदैव माध्यमिक चरण में असाहित्यिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। कूल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि माध्यमिक चरण में वैकल्पिक व्यावसायिक अथवा पूर्व व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करने के लिए 1937 से 1947 तक के दशक में पहली बार कुछ प्रभावी कार्रवाइयां की गईं। तो भी. अंगत: धनाभाव के कारण और अंशत: प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी के कारण प्रगति धीमी रही और 1946-47 में भी, विश्वविद्यालय के कला एवं विज्ञान पाठयक्रमों के लिए विद्यार्थियों को तैयार करने वाले उच्च विद्यालयों की ही प्रमुखता बनी रही।
- (घ) अध्यापकों का प्रशिक्षण : माध्यमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण के संबंध में भी कुछ प्रगति हुई। विचाराधीन काल में माध्यमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि हुई। प्रशिक्षण पाने वाली अध्यापिकाओं की संख्या में तो और भी

अनिवायं प्राथमिक शिक्षा 1947-48

| प्रांत | बाध्यता के अधीन आयु वर्ग | बाध्यता के अधीन क्षेत्र जिसमें केवल लड्के थे | न क्षेत्र जिसमें ड़के थे | बाध्यता के अधीन क्षेत्र जिसमें लड़के और लड़कियां थे | । क्षेत्र जिसमें डिकियां थे |
|----------------------|--------------------------|---|-----------------------------|--|--------------------------------|
| | | कस्बों और शहरों की संख्या | ग्रामों की संख्या | कस्बों और शहरों की संख्या | ग्रामों की संख्या |
| बहार | 6-10 | 17 | 1 | | |
| ખ, ઇ ઇ હોં. | | 6 | 134 | 110 | 5,100 |
| ग्ध्य प्रांत और | | | | | |
| बरार | 6-11, 7-12 | 34 | 1,031 | ļ | 1 |
| विग्नाब | | 37 | 1,420 | | 1 |
| द्रास | 6-14, 6-12 | 16 | 31 | 12 | 1,607 |
| ड़ीसा | 6-12, 6-13, 5-10 | _ | _ | | |
| संयुक्त प्रांत* | 6-11 | 36 | 1,371 | 33 | 3 |
| क्विम बंगाल | 6-10 | _ | 1 | 1 | 1 |
| ल्ली | 6-12 | - | 7 | . | 1 |

अधिक वृद्धि हुई थी। 1946-47 में 2,110 पुरुषों और 1,307 स्त्रियों ने अध्यापन संबंधी प्रशिक्षण प्राप्त किया।

प्राथमिक शिक्षा: प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस काल की युग प्रवर्तक घटना महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा की योजना थी। इसका अगले परिच्छेद में वर्णन किया जाएगा।

कांग्रेस मंत्रीमंडलों ने भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का विस्तार करने की समस्या की ओर ध्यान दिया। पिछले पृष्ठ (331) पर दी गई सारणी में 1947-48 तक बाध्यता के अधीन लाए जा चुके क्षेत्र दिखाए गए हैं:

यदि इन आंकड़ों की 1936-37 के आंकड़ों के साथ तुलना की जाए तो पता चलेगा कि सबसे अच्छी प्रगति बंबई में हुई थी जहां अनेक नगरपालिका क्षेत्रों में और 1,000 या इससे अधिक जनसंख्या वाले सभी ग्रामों में बाध्यता लागू कर दी गई थी। परंतु भारत के अन्य भागों में यह प्रगति स्वल्प ही कही जा सकती है। जब यह बात स्मरण आती है कि राष्ट्र 1960-61 से पहले 6 से 14 तक के आयु वर्ग के लड़कों और लड़कियों के लिए अनिवार्य शिक्षा आरंभ करने के लिए अविकल्प रूप से वचनबद्ध था तो यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि अतीत में अनिवार्य शिक्षा की प्रगति, यदि उसे प्रगति कहा जाए तो, अत्यधिक निराशाजनक थी। बाध्यता लागू करने की गति को काफी तेज करना अत्यावश्यक हो गया था।

कांग्रेस मंत्रीमंडलों द्वारा प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए अपनाए गए अन्य उपायों में निम्नलिखित उपाय शामिल थे: (1) जिन ग्रामों में विद्यालय नहीं थे उनमें विद्यालयों का खोला जाना; (2) स्थानीय निकायों को अतिरिक्त अनुदानों की मंजूरी; (3) जहां आवश्यक हो अतिरिक्त कन्या विद्यालयों का खोला जाना; और (4) वर्तमान विद्यालयों में अतिरिक्त अध्यापक पदों की मंजूरी। परंतु बाध्यता को बड़े पैमाने पर न अपनाने से प्राथमिक शिक्षा की प्रगति कुछ धीमी रही जैसा कि निम्नलिखित सारणी से पद्मा चलेगा:

| प्राथमिक शिक्षा | का | प्रसार | (1937-47) |) |
|-----------------|----|--------|-----------|---|
|-----------------|----|--------|-----------|---|

| वर्ष | प्राथमिक विद्यालयों की संख्या | छात्रों की संख्या |
|---------|-------------------------------|-------------------|
| 1881-82 | 82,916 | 20,61,541 |
| 1901-02 | 93,604 | 30,76,671 |
| 1921-22 | 1,55,017 | 61,09,752 |
| 1936-37 | 1,92,244 | 1,02,44,288 |
| 1945-46 | 1,67,700 | 1,30,27,313 |
| 1946-47 | 1,34,866 | 1,05,25,943 |

देखिए भारत का संविधान, अनुच्छेद 45 I

पाकिस्तान की स्थापना के कारण 1946-47 के आंकड़ों की 1936-37 के आंकड़ों से तुलना कर पाना कठिन है। परंतु अविभाजित भारत के 1945-46 के आंकड़ों से पता चलता है कि (युद्ध स्थित के दबाव के कारण) विद्यालयों की संख्या में वास्तव में कमी हो गई थी और छात्रों की संख्या में सापेक्ष रूप में बहुत थोड़ी वृद्धि हुई थी। अतः इस दशक में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार संतोषजनक नहीं रहा।

प्रसार संतोषजनक नहोने का कारण यह है कि स्वैच्छिक आधार पर प्राथमिक शिक्षा का प्रसार अधिकांश क्षेत्रों में संतृष्ति बिंदु तक पहुंच चुका प्रतीत होता है। अतः आगे बड़े पैमाने पर कोई प्रसार किए जाने के लिए बाध्यता की आवश्यकता थी। दूसरा उपाय यह था कि बड़े पैमाने पर एक व्यापक साक्षरता अभियान चलाया जाता।

पूर्ववर्ती विवरण से यह प्रकट होता है कि प्राथमिक शिक्षा में केवल धीमी प्रगित हुई थी। अतः इस विवरण से आसानी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि साक्षरता की प्रगित भी तद्नुसार धीमी रही होगी। 1947 की जनगणना के अनुसार ब्रिटिश भारत में सर्वसमावेशी साक्षरता प्रतिशत 12.2 था। इसकी 1931 के साक्षरता प्रतिशत (7 प्रतिशत) के साथ तुलना करने पर जात होता है कि 1931-41 के दशक में साक्षरता में 5 प्रतिशत की वृद्धि हुई थी जबिक 1881 और 1931 के बीच के दशकों में यह वृद्धि केवल चार प्रतिशत रही थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 1931 और 1941 के बीच कुछ सुधार हुआ है। परंतु कुल मिला कर, यह स्वीकार करना होगा कि इस काल में भी साक्षरता की प्रगित बहुत धीमी थी।

शिक्षा समस्या के इस पहलू के संबंध में दो बातें कहनी हैं। पहली बात यह है कि साक्षरता में वृद्धि की गति इतनी धीमी है कि उसे प्रगति नहीं कहा जा सकता है। कम से कम प्रारंभिक अवस्थाओं में तो सार्वजनिक शिक्षा का लक्ष्य सर्वजनीन साक्षरता फैलाना

 बंबई से इस मत की अच्छी पुष्टि हो सकती है। बंबई प्रांत के प्राथमिक विद्यालयों और छात्रों के आंकड़े इस प्रकार हैं:

| वर्ष | विद्यालयों की संख्या | विद्यार्थियों की संख्या |
|---------|----------------------|-------------------------|
| 1936-37 | 12,901 | 11,40,299 |
| 1946-47 | 18,992 | 16,65,042 |
| 1948-49 | 22,765 | 24,69,904 |

1946-47 और 1948-49 के बीच के दो वर्षों में पूर्ववर्ती दस वर्षों की अपेक्षा लगभग 1 रे गुनी प्रगति हुई है। इसका कारण यह है कि राज्य के अनेक भागों में 1947-48 में अनिवार्य शिक्षा आरंभ कर दी गई थी। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो ही तो यह वृद्धि इस बात का सुस्पष्ट प्रमाण है कि 'स्वैच्छिक आधार पर प्रसार' की सारी बातों असत्य थीं और सर्वजनीन, नि:शूल्क तथा अनिवार्य शिक्षा को यथाशी प्र आरंभ करने की आवश्यकता थी।

ही होता है। दुर्भाग्यवश, यह लक्ष्य कोई स्थिर बिंदु नहीं है। जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण यह लगातार और भी घटता जा रहा था। अतः वास्तव में महत्व समाज में निरक्षरों की संख्या का है। इससे उस दूरी का पता चलता है जो अब भी हमारे और इस लक्ष्य के बीच विद्यमान है। विशेषकर हमारे जैसे पिछड़े देश में, समस्या का यह पहलू अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से विचार करने पर, अगले पृष्ठ पर दी गई सारणी से पिछले दशक में भारत में हुई प्रगति का पता चल जाएगा

इस सारणी से यह ज्ञात होगा कि (क) 1941 में निरक्षरों की संख्या वस्तुत: 1931 की संख्या की अपेक्षा अधिक थी; (ख) जब तक साक्षरता वृद्धि की दर जनसंख्या वृद्धि की दर से अधिक न हो, यह नहीं कहा जा सकता है कि हम प्रगति कर रहे हैं; और (ग) जब तक साक्षरता वृद्धि की दर में जनसंख्या वृद्धि की दर की अपेक्षा काफी अधिक वृद्धि न हो तब तक अल्प काल में सर्वजनीन साक्षरता के लक्ष्य को पूरा कर सकने की कोई आशा नहीं है। सर्वजनीन बाध्यता को लागू करके ही इस आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है और उसे कायम रखा जा सकता है।

इस काल की एक अन्य प्रवृत्ति यह थी कि हार्टोंग समिति की इस आशय की सिफारिश को स्वीकार कर लिया जाए कि प्राथमिक शिक्षा के बारे में स्थानीय निकायों को दी गई शक्ति को वापस ले लिया जाना चाहिए। इस सिफारिश पर बंबई प्रांत ने सबसे पहले कार्रवाई की। 1938 में और फिर 1947 में प्राथमिक शिक्षा अधिनियम बनाए गए और स्थानीय निकायों को दी गई शक्तियों में सारभूत कटौती कर दी गई। 1

इस काल की तीसरी बात यह थी कि इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा कि प्राथमिक अध्यापकों को निर्वाह वेतन दिया जाए। दुर्भाग्यवश विवनक्वे-नियल रिव्यूज आफ दि प्रोग्रेस आफ एजूकेशन इन इंडिया में सभी प्रांतों के प्राथमिक अध्यापकों के औसत वेतन के तुलनात्मक आंकड़े नहीं दिए गए हैं। अत: विभिन्न प्रांतों के प्राथमिक अध्यापकों की सापेक्ष आर्थिक स्थिति की आविधिक रूप से तुलना कर सकना संभव नहीं है। परंतु हार्टोग सिमति ने² पहली बार निम्नलिखित तुलनात्मक आंकड़े दिए थे:

| | | | _ | | |
|----------------|-----|----|-----------------|----|----|
| | रु० | आ० | | ₹० | आ० |
| मद्रास | 15 | 4 | पंजाब | 25 | 8 |
| बंबई | 47 | 0 | बिहार और उड़ीसा | 11 | 5 |
| बंगाल | 8 | 6 | मध्य प्रांत | 24 | 8 |
| संयुक्त प्रांत | 18 | 8 | असम | 14 | 4 |

ये आंकड़े अनुमानत: 1927 के हैं। यह निश्चित रूप से जान सकना कठिन है कि

(1931-41) हजारों में मारत में निरक्षरता की प्रगति

| | | | | | / | | | | |
|---------------------|----------|----------------|--------------|------------------------|-----------------------|-------------------------|------------|-------------|--------------|
| प्रात अथवा | | 1931 में | | | - | 1932 से 1941 तक | <u>F</u> . | / | 1941 荊 |
| रियासत | ઝ | साक्षरों | साक्षरता | निरक्षरों | निरक्षरों की | निरक्षरों की | साक्षरता | निरक्षरता | निरक्षरों की |
| | जनसंख्या | _ _ | ₩ - | की उपलब्ध | संख्या वृद्धि | संख्या में हुई कमी | का | # | उपलब्ध |
| ļ | | संख्या | प्रतिशत | संख्या | (जनसंख्या में वृद्धि) | (साक्षरों की वृद्धि) | प्रतिशत | निवल बृद्धि | संख्या |
| का ख | 17,992 | 1,774 | 9.5 | 16,218 | 2,866 | 2,294 | 19.5 | 572 | 16,790 |
| मद्रास | 46,740 | 4,320 | 9.3 | 42,420 | 2,602 | 2,101 | 13.0 | 501 | 42,921 |
| बंगाल | 50,114 | 4,694 | 9.4 | 45,420 | 10,200 | 5,026 | 16.1 | 5,174 | 50,594 |
| बिहार | 32,371 | 1,344 | 4.2 | 31,027 | 3,969 | 1,996 | 9.5 | 1,973 | 33,000 |
| उड़ीसा | 5,306 | 539 | 10.2 | 4,767 | 3,423 | 409 | 10.9 | 3,014 | 7,781 |
| संयुक्त प्रांत | 48,409 | 2,260 | 4.8 | 46,149 | 6,312 | 2,393 | 8.5 | 3,919 | 50,068 |
| मध्य प्रांत | 14,667 | 898 | 5.9 | 13,799 | 2,155 | 1,042 | 11.3 | 1,113 | 14,912 |
| उत्तर पश्चिमी | | | | | | | | | |
| सीमा प्रांत | 2,425 | 100 | 4.1 | 2,325 | 613 | 134 | 7.7 | 479 | 2,804 |
| पंजाब | 23,581 | 1,248 | 5.3 | 22,333 | 4,838 | 2,418 | 12.9 | 2,420 | 24,753 |
| सिंध | 3,887 | 230 | 5.9 | 3,657 | 650 | 244 | 10.5 | 406 | 4,063 |
| असम | 8,622 | 999 | 7.7 | 7,956 | 1,583 | 208 | 11.5 | 1,075 | 9,031 |
| ट्रावनकोर | 5,096 | 1,218 | 23.9 | 3,878 | 974 | 1,176 | 47.7 | 202 | 3,676 |
| कोचीन | 1,205 | 339 | 28.1 | 998 | 218 | 165 | 35.4 | 53 | 919 |
| बङ्गीदा | 2,443 | 435 | 17.7 | 2,008 | 412 | 222 | 23.0 | 190 | 2,198 |
| ग्वालियर | 3,523 | 141 | 4.4 | 3,382 | 469 | 156 | 7.4 | 313 | 3,695 |
| हैदराबाद | 14 436 | 296 | 4.1 | 13,840 | 1,748 | 515 | 6.9 | 1,233 | 15,073 |
| काश्मीर | 3,646 | 124 | 3.4 | 3,422 | 375 | 140 | 6.5 | 235 | 3,757 |
| म <u>ें</u> सर इ | 6,557 | 594 | 9.1 | 5,963 | 772 | 320 | 12.2 | 470 | 6,433 |
| अखिल भारत | 3,38,170 | 23,493 | 7.0 | 3,14,677 | 50,630 | 23,830 | 12.2 | 26,800 | 3,41,477 |
| | | | (हेस्बिए घोर | / देखिए घोऐस आफ एजकेशन | अंक VVIII | UKX 368-60 21 7 156-57) | 6-57) | | |

XVIII, पृष्ठ 368-69

^{1.} मैस्र में एक कड़ा विधान बनाया गया था और स्थानीय निकायों को दी गई सभी शक्तियों को 1941 में ही वापस ले लिया गया था

रिपोर्ट, पु० 64

हार्टोग समिति ने बंबई के प्राथमिक अध्यापक का औसत वेतन 47 रुपये किस प्रकार बताया था। मूस-परांजपे समिति को जांच करने पर यह पता चला था कि बंबई में 1922 में प्राथमिक अध्यापक का औसत वेतन केवल 33 रुपये था और इससे अधिक वेतन कभी नहीं रहा। संभवत: हार्टोग समिति ने बंबई नगर की (जहां वेतनमान सापेक्ष रूप से हमेशा अधिक रहे हैं) स्थिति को संपूर्ण बंबई प्रांत की स्थिति समझ लिया था। जैसा भी हो, 1936-37 में प्राथमिक अध्यापकों की परिलब्धियों की स्थिति उपर्युक्त स्थिति से सारभूत रूप से भिन्न नहीं थी। 1929 में आधिक मंदी आरंभ हुई और अगले दो या तीन वर्षों में वेतन कम कर दिए गए। बंबई में वेतन कम हो गए और अन्य प्रांतों में उनमें सुधार नहीं हुआ। अतः 1936-37 में अधिकांश प्रांतों में प्राथमिक अध्यापकों को जितना कम वेतन मिल रहा था, उसकी सरलता से कल्पना की जा सकती है।

यद्यपि अध्यापकों के वेतन की यह समस्या सदैव महत्वपूर्ण रही थी तथापि युद्ध के बाद और अधिक उभर कर सामने आ गई। निर्वाह व्यय में बहुत तेजी से वृद्धि हुई और अध्यापकों की आर्थिक दशा बहुत खराब हो गई। उन्होंने अधिक पारिश्रमिक के लिए एक आंदोलन ग्रूरू कर दिया। सार्जेंट प्रतिवेदन से इस मांग को भारी प्रोत्साहन मिला। इस प्रतिवेदन में इस बात पर बल दिया गया था कि जल्दी ही प्राथमिक अध्यापकों के लिए एक राष्ट्रीय और अच्छा वेतनमान स्वीकृत किया जाए । इस काल का जैसा वातावरण था उसमें तूरंत मजदूर संघीय तरीके अपनाए जाने लगे। जब अध्यापक अपने वेतन में संतोषजनक वृद्धि नहीं करा सके तो वे अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए हडतालों का सहारा लेने लगे। सबसे पहली बड़ी हड़ताल 1946 में बंबई प्रांत में हई। इस हडताल में 45,000 प्राथमिक अध्यापकों ने 54 दिन तक काम नहीं किया। अंतत: जन चेतना जाग्रत हुई और लगभग प्रत्येक प्रांत में प्राथमिक अध्यापकों के वेतनमानों को संशोधित किया गया तथा उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक उदार महंगाई भत्ते दिए गए। अत: जहां तक रुपये, आने, पैसे का संबंध है, इस काल के अंत में प्राथमिक अध्यापकों को 1936-37 की अपेक्षा अधिक पारिश्रमिक मिल रहा था। परंत् दुर्भाग्यवश इसी अंतराल में निर्वाह-व्यय में इतनी अधिक वृद्धि हुई थी कि पारिश्रमिक में हाल में जो वृद्धियां हुई थीं, उनके बावजूद 1946-47 में भी प्राथमिक अध्यापकों की स्थिति सुखद नहीं थी।

बुनियादी शिक्षा (1937-47): हमने अब तक विचाराधीन काल की प्रमुख घटनाओं पर उन्हें कितपय शीर्षकों में उचित रूप से वर्गीकृत करके विचार किया है। अब हम कांग्रेस मंत्रालयों की उन तीन विशिष्ट देनों की विस्तृत चर्चा करेंगे जो उन्होंने भारत में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का विकास करने में दी थीं। ये देन हैं बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ निरक्षरता समाप्त करने पर विशेष बल देते हुए प्रौढ़ शिक्षा, और अस्पृश्यता मिटाने पर विशेष बल देते हुए हरिजनों की शिक्षा। हम सबसे पहले बुनियादी शिक्षा की योजना को लेंगे जो कि

निस्संदेह आधुनिक भारत में प्राथमिक शिक्षा के इतिहास की सबसे अधिक युग प्रवर्तक घटना है।

(क) महात्मा गांधी द्वारा योजना की घोषणा : जब कांग्रेस मंत्रीमंडलों ने सात प्रांतों में सत्ता सम्हाली तो उन्हें द्विधा का सामना करना पड़ा। एक ओर जनता जोर देकर यह मांग कर रही थी कि शी झातिशी झ सर्वजनीन, नि:शुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आरंभ की जाए। यह एक उचित मांग थी और स्वयं कांग्रेस इसके लिए अविकल्प रूप से वचनबद्ध थी। परंतू इसे तब तक पुरा नहीं किया जा सकता था जब तक कि बजट में भारी धनराशि की व्यवस्था नहीं की जाती। परंत् इस भारी धनराशि को नए कराधान द्वारा वसूल करना वास्तव में यदि अतंभव नहीं तो सरल भी नहीं था। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि महात्मा गांधी द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार पूर्ण मद्यनिषेध भी आरंभ कर दिया गया था जिससे स्थिति और भी जटिल हो गई। मद्यनिषेध की कार्रवाई करने का अर्थ यह था कि न केवल राजस्व का एक बड़ा और सुस्थापित स्रोत समाप्त हो जाता, वरन इस स्रोत के समाप्त होने से जो हानि होती उसे सरलता से उपलब्ध होने वाले कराधान के अनेक नए स्रोतों से पूरा करना पड़ता। अत: प्रथम दृष्टि से यह प्रतीत होता था कि देश में या तो मद्यनिषेध ही हो सकता था या बाध्यता ही लागु की जा सकती थी। परंतु कांग्रेस इन दोनों के ही लिए वचनबद्ध थी। इस द्विधा से निकलने का रास्ता उस समय स्पष्ट हो गया जब महात्मा गांधी ने यह प्रस्ताव रखा कि सार्वजनिक शिक्षा की योजनाओं को धन की कमी के कारण रोक रखने की आवश्यकता नहीं है और यदि एक उपयोगी और उत्पादक शिल्प के द्वारा शिक्षा देकर पढ़ाई की प्रिक्रिया को आत्मिनिर्भर बनाया जा सके तो प्रत्येक बालक को सात वर्ष सर्वजनीन, अनिवार्य और नि:श्लुल्क शिक्षा दी जा सकती है। उन्होंने इस नई शैक्षिक प्रक्रिया का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया:

1. वर्तमान शिक्षा पद्धित देश की आवश्यकताओं को किसी भी रूप में पूरा नहीं करती है। उच्च शिक्षा की सभी उच्च शाखाओं में अंग्रेजी को शिक्षा माध्यम बना दिए जाने से अति उच्च शिक्षा प्राप्त थोड़े से व्यक्तियों और अशिक्षित विशाल जनसमूह के बीच स्थाई दीवार खड़ी हो गई है। उसने ज्ञान को सर्वसाधारण तक पहुंचने से रोक दिया है। अंग्रेजी को दिए गए अत्यधिक महत्व ने किक्षित वर्ग के लोगों पर एक ऐसा बोझ डाल दिया है जिसने उन्हें जीवन भर के लिए मानसिक रूप से अपंग कर दिया है और उन्हें अपने ही देश में अजनबी बना दिया है। व्यावसायिक प्रशिक्षण न मिलने के कारण शिक्षित वर्ग के लोग प्रायः उत्पादक कार्य करने में असमर्थ हैं और उन्हें शारीरिक रूप से हानि पहुंची है। प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया गया धन इस अर्थ में अपव्यय है कि बालकों को जो कुछ थोड़ा सा पढ़ाया जाता है उसे शीझ ही भुला दिया जाता है और ग्रामों अथवा नगरों के लिए इस शिक्षा का या तो थोड़ा सा ही महत्व है या बिलकुल भी महत्व नहीं है। वर्तमान शिक्षा पद्धित से जो लाभ प्राप्त होता है वह लाभ मुख्य करदाता को नहीं मिल रहा है। उसके बालकों को सबसे कम लाभ मिल पाता है।

2. प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को बढ़ाकर कम से कम सात वर्ष का कर देना

चाहिए और उसमें अंग्रेजी को हटाकर तथा व्यावसायिक शिक्षा को जोड़कर मैट्रिक स्तर तक प्राप्त होने वाला सामान्य ज्ञान होना चाहिए।

3. जहां तक संभव हो सके, लड़के और लड़िकयों के सर्वतोमुखी विकास के लिए तमाम प्रशिक्षण एक लाभ कमाने वाले व्यवसाय के द्वारा दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, व्यवसायों से दोहरा उद्देश्य पूरा होना चाहिए, छात्र अपने श्रमोत्पादन के द्वारा अपनी शिक्षा के लिए शुल्क का भुगतान करने में समर्थ हो सकें और इसके साथ ही विद्यालय में सीखे गए व्यवसाय के द्वारा अपने अंदर विद्यमान संपूर्ण स्त्री अथवा पुरुष का विकास कर सकें। छात्र के श्रम से होने वाली आय को भूमि, भवन और साज सामान पर व्यय नहीं किया जाए। कपास, ऊन और रेशम के सभी प्रक्रम जैसे, कपास एकत्र करना, साफ करना, ओटना (कपास को), धुनना, कताई, रंगाई, सुताई, ताना बनाना, बटाई, रूपांकन और बुंनाई, कसीदाकारी, सिलाई का काम, कागज बनाना, कटाई, जिल्दसाजी, लकड़ी का बारीक काम, खिलौने बनाना, गुड़ बनाना निस्संदेह ऐसे व्यवसाय हैं जिन्हें आसानी से सीखा जा सकता है और अधिक पंजी परिव्यय के बिना ही चलाया जा सकता है।

प्राथमिक शिक्षा लड़कों और लड़िकयों को अपनी रोजी कमाने के लिए तैयार करे। इसके लिए राज्य या तो यह गारंटी दे कि इन लड़कों और लड़िकयों को इनके द्वारा सीखे गए व्यवसायों में नौकरी दे दी जाएगी अथवा उनके तैयार माल को राज्य द्वारा निर्धारित कीमत पर खरीदा जाए। 1

1937 में 'हरिजन' में एक लेखमाला के द्वारा जनता के समक्ष प्रस्तुत की गई यही क्रांतिकारी प्रस्थापनाएं बाद में बुनियादी शिक्षा की वर्धा योजनाएं बन गईं।

जिस विशिष्ट पृष्ठभूमि में यह योजना पहली बार प्रतिपादित की गई थी उससे यह धारणा उत्पन्न हुई थी कि गांधी जी ने इस योजना को केवल अथवा प्रमुख रूप से उन वित्त संबंधी आरोपों का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत किया था जो मद्यनिषंध के विरुद्ध लगाए गए थे। यह बहुत ही गलत बात है। गांधी जी स्वावलंबी शिक्षा संबंधी अपने इस विचार को टाल्सटाय फार्म में जूते बनाने का काम एक शिल्प के रूप में करके 1902 में पहले ही कसौटी पर कस चुके थे। हम यह भी बता चुके हैं कि वे इस विचार के बारे में 1921 में भी अत्यंत स्पष्ट शब्दों में लिख चुके थे। इनमें से किसी भी अवसर पर मद्यनिषंध का कोई सवाल नहीं था। अतः यह कहना एक ऐतिहासिक भूठ होगा कि उन्होंने 1937 में बुनियादी शिक्षा की योजना इसलिए तैयार की कि उनके द्वारा मद्यनिषंध पर बल दिए जाने से जो वित्तीय कठिनाइयां उत्पन्न हुई थीं उनका सामना किया जा सके। गांधी जी ने स्वयं इस स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने दृढ़ता से यह कहा था कि शिक्षा की समस्या 'दुर्भीयवश मद्यपान से होने वाली आय के समाप्त होने से जुड़ गई है। उन्होंने यह भी बताया था कि 1937 में जिस चीज की खोज की है वह योजना

नहीं वरन भारत की तत्कालीन स्थिति में उनकी योजना का एक विशेष अनुप्रयोग था। उन्होंने लिखा था:

जिस सावधानी के साथ उन्होंने (अर्थात डा० अंरुडेल ने) स्वावलंबी शिक्षा के संबंध में अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है मुझे उस पर आश्चर्य नहीं है। मेरे लिए यह गूढ़ विषय है। मुफे खेद इस बात का है कि जिस चीज को मैंने पिछले 40 वर्ष में शीशे में से धुंधले रूप में देखा है, उसे अब परिस्थितियों के दबाव से मैं बिल्कुल स्पष्ट देखने लगा हूं। जबिक 1920 में मैं वर्तमान शिक्षा पद्धति का कड़ा विरोध कर चुका हूं और अब जब सात प्रांतों में ऐसे मंत्रियों को प्रभावित करने का अवसर, चाहे वह कितना कम क्यों नहीं, प्राप्त हो चुका है जो देश के गौरवमय स्वाधीनता संग्राम में सहकार्यकर्ता और सहपीड़ित रहे हैं तब मुफे इस आरोप को उचित सिद्ध कर देने की दुनिवार आवश्यकता महसूस हुई है कि शिक्षा की वर्तमान विधि आदि से अंत तक बुनियादी तौर पर गलत है। जिस बात को मैं इन कालमों में अभिव्यक्त करने के लिए बहुत अपर्याप्त रूप से संघर्ष करता रहा हूं वह मेरे सामने एकाएक बिजली की तरह कौंध गई है और उसकी सचाई मुझे दिन पर दिन और अधिक स्पष्ट होती जा रही है।

परंतु इन शब्दों की बहुधा उपेक्षा की जाती रही और उपयुक्त योजना के संबंध में आरंभ में जो विवाद चले उनमें यह योजना के गुण दोषों पर प्रायः मद्यनिषेध के गुण दोषों के साथ ही विचार किया जाता रहा। स्वाधीनता मिलने तक स्थिति काफी सुधर चुकी थी और इन दोनों विषयों पर सामान्यतः अलग अलग विचार किया जाने लगा। यह एक अच्छी बात थी क्योंकि इससे योजना का अधिक निसंग मूल्यांकन करना संभव हो गया।

(स) जाकिर हुसैन सिमित का प्रतिवेदन: यह स्वाभाविक था कि बुनियादी शिक्षा के संबंध में 'हरिजन' में प्रकाशित गांधी जी के लेखों ने एक तूफान पैदा कर दिया और बुनियादी शिक्षा की प्रस्थापनाओं के अनेक पहलुओं के बारे में उग्र विवाद छिड़ गए। विशेषकर, बुनियादी शिक्षा के स्वावलंबन संबंधी पहलू पर गरमागरम बहस हुई। अतः यह वांछनीय समझा गया कि विशेषज्ञ शिक्षाविदों से इस योजना की जांच कराई जाए। तदनुसार गांधी जी द्वारा प्रस्तावित नई शिक्षा पद्धति पर विचार करने के लिए प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन 22 और 23 अक्तूबर, 1937 को वर्धा में बुलाया गया। जैसा हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने बताया है:

प्रतिनिधियों की संख्या केवल राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं, विशेषकर विभिन्न प्रांतों से आने वाले ऐसे कार्यकर्ताओं तक ही सीमित थी जो राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करते थे। इसमें उन सात प्रांतों के शिक्षा मंत्री भी उपस्थित हुए जिनमें कांग्रेस का बहुमत था। सम्मेलन की कार्रवाई संक्षिप्त और सुनियोजित थी। ग्राम हस्त शिल्प के द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा देने की योजना को स्वयं सभापित ने सम्मेलन के समक्ष प्रस्तुत किया।

^{1.} एजूकेशनल रिकंस्ट्रक्शन, पृ० 52-53।

^{2.} वही, पृ० 3।

इस पर गंभीर चर्चा हुई और इस चर्चा के फलस्वरूप निम्नलिखित चार संकल्प पारित किए गए:

- (1) इस सम्मेलन की राय है कि राष्ट्रव्यापी पैमाने पर सात वर्ष तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जाए।
- (2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।
- (3) सम्मेलन महात्मा गांधी की इस प्रस्थापना का समर्थन है कि इस संपूर्ण काल में शिक्षा प्रिक्रिया किसी प्रकार के उत्पादक शारीरिक काम को ही केंद्र मानकर चले और जिन अन्य योग्यताओं का विकास किया जाना हो अथवा जो प्रशिक्षण दिया जाना हो वे सब यथासंभव रूप से ऐसे प्रमुख हस्तशिल्प से अभिन्न रूप से संबद्ध हो जिसे बालक के परिवेश को ध्यान में रखते हुए चुना जाएगा।
- (4) सम्मेलन आशा करता है कि यह शिक्षापद्धित धीरे धीरे अध्यापकों के पारि-श्रमिक का खर्च पूरा कर सकेगी।

इसके बाद सम्मेलन ने डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक सिमिति नियुक्त की। इस सिमिति को यह काम सींपा गया कि वह उपर्युक्त संकल्पों के आधार पर एक विस्तृत पाठ्य विवरण तैयार करके उसे सम्मेलन के सभापित को प्रस्तुत कर दे।

जाकिर हुसैन सिमिति ने दो महीने की संक्षिप्त अवधि में ही एक विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत कर दिया जो तभी से इस योजना के संबंध में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बन गया है। जैसा गांधी जी ने स्वयं बताया था, अब तक इस विषय पर गांधी जी के लेख, 'एक सामान्य पाठक के लिए एक सामान्य जन के लेख थे।'² परंतु इस सिमिति का प्रतिवेदन कुछ शिक्षाविदों का अन्य शिक्षाविदों के लिए एक समावेदन है। इस प्रतिवेदन में, सिमिति ने शिक्षा तथा मनोविज्ञान के मान्य सिद्धांतों की शब्दावली में इस योजना के सिद्धांतों एवं उद्देश्यों की व्याख्या की, कई शिल्पों के लिए विस्तृत पाठ्य विवरण तैयार किया और योजना के कई महत्वपूर्ण पहलुओं जैसे अध्यापकों का प्रशिक्षण, पर्यवेक्षण तथा परीक्षा और प्रसाशन के संबंध में बहुमूल्य सुझाव दिए। यहां तक कि उसने कताई और बुनाई के बुनियादी शिल्प के साथ कुछ बुनियादी सहसंबंधों का भी उल्लेख किया। अत: बुनियादी शिक्षा के विद्यार्थी के लिए इसका प्रतिवेदन बहुत महत्वपूर्ण है। इसके कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं:

विद्यालयों में शिल्प कार्य: आधुनिक शैक्षिक विचारधारा वस्तुत: इस विचार की एकमत से सहराहना करती है कि बालकों को किसी उपयुक्त ढंग के उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षित किया जाना चाहिए। पूर्ण सर्वपक्षीय शिक्षा देने की समस्या को हल करने के लिए यही प्रणाली सबसे प्रभावी मानी जाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रणाली वांछनीय है क्योंकि यह बालक को ऐसी नितांत

शास्त्रीय एवं सैंद्धांतिक शिक्षा की निरंकुशता से मुक्ति दिलाती है जिसके प्रति उसकी आत्मा सदैव सही विद्रोह करती रहती है। यह अनुभव के बौद्धिक एवं क्रियात्मक तत्वों को संतुलित रखती है और उसे शरीर तथा मस्तिष्क दोनों को समन्वित रूप से शिक्षा देने का एक साधन बनाया जा सकता है। इससे बालक ऐसी सतही साक्षरता आजत नहीं करता जिसका अभिप्राय यह होता है कि बालक में प्रायः बिना किसी प्रमाणपत्र के मुद्रित पृष्ठ को पढ़ लेने की क्षमता उत्पन्न हो जाए। इस शिक्षा से बालक अपने हाथ और बुद्धि का किसी रचनात्मक उद्देश्य के लिए उपयोग करने की अधिक महत्वपूर्ण क्षमता आजत करता है। यदि हमें इस पद का प्रयोग करने की अनुमति दी जाए तो हम कह सकते हैं कि यह 'संपूर्ण व्यक्तित्व की साक्षरता है।'

यदि सामाजिक दृष्टि से विचार किया जाए तो हम पाएंगे कि शिक्षा में उपर्युक्त प्रकार के व्यावहारिक उत्पादक कार्य का समावेश किए जाने से, और इसमें राष्ट्र के सभी बालकों के भाग लेने पर, पूर्वग्रहों के वे बंधन समाप्त हो जाएंगे जो शारीरिक कार्य करने वाले कामगारों और बौद्धिक कार्य करने वाले कामगारों के बीच इस समय विद्यमान हैं और जो दोनों के लिए समान रूप से हानिप्रद हैं। श्रम की गरिमा और मानव एकात्मकता की सच्ची भावना पैदा करने का यही एकमात्र संभव तरीका है। श्रम की गरिमा और मानव एकात्मकता की सच्ची भावना उत्पन्न होने से भारी नैतिक लाभ होगा।

आर्थिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि यदि इस योजना को बुद्धिमत्ता-पूर्वक और कार्यकुशलता के साथ कार्यान्वित किया जाए तो यह हमारे कामगारों की उत्पादन क्षमता को बढ़ा देगी और वे अपने खाली समय का भी लाभप्रद ढंग से उपयोग कर सकेंगे।

सर्वथा गैक्षिक दृष्टिकोण से हम पाते हैं कि बालक जो ज्ञानार्जन करते हैं उसमें किसी महत्वपूर्ण शिल्प को शिक्षा का आधार बना कर अधिक मूर्त एवं वास्तिवक बनाया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान जीवन से संबंद्ध हो जाएगा और उसके विभिन्न पक्ष एक दूसरे से सह संबंधित हो जाएंगे।

शिल्प का शिक्षा ग्रहण पहलू: प्रथम बात यह है कि जिस शिल्प अथवा उत्पादक कार्य को चुना जाए उसमें शिक्षा ग्रहण की संभावनाएं विद्यमान होनी चाहिए। वह महत्वपूर्ण मानव कियाकलापों और हितों के साथ सह संबंध के स्वाभाविक स्थलों को खोज निकाले और विद्यालय पाठ्यचर्या की संपूर्ण अंतर्वस्तु में विस्तारित हो जाए। बाद में जब हमने इस प्रतिवेदन में बुनियादी शिल्पों के वर्ण के संबंध में अपनी सिफारिशों की हैं तो इस बात की ओर हमने विशेष ध्यान दिया है। जिन लोगों का इस योजना से किसी प्रकार से भी संबंध है उन सबसे हम अनुरोध करेंगे कि वे भी इस महत्वपूर्ण बात को ध्यान में रखें। इस नई शैक्षिक योजना का प्रधान उद्देश्य यह नहीं है कि ऐसे शिल्पकार तैयार कर दिए जाएं जो किसी शिल्प को यंत्रवत चलाते हैं, वरन इसका उद्देश्य तो शिल्प कार्य में

^{1.} सेविन ईयर्स आफ वर्क, पृ० 3

^{2.} एजूकेशनल रिकंस्ट्रकंशन, पृ० 7

अंतिनिहित साधनों का शिक्षा ग्रहण उद्देश्यों के लिए उपयोग करना है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादक कार्य न केवल विद्यालय पाठ्यचर्या का, उसके शिल्प पक्ष का अंग बने वरन सभी अन्य विषयों की अध्यापन प्रणाली को भी प्रेरणा दे। अधिगम में सहकारी क्रियाकलाप, योजना, परिशुद्धता, पहल और व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धांतों पर जोर दिया जाना चाहिए ।। हमें विश्वास है कि यदि हम अन्य सभी विषयों को अब भी परंपरागत रीति से पढ़ाते रहें और पाठ्यचर्या में केवल एक और विषय बुनाई, कताई या काष्ठ शिल्प, को जोड़ दें तो निष्क्रिय आत्मसात्करण को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके साथ ही इस बात को भी प्रोत्साहन मिलेगा कि ज्ञान का दुर्बोध पृथक खंडों में विभवत कर दिया जाए। इस प्रकार हम इस योजना के वास्तविक उद्देश्य और अभिप्राय को विफल कर देंगे।

योजना में अंतर्निहित नागरिकता का आदर: यह योजना ऐसे कामगर तैयार करने के लिए बनी है। जो सभी प्रकार के लाभप्रद कार्य को, जिसमें शारीरिक काम यहां तक िक भंगी का काम भी शामिल है, सम्मानप्रद समझेंगे और जो अपने पैरों पर खड़े होने के इच्छुक भी होंगे। पर खड़े होने के इच्छुक भी होंगे। जब विद्यालय में किए गए कार्य का समुदाय के कार्य के साथ इसी प्रकार का निकट संबंध स्थापित किया जाएगा तो विद्यालय के वातावरण में अजित दृष्टिकोण एवं अभिवृत्तियों को बालक विद्यालय से बाहर विस्तृत संसार में भी ले जा सकेंगे। इस प्रकार हम जिस नई योजना का पक्ष समर्थन कर रहे हैं उसका उद्देश्य यह होगा कि भावी नागरिकों में वैयक्तिक महत्व, गौरव और कार्यकुशलता की गहरी भावना पैदा की जाए। यह योजना उनके हृदय में आत्म सुधार करने और सहकारी समाज में समाज सेवा करने की इच्छा को बलवती बनाएगी।

योजना का स्वावलंबी पहलू: योजना के स्वावलंबी पहलू के बारे में कुछ बातें कह देना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि इसके बारे में काफी गलतफहमी फैली हुई है। हम इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वर्धा सम्मेलन द्वारा रूप-रेखाबद्ध की गई और यहां पर विस्तारपूर्वक बताई गई बुनियादी शिक्षा की योजना को हम स्वयं एक दुरुस्त योजना मानते हैं। यदि यह किसी अर्थ में स्वावलंबी न भी हो तो भी यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि यह योजना दुरुस्त शिक्षा नीति और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की एक तात्कालिक कार्रवाई है। यह अच्छी बात है कि यह अच्छी शिक्षा प्रासंगिक रूप से अपने अधिकांश परिचालन को स्वयं ही वहन करेगी...

इसके वित्तीय निहितार्थों के अतिरिक्त, हमारी राय में यह बात लाभप्रद रहेगी कि अध्यापन में और विद्यार्थियों के कार्य में सम्यकता और कार्यकुशलता सुनिश्चित करने के लिए थोड़ा नियंत्रण रखा जाए। इस प्रकार का नियंत्रण न होने पर कार्य की गित घीमी पड़ जाने का भारी खतरा रहता है। यह बात उन शिक्षाविदों के अनुभव से बिल्कुल स्पष्ट है जिन्होंने समय समय पर अपने विद्यालयों में 'हाथ के काम का प्रशिक्षण' अथवा अन्य व्यावहारिक कियाकलापों को चालू किया है।

परंतु यहां हम एक आवश्यक चेतावनी दे दें। इस बात का स्पष्ट खतरा है कि इस योजना के कार्यकरण में सांस्कृतिक और शैक्षिक लक्ष्यों को बिल चढ़ाकर केवल आधिक पहलू पर ही जोर दिया जा सकता है। यह संभव है कि अध्यापक अपना अधिकांश ध्यान और शक्ति बालकों से अधिकतम श्रम कराने में ही लगा दें और शिल्प प्रशिक्षण के बौद्धिक, सामाजिक और नैतिक निहितार्थ तथा संभावना की उपेक्षा कर दें। अध्यापकों को प्रशिक्षण देने और पर्यवेक्षण कर्मचारियों का कार्य निर्देशन करने में उपर्युक्त बात को लगातार ध्यान में रखा जाना चाहिए और तमाम शैक्षिक क्रियाकलाप पर उसका प्रभाव परिलक्षित होना चाहिए।

यह उल्लेखनीय बात है कि प्रतिवेदन में इस योजना के स्वावलंबी पहलू पर उतना अधिक जोर नहीं दिया गया है जितना इसके शैक्षिक पहलुओं पर दिया गया है। यह स्वयं गांधी जी के दृष्टिकोण से एक आमूल और महत्वपूर्ण विचलन है। गांधी जी ने अपनी प्रस्थापनाओं के लिए सदा आत्मिनभरता को ही कसौटी माना था।

(ग) 1937 और 1947 के बीच बुनियादी शिक्षा का विकास : जाकिर हुसैन सिमित का प्रतिवेदन दिसंबर, 1937 में प्रस्तुत किया गया था। उसके उपरांत लगभग दो वर्ष तक बड़ी तेजी से और बहुत अनुकूल ढंग से काम चला। हरिपुरा कांग्रेस ने योजना के लिए मंगलकामना की (1938)। अनेक प्रांतों में जहां कांग्रेस सत्तारूढ़ थी और काश्मीर रियासत में इस योजना को तत्काल स्वीकार कर लिया गया। उस समय काश्मीर में शिक्षा निदेशक श्री के० जी० सईदेन थे और वह इस योजना के सदैव उत्साही समर्थंक रहे हैं। परंतु युद्ध छिड़ जाने और उसके पश्चात कांग्रेस मंत्रीमंडलों द्वारा त्यागपत्र दे दिए जाने से 1940 और 1945 के बीच इस योजना परप्रति कूल प्रभाव पड़ा। जैसा हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने बताया है:

फिर 1942-45 का राष्ट्रीय आंदोलन आ गया। इसका राष्ट्रीय जीवन के सभी अन्य पहलुओं की भांति बुनियादी शिक्षा के विकास पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। वाह्य मापदंडों के अनुसार इसको हानि पहुंची। संघ के 21 में से लगभग 15 सदस्य जेल में थे। बहुत सी राष्ट्रीय संस्थाओं को बंद कर देना पड़ा। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय मामला उड़ीसा के बुनियादी विद्यालयों का था। वहां पर दो सचिव और तमाम अध्यापक गिरफ्तार कर लिए गए, सात बुनियादी विद्यालयों को बंद कर दिया गया और अगस्त, 1942 से मार्च, 1944 तक उड़ीसा में बुनियादी शिक्षा का काम पूर्णतया निलंबित हो गया।

तो भी, काम बंद नहीं हुआ। बिहार, उड़ीसा और काश्मीर रियासत की सरकारों द्वारा किए जाने वाले प्रयोग उनके अपने शिक्षा विभागों के निदेशन में चलते रहे। कुछ गैर सरकारी संस्थाओं ने भी अपना कार्य जारी रखा यद्यपि उनके सीमित

^{1.} एजूकेशनल रिकंस्ट्रक्शन, पृ० 120-26।

² बंबई भी इन्हीं आधारों पर प्रयोग करता रहा।

प्रांतीय स्वशासन के अधीन शिक्षा

साधनों पर भार पड़ने से उनके इस कार्य में बाधा अवश्य पड़ी। यह गैर सरकारी संस्थाएं निम्निलिखित थीं: जामिया मिलिया इस्लामिया द्वारा संचालित बुनियादी विद्यालय और बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ द्वारा पूना के निकट संचालित बुनियादी विद्यालय तथा हिन्दुस्तानी तालीमी संघ द्वारा सेवाग्राम में संचालित बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय। परंतु बुनियादी शिक्षा के सरकारी और गैर सरकारी प्रयोगों के बीच कोई संपर्क नहीं था। कोई ऐसी सभाएं अथवा सम्मेलन नहीं होते थे जिनमें कार्यकर्ता विचार विनिमय करते और अपने अनुभव के परिणामों का निर्धारण करते। इन वर्षों में बुनियादी शिक्षा पर कोई साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ।

1946 में कांग्रेस मंत्रीमंडलों के पुनः सत्तारूढ़ हो जाने पर बुनियादी शिक्षा को नया प्रोत्साहन मिला। उन सभी प्रांतों में और कुछ भारतीय रियासतों में भी, जहां बुनियादी शिक्षा पहले से नहीं चलती थी, उसे आरंभ करने के लिए कार्रवाई की जाने लगी। जहां वह पहले से ही चल रही थी, वहां उसके विषय क्षेत्र और प्रवर्तन क्षेत्र का विस्तार करने के लिए कार्रवाई की जाने लगी। अतः केंद्रीय, प्रांतीय और रियासतों की सरकारों की सभी पंचवर्षीय योजनाओं में बुनियादी शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया गया है। यह कहा जा सकता है कि 1947 तक बुनियादी शिक्षा को स्थायित्व प्राप्त हो चुका था और वह प्रायोगिक चरण से इस अर्थ में आगे बढ़ चुकी थी कि उसके मूलभूत सिद्धांतों को शैक्षिक रूप से ठीक मान लिया गया था, यद्यपि योजना के विभिन्न पहलुओं से संबंधित अनेक ब्यौरे जितने पूर्ण और संतोषजनक रूप से तैयार होने चाहिए थे, उतने पूर्ण और संतोषजनक ढंग से तैयार नहीं हो पाए थे।

(घ) एक दशक के अनुभव के बाद बुनियादी शिक्षा: 1946-47 तक बुनियादी शिक्षा के बारे में लगभग दस वर्ष तक परीक्षण हो चुका था। कांग्रेस इन दस वर्षों में से केवल चार वर्ष ही सत्तारूढ़ रही थी। इसलिए इसके अतिरिक्त अन्य किसी परिणाम की आशा करना संभव नहीं था कि आरंभिक तौर पर आधार तैयार हो जाएगा तथा विचार स्पष्ट हो जाएंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर पूर्ववर्ती पुनरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि बुनियादी शिक्षा एक स्थिर नहीं वरन एक गतिशील संप्रत्यय है और वह, कितपय मूल तत्वों पर आधारित रहते हुए, स्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार समायोजन और संवृद्धि करने की अपनी शक्ति का भी प्रमाण दे चुकी है। अतः यह बात अधिक सुविधाजनक रहेगी कि सूत्वों को जोड़ा जाए और उस रूप में मानस प्रत्यक्षीकरण करने का प्रयत्न किया जाए जिस रूप में बुनियादी शिक्षा एक दशक के प्रयोग और चर्चा के बाद उभर कर सामने आई है। इस कार्य को सबसे अच्छी तरह श्री के० जी० सईदेन का उद्धरण देकर ही किया जा सकता है। उन्होंने लिखा था:

मोटे तौर पर बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा निम्नलिखित प्रस्थापनाओं को निरूपित करती है:

- (1) सात और चौदह वर्ष के बीच की आयु के सभी लड़कों और लड़कियों के लिए नि:शूल्क और सार्वजनिक शिक्षा दी जाए…
- (2) यह शिक्षा बालक की मातृभाषा में दी जाए और इस चरण में अंग्रेजी न पढ़ाई जाए ···
- (3) समस्त शिक्षा की केंद्र कोई ऐसा बुनियादी शिल्प हो जिसे बालकों की क्षमता और इलाके की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए चुना गया हो। समिति ने कताई, बुनाई, गते और लकड़ी के काम, रसोई, बागबानी और कृषि को स्पष्ट रूप से उपयुक्त शिल्प बताया…
- (4) इस विशिष्ट शिल्प को इस प्रकार से सिखाया जाए और अभ्यास कराया जाए कि बालक अच्छे शिल्पकार बन जाएं और वे ऐसी अच्छी वस्तुओं का उत्पादन कर सकें जिनका उपयोग किया जा सके और जिन्हें विद्यालय के खर्च को आंशिक रूप से कम करने के लिए बेचा भी जा सके...
- (-5) इस शिल्प को यंत्रवत नहीं सिखाना था वरन उसके संपूर्ण 'कारण' का तथा उसके सामाजिक और वैज्ञानिक निहितार्थों का भी अध्ययन किया जाना था…
- (6) इस शिल्प केंद्रित शिक्षा में जो विषय पढ़ाए जाने थे उन सभी का इस विशिष्ट शिल्प से अथवा बालक के भौतिक एवं सामाजिक परिवेश से अभिन्न रूर से संबंध रहता था। जिस विषयवस्तु को इन तीन केंद्रों में से किसी एक के साथ बुद्धिमत्ता-पूर्वक संबद्ध नहीं किया जा सकता था वह संभवतः या तो बालक की वास्तविक आवश्यकताओं से असंबद्ध श्री या काफी महत्वपूर्ण नहीं थी अतः उसे बिना किसी हानि के हटाया जा सकता था…

शिक्षा समस्या के प्रति यह नया दृष्टिकोण भारतीय शैक्षिक इतिहास में एक नया अध्याय आरंभ करता है। योजना और उसकी विचारधारा एवं उद्देश्यों का, जिस रूप में उन पर जािकर हुसैन समिति के प्रतिवेदन में चर्चा की गई है, सावधानी-पूर्वक अध्ययन करने से सामान्य रुचि की कुछ बातों का पता चलता है। उनसे यह पता चलता है कि शिक्षक पुनर्गठन का सामाजिक पुनर्निर्माण की व्यापक समस्या के साथ क्या संबंध है? उदाहरण के लिए यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की योजना की समस्या न केवल देश के एक दूरव्यापी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण के साथ जुड़ी हुई है, बिक्त उसके लिए इस पुनर्निर्माण की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। इसका कारण केवल यह नहीं है कि इतने बड़े शैक्षिक उद्यम को संभवतः तब तक नहीं चलाया जा सकता है जब तक उद्योगीकरण द्वारा और देश के प्राकृतिक साधनों का अधिक प्रभावी उपयोग करके देश की संपत्ति में भारी वृद्धि न कर ली जाए। इसका कारण यह भी है कि विशाल जनता को एक बार इस प्रकार की शिक्षा दे दिए जाने पर उसे न तो निर्धन और अस्वस्थ रखा जा सकता है और न निहित स्वार्थ ही उसका शोषण कर सकते हैं। वह अपने विधिसंगत आर्थिक

^{1.} सेविन इयर्स आफ वर्क, पृ० 13-21।

सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की मांग करेगी और उन्हें प्राप्त कर लेगी। इस प्रकार 'शिक्षा एक दीर्घकालिक निवेश सिद्ध होगी और उसका लाभांश अधिक सुखी, अधिक स्वस्थ और अधिक प्रबुद्ध स्त्री पुरुषों के रूप में मिलेगा।'

फिर, यह योजना शिक्षा का जीवन की सामाजिक एवं राजनीतिक वास्तविकताओं से संबंध जोड़ने का सचेतन प्रयास करती है। वह योजना विद्यालय की परिकल्पना एक ऐसे प्रशिक्षण स्थल के रूप में नहीं करती है जो नगरीय जनसंख्या के एक छोटे से भाग को कितपय सेवाओं और व्यवसायों के लिए तैयार करता है। उसके अनुसार विद्यालय एक ऐसा अभिकरण है जो उन करोड़ों ग्रामीण लोगों को व्यावहारिक एवं सामाजिक शिक्षा देगा जिनके जीवन में प्रमुख और महत्वपूर्ण कारक श्रम है। इसी श्रम को शिक्षा का केंद्र और माध्यम बनाया गया है। इस प्रकार यह योजना उन कृत्रिम दीवारों को तोड़ती है जो विद्यालय को जीवन से अलग रखती हैं।

इसकी विचारधारा और इसकी प्रणालियां एवं अंतर्वस्तु एक ऐसे समाज की स्वप्न दृष्टि से प्रेरित है जो सहयोग, सत्य, अहिंसा और सामाजिक समानता पर आधारित होगा। महात्मा गांधी ने इस बात पर बल दिया था कि इस बुनियादी शिक्षा को केवल अध्यापन की नई तकनीक ही न मान लिया जाए वरन उसे एक ऐसी जीवन पद्धित माना जाए जो कितपय ऐसे मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है जिन्हें सर्वोच्च माना जाता है। अभी यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि व्यवहार में यह बुनियादी विद्यालय उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने में कहां तक सफल हुए हैं। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि आरंभिक अवस्था में जबिक अभिवृत्ति प्रायः प्रायोगिक रही है और विद्यालयों की संख्या सीमित रही है, इन उद्देश्यों ने बुनियादी विद्यालयों के स्वरूप और कियाकलापों को एक उल्लेखनीय सीमा तक निर्धारित किया है।

प्रोढ़ शिक्षा (1937-47) : कांग्रेस मंत्रीमंडलों की दूसरी विशिष्ट देन यह थी कि प्रौढ़ निरक्षरता को समाप्त करने के लिए बड़े पैमाने पर अभियान चलाए गए। इस समस्या के संबंध में इन मंत्रीमंडलों का जो विचार था उसे सबसे अच्छी तरह बिहार के शिक्षा मंत्री डा॰ सैयद महमूद के उस भाषण से उद्धरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है जो उन्होंने केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (1939) द्वारा नियुक्त की गई प्रौढ़ शिक्षा समिति के अध्यक्ष की हैसियत से दिया था:

सज्जनो, हम यहां अपने लाखों निरक्षर भाइयों को शिक्षा देने के महत्वपूर्ण प्रश्न पर चर्चा करने के लिए एकत्न हुए हैं। मुझे इस बात पर बल देने की आवश्यकता नहीं है कि प्रौढ़ शिक्षा एक ऐसा आधार है जिस पर आधारित करके ही हमारे इस प्राचीन देश के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन का विकास किया जाना चाहिए। जब तक जनता निरक्षरता और अज्ञान के अंधकार में डूबी रहेगी, राष्ट्र का आधिक एवं सामाजिक उत्कर्ष एक नेक स्वप्न ही बना रहेगा। लेनिन ने कहा था: 'निरक्षरता को समाप्त करना कोई राजनीतिक समस्या नहीं है; यह एक ऐसी स्थिति है जिसके बिना राजनीति की बात कर सकना असंभव है। निरक्षर व्यक्ति राजनीति से अलग रहता है और इससे पहले कि उसे राजनीति में लाया जा सके सर्वप्रथम उसे वर्णमाला सिखाई जानी चाहिए। इसके बिना कोई राजनीति हो ही नहीं सकती है, केवल अफवाहें, गपशप, कथाएं, अंधविश्वास ही संभव है।' इसी बात को महसूस करकें, गत वर्ष प्राय: प्रत्येक प्रांत ने और रियासतों ने प्रौढ़ शिक्षा में प्रयोग शुरू किए हैं। अब समय आ गया है कि जो प्रगति हुई है उसका जायजा लें और इस महान आंदोलन को राष्ट्रव्यापी आधार पर चलाने के लिए योजनाएं तैयार करने की दिष्ट से विचार विनिमय करें।

यह अत्यावश्यक है कि हम प्रौढ़ शिक्षा आंदोलन के लक्ष्यों और उद्देश्यों को अपने सामने रखें। पाश्चात्य देशों में प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य यह होता है कि श्रमिकों और कृषकों द्वारा प्राप्त की जाने वाली न्यूनतम विद्यालय शिक्षा का विस्तार एवं प्रसार किया जाए। परंतु भारत जैसे देश में जहां साक्ष रता का प्रतिशत बहुत ही कम है और सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था पिछड़ी हुई है इस आंदोलन के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए: (1) निरक्षर प्रौढ़ को पढ़ने लिखने और अंकगणित की शिक्षा देना, और (2) उसे उसके कर्मशील जीवन से अत्यंत सहसंबंधित ज्ञान देना और सजग, शिक्षित नागरिक बनाना। इन दोनों पहलुओं का परस्पर गहरा संबंध है क्योंकि शिक्षा के व्यापक पहलुओं के बिना अकेली साक्षरता उसे अच्छा और पूर्ण जीवन बिताने के लिए तैयार नहीं करेगी और न्यूनतम साक्षरता के बिना कोई अच्छी प्रौढ़ शिक्षा साध्य नहीं है। यह अत्यावश्यक है कि ये दोनों प्रिक्रयाएं साथ साथ चलें क्योंकि बहुत हद तक वे एक दूसरे की पूरक हैं।

कोई भी सरकार अपनी जनता का सामाजिक आर्थिक कल्याण करने की योजनाओं को तब तक अच्छी तरह कार्यान्वित नहीं कर सकती है जब तक जनता उसका साथ देने के लिए तैंयार न हो और उसे दायित्वयुक्त सहयोग प्रदान न करे। राष्ट्र निर्माणक विभागों के प्रयत्न तभी सफल होंगे और उनके अत्यधिक महत्वपूर्ण परिणाम निकलोंगे जब लोग इन विभागों के द्वारा दिए गए सुझावों को भली प्रकार समझ लेंगे और उन्हें कार्यान्वित करेंगे। यह दायित्वयुक्त सहयोग तभी मिल सकता है जब जनता कुछ हद तक शिक्षत हो। आज कोई भी सरकार प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की अनिवार्य आवश्यकता की ओर से आंख नहीं मूंद सकती है। परंतु लड़कों और लड़कियों की शिक्षा की प्रगति के प्रवेश को बढ़ाने के लिए सहानुभूतिपूर्ण वातावरण होना और माता पिता का सहयोग मिलना अत्यंत आवश्यक है। यह वात तब तक नहीं हो सकती है जब तक स्वयं माता पिता शिक्षा के महत्व को न समकें। इस प्रकार हमारे प्राथमिक शिक्षा संबंधी कार्यक्रम के विस्तार और

348

पूर्ति के लिए प्रौढ़ शिक्षा कम महत्वपूर्ण नहीं है।1

जैसा डा॰ सैयद महमूद ने बताया है, 1937-38 में प्रत्येक प्रांत और अनेक रियासतों ने इस समस्या को जोश के साथ हल करने का प्रयास किया था। परंतु 1940 में, कांग्रेस मंत्रीमंडलों के त्यागपत्र दे देने के बाद, दुर्भाग्यवश इस आंदोलन का प्रवेश रुक गया। तदुपरांत इस कार्य को 1946 में लोकप्रिय मंत्रीमंडलों के पुन: सत्तारूढ़ हो जाने के बाद ही आरंभ किया जा सका और 1946-47 में कुछ प्रगति भी हुई।²

युद्धोत्तर विकास योजनाएं: अब तक हमने इस काल की वास्तविक उपलिब्धयों पर विचार किया है। लोकप्रिय सरकारों के बहुत थोड़े समय तक सत्तारूढ़ रहने और युद्ध द्वारा उत्पन्न किठनाइयों को दृष्टि में रखते हुए ये उपलिब्धयां काफी श्रेयस्कर मानी जा सकती हैं। परंतु इस काल की अधिक परिच्छेदक विशेषता वास्तविक उपलिब्धयां नहीं, वरन भविष्य में पुर्नानर्माण करने के लिए योजनाओं का तैयार किया जाना है। सामान्य रूप से शिक्षा के व्यापक पुर्नानर्माण के लिए योजनाएं तैयार करने और विशेषकर एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का विकास करने के लिए इस काल में जितना समय खर्च किया गया और जितना ध्यान दिया गया, भारतीय शिक्षा के इतिहास के किसी भी पूर्ववर्ती काल में न तो उतना समय खर्च किया गया और न ध्यान ही दिया गया। इन योजनाओं को सरकारी और गैर सरकारी दोनों क्षेत्रों में तथा केंद्रीय और प्रांतीय दोनों ही स्तरों पर तैयार किया गया था। इनमें से निम्नलिखित योजनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं:

(क) अखिल भारतीय योजनाएं

- (1) राष्ट्रीय योजना समिति द्वारा तैयार की गई शैक्षिक पुनर्निर्माण की योजना;
- (2) अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन द्वारा तैयार की गई शैक्षिक पुनर्निर्माण की योजना:
- (3) केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड द्वारा तैयार की गई भारत में युद्धोत्तर शैक्षिक विकास की योजना।

(ख) व्यष्टिक सरकारी योजनाएं

- (1) भारत सरकार द्वारा तैयार की गई शैक्षिक पुनर्निर्माण की योजना;
- (2) सभी प्रांतीय सरकारों द्वारा तैयार की गई युद्धोत्तर विकास की पंचवर्षीय योजना; और
- (3) प्रमुख भारतीय रियासतों द्वारा तैयार की गई युद्धोत्तर विकास की पंचवर्षीय योजना।

इन तमाम योजनाओं में से सबसे महत्वपूर्ण योजना केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड द्वारा तैयार की गई भारत के युद्धोत्तर शैक्षिक विकास की योजना थी। यह सार्जेट योजना के नाम से प्रसिद्ध है और हम अब संक्षेप में इसका वर्णन करेंगे।

शैक्षिक विकास की युद्धोत्तर योजना, 1944: 1935 में अपने पुनरुजीवित होने के समय से ही केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड भारतीय शिक्षा के पहलुओं की एक-एक करके जांच करने लग गया था। 1943 तक वह इस स्थिति में पहुंच गया था कि अपने सभी जांच परिणामों को एकत्र कर ले और भारत के शैक्षिक विकास की एक विशद योजना तैयार कर ले। इस समय योजनाबद्ध विकास करने के लिए जो सरकारी अभियान चालू हुआ उससे उपर्युक्त विचार को और भी प्रोत्साहन मिला। भारत में सभी सरकारों से अब यह अपेक्षा की गई कि वे युद्धोत्तर विकास की योजनाएं तैयार करें। सामान्य योजना के अंग के रूप में, केंद्रीय सलाहकार बोर्ड से भी यह कहा गया कि वह युद्धोत्तर शैक्षिक विकास की योजना तैयार करें और गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद को विचारार्थ प्रस्तुत करे। तदनुसार बोर्ड ने भारत में युद्धोत्तर शैक्षिक विकास के संबंध में 1944 में एक विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जो 'सार्जेट प्रतिवेदन' के नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि यह भारत के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित की योजना बनाने का प्रथम प्रयास था अतः इसका सावधानीपूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

इस योजना का लक्ष्य चालीस वर्ष से कम समय में भारत में शैक्षिक उपलब्धियों का वहीं स्तर प्राप्त कर लेना था जो इंग्लैंड में पहले ही प्राप्त हो चुका था। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर, उसमें निम्नलिखित व्यवस्था की गई थी:

- (क) 3 और 6 वर्ष के बीच की आयु के बालकों के लिए पूर्व प्राथमिक शिक्षा;
- (ख) 6 और 14 वर्ष के बीच की आयु के सभी बालकों के लिए सर्वजनीन, अनि-वार्य और नि:शुल्क प्राथमिक या बुनियादी शिक्षा जो अवर बुनियादी (6-11) और प्रवर बुनियादी (11-14) चरणों में विभक्त थी;
- (ग) 11 और 17 वर्ष के बीच की आयु के विशिष्ट बालकों के लिए 6 वर्ष की उच्च विद्यालय शिक्षा;
- (घ) विशिष्ट छात्रों के लिए उच्चतर माध्यमिक परीक्षा के बाद आरंभ होने वाला 3 वर्ष का विद्यालय पाठ्यक्रम;
- (ङ) पूर्णकालिक तथा अल्पकालिक विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त पैमाने पर तकनीकी, वाणिज्यिक और कला शिक्षा;
- (च) प्रौढ़ निरक्षरता की समाप्ति और लगभग 20 वर्ष में सार्वजनिक पुस्तकालय प्रणाली का विकास;
- (छ) योजना को कार्यान्वित करने और उसको जारी रखने के लिए अपेक्षित अध्यापकों को उचित प्रशिक्षण देने की पूर्ण व्यवस्था;
- (ज) अनिवार्य शारीरिक शिक्षा की व्यवस्था, डाक्टरी जांच जिसके बाद इलाज भी हो और अल्पपोषित बालकों के लिए दूध तथा मध्याह्न भोजन की व्यवस्था;
- (झ) रोजगार ब्यूरो का सर्जन;
- (अ) शारीरिक एवं मानसिक रूप से विकलांग बालकों की शिक्षा; और
- (ट) काफी उदार पैमाने पर मनोविनोदात्मक क्रियाकलाप।

^{1.} रिपोर्ट आफ दि एडल्ट एजूकेशन कमेटी (1939), पृ० 54।

^{2.} क्योरे के लिए देखिए, नूहल्ला एंड नायक : हिस्ट्री आफ ए जूकेशन इन इंडिया ड्यूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड, पृ० 814-24 ।

प्रांतीय स्वशासन के अधीन शिक्षा

कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं के बारे में इस प्रतिवेदन में जो प्रस्थापनाएं रखी गई हैं वे नीचे दी गई हैं।

प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रतिवेदन में कुछ संशोधनों के साथ बुनियादी शिक्षा योजना को स्वीकार किया गया है। उसमें कहा गया है:

बुनियादी (प्राथमिक और मिडिल) शिक्षा में, जिस रूप में उसकी केंद्रीय सलाह-कार बोर्ड ने परिकल्पना की है, मूल वर्धा योजना में दिए गए बहुत से शैक्षिक प्रत्ययों को समाविष्ट किया गया है। कुछ महत्वपूर्ण ब्यौरों के संबंध में इन दोनों में भी अंतर हैं। 'क्रियाकलाप द्वारा अधिगम' के मुख्य सिद्धांत का संसार भर के शिक्षा-विदों ने समर्थन किया है। निचले चरणों में इस क्रियाकलाप के अनेक रूप होंगे, और क्रमिक रूप से वह ऐसे बुनियादी शिल्प अथवा शिल्पों की ओर ले जाएगा जो स्थानीय स्थिति के उपयुक्त होंगे। जहां तक संभव होगा, संपूर्ण पाठ्यचर्या का उपर्यक्त सामान्य संप्रत्यय के साथ सामंजस्य रहेगा। अब अच्छी नागरिकता के लिए केवल पढ़ने लिखने और अंकगणित की योग्यता को ही पर्याप्त साधन नहीं माना जा सकता है। तो भी, बोर्ड इस दृष्टिकोण का समर्थन नहीं कर सकता है कि शिक्षा से किसी भी चरण में और विशेषकर सबसे निचले चरणों में यह आशा की जानी चाहिए कि वह छात्रों द्वारा तैयार की गई वस्तुओं की बिक्री द्वारा अपना खर्च स्वयं उठा सकेगी। इस संबंध में अधिक से अधिक यह आशा की जाती है कि विकी से प्रयोगात्मक कार्य के लिए अतिरिक्त सामग्री और साज सामान का खर्च निकल आना चाहिए ... (विद्यालय) छोड़ने पर छात्र इस योग्य हो कि वह समाज में एक श्रमिक और भावी नागरिक के रूप में अपना स्थान ग्रहण कर सके। उसके मन में अपनी शिक्षा को ऐसे साधनों से जारी रखने की इच्छा भी होनी चाहिए जो राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति उसके लिए प्रदान करे। प्रवर बुनियादी विद्यालय इस लक्ष्य को ध्यान में रखे और शारीरिक व्यायाम एवं व्यवस्थित खेलों सहित उन समवेत कियाकलापों के लिए अधिकतम अवसर प्रदान करे जो कक्षा में दिए गए शिक्षण की अनुपूर्ति के लिए आवश्यक है ।1

प्रतिवेदन में कहा गया है कि उच्च विद्यालय का कार्य उन बालकों की आवश्यकताओं को पूरा करना है जो योग्यता में औसत दर्जे से ऊंचे हैं। अतः वह केवल 'योग्यताओं, अभिक्षमताओं और सामान्य उदीयमानता' के आधार पर चुने गए छात्रों को दाखिल करेगा। यह चयन 11 वर्ष की आयु में छात्र द्वारा अवर बुनियादी पाठ्यक्रम पूरा कर चुकने पर किया जाएगा। प्रतिवेदन में यह अनुमान लगाया गया है कि अवर बुनियादी विद्यालयों में पढ़ने वाले 20 प्रतिशत बालकों को उच्च विद्यालयों में दाखिल किया जाएगा। उच्च विद्यालय में प्रवेश पाने वाला प्रत्येक बालक 14 वर्ष आयु होने तक

350

अनिवार्य रूप से उच्च विद्यालय में ही रहेगा। इस अविध के समाप्त हो जाने के बाद भी, इस बात के लिए कदम उठाने होंगे कि पाठ्यक्रम के पूरा होने से पहले बालकों को विद्यालय से हटा न लिया जाए।

उच्च विद्यालय पर्याप्त फीस लेंगे। परंतु 50 प्रतिशत छात्रों को नि:शुल्क अधिछात्र-वृत्तियां अथवा सदृश रियायतें देनी होंगी और बालक की शिक्षा में निर्धनता के कारण बाधा नहीं पड़ने दी जाएगी। जिस छात्र को चुना नहीं जाएगा उसे सामान्यत: उच्च विद्यालय में दाखिल नहीं किया जाएगा। परंतु 'इस प्रकार के बालकों को बोर्ड ऐसी दशा में स्थान देने पर आपत्ति नहीं करेगा जब ये स्थान उन स्थानों के अतिरिक्त हों जो योग्यता के आधार पर चुने गए विद्यार्थियों के लिए अपेक्षित हों और संबंधित माता पिता अपने बालक को दी गई शिक्षा का सारा खर्च दें। उन बालकों के लिए उच्च शिक्षा देने पर सरकारी धन व्यय करना अनुचित प्रतीत होगा जिन्होंने यह प्रदर्शित नहीं किया हो कि वे उसका पूरा लाभ उठा सकेंगे।

प्रतिवेदन में उच्च विद्यालय शिक्षा के उद्देश्य को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट किया गया है:

उच्च विद्यालय शिक्षा को विश्वविद्यालय शिक्षा की केवल प्रारंभिक तैयारी न मान कर स्वयं में एक पूर्ण चरण माना जाना चाहिए ... जबिक उच्च विद्यालयों का यह एक महत्वपूर्ण कार्य बना रहेगा कि उनके अपने सबसे अधिक योग्य छात्रों को इस प्रकार की शिक्षा मिले जो उन्हें वृत्तियों और व्यवसायों में सीधे प्रवेश करने के योग्य बना दे ... यद्यपि उनमें से कुछ प्रतिशत छात्रों के बारे में यह आशा की जा सकती है कि उन्हें अपने को उन पदों के योग्य बनाने के लिए, जिनके लिए विशेष कुशलता अपेक्षित है, एक से लेकर तीन वर्ष तक, पूर्णकालिक अथवा अंशकालिक प्रशिक्षण की और आवश्यकता होगी।

प्रतिवेदन के अनुसार, पुनर्गठित उच्च विद्यालय मुख्यतः दो प्रकार के होंगे, शैक्षिक और तकनीकी।

शैक्षिक उच्च विद्यालय कला और शुद्ध विज्ञानों की शिक्षा देंगे जबिक तकनीकी उच्च विद्यालय अनुप्रयुक्त विज्ञानों और औद्योगिक एवं वाणिज्यिक विषयों में प्रशिक्षण देंगे। इन दोनों प्रकार के उच्च विद्यालयों में शामिल वर्तमान मिडिल चरण के अवर विभागों में पाठ्यक्रम बहुत कुछ समान रहेगा और मानविकी का सभी जगह एक समान पाठ्यक्रम होगा। दोनों में ही कला और संगीत को पाठ्यचर्या का अभिन्न अंग रहना चाहिए और सभी लड़िकयों को गृह विज्ञान का पाठ्यक्रम लेना चाहिए अवर पाठ्यक्रमों में एक प्रकार के विद्यालय से दूसरे प्रकार के विद्यालय में स्थानांतरण यथासंभव रूप से सरल होना चाहिए ...

^{1.} qo 7-8 i

^{2.} पृ० 18।

^{1.} qo 10 i

^{2.} To 20 1

अपेक्षाकृत छोटे केंद्रों में जहां किफायत के साथ केवल एक उच्च विद्यालय से काम चल सकता है, विद्यालयों से यह अपेक्षा की जानी चाहिए कि वे पाठ्यक्रमों को यथासंभव व्यापक पैमाने पर चुनने का अवसर प्रदान करेंगे। ग्राम्य क्षेत्रों में ... पाठ्यचर्या को कृषि अभिनति दी जानी चाहिए।1

सभी उच्च विद्यालयों में शिक्षा माध्यम छात्रों की मात्रभाषा हो। अंग्रेजी एक

अनिवार्य द्वितीय भाषा हो।

प्रतिवेदन में दोनों प्रकार के उच्च विद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले विषयों की सूची दी गई है। यह सूची महत्वपूर्ण है और यह अभीष्ट नहीं है कि प्रत्येक छात्र को सभी विषय पढ़ाए जाएं। दोनों प्रकार के उच्च विद्यालयों के समान विषय इस प्रकार हैं: (1) मात-भाषा, (2) अंग्रेजी, (3) आधुनिक भाषाएं, (4) इतिहास (भारतीय तथा विश्व), (5) भूगोल (भारतीय तथा विश्व),(6)गणित,(7)विज्ञान, (8) अर्थशास्त्र, (9) कृषि, (10) कला, (11) संगीत, (12) शारीरिक प्रशिक्षण। शैक्षिक उच्च विद्यालयों में शास्त्रीय भाषाओं और नागरिकशास्त्र को उपर्युक्त सूची में जोड़ दिया गया है। तकनीकी उच्च विद्यालयों में विज्ञान संबंधी विषयों का अधिक गहन अध्ययन किया जाना है। काठकर्म एवं धातुकर्म, प्रारंभिक इंजीनियरी, संतुलित ड्राइंग इत्यादि प्रौद्योगिकीय विषयों और आशुलिपि, टंकण, लेखाशास्त्र, वाणिज्यिक व्यवहार आदि वाणिज्यिक विषयों को भी सामान्य सूची में जोड़ा जाना है। लड़िकयों के संबंध में यह कहा गया है कि अन्य विषयों के साथ वैकल्पिक विषयों में गृह विज्ञान भी एक विषय रहना चाहिए।

प्रतिवेदन में भारतीय विश्वविद्यालयों की वर्तमान स्थिति से संबंधित कुछ दोष बताए गए हैं। इनमें सबसे गंभीर दोष यह है कि भारतीय विद्यालय अपने क्रियाकलापों का संपूर्ण समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओं के साथ पर्याप्त रूप से घनिष्ठ संबंध स्थापित नहीं कर पाए हैं। उनकी ओर से इस बात के लिए कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किया जाता है कि विश्वविद्यालय से पढ़कर निकलने वाले छात्रों की संख्या का रोजगार में खपा लेने वाली क्षमता के साथ समायोजन किया जाए। परीक्षाओं को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है और ये परीक्षाएं मौलिक चितन तथा वास्त-विक पांडित्य को महत्व न देकर एक संकीर्ण ढंग के पुस्तक ज्ञान की वृद्धि करती हैं। सूलभ मैट्रिक परीक्षा के अलावा चयन का और कोई उचित तरीका न होने के कारण, इन विश्वविद्यालयों ने अपने द्वार अनेक ऐसे विद्यार्थियों के लिए खोल दिए हैं जिन्हें, यदि सूक्ष्म परीक्षण किया गया हो तो विश्वविद्यालयों में प्रवेश नहीं दिया गया होता। वास्तविक योग्यता रखने वाले उन विद्यार्थियों को जो निर्धनता के कारण विश्वविद्यालय में दाखिला लेने से वंचित रह जाते हैं सहायता देने के लिए कोई सामान्य एवं उदार व्यवस्थाएं न होने से स्थिति जटिल हो गई है संभवत: संसार के किसी भी विश्वविद्यालय में परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों का प्रतिशत इतना अधिक नहीं है जितना भारतीय विश्वविद्यालयों में है।

प्रांतीय स्वशासन के अधीन शिक्षा

प्रतिवेदन में विश्वविद्यालय शिक्षा संबंधी सिफारिशों का सारांश निम्नलिखित शब्दों में दिया गया है:

अपने वर्तमान रूप में भारतीय विश्वविद्यालय , अनेक सराहनीय बातों के बावजूद राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की अपेक्षाओं को पूरी तरह पूरा नहीं करते हैं। स्तर को सभी ओर ऊंचा करने के लिए, यह आवश्यक है कि दाखिले की शर्तों में इस लक्ष्य को सनिश्चित करने के लिए संशोधन किया जाए कि सभी विद्यार्थी विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम का पूरा लाभ उठा सकें। उच्च विद्यालय प्रणाली के प्रस्तावित पूनर्गठन से यह कार्य सरल हो जाएगा। निर्धन विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता दी जाए । वर्तमान इंटरमीडिएट पाठ्यक्रम को समाप्त कर दिया जाए । अंततः इस संपर्ण पाठ्यक्रम को उच्च विद्यालय में ही पढ़ा दिया जाना चाहिए परंत् तात्कालिक कदम के रूप में पहले इस वर्ष के पाठ्यक्रम को उच्च विद्यालयों को और दूसरे वर्ष के पाठयक्रम को विश्वविद्यालयों को सौंप दिया जाए। विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम की न्यनतम अवधि तीन वर्ष हो (कुछ विषयों में अधिक भी हो सकती है)। अनु-िशिक्षण पद्धति का व्यापक रूप से विस्तार किया जाए और अध्यापकों एवं विद्यार्थियों के बीच घनिष्ठ व्यक्तिगत संपर्क स्थापित किया जाए। स्नातकोत्तर अध्ययन में, और विशेषकर शुद्ध एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान में ऊंचा स्तर कायम करने के महत्व पर जोर दिया जाए। जहां विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के अध्यापकों की गारिश्रमिक सहित सेवा की वर्तमान शर्तें इस प्रकार की हों कि वे अपेक्षित जीवट के स्त्री पुरुषों को आकर्षित न करती हों, वहां उनमें सुधार करने के लिए कदम उठाए जाएं।1

उच्च विद्यालय छोड़ने के बाद जो छात्र विश्वविद्यालय पाठ्यकर्मों में भर्ती होते हैं उनके संबंध में प्रतिवेदन में यह मान लिया गया है कि 15 में से एक विद्यार्थी उस स्तर तक पहुंच ही जाएगा जो विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिए अपेक्षित हैं। यह भी मान लिया गया है कि महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के लगभग एक तिहाई विद्यार्थियों के लिए अनुरक्षण अनुदान देने होंगे ताकि निर्धन परंतु पात्र विद्यार्थी विश्वविद्यालय शिक्षा पाने के लिए समर्थ बन सकें।

जहां तक तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा का संबंध है, प्रतिवेदन में भारतीय कलाओं तथा उद्योगों के लिए अपेक्षित कार्यकर्ताओं को चार भागों में बांटा गया है:

(क) भविष्य के मुख्य कार्यपालक और अनुसंधान कार्यकर्ताः सामान्यतः ये लोग किसी तकनीकी उच्च विश्वविद्यालय में प्रारंभिक प्रशिक्षण प्राप्त करेंगे और फिर विश्वविद्यालय के प्रौद्योगिकी विभाग अथवा किसी तकनीकी संस्था में राष्ट्रीय डिप्लोमा की तरह के किसी पूनर्कालिक पाठ्यक्रम में पढ़ाई के लिए चले जाएंगे। इन पाठ्यक्रमों में दाखिला एक बहुत कड़ी घयन प्रक्रिया द्वारा किया जाना चाहिए। इन लोगों की संख्या अधिक नहीं होगी।

- (ख) गौण कार्यपालक, फोरमेन चार्ज हैंड इत्यादि : इस आवश्यकता को पूरा करना तकनीकी उच्च विद्यालय का प्रमुख लक्ष्य है। परंतु तकनीकी उच्च विद्यालय के छात्र को या तो राष्ट्रीय उपाधिपत्न अथवा प्रमाणपत्न पाठ्यक्रम लेकर या काफी उच्च स्तरीय अंशकालिक कक्षाओं में पढ़कर अपनी तकनीकी शिक्षा जारी रखनी होगी।
- (ग) कुशल शिल्पकार: इन्हें तकनीकी उच्च विद्यालय के छात्रों में से भर्ती किया जा सकता है। परंतु नियमत: प्रवर बुनियादी विद्यालय में शिल्प कर्म के प्राथमिक सिद्धांतों का अच्छी तरह अध्ययन कर चुकने के बाद ही वे अवर तकनीकी व्यापार अथवा प्रौद्योगिक विद्यालय में और आगे द्विवर्षीय अथवा त्रिवर्षीय पुनर्कालिक पाठ्यक्रम की पढ़ाई करेंगे।
- (घ) अधंकुशल एवं अकुशल श्रमिक: इन्हें सीधे उन प्रवर बुनियादी (मिडिल) विद्यालयों में भर्ती किया जाएगा जहां वे कुछ शिल्प कर्म कर चुके होंगे। यह जरूरी है कि इन लोगों को अपनी सामान्य शिक्षा जारी रखने और अपनी कुशलता को बढ़ाने के लिए सुविधाएं दी जाएं ताकि अंतत: उनमें से सबसे कुशल व्यक्ति ही कुशल वर्ग में पहुंचें।

इन सभी प्रकार के श्रमिकों के कुशल प्रशिक्षण के लिए इस प्रतिवेदन में पर्याप्त व्यवस्था दी गई है। इसके अतिरिक्त इस प्रतिवेदन में यह कहा गया है कि भारत में अंशकालिक पद्धित की तुरंत आवश्यकता है। तकनीकी शिक्षा की किसी भी आधुनिक योजना में अंशकालिक दिवा कक्षाओं (अथवा सांतराल पद्धित) को भारी महत्व दिया जाता है। इन कक्षाओं के विद्यार्थी कारखानों तथा अन्य औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक संस्थाओं में वैतिनक श्रमिकों के रूप में कार्य करते रहेंगे और उन्हें अपने दैनिक कार्य के लिए अपेक्षित ज्ञान एवं कुशलता बढ़ाने के लिए उचित सुविधाएं दी जाएंगी। इस अंशकालिक पद्धित के अनेक लाभ हैं। संभव है कि इस प्रकार की तकनीकी शिक्षा (अंशकालिक) उस प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र के साथ परस्परव्यापी हो जाए जो कुछ व्यावसायिक प्रशिक्षण भी देगी। उत्तरदाई प्रशासनिक प्राधिकारियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई परस्पर व्याप्ति न हो।

प्रतिवेदन के अनुसार, प्रौढ़ शिक्षा का काम यह है कि वह राज्य के प्रत्येक संभावित सदस्य को प्रभावी एवं कुशल नागरिक बनाए तथा इस प्रकार से लोकतंत्र के आदर्श को वास्तिविकता प्रदान करे "भारत में, अब तक सामान्य अभिवृत्ति यही रही है कि प्रौढ़ शिक्षा का अर्थ केवल प्रौढ़ साक्षरता ही समझा जाए। इसका कारण स्पष्ट है और वह यह है कि इस देश की समस्या पाश्चात्य देशों की समस्या से बहुत भिन्न है। दौड़ सकने से पहले बालक को चलना सीखना चाहिए। इससे पहले कि कोई प्रौढ़ उन सुविधाओं से लाभ उठाने की आशा कर सके जो व्यापक अर्थ में समझी जाने वाली शिक्षा के संबंध में उपलब्ध हैं, उसे साक्षर बनना चाहिए "यद्यपि आरंभ

से ही वास्तिविक प्रौढ़ शिक्षा के लिए कुछ व्यवस्था कर दी जानी चाहिए तािक जो लोग साक्षर बनाए जाएं उन्हें अपना अध्ययन जारी रखने के लिए प्रलोभन और अवसर मिल सके, तथािप इस देश में कुछ समय तक मुख्य जोर साक्षरता पर ही दिया जाना चाहिए।

प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम की व्यवस्था के संबंध में प्रतिवेदन में निम्नलिखित बातें कही गई हैं।

शिक्षा संबंधी सामान्य आयु सीमा 10 से लेकर 40 वर्ष तक होनी चाहिए।
यह अधिक अच्छा होगा कि जहां तक संभव हो सके 10 से 16 वर्ष तक के लड़कों
के लिए दिन में ही पृथक कक्षाएं लगाई जाएं क्योंकि अनेक दृष्टियों से यह अवांछनीय है कि प्रौढ़ कक्षाओं में लड़कों और पुरुषों को एक साथ रखा जाए। यह भी
अच्छा होगा कि लड़कियों के लिए पृथक कक्षाएं हों। परंतु लड़कियों और स्त्रियों
को एक साथ रखने पर इतनी गंभीर आपत्ति नहीं है जितनी लड़कों और पुरुषों को
एक साथ रखने पर है। अत: उपलब्ध साधनों और अन्य व्यावहारिक किठनाइयों
को देखते हए इस आपत्ति को आसानी से नजर अंदाज किया जा सकता है।

प्रौढ़ शिक्षा को रोचक और प्रभावी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि चित्रों, चित्र निरूपणों, कलात्मक तथा अन्य वस्तुओं, चित्रदर्शी, चलचित्र, ग्रामोफोन, रेडियो आदि जैसे दृश्य तथा यांत्रिक सहायता साधनों का पूर्ण उपयोग किया जाए। नृत्य, विशेषकर लोक नृत्य गायन एवं वाद्य संगीत और नाटक भी उपयोगी रहेंगे।

यह भी आवश्यक है कि अनेक एवं पर्याप्त पुस्तकालयोंकी व्यवस्था की जाए। स्पष्ट है कि भारत जैसे देश में एक विशाल पुस्तकालय प्रणाली की आवश्यकता पड़ेगी परंतु चल पुस्तकालयों और पुस्तकों के विनिमय की सुव्यवस्थित योजना होने पर खर्च निषेधी नहीं होगा।

यद्यपि स्वेच्छा संगठनों से सारभूत सहायता ली जा सकती है तथापि प्रौढ़ शिक्षा की समस्या अब तक कुल मिलाकर इतनी बड़ी है कि उसे हल करना गैर सहायता प्राप्त स्वैच्छिक प्रयत्न के बस की बात नहीं है। इस समस्या को हल करने का प्रमुख उत्तर-दायित्व राज्य को ही स्वीकार करना चाहिए।

स्त्रियों की प्रौढ़ शिक्षा की अपनी अलग किताइयां हैं और उन्हें दूर करने के लिए विशेष प्रयत्न करने होंगे।

प्रौढ़ों की कक्षा में छात्रों की संख्या 25 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

योजया का पूरा कार्य तुरंत आरंभ नहीं किया जा सकता है। अत: पहले पांच वर्षों में आयोजना, अध्यापकों की भर्ती, अध्यापकों का प्रशिक्षण और आवश्यक संस्थाओं की सामान्य स्थापना का कार्य किया जाना चाहिए। 2

^{1.90 46 1}

^{2.} पृ० 48-52।

अध्यापकों की भर्ती और प्रशिक्षण के संबंध में प्रतिवेदन में यह माना गया है कि पूर्व बुनियादी और अवर बुनियादी विद्यालयों में प्रत्येक 30 छात्रों के लिए, प्रवर बुनियादी विद्यालयों में प्रत्येक 25 छात्रों के लिए और उच्च विद्यालयों में प्रत्येक 20 छात्रों के लिए एक अध्यापक की आवश्यकता होगी। अध्यापक के लिए न्यूनतम अर्हता यह विहित की गई है कि पूर्व बूनियादी और अवर बूनियादी विद्यालय का अध्यापक उच्च विद्यालय पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद तीन वर्ष का प्रशिक्षण ले चुका हो । उच्च विद्यालयों के गैर स्नातक अध्यापकों से दो वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करने की आशा की जाती है और स्नातक अध्यापक एक वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करेंगे।

अध्यापक पद के लिए उम्मीदवारों का चयन करने के आधार के बारे में सुझाव दिया गया है कि इंग्लैंड के कूछ भागों में अपनाई गई निम्नलिखित विधि अपनाई जाए। 'ऐसे उपयुक्त छात्नों को जो अध्यापक बनना चाहते हैं, उनके उच्च विद्यालय पाठ्यक्रम के अंतिम दो वर्षों में चुन लिया जाता है। फिर उन्हें प्रधानों और निरीक्षकों के प्रेक्षण में रखा जाता है और अन्य विद्यालयों में जाने का तथा वास्तविक अध्यापन कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता है। इस उपाय से संदेहजनक मामलों की जांच पड़ताल हो जाती है। इस प्रकार के छात्नों को प्राय: वजीफा मिलता है।"

अध्यापन वृत्ति की ओर उचित प्रकार के व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए प्रतिवेदन में यह प्रस्ताव रखा गया है कि सभी श्रेणियों के अध्यापकों को दिए जाने वाले वेतनमानों में संशोधन किया जाए। विशेषकर प्राथमिक चरण के अध्यापकों के वेतन-मानों में संशोधन किया जाए क्योंकि उन्हें इस समय बहुत कम वेतन दिया जाता है। अस्थाई तौर पर, प्रतिवेदन में प्रांतीय सरकारों के विचारार्थ नए और उचित वेतनमान प्रस्तावित किए गए हैं।

प्रतिवेदन में प्रतिपादित राष्ट्रीय शिक्षा की योजना का वित्तीय निहितार्थ यह है कि उस पर 31,260 लाख रुपये कूल व्यय होगा जिसमें से 27,700 लाख रुपये लोकनिधि से आएंगे। इस संबंध में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए:

(क) ये प्राक्कलन जनसंख्या और निर्वाह व्यय दोनों के ही संबंध में युद्धपूर्व स्तरों पर आधारित हैं।

(ख) ब्यय का इस प्रकार अनुमान लगाया गया है कि मानों आरंभ से ही काम की शुरुआत करनी है। उस समय ब्रिटिश भारत में शिक्षा पर जितनी धनराशि (30 करोड़ रुपये जिसमें से 17 है करोड़ रुपये लोक निधियों से मिलते थे) व्यय की जाती थी उसे अब आरक्षित निधि मानना जनसंख्या में उस अवधि में होने वाली भावी वृद्धि के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने के खर्च की, कम से कम आंशिक खर्च की, पूर्ति करेगी जो राष्ट्रीय योजना के पूरी तरह कार्य आरंभ करने तक हो चुका होगा। (ग) संपूर्ण प्रतिवेदन में यह मान लिया गया है कि विद्यालय स्थलों और भवनों पर होने वाले पंजीगत व्यय को भविष्य में ऋणों में से किया जाएगा। केवल ब्याज और निक्षेप निधि प्रभारों के लिए व्यवस्था की गई है।

प्रांतीय स्वशासन के अधीन शिक्षा

प्रतिवेदन की आलोचना : केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने भारत के शैक्षिक पूर्नानर्मण की यही योजना प्रस्तावित की थी। इस योजना पर चर्चा हुई है और इसकी कई दृष्टि-कोणों से आलोचना की गई है। इसने स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी इस विषय पर अच्छी तरह विचार करने के लिए आधार प्रदान किया है।

आरंभ में हम प्रतिवेदन की उन बातों का उल्लेख कर दें जो श्लाध्य हैं तथा जिनकी ओर यथेष्ट घ्यान दिया गया है और उनकी प्रशंसा की गई है। इनको सबसे अच्छी तरह श्री के जी । सईदेन के शब्दों में ही प्रस्तुत किया जा सकता है:

इस योजना का व्यापक महत्व क्या है ? राष्ट्रीय शिक्षा की यह पहली विशद योजना है। यह तमाम पूर्ववर्ती सरकारी योजनाओं में अंतर्निहित इस अवधारणा को मानकर नहीं चलती कि भारत के भाग्य में यही बदा है कि राष्ट्रमंडली में उसकी स्थिति शैक्षिक दिष्ट से हीन रहे। यह इस विश्वास पर आधारित है कि शिक्षा के क्षेत्र में अन्य देशों को जो उपलब्धि हुई है, उसे प्राप्त करने की यह देश भी क्षमता रखता है। इस प्रकार की योजना के निरूपण मात्र से यह बात सुनिश्चित हो जाती है कि ऐसी किसी भी योजना को लोग गंभीरतापूर्वक नहीं लेंगे जिसमें कोई उमंगरहित एवं खंडणः परिवर्तन प्रस्तावित किए गए हों अथवा प्रसार के विचार को भट्टे ढंग से रखा गया हो।

दूसरी बात यह है कि यह योजना इस कामना से प्रेरित है कि शिक्षा के विभिन्न चरणों में सबको समान अवसर प्राप्त हो। इसमें यह परिकल्पना की गई है कि प्राथमिक चरण में न केवल नि:शुल्क शिक्षा दी जाए वरन ऐसी अन्य स्विधाएं भी हों जिनके बिना बालक शैक्षिक अवसरों का पूरा लाभ नहीं उठा सकते है, जैसे मध्याह्न भोजन, पुस्तकों, छात्रवृत्तियां, डाक्टरी जांच और उपचार । उच्च चरणों में सभी प्रतिभाशाली एवं पात्र विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियां तथा मुक्त स्थान हों। यद्यपि यह किसी प्रकार से भी उतनी पूर्ण शैक्षिक समानता नहीं है जितनी सामाजिक न्याय की प्रबुद्ध भावना के अनुसार होनी चाहिए तथापि निश्चय ही यह एक स्वागत योग्य कदम है जिसे इस लक्ष्य की ओर उठाया गया है। इस कदम से वर्तमान स्थिति में भारी सुधार होगा।

तीसरी बात यह है कि इस योजना में स्पष्ट रूप से अध्यापन वृत्ति के महत्व पर जोर दिया गया है और उसके दयनीय वेतन स्तर तथा सेवा की घटिया शर्तों को सूधारने के संबंध में प्रस्थापनाएं प्रस्तृत की गई हैं। यह योजना एक न्युनतम राप्ट्रीय वेतन-मान निर्धारित करती है और यह व्यवस्था करती है कि निर्वाह व्यय में होने वाली वद्धि के अनुसार इस वेतनमान को समायोजित किया जाए। इस राष्ट्रीय वेतनमान को अनेक प्रांतों में कतिपय संशोधनों के साथ जो कभी कभी अध्यापकों के प्रतिकल भी होते थे, पहले ही स्वीकार और कार्यान्वित किया जा चुका है, परंत् व्यवसाय पर उसका उतना अधिक शक्तिवर्धक और उद्दीपक प्रभाव नहीं पड़ा है जितनी आशा की जाती थी। इसका कारण यह है कि वेतनों में वृद्धि की अपेक्षा कीमतों में अधिक द्रुत एवं असंगत वृद्धि हुई है। 1

प्रतिवेदन के पक्ष में इतनी ही बातें कही जा सकती हैं। दूसरी ओर, इसमें इतनी अधिक और इतनी महत्वपूर्ण किमयां थीं कि बहुत से भारतीय शिक्षाविद इस प्रतिवेदन से संतुष्ट नहीं हुए। पहली बात यह है कि इस प्रतिवेदन ने देश के सामने बहुत प्रभावहीन आदर्श प्रस्तुत किया। जैसा स्वयं इस प्रतिवेदन में स्वीकार किया गया है, भारत को इंग्लैंड के 1939 के स्तर तक पहुंचने में 40 वर्ष से कम समय नहीं लगता। दूसरे शब्दों में, यिद यह मान भी लिया जाए कि योजना को पूरी तरह कार्यान्वित कर दिया होता तो भी 1948 का भारत इंग्लैंड से 50 वर्ष पीछे रहा होता। अतः यह बात स्वाभाविक थी कि इस आदर्श से कोई भी उत्साही शिक्षाविद संतुष्ट नहीं हुआ। भारत में शैक्षिक विकास की स्वीकार्य योजना बहुत कम काल की रही। यह 15 वर्ष से अधिक की नहीं थी।

प्रतिवेदन में योजना को कार्यान्वित करने की अवधि 40 वर्ष इसलिए निश्चित की गई थी कि इससे कम काल में यह संभव नहीं था कि अईता प्राप्त एवं प्रशिक्षित अध्यापक अपेक्षित संख्या में मिल सकें। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिवेदन में यह कल्पना कर ली गई थी कि इस योजना के अधीन किसी व्यक्ति को तब तक अध्यापक नियुक्त नहीं किया जाएगा जब तक वह विहित त्युनतम सामान्य एवं वृत्तिक शिक्षा प्राप्त न कर चका हो। यह एक आदर्शवादी संप्रत्यय था। इस देश के अथवा इंग्लैंड सहित संसार के अन्य किसी भी देश के विगत अनुभवों को देखते हुए इस संप्रत्यय का कोई उचित आधार नहीं है। यद्यपि प्रतिवेदन में उल्लिखित न्यूनतम अईताओं को आदर्श अईताएं मान लिया गया तथापि उनके कारण किसी भी अवस्था में शिक्षा के प्रसार को न तो रोका जा सकता था और न स्थगित किया जा सकता था। वास्तव में यह बात संभव थी और भारत में भी यह बात संभव होनी चाहिए थी कि संसार के अन्य देशों की भांति ही वह भी उन लोगों के द्वारा शैक्षिक विकास का कार्यक्रम आरंभ कर देता जो त्रंत उपलब्ध थे और इसके साथ ही साथ अध्यापन वृत्ति में कार्यरत कर्मचारी वर्ग को सुधारने और प्रशिक्षण देने के कार्यक्रम को कार्यान्वित करता रहता। यदि हमें स्वैच्छिक आधार पर अपेक्षित संख्या में लोग उपलब्ध नहीं हुए होते तो इस प्रयोजन के लिए हम शिक्षित स्त्री पूरुषों की बिना किसी हिचक के अनिवार्य भर्ती कर सकते थे। यह एक स्वीकृत सिद्धांत है कि युद्ध के लिए सेना में पुरुषों की अनिवार्य भर्ती की जा सकती है। अतः कोई कारण नहीं है कि अज्ञान और निरक्षरता के विरुद्ध चलने वाले युद्ध में उनकी अनिवार्य भर्ती न की जा सके। अनेक व्यक्तियों का यह भी मत था कि पहली बार में ही आठ वर्षीय सर्वजनीन शिक्षा देने का कार्यक्रम आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी लक्ष्य है। उनका कहना था कि कम अवधि की प्रारंभिक शिक्षा का मानस प्रत्यक्षीकरण करके उस लक्ष्य को कम अवधि में पूरा किया जाए।

प्रतिवेदन के वित्तीय निहितार्थों की भी भारी आलोचना हुई। 1940 में भारत की जितनी जनसंख्या थी उसके आधार पर योजना को पूरा करने में लगभग 313 करोड़ रुपये खर्च हुए होते। इस योजना को कार्यान्वित करने में जितना समय लगता, यदि उस काल में हुई जनसंख्या संवृद्धि और जीवन स्तर एवं निर्वाह व्यय में हुई वृद्धि के लिए भी गुंजाइश रखी जाए तो योजना का कुल खर्च लगभग 1,000 करोड़ रुपये वार्षिक बैठता। यदि यह मान भी लिया जाए कि उद्योग और कृषि का बड़े पैमाने पर विकास किया जा सकता था जिससे लोगों की आय का स्तर बढ़ जाता, तो भी इसमें संदेह है कि भारत इतना भारी खर्च उठा सकता था। अतः यह कहा गया कि वित्तीय दृष्टि से यह योजना व्यावहारिक न होकर अत्यंत कल्पनालोकी है।

यह भी कहा गया कि यह योजना केवल उस आदर्श का वर्णन करती है जिसे प्राप्त करना है। परंतु इसमें विकास का विस्तृत कार्यक्रम नहीं दिया गया है। शैक्षिक आयोजना में जिस आदर्श को पाना है उसका केबल विवरण दे देना अपेक्षाकृत सुगम होता है। इस योजना ने अपना जो आदर्श रखा है, कोई भी व्यक्ति सुगमता से इससे भी ऊंचा आदर्श निर्धारित कर सकता है, उसके वित्तीय निहितार्थों को तैयार कर सकता है और उसे देश के सामने शैक्षिक पुनर्निर्माण की योजना के रूप में पेश कर सकता है। अतः केवल इतना ही काफी नहीं था कि इस प्रकार का प्रयास किया जाए। आवश्यकता ऐसे कार्यक्रम की थी जिसमें विस्तार से उन विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया जाता जिनसे होकर इस देश को अपनी लक्ष्य प्राप्ति से पूर्व गुजरना था। प्रतिवेदन में समस्या के इस पहलू की बिल्कुल उपेक्षा कर दी गई थी। उसमें केवल यह सुझाव दिया गया था कि यदि अपेक्षित निधियां पूरी संख्या में उपलब्ध न हों तो योजना को सब क्षेत्रों में एक साथ आरंभ न करके एक के बाद दूसरे क्षेत्र में आरंभ किया जाए। अतः इस बात की कोई संभावना नहीं थी कि इस प्रकार के कार्यक्रम को जनता का कोई भी प्रबुद्ध वर्ग स्वीकार करेगा।

यह कहा गया है कि प्रतिवेदन में केवल इंग्लैंड की शिक्षा पद्धित के आदर्श को प्रदिश्तित किया गया है जबकि वस्तुत: इंग्लैंड एक ऐसा देश है जो भारत के लिए अच्छा आदर्श नहीं बन सकता है। इसका कारण यह है कि दोनों देशों की सामाजिक, राजनीतिक और आधिक स्थिति में बहुत अधिक भिन्नता है। यदि भारत को कोई आदर्श अपनाना ही है तो वह उसके लिए चीन, मिस्र अथवा तुर्की जैसे पूर्वी देशों अथवा पश्चिम के डेनमार्क या सोवियत रूस जैसे कृषि प्रधान देशों में तलाश कर सकता है। इन देशों में भी अनेक समस्याएं वैसी ही हैं जैसी भारत की हैं और इन्होंने बहुत थोड़े समय में ही भारी सफलताएं प्राप्त की हैं।

केवल एक उदाहरण लेकर हम अब यह देखते हैं कि रूस ने अपनी शैक्षिक समस्याओं को किस प्रकार हल किया था। 1914 में रूसी साम्राज्य की जनसंख्या लगभग 14 करोड़ थी और केवल 10 लाख छात्र ही विद्यालयों में पढ़ते थे। साम्राज्य के, विशेषकर पूर्वी प्रदेशों में, अनेक ऐसे भूभाग थे जिनमें शिक्षा की व्यवस्था प्राय: बिल्कुल नहीं थी और साक्षरता एक प्रतिशत से भी कम थी। वहां 200 ग्रह्मसंख्यक जातियां थीं। ये 150 भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलती थीं। इन भाषाओं में से कुछ का तो कोई साहित्य ही नहीं था और

^{1.} ईयर बुक आफ एजूकेशन (इवांस ब्रादर्स), 1949, पृ० 507।

बहुत सी भाषाएं ऐसी बोलियां मात्न थीं जिनकी लिपि तक नहीं थीं। इन भारी बाधाओं के बावजूद, सोवियत रूस की सरकार को आश्चर्यजनक सफलताएं मिलीं। 15 वर्ष की अवधि में उसने अपने विशाल राज्य क्षेत्र के कुछ भागों में लोगों की साक्षरता को बढ़ाकर 90 प्रतिशत से अधिक कर दिया। इसी अवधि में अन्य प्रत्येक भाग में साक्षरता बढ़कर 70 प्रतिशत से अधिक हो गई। अनेक भाषाओं में उसे मूल लिपि के स्थान पर लैटिन लिपि रखनी पड़ी और 40 से अधिक बोलियों के लिए लैटिन लिपि में नई वर्णमाला तैयार करनी पड़ी। उसने अपने राज्य क्षेत्र के प्रत्येक भाग में सात वर्ष का अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पाठ्यक्रम चालू किया है। इन उपलब्धियों ने रूसी जनता की अर्धवर्बरता की स्थित को बदलकर रूस को संसार का सबसे शिक्तशाली सभ्य राष्ट्र बना दिया है।

यदि रूस की 1914 की स्थिति के साथ तूलना की जाए तो 1947 में भारत की स्थिति उसकी अपेक्षा बहत अच्छी थी। अतः सोवियत रूस अपनी जनता के लिए जो उपलब्धि लगभग 15 वर्ष में कर सका वही उपलब्धि भारत में भी, यदि कम समय में नहीं तो, 15 वर्ष में कर पाना असंभव नहीं था। अतः इस बात की कोई संभावना नहीं थी कि सार्जेट प्रतिवेदन का यह अनमान कि योजना को परा करने के लिए कम से कम चालीस वर्ष चाहिए उसे स्वतंत्र भारत के निर्माता व्यावहारिक प्रस्थापना मान लेंगे। ब्रिटिश शासन का अंत (15 अगस्त, 1947): 1937 और 1947 के बीच जो शैक्षिक गतिविधियां हुई थीं उनके इस पूर्ववर्ती पूनरीक्षण से यह पता चल जाएगा कि इस काल की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि भारत में व्यापक शैक्षिक पूर्नीनर्माण करने के लिए योजनाएं तैयार की गईं। अब तक शिक्षा नीतियों में विचलन होता रहता था और न्यनाधिक वे उस सांयोगिक रुचि पर निर्भर करती थीं जो उनके प्रति प्रशासनाध्यक्ष रखते थे। रिपन अथवा कर्जन जैसे वायसराय ने संपर्ण भारत में शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी और सुधार की लहर फैला दी। एच० एस० रीड, आर्नाल्ड अथवा सर अलेक्जैंडर ग्रांट जैसे उत्साही लोक शिक्षा निदेशकों ने अपने शासनाधीन प्रांत की संपर्ण शिक्षा पद्धति में प्राण फंक दिए । परंतु ऐसी अंतर्द ब्टि और क्षमता रखने वाले बहुत थोडे व्यक्ति हुए और वे भी यदा कदा हुए। 'किसी तरह से पार होकर सफलता प्राप्त कर लेना' ब्रिटिश प्रतिभा की विशेषता है। कूल मिलाकर, 1813 तथा 1947 के बीच भारत की शिक्षा नीतियां इसी आधार पर चलती रहीं। भारतीय शिक्षा पद्धति के लिए यह विचार बिलकूल नया था कि एक योजना हो अर्थात भली प्रकार समन्वित कार्यक्रमों को अपना-कर निर्दिष्ट समय के अंदर एक विहित लक्ष्य तक पहुंचा जाए। जब इस विचार को सरकारी तौर पर स्वीकार कर लिया गया तो सभी क्षेत्रों में इस नंवीन प्रक्रिया का स्वागत किया गया। परंतु किसी सम्मत योजना को तैयार करना सुगम कार्य नहीं था और विचाराधीन काल के अंत तक सरकार लगभग इसी कार्य में लगी रही। जब 15 अगस्त, 1947 को भारत से अंग्रेजी सत्ता हटी और भारतीय शिक्षा के इतिहास में ब्रिटिश काल समाप्त हुआ तो उस समय तक केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों ने इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए संभवतः प्रथम कदम ही उठाए थे।

11

ब्रिटिश काल के दौरान भारत में शिक्षा सिंहावलोकन

अब हमारी एक लंबी याद्रा समाप्त होने वाली है। अतः 15 अगस्त, 1947 को अपनी नीति निर्धारण करते समय हम थोड़ा रुककर पिछले दो सौ वर्षों में हुई उपलब्धियों और असफलताओं का सिहावलोकन कर सकते हैं। अतीत की अपेक्षा इस समय हम इतिहास का सिहावलोकन अधिक निर्णायक एवं नि:संग रूप से कर सकते हैं। जब तक अंग्रेज भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित किए रहे, सभी शैक्षिक विवादों में राजनीतिक अभिनति रहती थी। भारत में बिटिश शासन को उचित ठहराने के लिए अंग्रेजों ने अपने योगदान के कुछ पहलूओं के बारे में अत्यधिक ऊंची धारणा बना रखी थी। वे अपनी उपलब्धियों की किमयों के लिए ऐसे कारणों को जिम्मेदार बताते थे जिन्हें दूर करना उनके वश की बात नहीं थी। प्रतिकृल आलोचना होने पर उनका सामान्य उत्तर यह होता था कि इस आलोचना में ऐसे काम पर जोर दिया गया है 'जिसे छोड दिया गया था तथा जिसे अब भी किया जाना बाकी है' और इसके साथ ही इस बात की उपेक्षा कर दी गई है कि 'क्या क्या काम पूरा हो चुका है, कितना काम अच्छी तरह से किया गया है, किन साधनों से किया गया है, किन कठिनाइयों के बीच किया गया है और कितनी सफलतापर्वक तथा सफलता मिलने की आणा के साथ किया गया है। इसरी ओर भार-तीय लोग भारत की ब्रिटिश शिक्षा नीति की असफलताओं का उल्लेख करते थे। वे भारत में जो शैक्षिक प्रगति हुई थी उसकी रफ्तार की स्वयं इंग्लैंड अथवा स्वाधीन पर्वी देशों (जैसे जापान या तुर्की) अथवा अन्य राष्ट्रों के पराश्रित राज्यों (जैसे फिलिपाइंस) में हुई शैक्षिक प्रगति की रफ्तार से तुलना करते थे। इसके साथ ही उनका कहना था कि भारत में आध्निक शिक्षा राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में असफल रही है। राज-नीतिक दासता अथवा आर्थिक शोषण से जो अनिष्ट हुए हैं उनकी क्षतिपर्ति आधृनिक शिक्षा से होने वाले थोड़े से लाभों से नहीं हो सकती है। इन विचारों में राजनीतिक अभिनृति स्वत: स्पष्ट है। अब चूंकि इस अभिनृति का मुख्य कारण समाप्त हो चका है

^{1.} ओ' मैली : माडर्न इंडिया एंड दि बैस्ट, पृ० 179 ।

अत: इस बात की संभावना स्पष्ट दिखाई देती है कि अब शैक्षिक इतिहास का निष्पक्ष एवं अधिक निर्णायक मूल्यांकन किया जा सकता है। आज अंग्रेज अपनी गलतियों को स्वीकार करने के लिए उसी प्रकार तैयार हैं जिस प्रकार कोई भारतीय उस बहुमूल्य देन को स्वीकार करने के लिए तैयार है जो इंग्लैंड ने भारतीय जीवन और विचारधारा को दी है। भूमिकाओं में यह परिवर्तन हो जाने के साथ ही, हम अतीत की अपेक्षा अब सत्य के अधिक निकट आ गए हैं।

एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का विकास न कर पाना: भारत में ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन के विरुद्ध मुख्य आरोप यह है कि उसने देश के लिए एकराष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का निर्माण नहीं किया। इस आरोप के बारे में कोई मतभेद नहीं है। जब 1921 में भारतीय शिक्षा भारतीय नियंत्रण में सौंप दी गई तो उसके साथ ही भारतीय शिक्षा के संबंध में अंग्रेजों का उत्तरदायित्व बहुत कुछ समाप्त हो गया। उस समय सरकारी पद्धित ने राष्ट्रीय शिक्षा के संप्रत्यय को स्वीकार तक नहीं किया था। परंतु यदि तर्क करने के लिए यह मान भी लें कि जनता की शिक्षा के लिए अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों सदा ही उत्तरदाई रहे तो अधिक से अधिक उन्हें इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का मानस प्रत्यक्षीकरण करके उसे शैक्षिक विकास की युद्धोत्तर योजना (1944) के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। परंतु यह योजना संतोषजनक नहीं है। यदि यह योजना संतोषजनक होती तो भी यह आरोप तो रहता ही कि 15 अगस्त, 1947 तक इस योजना पर कोई कार्रवाई नहीं की गई।

1904 में कर्जन ने शैक्षिक विषयों के बारे में पहला भारी तूफान खड़ा किया था और 1937 में, भारतीयों को शिक्षा पर लगभग पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हुआ था। इन दोनों के बीच की कालाविध में इस असफलता के तथ्यों के बारे में विवाद चलता रहा। सरकारी इतिहासकार एक चरम सीमा तक पहुंच गए और ब्रिटिश शिक्षा नीति के समर्थन में बेसिरपैर की बातें कहने लगे। राष्ट्रवादी दूसरी चरम सीमा पर पहुंचे और उन्होंने यह घोषणा कर दी कि ब्रिटिश शासन ने भारत को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक रूप से बर्बाद किया है। परंतु ये चरम सीमाएं अब अतीत की घटनाएं हो चुकी हैं। असफलता के तथ्य को अब बेहिचक स्वीकार कर लिया जाता है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षाविदों का घ्यान इसी असफलता के कारणों का पता लगाने की ओर लगा हुआ था ताकि अतीत में की गई गलतियों से भविष्य में बचा जा सके।

हमने पिछली डेढ़ शताब्दी के शैक्षिक इतिहास का जो सर्वेक्षण किया है उससे पता चलता है कि अंग्रेज भारत में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का निर्माण निम्नलिखित कारणों से नहीं कर सके थे:

(क) राष्ट्र समाज में भारत के स्थान को न समझ पाना: राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का एक साधन होती है। स्वयं राष्ट्र से जिस प्रकार की भूमिका निभाने की कामना की जाती है, राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित को उसी के अनुसार गठित किया जा सकता है। ब्रिटिश सत्ता का स्वरूप साम्राज्यवादी था अत: वह आत्मसम्मानी एवं स्वतंत्र भारत का मानस प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकी। मिशनरियों ने भारत को एक

ऐसे स्थल के रूप में देखा जहां लोगों को ईसाई बनाया जा सकता था। कंपनी सामान्यतः उसे अपने वाणिज्य और मुनाफों के लिए एक क्षेत्र समझती थी। 1854 के आज्ञापत्र में उसका उल्लेख कच्चे माल के उत्पादक अथवा ब्रिटिश उद्योगों के तैयार माल के केता के रूप में किया गया था। कर्जन ने उसे ब्रिटिश प्रशासक के सभ्यता प्रसारक प्रभाव के लिए एक शाश्वत क्षेत्र माना। दूसरे विश्व युद्ध के अंत तक सरकार नीति की सभी घोषणाओं की यह विशेषता रही कि उनमें भारत का एक ऐसे प्रभुतासंपन्न, स्वाधीन राष्ट्र के रूप में मानस प्रत्यक्षीकरण करने से आंख मूंदकर इंकार किया जाता रहा जिसे सार्वभौम संस्कृति को अपनी अद्वितीय एवं बहुमूल्य देन देनी है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के साम्राज्यवादी राजनीतिक दर्शन में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित के लिए कोई स्थान नहीं है।

(ख) पूर्व और पश्चिम का संश्लेषण प्रस्तुत न कर पाना : ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की असफनता का एक अन्य कारण यह था कि वह पूर्व और पश्चिम के बीच उचित मेल स्थापित कराने में असमर्थ रहा। मिशनरी यह कार्य इसलिए नहीं कर सके कि वे धर्मा-तरण पर जोर देते थे, ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति को परस्पर अवियोज्य समझते थे और प्राचीन भारतीय परंपराओं एवं संस्कृति को आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। अंग्रेज कर्मचारी यह कार्य कर सकते थे परंतु उनमें से बहुत कम लोगों ने इस कदम को वांछनीय समझा और उससे भी कम लोगों ने इस कदम को उठाने की आवश्यकता महसूस की। निस्संदेह कुछ लोग प्राच्य संस्कृति के भारी प्रशंसक थे। परंतु अनेक बार वे अपना औचित्य बोध खो बैठे और उन्होंने अतीत के उसी प्रकार से गुण गाए जिस प्रकार भारतीय उग्र राष्ट्रवादी गाते थे। अतः इन प्राच्यवादियों ने यह कार्य आरंभ नहीं किया । शिक्षा नीतियों को अधिकांशत: भारी संख्या में ऐसे अंग्रेज कर्म-चारी तैयार करते थे जो लार्ड किपलिंग की भांति इस बात में विश्वास रखते थे कि 'पूर्व, पूर्व है और पश्चिम, पश्चिम; ये दोनों कभी नहीं मिलेंगे।' विक्टोरियन असामाजिकता और उसकी संरक्षणात्मक अभिवृत्ति इस संबंध में विशेष रूप से बुरी थीं। विक्टोरियन असामाजिकता भारतीयों को 'कानूनिवहीन अभिजाति' मानती थी, 'बाबू अंग्रेजी' का मजाक उड़ाती थी, शिक्षित व्यक्तियों को 'निष्ठावान' और 'निष्ठाहीन' वर्गीकृत करने का प्रयत्न करती थी, यूरोपीय क्लबों में भारतीयों के प्रवेश पर रोक लगाती थी और सामान्यतः संकोच और अलगाव का ऐसा वातावरण पैदा करती थी जिसमें संस्कृतियों का मेल होना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया। इन अभिवृत्तियों के कारण जो प्रजातीय वैरभाव उत्पन्न हुआ वह राजनीतिक संघर्ष के वातावरण में और भी अधिक बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश राष्ट्रवादी भारतीयों में पाश्चात्य संस्कृति के प्रति ग्राही अभिवृत्ति होने के बजाय अवज्ञा करने और चुनौती देने की अभिवृत्ति पैदा हो गई। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विचाराधीन काल में पूर्व और पश्चिम का मेल कराने के लिए योजनाबद्ध और बड़े पैमाने पर सरकारी प्रयास नहीं किया गया । कुछ व्यक्तियों ने अपने जीवन में दोनों संस्कृतियों का सुंदर सम्मिश्रण करके दिखाया और वे अपने चारों ओर एक विलक्षण माधुर्य एवं प्रकाश फैलाते रहे। कुछ संस्थाओं ने इस कार्य को अपने शैक्षिक कार्यक्रमों के द्वारा करने का प्रयत्न किया।

ये प्रयोग सदैव गैर सरकारी तौर पर हुए और इन्होंने उपर्युक्त संप्रत्यय को जीवित रखने में सहायता दी परंतु सरकारी शिक्षा पद्धति द्वारा इस आदर्श को मान्यता न दिए जाने से जो हानि हुई थी उसकी क्षतिपूर्ति इन प्रयोगों से नहीं हुई।

(ग) अपर्याप्त लक्ष्य: ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की असफलता का तीसरा कारण यह है कि उसने शिक्षा के लिए समय समय पर जो लक्ष्य निर्धारित किए वे अपर्याप्त थे। वारेन हेस्टिंग्ज और डंकन अधिकांशत: समाज के उन वर्गों की राजनीतिक सुलह चाहते थे जो अंग्रेजों की विजय के परिणामस्वरूप राजनीतिक सत्ता एवं प्रभाव से वंचित हो गए थे। 1813 के चार्टर अधिनियम में यह कहा गया था कि प्राच्य साहित्यों का पुनरुत्थान एवं सधार किया जाए और 'विद्वान मूल निवासियों' को प्रोत्साहन दिया जाए। 1854 के आज्ञापत में 'यूरोप के उन्नत कला, विज्ञान, दर्शन एवं साहित्य के प्रसार की बात कही गई थी। 1882 के आयोग ने इस विषय पर बिल्कुल भी विचार नहीं किया। कर्जन ने 'भारतीय प्रज्ञा के अंतर्भृत दोषों' को दूर करने की बात कही। 1913 के संकल्प ने 'चरित्र निर्माण' को शिक्षा नीति का मुख्य उद्देश्य घोषित कर दिया। भारतीयों को सरकारी विभागों में नौकरी के लिए प्रशिक्षित करने का उपयोगितावादी उद्देश्य आरंभिक काल से ही सामने रहा था यद्यपि उस पर अलग अलग समय पर अलग अलग मात्रा में जोर दिया गया। स्वशासन के लिए भारतीयों को प्रशिक्षित करने का परार्थवादी राग भी यदा कदा अलापा जाता रहा। मैंकाले और मैंटकाफ़ उन सबसे पहले व्यक्तियों में से थे जिन्होंने गर्व और विश्वास के साथ स्वशासन की बात कही थी। ग्रांट को इसका पक्का पता नहीं था यद्यपि उसे इस बात से खेद नहीं हुआ होता। परंतु औसत कर्मचारी को स्वराज की उस संभावित मांग का डर था जो भारत पेश कर सकता था। अतः उसने अपनी शक्ति के अनुसार हर प्रकार से यह कोशिश की कि इस अनिष्टकारी दिन को यथासंभव टाला जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वशासन के लिए प्रशिक्षण देना ब्रिटिश शिक्षा नीति का एक सुचितित उद्देश्य नहीं वरन इस नीति का एक उप परिणाम ही रहा । निस्संदेह यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक उद्देश्य का अपना उचित महत्व है । परंत्र उपर्यक्त उद्देश्य से अकेले अथवा मिलकर भी उन संबद्ध एवं विशद उद्देश्यों को प्रस्तुत नहीं करते जो भारत की राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के होने चाहिए। अब यह सार्वितक रूप से स्वीकार किया जाता है कि जब तक कोई शिक्षा पद्धति उस 'परिपूर्ण जीवन' के स्पष्ट ज्ञान पर आधारित नहीं होगी जिसे प्रदान करने का उसे प्रयत्न करना चाहिए तब तक विधान, संहिताओं, ज्ञापनों, पाठ्यचर्याओं और परीक्षाओं के बारे में की जाने वाली चर्चाओं से कोई लाभ नहीं होगा। यद्यपि अनगिनत कर्मचारियों, सिमितियों, आयोगों और प्रतिवेदनों ने भारत में आधूनिक शिक्षा की अनेक समस्याओं पर बहुत विस्तार से चर्चा की है तथापि संपूर्ण जीवन के प्रसंग में शिक्षा के उद्देश्यों पर कभी चर्चा नहीं की गई थी । इस दिशा में पहला प्रयास भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन (1949) के एक अध्याय में किया गया है जो 'विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्यों' के बारे में है। परंतु इस अध्याय की रचना 'स्वतंत्र' भारत में हुई थी।

(ঘ) गलत कार्यविधियों का अपनाया जाना : यह त्रिटिश शैक्षिक प्रसाशन की एक

कमजोरी थी कि उसने पर्याप्त उद्देश्यों का निरूपण नहीं किया। इस कमजोरी का जो हानिकर प्रभाव पड़ा उसमें कतिपय गलत कार्यविधियों के अपनाए जाने से और भी विद्ध हो गई। इनमें सर्वप्रथम गलत कदम यह था कि देशी शिक्षा पद्धति की उपेक्षा की गई जिसके परिणामस्वरूप वह 1900 के लगभग प्राय: पूर्णतया लुप्त हो गई। दूसरा गलत कदम यह था कि अंग्रेजी आदर्शों पर अत्यधिक निर्भर रहा गया और इंग्लैंड में विकसित सभी प्रकार की योजनाओं एवं विचारों की तुच्छ नकल करके उसे भारत पर थोप देने का प्रयास किया गया । इंग्लैंड नगरीय, औद्योगीकृत और धनाढ्य देश है परंतू भारत ग्राम्य, खेतिहर और निर्धन हैं। दोनों देशों की सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभिम में जो विरोध पाया जाता है उसके फलस्वरूप इंग्लैंड भारत के लिए एक अच्छा आदर्श नहीं बन सकता है। परंतु अंग्रेज प्रशासक इस बात को मान बैठे थे कि भारत को जिस आदर्श की कभी आवश्यकता पड़ सकती है, वह काफी संशोधनों के बाद इंग्लैंड का ही आदर्श हो सकता है। इस धारणा के परिणामस्वरूप उन्होंने देशी परंपराओं की तथा संसार के उन प्रगतिशील देशों के नम्नों की उपेक्षा की जिनके सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे भारत के सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे के अधिक निकट थे। वास्तव में, यही लगता है कि भारतीय शिक्षा निरंतर सिंड्रैला (एक उपेक्षिता नारी) की भांति रही। उसे इंग्लैंड की शिक्षा पद्धति के आंचल से बांध दिया गया था। यथार्थतः यही हमारी भारतीय शिक्षा पद्धति की वासदी रही है। अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत को स्वीकार किया जाना भी एक गलती थी क्योंकि इससे सार्वजनिक शिक्षा को अस्थाई रूप से धक्का लगा। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक बातें ऐसी थीं जिन्हें इतिहास ने अविवेकपूर्ण सिद्ध कर दिया है जैसे अंग्रेजी का शिक्षा माध्यम के रूप में व्यापक प्रयोग, माध्यमिक एवं महाविद्यालयी चरणों में अंग्रेजी के अध्यापन पर जोर, यह विश्वास कि अंग्रेजी समस्त देश की राष्ट्रभाषा बनेगी और बनी रहेगी और इसके परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय भाषाओं की उपेक्षा किया जाना । आसानी से इस प्रकार के अन्य बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन सबसे यह पता चलता है कि स्थिति का सही तौर से मानस प्रत्यक्षीकरण नहीं किया गया और चीजों को भारतीय दृष्टिकोण से नहीं देखा गया। रालिसन का इस निष्कर्ष पर पहुंचना बिल्कुल ठीक है कि भारत में ब्रिटिश शासन की असफलता, जहां तक वह असफलता थी, केवल कल्पनाशक्ति की कमी के कारण हुई थी। (ङ) भारत का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से विकास न करना : शिक्षा की आयोजना शून्य में नहीं की जा सकती है और शैक्षिक प्रगति सदैव राष्ट्र की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नति की मोटे तौर से आनुपातिक होती है। ब्रिटिश शासन के कुछ पहल इस प्रकार की उन्नति के वैरभावी थे। उदाहरण के लिए, धार्मिक तटस्थता के सिद्धांत का अर्थ यह लगाया गया कि समाज सुधार से संबंधित किसी भी विषय में हस्तक्षेप न किया जाए । इसका परिणाम यह हुआ कि अस्पृश्यता अथवा बाल विवाह जैसी बुराइयों

^{1.} एच० जी० रालिसन : दि ब्रिटिश एचीवमेंट इन इंडिया, पृ० 241 ।

के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए राजकीय सहायता तथा दंड विधान की मदद नहीं मिल सकी । अत: इस विषय में ब्रिटिश शासन की अनेक्षा कुछ देशी रियासतों में अधिक प्रगति हुई । परंतु अंग्रेज कर्मचारी को उसकी तटस्थ अभिवृत्ति के लिए दोष दे सकना कठिन है। वह संभवत: इससे बेहतर कुछ नहीं कर सकता था। ऐसा विशेषकर इसलिए था कि उसके लिए राजनीतिक रूप से यह समीचीन था कि बर्र का छता न छेड़ा जाए। परंत् यह बात भी स्वीकार की जानी चाहिए कि सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का सिद्धांत वास्तव में एक तटस्थ निर्णय नहीं है। इससे कट्टरपंथ की ताकतें सारभूत रूप से मजबूत होती हैं और उस हद तक इससे सच्ची शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ती है। इसी प्रकार, भारत की राजनीतिक पराधीनता के कारण भी शैक्षिक प्रगति में कठिनाइयां उत्पन्न हुईं। राष्ट्रीय एकता की सुदृढ़ भावना पैदा करने के लिए, भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रथम उद्देश्य यह होना चाहिए या कि सभी भिन्न भिन्न धर्मों, संप्रदायों औरजातियों-को पब्लिक स्कूलों की एक समान लोकतंत्री प्रणाली के अंतर्गत लाया जाए। परंतु राज नीतिक रूप से यह वांछनीय नहीं था कि इस प्रकार की एकता पैदा हो। अत: सांप्रदायिक एवं धार्मिक एकता पैदा करने के लिए कोई योजनाबद्ध और जोरदार प्रयास नहीं किए गए। बल्कि कभी कभी तो 'फूट डालकर शासन करने' का खेल खूब खुलकर खेला गया और दो बड़ी जातियों, हिंदुओं एवं मुसलमानों, की शिक्षा को एक दूसरे से पृथक पृथक बढ़ने दिया गया (अथवा इस प्रकार से बढ़ने देने की योजना तक बनाई गई)। तीसरी बात यह है कि ब्रिटिश शासन के आर्थिक पहलू असंतोषजनक थे। अब इस बात को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि पिछले 150 वर्षों में लोगों की निर्धनता बढ़ी थी। इस प्रकार की बिगड़ी हुई आर्थिक पृष्ठभूमि में कोई शैक्षिक प्रगति संभव नहीं है । दूसरे शब्दों में, ब्रिटिश शासन भारतीय जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पक्ष का विकास न तो कर सकता था, न उसने किया। चूंकि राष्ट्रीय शिक्षा जनता के सामाजिक, राज-नीतिक और आर्थिक जीवन के पुनरुजीवन का कार्यकरण होती है अतः ब्रिटिश प्रशासन भारत के लिए वास्तविक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का विकास नहीं कर सका।

(च) आवश्यक कर्मचारी उपलब्ध न कर पाना : ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की असफलता का सबसे प्रबल कारण यह था कि वह योजना बनाने के लिए आवश्यक कर्मचारी जुटाने और भारत में एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की व्यवस्था करने में असमर्थ रहा । निश्चय ही यह कार्य बहुत भारी और कठिन था और यदि इस कार्य को आंशिक रूप से संपन्न किया जाता तो उसके लिए भी इंग्लैंड के बहुत से अच्छे शिक्षाविदों की आजीवन सेवा की आवश्यकता हुई होती। परंतु इंग्लैंड ने प्रथम श्रेणी के बहुत थांड़े शिक्षाविदों को भारत भेजा। यह सही है कि मिशनरियों ने डफ अथवा विल्सन जैसे कुछ महापुरुषों को भेजा था। परंतु उनका योगदान इसलिए सीमित रह गया था कि स्वयं मिशनरी उद्यम भी भारतीय शिक्षा में एक लाभप्रद किंतु गौण भूमिका ही अदा कर सका । सरकारी क्षेत्र भी पूरी तरह ऊसर नहीं थे। पंजाब के आर्नल्ड अथवा बंबई के सर अलेक्जेंडर ग्रांट तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को सरकारी लोगों के बीच बहुत सम्मानप्रद स्थान प्राप्त था। जिन ब्यक्तियों का शिक्षा विभाग से कोई संबंध नहीं था परंतु जिन्होंने भारतीय शिक्षा के लिए

अच्छा कार्य किया उनमें सबसे महान व्यक्ति सर माइकेल सैंडलर थे। परंतु 1854 और 1924 के बीच शिक्षा विभागों के यूरोपीय अफसरों का जो अंतहीन प्रवाह भारत में आया उसकी तुलना में इस प्रकार के महापुरूषों की संख्या नगण्य थी। सर अलेक्जेंडर ग्रांट का यह कहना मूल रूप से सही था कि शिक्षा विभाग में सेवा की शर्ते इस प्रकार की नहीं थीं कि वे अच्छे अधिकारियों को आकर्षित कर सकतीं । यहां तक कि 1896 में भारतीय शिक्षा सेवा का सर्जन होने से भी स्थिति में सुधार हुआ। जब हम यह विचार करते हैं कि इंग्लैंड ने कितनी ऊंची सैनिक प्रतिभा भारत भेजी थी और भारतीय सेवा अथवा न्यायपालिका के इतिहास गगन में कितने महापुरुष आकाशगंगा के नक्षत्रों के रूप में जगमगा रहे हैं,और कितने महान इंजीनियरों, डाक्टरों और सर्वेक्षकों ने भारत में और भारत के लिए कार्य किया था तो भारतीय शिक्षा विभागों के औसत यूरोपीय कर्मचारी के लघु व्यक्तित्व को देखकर मन में चोट पहुंचती है । आखिरकार, प्रशासन की कोई भी पद्धति अपने कर्म-चारियों के व्यक्तित्व से ऊंची नहीं उठ सकती है। शिक्षा विभाग के जो औसत कर्मचारी भारत आए उनकी ओर दृष्टिपात करने पर गोखले की इस बात पर आश्चर्य नहीं होता है कि भारतीय शिक्षा विभाग 'विशेषज्ञों के संकीर्ण, धर्मांध और सस्ते शासन का मूर्त रूप थे।

ब्रिटिश काल के दौरान भारत में शिक्षा सिंहावलोकन

शिक्षा विभागों के कर्मचारियों के पक्ष में एक बात कहनी है। क्या अन्य विभागों के उनके अपने साथियों ने उनके साथ अच्छा व्यवहार किया था ? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है, 'नहीं'। ब्रिटिश भारतीय प्रशासन के लिए शिक्षा कभी सर्वाधिक महत्व का विषय नहीं रही। केवल उस समय को छोड़कर, जब शिक्षा के राजनीतिक रूप से कष्टकर परिणाम निकलते हों, कभी शिक्षा को परम पूर्वता नहीं दी गई। यहां तक कि 1921 में भी, मेह्य ने शिकायत की थी कि 'अनुभवी सचिव सवेरे की अपनी शक्ति को वित्तीय तथा न्यायिक फाइलों में व्यय कर देने के बाद' सामान्यत: अपने शैक्षिक संकल्प को 'डूबते सूरज के साथ तैयार करते थे। उन्होंने शिक्षाविदों को यह ध्यान दिलाया था कि उनका कार्य है कि वे 'चरित्र निर्माण करें तथा अच्छे एवं दक्ष नागरिक तैयार करें; उनकी कार्यविधियां अर्थ-व्यवस्था और जनमत द्वारा विहित सीमाओं के अंदर रहते हुए अच्छी एवं प्रभावी होनी चाहिए।'² इन व्यंग्यपूर्ण टिप्पणियों से यह पता चल जाता है कि विभागीय अधिकारियों को सरकार की उदासीनता और वित्त विभागों की निष्ठुरता के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष करना पड़ा था। समग्र इतिहास में प्रमुख रूप से यही बात देखने को मिलती है। शैक्षिक पुनर्निर्माण संबंधी अभियान के लिए इस बात की आवश्यकता थी कि सरकार और सभी विभागों के कर्मचारी उसका पूरी शक्ति के साथ समर्थन करें। यहां तक कि जिस काल में सभी कर्मचारी यूरोपीय होते थे, केवल उन विरले अवसरों को छोड़कर जब रिपन और कर्जन जैसे वायसराय बागडोर सम्हाले हुए थे और कभी यह समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। जब शिक्षा को भारतीय नियंत्रण में दे दिया गया तो राजस्व (जो आरक्षित ही बना रहा)

^{1.} ए० मेह्य : दि एजूकेशन आफ इंडिया, पू० 9।

^{2.} वही ।

जसे अन्य महत्वपूर्ण विभागों से और भी कम सहयोग मिला। भारत के पास जो ग्रैक्षिक अधिकारी थे, यदि उनकी ओर सरकार ने अधिक ध्यान दिया गया होता अथवा उन्हें राजस्व और वित्त विभागों से अधिक उत्साहपूर्ण सहयोग मिला होता तो भी अपेक्षाकृत अच्छे परिणाम निकल सकते थे। परंतु ऐसा होना नहीं था।

368

(छ) योजना का न होना : ब्रिटिश शिक्षा पद्धति की असफलता का अंतिम कारण यह है कि न तो कोई योजना थी और न किसी पूर्व निर्धारित लक्ष्य तक पहुंचने के लिए कोई संगत अभियान ही था। यह प्रत्यय निश्चय ही बीसवीं शताब्दी का प्रत्यय है कि प्रशासन के लिए एक योजना अथवा कार्यक्रम होना चाहिए। अतः यदि उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय शिक्षाविदों के पास कोई योजना नहीं थी तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। परंतु 1944 तक भी हमारे शिक्षकों ने कोई योजना इसलिए तैयार नहीं की कि जीवन के प्रति 'किसी तरह पार हो जाने' की विशिष्ट ब्रिटिश अभिवृत्ति मौजूद थी। जब कर्जन ने यह बात कही थी कि उन्हें 'नौगम्य सागर के उस उपखंड में, जो रहस्यपूर्ण अतीत और उससे भी अधिक रहस्यपूर्ण भविष्य के बीच स्थित है', भारतीय शिक्षा का काम करना है, तो उन्होंने कल्पनातीत सत्य कहा था। अधिकांश ब्रिटिश कर्मचारी आसन्न वर्तमान के लिए जीवन यापन और कार्य करते थे। वे भारत में अल्पकाल के लिए आए थे। उनका संपूर्ण लक्ष्य यह था कि वे तत्क्षण ही कुछ ऐसा कार्य कर दें जिसके परिणाम शीघ्र निकलें और उन परिणामों को स्वयं देख सकें। अतः उन्होंने अतीत और भविष्य की ओर ध्यान नहीं दिया । ऐसे असंख्य दृष्टांत दिए जा सकते हैं जिनमें प्रत्येक आनुक्रमिक कर्मचारी ने अपनी अलग ही नीति अपनाई और कभी भी अपने पूर्वाधिकारी की नीतियों को विकसित करने अथवा अपने उत्तराधिकारी द्वारा जारी रखे जाने के लिए कोई योजना बनाने की परवाह नहीं की। राष्ट्रीय शिक्षा का विकास करने के लिए एक दीर्घकालिक योजना होनी चाहिए। भारत में शिक्षा नीति का औसत जीवनकाल पांच से दस वर्ष तक रहा था। आनुक्रमिक गवर्नेर जनरलों, राज्यपालों अथवा लोक शिक्षा निदेशकों के साथ ही नीतियां आई और चली गई । इस निरंतर परिवर्तनशील पृष्ठभूमि के कारण दीर्घकालिक आयोजन करना असंभव हो गया और इसका भारतीय शिक्षा की प्रगति पर अनर्थकारी प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की देन: इस कथन का कि ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन भारत में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का सर्जन करने में असफल रहा, यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि ब्रिटिश शैक्षिक प्रशासन की कोई भी उचित उपलब्धि नहीं थी। वास्तव में उसने बहुत से अच्छे कार्य भी किए जिन्हें भारत सदैव स्वीकार करेगा। ब्रिटिश प्रशासन की कुछ निश्चित उपलब्धियां निम्नलिखित हैं:

(क) ब्रिटिश प्रशासन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि उसने भारत का अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य और इनके द्वारा पश्चिम की समस्त विचारधारा, वैज्ञानिक एवं अौद्योगिक विकास और सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन से परिचय कराया था। यह संपर्क बहुत ही उपयुक्त समय पर हुआ। उस काल में भारतीय संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था अपनी हीनतम अवस्था में थीं। इस संपर्क का भारी जीवनदायक प्रभाव पड़ा। इसने भारतीय मस्तिष्क को 'पुरानी दुनिया के विचारों की दासता' से मुक्त कर दिया

और आधुनिक भारतीय जीवन में पुनर्जागरण की नींव रख दी। इस संपर्क ने, अपनी प्रारंभिक पराकाष्ठाओं के अतिरिक्त, भारतीय सांस्कृतिक ढांचे की पच्चीकारी को महान सौंदर्य प्रदान किया है और वह भारत तथा पश्चिम के लिए समान रूप से वरदान सिद्ध हुआ है।

ब्रिटिश काल के दौरान भारत में शिक्षा सिहावलोकन

- (ख) भारत अपनी प्राचीन संस्कृति के वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन के लिए उन यूरोपीय विद्वानों का ऋणी है जो ब्रिटिश संपर्क के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में आए। संस्कृत का अध्ययन जिस प्रकार से किसी देशी पाठशाला में होता था और किसी विश्वविद्यालय के शास्त्रीय अध्ययन विभाग में जिस तरह से आज होता है उन दोनों में जमीन आसमान का अंतर है। पुरानी पद्धित यह थी कि आलोचनात्मक परिरक्षण किया जाए। नई पद्धित वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक विश्लेषण करने, प्रकरणों आदि में विभाजित करने, सरलीकरण करने और संतुलित एवं संवधित करने की है। इस नई पद्धित का प्रारंभ प्राच्य भाषाओं के पाश्चात्य विद्वानों ने किया था। हो सकता है कि उन्होंने बारंबार गलतियां की हों; परंतु एक ऐसे उपकरण की प्रथम बार खोज करने के लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए जिसे हमने अब अपना लिया है और सुधार भी लिया है।
- (ग) यह कहना सही है कि अंग्रेज आधुनिक भारतीय भाषाओं का इसलिए विकास नहीं कर पाए कि वे शिक्षा माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रयोग पर बल देते थे। तथापि यह बात भी सच है कि आधुनिक भारत में अंग्रेजों ने ही इन भाषाओं का विकास करने के लिए पहली बार भारी प्रोत्साहन दिया था। कर्मचारियों और मिश्वनिरयों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया, उनके व्याकरणों की रचना की, शब्दकोषों का संकलन किया और बहुत से मामलों में उन्होंने इन भाषाओं में पहली पुस्तकें और पत्रिकाएं भी प्रकाशित की। आदिवासियों की भाषाओं का भी सबसे पहले यूरोपीय कार्यकर्ताओं ने ही अध्ययन किया। सर जार्ज ग्रियर्सन के प्रति उनकी लिग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया (भारत का भाषायी सर्वेक्षण) के लिए अपनी कृतज्ञता को पर्याप्त रूप से व्यक्त करने के लिए तो हमारे पास शब्द ही नहीं हैं। यह सच है कि हमने शीघ्र ही संकेत ग्रहण कर लिया और बाद में स्वयं उन ब्रिटिश कर्मचारियों से संघर्ष करना आरंभ कर दिया जो यह कहते थे कि 'केवल इतना ही काफी है; इससे आगे कुछ नहीं।' परंतु यह एक तथ्य है कि आधुनिक भाषाओं का अध्ययन करने के लिए प्रथम प्रेरणाएं उन यूरोपीय विद्वानों से मिली थीं जो ब्रिटिश संपर्क के कारण भारत में आए थे।
- (घ) भारतीय कला के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। भारतीय चित्र-कला, वास्तुकला अथवा मूर्तिकला के पुनरान्वेषण में अग्रणी कार्य प्रायः सदैव उन यूरोपीय विद्वानों ने किया जिन्होंने हमारी प्राचीन वस्तुओं को न केवल अपने लिए खोजा वरन हमारे लिए भी ढूंढ़ निकाला। हमारे प्राचीन स्मारकों के परिरक्षण के लिए कर्जन ने जो अग्रणी कार्य किया उसके लिए तो हम कर्जन के सदैव ऋणी रहेंगे।
- (ङ) आधुनिक भारतीय जीवन में जो अनेक मानवतावादी प्रवृत्तियां उत्पन्न हुईं, उसका कारण भी पश्चिम के साथ संपर्क होना ही है। निम्नलिखित विषयों के संबंध में चलाए गए आंदोलन ब्रिटिश शासन काल के पाश्चात्य प्रभाव के अत्यंत ऋणी हैं: दलितों

के प्रति सहानुभूति, अस्पृथ्यता के विरुद्ध जिहाद, आधुनिक भारतीय महिलाओं का उद्धार जितना हुआ है, आज सभी व्यवसायों और सबसे अधिक सुस्पष्ट रूप से शिक्षा में दिखाई देने वाली समाज सेवा की भावना। ब्रिटिश इतिहासकारों के इस दावे को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि ये मानवतावादी प्रवृत्तियां अनन्य रूप से पाश्चात्य संपर्क के कारण ही उत्पन्न हुई थीं। इसका कारण यह है कि प्राचीन संस्कृति के अनुप्राणित अध्ययन और देशभिक्त की बढ़ती लहर से ये प्रवृत्तियां यथेष्ट रूप से बलवती हुई थीं। परंतु हम इन प्रवृत्तियों के लिए पाश्चात्य संपर्कों के निश्चय ही बहुत ऋणी हैं।

(च) अंतिम बात यह है कि हम अंग्रेजों के इस बात के लिए भी कृतज्ञ हैं कि उन्होंने निम्नलिखित चीजों से हमारा परिचय कराया: (1) यरोप की आधुनिक लोकतंत्री संस्थाएं, (2) विधि एवं चिकित्सा की पाश्चात्य पद्धितयां जो अब उचित ही स्थायित्व प्राप्त कर चुकी हैं, और (3) सार्वजनिक शिक्षा के सहायक साधन जैसे मुद्रणालय, चित्रपट, रेडियो, प्रस्तकालय तथा संग्रहालय।

इस बात का प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि ब्रिटिश शासन की ऐसी प्रत्येक उपलब्धि को सूचीबद्ध किया जाए जिसकी कोई शैक्षिक सार्थंकता थी। ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है वह ब्रिटिश शासन के उस योगदान के विविधतापूर्ण स्वरूप को बताने के लिए पर्याप्त है जो उसने भारतीय शैक्षिक जीवन में दिया था। भारत में ब्रिटिश शासन की चर्चा करते हुए 1904 में कर्जन ने मेंशन हाउस में कहा था कि 'मेरे लिए यह संदेश स्फिटिक पर खुदा हुआ है, इसे नियित की चट्टान को काटकर निकाला गया है कि हमारा कार्य न्यायनिष्ठ है और यह चिरस्थाई रहेगा।' जिस व्यापक संदर्भ में कर्जन ने यह वक्तव्य दिया था, यह दावा बहुत अत्युक्तिपूर्ण है। हमें ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए बहुत से कार्य को अकृत करना पड़ेगा और दोनों ओर से उसका भुला दिया जाना ही अच्छा है। परंतु जिस प्रकार की ठोस देनों के ऊपर चर्चा की गई है, उस सीमित अर्थ में कर्जन की टिप्पणी पूर्णतया उचित है। ब्रिटिश जनता की ये सांस्कृतिक देनें सदा के लिए हमारे पास रहेंगी और अंतत: भारतीय संस्कृति के गितशील एवं जिटल ढांचे में निविष्ट हो जाएंगी।

2 स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षा (1947-1973)

12

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक शक्षिक गतिविधियां

(1947-73)

1947 में स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही भारत में शिक्षा के इतिहास में एक नया पुग आरंभ हुआ। लोगों के मन में भारी आशाएं बंधी और उन्होंने समझा कि अब थोड़े ही समय में शिक्षा में वह क्रांति हो जाएगी जिसका देश के नेतागण ब्रिटिश शासन के दौरान वर्षों तक पक्षसमर्थन करते रहे थे। स्वयं देश के नेताओं ने भी यही भाव व्यक्त किया था। उदाहरण के लिए, जनवरी, 1948 में संघ सरकार के शिक्षामंत्री मौलाना आजाद द्वार। संयोजित अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा था:

भारत में शिक्षा के संबंध में योजना तैयार करने के लिए जब कभी सम्मेलनों का संयोजन किया गया उनमें नियमतः प्रवृत्ति यह रही कि कुछ संशोधनों के साथ वर्तमान पद्धित को कायम रखा जाए। अब यह बात नहीं होनी चाहिए। देश में भारी परिवर्तन हो चुके हैं और शिक्षा पद्धित भी अब उन्हों के अनुरूप होनी चाहिए। शिक्षा के संपूर्ण आधार को अब आमूल परिवर्तित किया जाना चाहिए।

विभिन्न कारणों से शिक्षा में यह प्रतिश्रुत क्रांति कभी नहीं हो सकी। निस्संदेह अनेक अच्छे एवं उपयोगी कार्य किए गए। परंतु, अंततोगत्वा, वे छोटे मोटे संशोधनों के साथ पूर्ववर्ती शिक्षा पद्धित का विस्तार मात्र हो रहे। स्पष्ट है कि भारत में शैक्षिक विकास की युद्धोत्तर योजना (1944) को स्वातंत्र्योतर काल में शैक्षिक विकास का आधार नहीं माना जा सकता था। अतः इस काल में शैक्षिक विकास के बारे में पुनः विचार करने एवं कार्यान्वयन के लिए इस प्रकार की योजनाओं और कार्यंक्रमों का मानस प्रत्यक्षीकरण करने के लिए गंभीर, और प्रायः सतत, प्रयत्न किया गया है जो जनता की आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अधिक अनुरूप होंगे। इनमें से निम्नलिखित कार्य अधिक महत्वपूर्ण हैं:

- (क) 1948 में डा॰ एस॰ राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की गई।
- (ख) 1952 में डा॰ एस॰ लक्ष्मणस्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा आयोग की स्थापना की गई।

- (ग) शिक्षा के सभी पहलुओं पर पुनर्विचार करने और उसके भावी विकास के संबंध में सिफारिशें करने के लिए 1964 में एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग के अध्यक्ष डा० डी० एस० कोठारी थे।
- (घ) शिक्षा आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के बाद भारत सरकार ने शिक्षा संबंधी राष्ट्रीय नीति (1968) के बारे में एक महत्वपूर्ण विवरण प्रकाशित किया। यह विवरण चतुर्थ और पंचम पंचवर्षीय योजनाओं के शैक्षिक विकास के लिए आधार बन गया।
- (ङ) विशिष्ट शैक्षिक विषयों पर विचार करने के लिए केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड और भारत सरकार ने अनेक विशेष समितियां नियुक्त कीं। इन समितियों के प्रति-वेदनों में शैक्षिक पुनर्निर्माण के संबंध में महत्वपूर्ण सिफारिशें की गई हैं।

(च) अधिकांश राज्य सरकारों ने भी अपने अपने क्षेत्रों की शैक्षिक समस्याओं पर विचार करने तथा कार्रवाई संबंधी कार्यकर्मों की सिफारिश करने के लिए समय समय पर समितियां नियुक्त कीं।

(छ) प्रत्येक पंचवर्षीय योजना को तैयार करने के समय योजना आयोग कई कार्य-कारी दल कृत्यक बल नियुक्त करता है। वे शिक्षा पद्धति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हैं और विकास कार्यक्रमों के बारे में सुझाव देते हैं।

(ज) शिक्षा पर संसद, विधान मंडलों, पत्रिकाओं एवं समाचारपत्नों, सम्मेलनों और संगोष्टियों में भी लगातार चर्चा होती रही है। अनेक संस्थाएं, जिनमें अध्यापकों के संगठन भी शामिल हैं, शैक्षिक विषयों पर की जाने वाली चर्चा में प्रमुख भाग लेती हैं।

यह कहा जा सकता है कि भारतीय शैक्षिक इतिहास के अन्य किसी काल में भी शैक्षिक समस्याओं की ओर लगातार और इतनी गहराई से घ्यान नहीं दिया गया जितना पिछले पंद्रह वर्षों में दिया गया है। दुर्भाग्य की बात यह है कि इतनी अनंत और विस्तृत चर्चा के बावजूद अनेक बुनियादी प्रश्न अब भी अनिर्णीत हैं और उन निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए भी पर्याप्त कार्रवाई नहीं की गई है जिन पर सहमित हो चुकी है तथा जिन्हें प्रायः सर्वजनीन समर्थन प्राप्त है।

स्वातंत्र्योतर काल की मुख्य शैक्षिक गतिविधियां : स्वाधीनता प्राप्ति के बाद पहले चार वर्षों का जो समय था उसमें गंभीर और अदृष्ट कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनमें सबसे महत्वपूर्ण कठिनाई यह थी कि लाखों शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आए थे अतः उनके पुनर्वास का भारी और तात्कालिक कार्य करना था।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण समस्याएं जिन्हें प्राथमिकता मिलनी चाहिए थी, इस प्रकार थी : भारत सरकार अधिनियम 1935 पुराना हो चुका था अतः उसको प्रतिस्थापित करने के लिए संविधान की रचना; प्रशासनिक सेवाओं का पुनर्गठन क्योंकि ब्रिटिश अधिकारियों के अचानक वापस चले जाने से पद रिक्त हुए थे; और देशी रियासतों का समापन तथा प्रशासन की नई एवं अधिक जीवनक्षम यूनिटों का सर्जन। इसका परिणाम यह हुआ कि 1946-47 और 1950-51 के बीच शिक्षा के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सका। तो भी, सार्जेंट योजना के आधार पर, राज्यों ने इस काल में भी प्रसार एवं सुधार की कुछ व्यापक योजनाओं को हाथ में लिया।

चतुर्थं पंचवर्षीय योजना के अंत तक शैक्षिक गतिविधियां

1950 में, योजनाबद्ध विकास की पद्धति अपनाई गई। केंद्र में एक योजना आयोग की स्थापना की गई और उसे यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि वह शिक्षा सिहत राष्ट्रीय विकास के सभी पहलुओं के बारे में विशद पंचवर्षीय योजनाएं तैयार करे। इस प्रकार शिक्षा का विकास देश के समग्र विकास का एक अभिन्न अंग बन गया। तब से देश में प्रथम पंचवर्षीय योजना (1950-55), द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-60), तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-65) और चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-73) कार्यान्वित हो चुकी हैं: तीन वर्ष (1966-67, 1967-68 और 1968-69) वार्षिक योजना वर्ष के नाम से प्रसिद्ध हैं। 1974-78 की अविध के लिए हाल ही में पंचम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप प्रकाशित हुआ है। अतः स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत में शिक्षा का जो विकास हुआ, हम उसका अध्ययन योजनाबद्ध विकास के इन कार्यक्रमों के संदर्भ में ही कर सकते हैं।

भारतीय संविधान में शिक्षा : स्वाधीन देश के सर्वप्रथम कार्यों में से एक कार्य यह था कि देश को एक नया संविधान प्रदान किया जाए। संविधान सभा ने महीनों तक गहन कार्य करके इस महान दस्तावेज को अंतिम रूप प्रदान किया और 26 जनवरी, 1950 को इसे स्वीकृत कर लिया गया । संविधान में ऐसे बहुत से महत्वपूर्ण उपबंधों को शामिल किया गया है जिनका शिक्षा से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंध है। इन उपबंधों पर आगे संक्षेप में पूर्निवलोकन किया गया है।

भारत सरकार और राज्यों के बीच शैक्षिक उत्तरदायित्व के विभाजन की महत्व-पूर्ण प्रशासनिक समस्या पर भी संविधान में ध्यान दिया गया है। संविधान में निम्न-लिखित सूची को छोड़कर शिक्षा को राज्य विषय (सूची 2 की प्रविष्टि 11, रखा गया है। संघ राज्य क्षेत्रों और केंद्र प्रशासित क्षेत्रों में शिक्षा (जो भारत सरकार का सीधा उत्तर-दायित्व है) सूची 1 (केंद्रीय कार्यों की सूची) की प्रविष्टियां 63, 64, 65, और 66 तथा सूची 3 (केंद्र और राज्यों के समवर्ती कार्यों की सूची) की प्रविष्टि 25। इन प्रविष्टियों को नीचे उद्धृत किया जाता है:

सूची 1-संघ कार्यों की सूची

इस संविधान के प्रारंभ पर काशी हिंदू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्व-विद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय नामों से ज्ञात संस्थाएं तथा संसद विधि से द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित कोई अन्य संस्था। (63)

भारत सरकार से पूर्णतः या अंशतः वित्त पोषित तथा संसद से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित वैज्ञानिक या शिल्पिक शिक्षा संस्थाएं। (64)

संघ अभिकरण और संस्थाएं जो :

(क) वृत्तिक, व्यावसायिक या शिल्प प्रशिक्षण जिनके अंतर्गत आरक्षी पदाधिकारियों का प्रशिक्षण भी है, के लिए हैं; अथवा

- (ख) विशेष अध्ययनों या गवेषणा की उन्नति के लिए हैं; अथवा
- (ग) अपराध के अनुसंधान या पता चलाने में वैज्ञानिक और शिल्पिक सहायता के लिए हैं। (65)

उच्चतर शिक्षा या गवेषणा की संस्थाओं में तथा वैज्ञानिक और शिल्पिक संस्थाओं में एकसूत्रता लाना और मान का निर्धारण। (66)

सूची 2-राज्य कार्यों की सूची

सूची 1 की प्रविष्टियों 63, 64, 65 और 66 तथा सूची 3 की प्रविष्टि 25 के उपबंधों के अधीन रहते हुए शिक्षा, जिसके अंतर्गत विश्वविद्यालय भी हैं। (11)

सूची 3-समवर्ती कार्यों की सूची

श्रमिकों का व्यावसायिक और शिल्प प्रशिक्षण। (25)

संविधान में ली गई दूसरी महत्वपूर्ण समस्या संघ की राजभाषा की समस्या है। ब्रिटिश सरकार ने 1835 में अंग्रेजी को देश की राजभाषा बनाया था। महात्मा गांधी के नेतृत्व में, भारतवासियों ने यह कहा था कि किसी एक भारतीय भाषा को संघ की राजभाषा स्वीकार किया जाना चाहिए। वरीयता हिंदी को दी जा सकती है क्योंकि अधिकांश लोग हिंदी ही बोलते हैं। इस मांग को सबसे पहले कानूनी मान्यता संविधान (भाग 17) ने दी । अनुच्छेद 343 में घोषणा की गई है कि देवनागरी लिपि में हिंदी (भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप सहित) संघ की राजभाषा होगी । तो भी, इस संक्रमण को क्रमिक और सभी तरह के विचार रखने वालों को स्वीकार्य बनाने के लिए यह व्यवस्था की गई थी कि 1965 तक संघ के उन सभी सरकारी प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका संविधान के लाग होने से तूरंत पूर्व प्रयोग किया जा रहा था। अंग्रेजी के साथ साथ हिंदी का पहले संसद द्वारा तय कार्य-क्रमों के अनुसार क्रमिक प्रयोग किया जाएगा । संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि संविधान लागू किए जाने के बाद पांच साल की समाप्ति पर एक भाषा आयोग नियुक्त किया जाए। राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन और सिफारिशों पर संसद की समिति को विचार करना था। उसके उपरांत यह निर्णय किया जाना था कि राजभाषा आयोग तथा राजभाषा सिमति की सिफारिशों के आधार पर हिंदी का राजभाषा के रूप में प्रयोग किया जाए। राज्यों को यह प्राधिकार दिया गया है कि वे अपने राजकीय प्रयोजनों के लिए हिंदी अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा को स्वीकार कर लें। अनुच्छेद 351 में यह भी व्यवस्था की गई है कि 'हिंदी भाषा की वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी और अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।

अल्पसंख्यक वर्गों के शैक्षिक और सांस्कृतिक हितों के सुरक्षण के लिए संविधान में

महत्वपूर्ण उपबंध हैं। अनुच्छेद 29 में गारंटी दी गई है कि 'भारत के राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग को, अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति बनाए रखने का अधिकार होगा।' उसमें और आगे घोषणा की गई है कि 'राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी भी आधार पर वंचित न रखा जाएगा।' अनुच्छेद 30 में घोषणा की गई है कि 'धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार होगा', और आगे कहा गया है कि 'शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है।' अनुच्छेद 28 में-धार्मिक स्वतंत्रता की गारंटी दी गई है। यह निदेश देता है कि 'राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त अथवा राज्य निधियों से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी ।' इसमें यह भी उपबंध है कि 'राज्य से अभिज्ञात अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली, शिक्षा संस्था में उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिए अथवा ऐसी संस्था में या उससे संलग्न स्थान में की जाने वाली धार्मिक उपासना में उपस्थित होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जब तक उस व्यक्ति ने, वह अवयस्क हो तो उसके संरक्षक ने, इसके लिए अपनी सम्मति न दे दी हो।' अनुच्छेद 350-क में उपबंध किया गया है कि प्रत्येक राज्य और प्रत्येक स्थानीय प्राधिकरण 'भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को प्राथमिक चरण में मातृभाषा में शिक्षण के लिए पर्याप्त सुविधाएं देने के लिए' प्रयास करेगा। अनुच्छेद 350-ख में व्यवस्था की गई है कि भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाएगा जो राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदाई होगा और जो संविधान के अधीन भाषाई अल्पसंख्यक वर्गों को दिए गए सुरक्षणों से संबंधित सभी मामलों की जांच करेगा। 1 सभी अल्पसंख्यक वर्गों को दिए गए इन सामान्य सुरक्षणों के अतिरिक्त अनुच्छेद 337 में आंग्ल भारतीयों के उस महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक वर्ग को, जिसे अतीत में विशेषाधिकार प्राप्त थे, एक और गारंटी दी गई है। इस अनुच्छेद में यह उपबंध किया गया है कि आंग्ल भारतीय समुदाय के फायदे के लिए सरकार द्वारा दिए जाने वाले सहायता अनुदानों में इस संविधान के प्रारंभ के पश्चात पहले तीन वर्षों तक कमी नहीं की जाएगी और उसके पश्चात उन्हें क्रिमक रूप से तब तक कम किया जाता रहेगा जब तक संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष के अंत में विशेष रियायतें समाप्त नहीं हो जाएंगी।

सविधान में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों जैसे समाज के दुर्बलतर वर्गों की उन्नति के लिए भी उपबंध किया गया है। अनुच्छेद 46 में जो राज्य की नीति का एक निदेशक सिद्धांत है, यह उपबंध किया गया है कि 'राज्य जनता के दुर्बलतर

^{1.} अनुच्छेद 350-क और 350-ख 1956 में राज्यों के पुनर्गटन के समय जोड़े गए थे।

विभागों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन जातियों के शिक्षा तथा अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकारों के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।' यद्यपि संविधान का अन्च्छेद 15 किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग अथवा इनमें से किसी भी आधार पर सभी प्रकार के विभेद का ठीक ही निषेध करता है तथापि इस अनुच्छेद के खंड 4 द्वारा एक अपवाद रखा गया है। खंड 4 में व्यवस्था की गई कि 'इस अनुच्छेद अथवा अनुच्छेद 21 के खंड (2) में उपबंधित कोई भी चीज राज्य को नागरिकों के सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए अथवा अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जन जातियों के लिए कोई विशेष उपबंध करने से नहीं रोकेगी। अनुच्छेद 338 में अनुसूचित जातियों और अनमुचित जन जातियों के लिए एक ऐसे विशेष अधिकारी की नियुक्ति का उपबंध किया गया है जो राष्ट्रवित के प्रति उत्तरदाई होगा तथा अनुस्चित जातियों और अनुस्चित जन जातियों के लिए उपबंधित परिताणों से संबद्ध सब विषयों का अनुसंधान करेगा। अनच्छेद 339 में अनुसुचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसुचित जन जातियों के कल्याण के बारे में एक आयोग की नियुक्ति का उपबंध किया गया है। यह आयोग संविधान लागू होने के पश्चात दस वर्ष समाप्त होने से पूर्व नियुक्त किया जाना है। अनुच्छेद 340 में पिछड़े हुए वर्गों की दशा के बारे में अनुसंधान करने के लिए आयोग की नियुक्ति का उपबंघ किया गया है। इस संदर्भ में यह बता देना संगत होगा कि अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता का अंत करता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध करता है। वह यह उपबंध भी करता है कि अस्पृथ्यता से उपजी किसी अयोग्यता को लागू करना अपराध होगा और विधि के अनुसार दंडनीय होगा ।

लोकतंत्र के सम्यक विकास के लिए सर्वजनीन प्राथमिक शिक्षा के महत्व को महसूस करते हुए, संविधान के अनुच्छेद 45 में, जो राज्य की नीति का एक निदेशक सिद्धांत भी है, यह उपबंध किया गया है कि 'राज्य, इस संविधान के प्रारंभ में दस वर्ष की कालाविध के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबंध करने का प्रयास करेगा।'

संविधान में कुछ अन्य उपबंध भी हैं, जिनके शिक्षा के विकास से अप्रत्यक्ष संबंध हैं। उदाहरण के लिए, हमारा संविधान सभी नागरिकों के लिए विधि के समक्ष समता की गारंटी करता है (अनुच्छेद 14), धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग अथवा जन्मस्थान के आधार पर विभेद का निषेध करता है (अनुच्छेद 15), सरकारी नौकरियों के संबंध में समता की गारंटी देता है (अनुच्छेद 16), और चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को कारखानों, खानों अथवा किसी अन्य संकटमय नौकरी में लगाए जाने का निषेध करता है (अनुच्छेद 24)।

इनमें से अनेक सांविधानिक उपबंध विवादास्पद विषय बन गए हैं और उनमें से कुछ को कार्यान्वित करना संभव नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए, शिक्षा के विषय में केंद्र और राज्य के संबंधों को संविधान में जिस रूप में निर्धारित किया गया है, उसके बारे में लगातार विवाद रहा है। एक मत यह है कि शिक्षा का इतना भारी राष्ट्रीय महत्व है कि उसे कम से कम समवर्ती सूची में तो सम्मिलित किया ही जाना चाहिए था जबिक संविधान ने उसे एक प्रकार से राज्य के हाथों में छोड़ दिया है। दूसरी ओर यह भी युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि भारत जैसी संवीय नीति में शिक्षा को जो सबसे अच्छी स्थिति प्रदान की जा सकती है, वह वही है जो संविधान में दी गई है। शिक्षा आयोग (1964-66) ने जिन विषयों पर विचार किया था, उपर्युक्त विषय भी उनमें से एक था। आयोग के सदस्य एकमत नहीं थे, परंतु कुल मिला कर आयोग ने सांविधानिक उपबंधों का समर्थन किया। इस बात का पता निम्नलिखित उद्धरण से चलता है:

क्या शिक्षा को समवर्ती सूची में होना चाहिए? केंदीय सरकार की भूमिका के संबंध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया गया है कि क्या यह वांछनीय है कि शिक्षा को संविधान की सप्तम अनुसूची की समवर्ती सूची में शामिल किया जाए ताकि केंद्र विधान द्वारा शैक्षिक गतिविधियों को नियंत्रित करने में समर्थ हो सके। संसद सदस्यों की उच्च शिक्षा समिति ने (जिसके अध्यक्ष श्री पी० एन० सप्रू थे) इस संपूर्ण समस्या पर विचार किया था और यह सिफारिश की थी कि कम से कम उच्च शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल कर लिया जाए। इसी प्रकार से, हमें शिक्षा के कुछ अन्य क्षेत्रों, जैसे तकनीकी शिक्षा को समवर्ती सुची में शामिल करने के संबंध में विभिन्न प्रस्थापनाएं प्राप्त हुई हैं। हमारे सहयोगी श्री पी० एन० किरपाल और डा० वी० एस० झा का यह मत है कि संपूर्ण शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल कर लिया जाए। उनकी राय है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जो अनु-भव हए हैं उनसे यह पता चलता है कि केंद्र के पास पर्याप्त प्राधिकार न होने के कारण राष्ट्रीय नीतियों को संतोषजनक रूप से कार्यान्वित नहीं किया जा सका है और शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में, अनेक आयोगों और समितियों की उत्कृब्ट सिफारिशें भी केवल कागजी कार्रवाई ही रह गई हैं। यहां तक कि उन संकल्पों को भी कार्यान्वित नहीं किया गया है जिन्हें शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन और केंदीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड सर्वेसम्मति से स्वीकार किया था। हमारे उपर्युक्त सहयोगियों का विचार है कि यद्यपि इस बात की गुंजाइश अवश्य है कि उपयुक्त रूढ़ियों को विकसित करके और विशेषकर, शिक्षा के राष्ट्रीय स्वरूप के प्रति नई अभिवृत्तियों का विकास करके वर्तमान सांविधानिक व्यवस्था के अंतर्गत ही अधिक प्रभावी कार्यान्वयन हो सके। तथापि ऐसे परिवर्तन करना सरल कार्य नहीं होगा और यह पर्याप्त भी नहीं होंगे। अतः उनका विचार है कि शिक्षा को विषयों की समवर्ती सुची में रखा जाए और संघ सरकार को शिक्षा के क्षेत्र में कानूनी प्राधिकार दिया जाए। निस्संदेह सांविधानिक संशोधन को लागू होने में कुछ समय लगेगा परंतु इस दिशा में प्रिक्रया को यथाशी घ्र आरंभ कर दिया जाना चाहिए। (18.29)

हमने इस समस्या पर बहुत सावधानी से विचार किया है। हम इस पक्ष में नहीं हैं शिक्षा को टुकड़ों में बांट दिया जाए और एक भाग को समवर्ती तथा दूसरे भाग को राज्य सूची में रख दिया जाए। शिक्षा को प्रत्येक दशा में एक अंगीय माना जाना चाहिए। हम अपने सहयोगियों की बात से भी सहमत नहीं हैं। हमारा यह विचार है कि भारत जैसे विशाल देश में, संविधान में शिक्षा को संभवत: सबसे अच्छा स्थान दिया गया है क्योंकि उसमें उद्दीपक किंतु गैर अवपीड़क स्वरूप के केंद्रीय नेतृत्व का उपबंध किया गया है। शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल किए जाने से यह संभव है कि जबकि हमें सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की हो कि लोच रखा जाए तथा प्रयोग संबंधी स्वतंव्रता हो तो उसके स्थान पर अवांछनीय केंद्रीकरण हो जाए तथा और भी अधिक अन्मम्यता पैदा हो जाए। हमें विश्वास है कि वर्तमान सांविधानिक व्यवस्था के अंतर्गत इस बात की भारी गुंजाइश है कि शिक्षा के क्षेत्र में केंद्र तथा राज्य के बीच एक व्यवहार्य साझेदारी का विकास किया जा सके परंतु अभी तक इसका पूरी तरह समुपयोग नहीं किया गया है। संविधान को संशोधित करने की बात तब ही उठ सकती है जबिक इस गुंजाइश का पूरी तरह उपयोग कर लिया जाए और इसे अपर्याप्त पाया जाए। इन सब बातों पर विचार कर लेने के बाद हम सिफारिश करते हैं कि शिक्षा का विकास करने तथा एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाने के लिए संविधान के वर्तमान उपबंधों का पूरी तरह समुपयोग करने का गंभीर प्रयत्न किया जाना चाहिए। उसके बाद, उदाहरणत: दस वर्ष बाद, इस समस्या का पुनर्वंलोकन किया जा सकता है। (18.30)।

यह विवाद अब भी जारी है: अनेक संसद सदस्यों ने संविधान को संशोधित करने और गैर सरकारी विधेयकों के द्वारा शिक्षा को केंद्रीय अथवा समवर्ती सूची में शामिल करने का प्रयत्न किया है परंतु यह विधेयक स्वीकृत नहीं हुए हैं। इस समय केवल यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त बात की कोई संभावना नहीं है।

उन उपबंधों को भी पूरी तरह कार्यान्वित नहीं किया गया है जो संघ की राजभाषा से संबंधित हैं। जैसा बाद में बताया जाएगा, हिंदी का विकास करने के लिए काफी काम किया गया है। संघ की राजभाषा के रूप में उसका प्रयोग बढ़ता भी चला जा रहा है। परंतु अंग्रेजी को भी सहराजभाषा घोषित कर दिया गया है और उसका प्रयोग 1965 के बाद भी जारी रखा गया है। जहां कहीं संभव हुआ है, राज्य सरकारें अपने प्रशासन में घीरे धीरे क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग करने लगी हैं। तो भी, संघ सरकार के साथ पत्र व्यवहार करने में कुछ राज्य हिंदी का प्रयोग कर रहे हैं और शेष अन्य राज्य अंग्रेजी का। स्वयं संघ सरकार हिंदी में प्राप्त पत्रों का उत्तर हिंदी में देती है और अंग्रेजी में प्राप्त पत्रों का अंग्रेजी में। बहुत सी दशाओं में, अंग्रेजी पत्र का हिंदी अनुवाद अथवा हिंदी पत्र का अंग्रेजी अनुवाद भी साथ रख दिया जाता है। तिमलनाडु सरकार ने हिंदी विरोधी रख अपनाया है। यद्यपि हिंदी इस दौड़ में धीरे धीरे किंतु मजबूती से मैंदान जीत रही है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि द्विभाषिता की यह अवधि लंबी रहेगी। भारत सरकार अनेक अवसरों पर इस बात को स्पष्ट कर चुकी है कि राष्ट्रीय एकता के प्रयोजनार्थ जब तक आवश्यक होगा, अंग्रेजी के प्रयोग को जारी रखा जाएगा और हिंदी को किसी भी ऐसे राज्य पर लादा नहीं जाएगा जो हिंदी का प्रयोग न करना चाहता हो।

अल्पसंख्यक वर्ग के शैक्षिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के सुरक्षण के संबंध में जो सांविधानिक उपबंध विद्यमान हैं, उन्होंने शैक्षिक प्रबंध के बारे में कुछ समस्याएं पैदा कर दी हैं। तो भी भारत सरकार अनेक बार इस बात को कह चुकी है कि उसका ऐसा कोई इरादा नहीं है कि इनमें से किसी भी उपबंध को संशोधित किया जाता।

एक उत्तरवर्ती परिच्छेद में यह भी बताया जाएगा कि विभिन्न कारणों से यह बात संभव नहीं हो सकी है कि संविधान के अनुच्छेद 45 के निदेश को कार्यान्वित किया जाता। अभी देश में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति के लिए बहुत कुछ करना वांछनीय है।

उच्च शिक्षा: स्वातंत्र्योत्तर काल में उच्च शिक्षा की जो प्रमुख गतिविधियां रही हैं, उनके अध्ययन को हम विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की मुख्य सिफारिशों के संक्षिप्त सारांश से आरंभ कर सकते हैं।

- (क) विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49): स्वातं त्योत्तर काल में भारत सरकार ने प्रारंभ से जो निर्णय लिए उनमें से एक निर्णय के अनुसार डा० एस० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की स्थापना की गई थी (1948)। यह निर्णय इस बात को महसूस करके किया गया था कि देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए जितनी वैज्ञानिक, तकनीकी तथा अन्य प्रकार की जनशक्ति की आवश्यकता है, उसे पूरा करने के लिए तथा राष्ट्रीय सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के लिए विश्वविद्यालय शिक्षा का पुनर्निर्माण करना अत्यावश्यक है। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन 1949 में प्रस्तुत किया। यह प्रतिवेदन बहुत महत्वपूर्ण दस्तावेज है और स्वातं त्योत्तर काल में भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के विकास को दिशा प्रदान करता रहा है। इस प्रतिवेदन में निम्नलिखत सिफारिशों की गई थीं:
 - (1) विद्यालय पाठ्यकम की कुल अविध में वर्तमान इंटरमीडिएट परीक्षा को शामिल किया जाए और कुल मिलाकर यह अविध बारह वर्ष की हो। विश्व-विद्यालय पाठ्यकम इंटरमीडिएट के बाद (मैंट्रिक के बाद नहीं) आरंभ हो और तीन साल का हो। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह वही सिफारिश है जो 1917-19 में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने की थी।
 - (2) आयोग ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि अनावश्यक विलंब किए बिना संपूर्ण विद्यालय एवं महाविद्यालय चरणों में सामान्य शिक्षा का समावेश किया जाए 'ताकि उस आत्यंतिक विशेषज्ञता को सुधारा जा सके जो अब इंटरमीडिएट और उपाधि कार्यक्रमों में सामान्य चीज हो गई है।' उसने इस क्षेत्र में पाठ्य विवरणों और पाठ्य सामग्री के तैयार किए जाने की भी सिफारिश की। उसने सुझाव दिया कि व्यक्ति एवं नागरिक के रूप में विद्यार्थी के जो सामान्य हित हैं और उसके जो विशेष व्यावसायिक हित हैं उनको ध्यान में रखते हुए प्रत्येक क्षेत्र में विशेष तथा सामान्य शिक्षा के संबंधों को निश्चत किया जाए।
 - (3) आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि विश्वविद्यालयों का कार्य ज्ञान की सीमाओं की वृद्धि करना अर्थात अनुसंधान करना, विशेषकर शुद्ध अथवा मौलिक अनुसंधान करना ही रहे तथा वे अधिक अनुपयुक्त क्षेत्रों को उद्योग, प्रशासिनक, अथवा गैर विश्वविद्यालयी वैज्ञानिक संस्थाओं के लिए छोड़ दें। अनुसंधान को विश्वविद्यालय का न केवल एक अत्यावश्यक सामाजिक कार्य माना गया वरन उसे

वास्तविक रूप से अच्छे और प्रेरक अध्यापन के लिए एक पूर्विपक्षा भी माना गया। आयोग ने कहा कि स्नातकोत्तर अध्यापन एवं अनुसंधान की वर्तमान व्यवस्था में गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टि से अभी बहुत कुछ सुधार करना वांछनीय है। अतः उसने यह सिफारिश की कि विद्यार्थियों के चयन में और एम० ए०, एम० एस० सी० तथा अनुसंधान उपाधियों के संबंध में दी जाने वाली शिक्षा की अविध एवं गुण में कुछ सीमा तक एक रूपता होनी चाहिए। चूं कि वैज्ञानिक जनशक्ति की बहुत अधिक आवश्यकता थी और हमारे विश्वविद्यालय पर्याप्त रूप से विकसित नहीं थे अतः आयोग ने उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए सिफारिश की कि विज्ञान के अध्यापकों को पर्याप्त वेतन एवं अनुसंधान संबंधी सुविधाएं देकर, अधिक संख्या में उच्च पदों का सर्जन करके और प्रयोगशालाओं को परिवर्धित, पूंजीगत एवं अनुरक्षण अनुदान प्रदान करके विश्वविद्यालय के संसाधनों का संरक्षण और संवर्धन किया जाए। उसने स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान के कुछ नए क्षेत्र भी बताए जैसे समुद्री जीव विज्ञान, लिलत कलाएं, पुरातत्व, सामाजिक विज्ञान और विश्व संबंधी मामले।

- (4) आयोग ने व्यावसायिक शिक्षा में विश्वविद्यालयों की भूमिका की और अच्छी तरह घ्यान दिया और कृषि, वाणिज्य, इंजीनियरी तथा प्रौद्योगिकी, विधि और चिकित्सा क्षेत्रों तथा व्यवसाय प्रबंध, लोक प्रशासन और औद्योगिक संबंध जैसे नए व्यावसायिक अध्ययनों पर विस्तार से विचार किया। उसने सुझाव दिया कि इन तमाम क्षेत्रों में व्यावहारिक कार्य के साथ निकट संपर्क कायम रखा जाए, आधारी विज्ञानों अथवा कला विषयों में व्यापक रूप से मूल सिद्धांतों की पूर्ण शिक्षा दी जाए देश की नई आवश्यकताओं तथा अन्य देशों की नवीनतम गतिविधियों को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक व्यावसायिक अध्ययन में नई शाखाएं विकसित की जाएं और उपयुक्त वेतन तथा अन्य प्रलोभनों के द्वारा उच्च चरित्रबल एवं अपेक्षित व्यावहारिक अनुभव रखने वाले अध्यापकों को उपलब्ध किया जाए:
- (5) आयोग ने यह महसूस िकया कि भारतीय विश्वविद्यालय इन नए उत्तरदायित्वों को तभी पूरा कर सकते हैं जब सभी विश्वविद्यालयों को ऐसे स्वायत्तशासी निकाय बना दिया जाए जो प्रबुद्ध जनमत के प्रति अनुिक्तयाशील हों उसने यह भी सिफारिश की कि:
- (1) विश्वविद्यालय शिक्षा को समवर्ती सूची में रखा जाए;
- (2) केंद्रीय सरकार निम्नलिखित विषयों के संबंध में उत्तरदायित्व स्वीकार करें: वित्त, विशेष विषयों में सुविधाओं का समन्वय, राष्ट्रीय नीतियों का अपनाया जाना, कार्यकुशल प्रशासन के न्यूनतम मानक सुनिश्चित करना तथा विश्वविद्यालयों एवं राष्ट्रीय अनुसंधान प्रयोशालाओं, वैज्ञानिक सर्वेक्षणों आदि के बीच संपर्क;
- (3) विश्वविद्यालय के बीच अनुदानों का बंटवारा करने के लिए एक केंद्रीय विश्व विद्यालय अनुदान आयोग स्थापित किया जाए;
- (4) कोई भी विश्वविद्यालय नितांत संबंधन विश्वविद्यालय न हो;

- (5) राजकीय महाविद्यालय को धीरे धीरे संघटक महाविद्यालयों अथवा विश्व-विद्यालयों में बदल दिया जाए।
- (6) आयोग ने सिफारिश की कि अध्यापकों के वेतनमान केंद्रीय तथा प्रांतीय सेवा के कर्मचारियों के वेतनमानों से बहुत कम न हों ताकि शैक्षिक रूप से सक्षम व्यक्तियों को अध्यापन के स्थान पर अन्य व्यवसायों को पंसंद करने के लिए बाध्य न होना पड़े। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि अध्यापकों की तीन श्रेणियां अर्थात प्रोफेसर, रीडर और प्राध्यापक हों। उसका सुझाव था कि उच्च और निम्न पदों में 1:2 का अनुपात रखा जाए ताकि पदोन्नति के लिए पर्याप्त गुंजाइश रहे। (7) आयोग ने सिफारिश की कि परीक्षा प्रणाली में भी सुधार किया जाए ताकि
- (7) आयाग न सिफारिश की कि परीक्षा प्रणाली में भी सुधार किया जाए ताकि विद्यार्थियों के पूरे वर्ष के काम की महत्व दिया जा सके: उसने सुझाव दिया कि वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं का समावेश किया जाए। उसने विद्यार्थियों के कल्याण, समान अवसर प्रदान करने के लिए छात्रवृत्तियों और वजीफों, पुस्तकालयों, वाचनालयों, राष्ट्रीय कैंडेट कोर, विश्वविद्यालयों में शारीरिक शिक्षा और समाज सेवा तथा पर्याप्त चिकित्सा सुविधाओं की व्यवस्था के महत्व पर बल दिया। उसने इस बात को भी स्वीकार किया कि सुविधाओं की व्यवस्था करने में छात्र संघों को महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होगी। उसने इस बात की भी आवश्यकता बताई कि विद्यार्थियों के लिए विद्यालय से बाहर एक ऐसा अच्छा जीवन बिताने की व्यवस्था हो जो चरित्र और नेतृत्व के गुणों का बहुत हद तक विकास करे।
- (8) आयोग ने धार्मिक शिक्षा के प्रश्न पर भी चर्चा की। वह यह मानता था कि धर्मिनरपेक्ष राज्य में भी धार्मिक शिक्षा का एक अलग स्थान है। अत: उसने सिफा-रिश की कि दिवस प्रारंभ होने के समय मौन प्रार्थना की जाए। उसने सुझाव दिया कि प्रथम वर्ष में महान धार्मिक नेताओं के जीवन चरित पढ़ाए जाएं। द्वितीय वर्ष में संसार के धर्मग्रंथों में से चुना गया विश्वविद्यालय के योग्य कोई ग्रंथ पढ़ाया जाए और तृतीय वर्ष में धर्म मीमांसा की मुख्य समस्याओं के विषय में शिक्षा दी जाए। यद्यपि आयोग ने सांप्रदायिक अथवा पक्षीय शिक्षा का विरोध किया तथापि उसने मानवता की सामान्य विरासत के रूप में धर्म को शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान दिया।
- (9) शिक्षा माध्यम के विषय में आयोग ने यह स्वीकार किया कि चाहे जिस नाम से पुकारा जाए, संघीय भाषा का आधार पश्चिमी हिंदी ही होगी। इस बात पर जोर देते हुए कि भारत के शैक्षिक और बौद्धिक जीवन में अंग्रेजी का महत्वपूर्ण स्थान बना रहेगा, उसने सिफारिश की कि:
- (1) संघीय भाषा को विभिन्न स्रोतों से शब्दों का आत्मसात्करण करके और ऐसे शब्दों को अपनाकर विकसित किया जाए जो पहले ही विभिन्न स्रोतों से भारतीय भाषाओं में आ चुके हैं, और इस प्रकार बहिष्कार वृत्ति के खतरों से बचा जाए;
- (2) अंतर्राष्ट्रीय तकनीकी और वैज्ञानिक शब्दावली को अपनाया जाए, अन्य भाषाओं से लिए गए शब्दों को उचित रीति से आत्मसात किया जाए, उनके उच्चा-रण को भारतीय भाषाओं की घ्वन्यात्मक व्यवस्था के अनुकूल बनाया जाए और

उनकी वर्तनी को भारतीय लिपि की ध्वनि व्यवस्था के अनुसार नियत किया जाए;

- (3) उच्च शिक्षा के शिक्षा माध्यम के लिए जितना शीच्र व्यवहार्य हो, अंग्रेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को रखा जाए;
- (4) उच्च माध्यमिक और विश्वविद्यालय चरणों में छात्रों को तीन भाषाओं का ज्ञान कराया जाए। ये भाषाएं क्षेत्रीय भाषा, संवीय भाषा और अंग्रेजी हों, (तार्कि अंग्रेजी की पुस्तकों को पढ़ने की योग्यता प्राप्त हो सके); और
- (5) उच्च विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का अध्ययन हो ताकि हम सदा बढ़ती हुई समकालिक ज्ञान की धारा के संपर्क में रह सकें।
- (10) आयोग ने सुझाव दिया कि उद्योग, कृषि और विभिन्न सामाजिक व्यवसायों में ग्राम पुनर्निर्माण की आवश्यकता को पूरा करने के लिए ग्राम विश्वविद्यालय स्थापित किए जाएं। इन विश्वविद्यालयों के चारों ओर पूर्व स्नातक शिक्षा देने वाले ग्राम महाविद्यालय हों।

इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए आयोग ने इस बात को परम आवश्यक माना कि अधिक वित्त की व्यवस्था हो। उसने इस संबंध में राज्य के दायित्व पर जोर दिया और यह सुझाव दिया कि उच्च शिक्षा के लिए गैर सरकारी दानशीलता को प्रोत्साहन देने के लिए आयकर कानूनों में संशोधन किया जाए।

(ख) उच्च शिक्षा का प्रसार: स्वातं व्योत्तर काल में उच्च शिक्षा की संभवतः सबसे सुस्पष्ट गतिविधि यह रही कि उसका अभूतपूर्व प्रसार हुआ। 1947 में केवल 19 विश्वविद्यालय थे। इनके अतिरिक्त 297 कला एवं विज्ञान महाविद्यालय, 199 इंटरमीडिएट महाविद्यालय और 140 व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा देने वाले महाविद्यालय थे। इस समय लगभग 100 विश्वविद्यालय और लगभग 4,000 महाविद्यालय हैं। उच्च शिक्षा में छात्रों की नामांकित संख्या 1947 में 2.5 लाख थी किंतु अब 34 लाख होने का अनुभान है।

यह प्रसार कई कारणों से हुआ है। पहला कारण यह है कि सरकार उच्च क्षिक्षा में चयनात्मक दाखिलों की पद्धित का समावेश नहीं कर सकी है। (इस तथ्य के बावजूद कि इस विषय पर जो सिफारिशों की गई हैं उनमें यह सिफारिश सबसे सामान्य रही है)। यहां तक कि सरकार उच्च शिक्षा में भर्ती को नियमित करने में भी असमर्थ रही है। शिक्षा आयोग (1964-66) ने सिफारिश की थी कि उच्च शिक्षा पद्धित से जो छात पढ़कर बाहर निकलें उनकी संख्या और रोजगार के उपयुक्त अवसरों की उपलब्धि के बीच भारी संगित होनी चाहिए। परंतु यह सिफारिश भारत सरकार को अथवा किसी राज्य सरकार को इस कारणवश स्वीकार्य नहीं थी कि इस प्रकार के प्रतिबंधों का कम उन्नत सामाजिक वर्गों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अब भी, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, उच्च शिक्षा में मुक्त द्वार प्रवेश नीति अपनाई जा रही है। किसी भी ऐसे छात्र के लिए किसी महाविद्यालय अथवा किसी पाठ्यक्रम में दाखिला पा लेना सदैव संभव है जो माध्यमिक विद्यालय की पढ़ाई पूरी कर चुका हो और आगे अध्ययन करना चाहता हो। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के नए महाविद्यालय

भारी संख्या में खुल गए हैं जिनमें पर्याप्त सुविधाएं अथवा अध्यापक न होने का कारण केवल यह है कि संबंधन की शर्तें काफी कड़ी नहीं हैं अथवा इन शर्तों को राजनीतिक या सामाजिक कारणों से पूरी तरह लाग् नहीं किया जा सकता है। सांस्थानिक स्तर पर गुण की इस कमी तथा महाविद्यालयों एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं की अनियोजित संवृद्धि से अनिवार्य रूप से छात्रों की भर्ती में अंधाधुंध वृद्धि होती है। तीसरा कारण यह है कि माध्यमिक शिक्षा पद्धति में यह कमजोरी है कि इससे विद्यार्थी महाविद्यालय में प्रवेश के लिए तो पात्र बन जाता है परंत्र प्रायः अन्य सभी कामों के अयोग्य रह जाता है। यह स्वयं इस पद्धति का ही परिणाम है कि उच्च शिक्षा के लिए इतनी असाधारण भीडभाड रहती है। चौथी बात यह है कि उच्च शिक्षा की सामाजिक मांग में यथेष्ट वृद्धि हो गई है क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र में कोई उपयुक्त नौकरी पाने के लिए अब भी यही एकमात्र मार्ग है और यह शिक्षा उत्तरोत्तर उन नौकरियों के लिए भी न्यूनतम अर्हता होती जा रही है जो नियमतः माध्यमिक विद्यालयों से पढ़कर निकलने वाले छात्रों को मिल सकती है । पांचवीं बात यह है कि अब उच्च शिक्षा विशेषकर नगरीय क्षेत्रों में और मध्यम वर्गों के लिए नौकरी पाने के लिए तैयारी नहीं कराती है वरन यह नौकरी का स्थानापन्न होती जा रही हैं। लड़के या लड़की अपनी माध्यमिक विद्यालय की पढ़ाई को 16-17 वर्ष की आयु में पूरा करते हैं। इस आयु में लड़के को नौकरी नहीं मिलती है और आयु कम होने के कारण लड़की विवाह के योग्य नहीं होती है। नगरीय क्षेत्रों में अब विवाह की औसत आयु बीस वर्ष या अधिक हो गई है। अतः माता पिता अपने बालकों को महा-विद्यालय में इसलिए पढ़ने भेजते हैं कि उनके पास और कोई चारा नहीं होता है। चूंकि अधिकांश शिक्षा संस्थाओं में कम फीस ली जाती है अत: उच्च शिक्षा के सभी कार्यक्रमों में अंतर्गस्त भारी राजकीय आर्थिक सहायता के कारण यह प्रवृत्ति और भी प्रबल हो गई है। अंतिम बात यह है कि यह अधाधुंध प्रसार इस कारण से और भी हो सका है कि उच्च शिक्षा अब भी अधिकांशतः गैर सरकारी क्षेत्र में है और गैर सरकारी प्रबंध बहुधा इस प्रकार के अशैक्षिक कारणों से भी नए महाविद्यालय खोल देते हैं जैसे राजनीतिक महत्व प्राप्त करने अथवा संरक्षण प्रदान करने के लिए।

स्वातं त्योत्तर काल में उच्च शिक्षा का जो भारी और सर्पिल प्रसार हुआ और माध्यमिक शिक्षा का भी प्रायः समान प्रसार हुआ, उसके कुछ अच्छे परिणाम निकले हैं। इस प्रसार के कारण अब अनेक ऐसे सामाजिक वर्गों को माध्यमिक और उच्च शिक्षा अधिगम्य हो गई है जिन्हें अतीत में नहीं थी। इससे शैक्षिक अवसर का अधिक समकरण हुआ है और कुछ हद तक आर्थिक अवसर का भी अधिक समकरण हुआ है। समाज के दुर्वलतर वर्गों को इस प्रसार के द्वारा विषम स्तरीय गतिशीलता के नए अवसर मिले हैं और उनके नए नेता पैदा हुए हैं। यह कार्य सामाजिक दृष्टि से भी लाभकारी रहा है और इसने एक अधिक समसंतुलित समाज का निर्माण करने में भारी सहायता की है। दूसरी ओर, इसके अनेक चिताजनक परिणाम भी निकले हैं। शिक्षा स्तर पर स्पष्ट रूप से इसका हानिकारक प्रभाव पड़ा है। इसने शिक्षित बेरोजगारी की वर्धमान एवं अत्यंत कठिन समस्या पैदा कर दी है। इस समस्या ने विद्यार्थियों के अभिप्रेरणों को समाप्त कर

दिया है और शिक्षा पद्धित पर भारी बोझ और दबाव डाला है। शिक्षा पद्धित का इतना अधिक प्रसार हो गया है कि उसका प्रबंध कर पाना संभव नहीं है। इसी प्रसार के कारण सर्वजनीन प्राथमिक शिक्षा अथवा प्रौढ़ निरक्षरता के समापन जैसे अधिक आवश्यक क्षेत्रों को पर्याप्त संसाधन उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

हमें एक बात पर जोर देने की जरूरत है। इतना प्रसार होने पर भी भारत को अधिशक्षित देश नहीं कहा जा सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ, यूनाइटेड किंगडम, जर्मनी अथवा जापान जैसे विकसित देशों के साथ तुलना करने पर हम पाते हैं कि भारत में उच्च शिक्षा में छात्रों की संख्या इन देशों की अपेक्षा अब भी कम है। यहां तक कि अनेक विकासशील राष्ट्रों की तुलना में भी हम पीछे हैं। परंतु बात पूर्ण संस्थाओं की नहीं है और न उस अनुपात की है जो उच्च शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों और कुल जनसंख्या के संगत आयु वर्ग के लोगों के बीच है। बुनियादी बात यह है कि इस पद्धित से जितने छात्र पढ़कर निकलते हैं और अपने विकास के इस चरण में हमारी अर्थव्यवस्था उनमें से जितने छात्रों को नौकरी में खपा लेने की क्षमता रखती है इन दोनों संख्याओं में असमानता बढ़ती जा रही है। गुण का भी सवाल है अर्थात क्या उत्तरोत्तर अधिक संख्या में नवयुवकों को इस प्रकार की शिक्षा देते जाना न केवल समाज के प्रति वरन स्वयं नवयुवकों के प्रति भी अपकार नहीं है, समाज के प्रति इसलिए कि इससे तनाव पैदा होते हैं और नवयुकों के प्रति इसलिए कि वे उत्तरोत्तर अधिक स्थितिभ्रांत और उपांतस्थ होते जाते हैं।

(ग) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग: स्वातं ह्योत्तर काल की एक अत्यंत महत्वपूर्ण गितिविधि यह है कि संसद के एक अधिनियम द्वारा, उच्च शिक्षा में स्तरों का समन्वय और अनुरक्षण करने के प्रयोजनार्थ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का सर्जन किया गया। सबसे पहले इस प्रस्थापना को राधाकृष्णन आयोग ने रखा था। तदनुसार, 1953 में कार्यपालक आदेशों के अधीन सर्वप्रथम एक असांविधिक निकाय की स्थापना की गई। तत्पश्चात 1956 में एक सांविधिक निकाय का सर्जन किया गया जिसके प्रथम अध्यक्ष डा० सीं० डी० देशमुख थे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम में हाल ही में 1972 और 1973 में संशोधन किए गए हैं।

इस आयोग का मुख्य उत्तरदायित्व शिक्षा के विभिन्न स्तरों का समन्वय करना और उन्हें कायम रखना है। इसके लिए उसे आवश्यक सांविधिक प्राधिकार दिया गया है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि केंद्रीय सरकार निधियों को आयोग को सौंप देती है अोर फिर आयोग उन्हें विकास कार्यक्रमों के लिए आवंटित करता है। आयोग के नियंत्रण में सौंपी गई समग्र निधियां कोई बहुत अधिक नहीं हैं। उसने स्नात्कोत्तर अनुसंधान और प्रशिक्षण के विकास में सहायता की है, अध्यापकों के वेतन में सुधार किया

है, अध्यापन के लिए अधिक सुविधाएं प्रदान की हैं, पुस्तकालयों और प्रयोगशालाओं को समृद्ध किया है, उच्च शिक्षा की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया है और पुनर्निर्माण एवं विकास के लिए शैक्षिक नेतृत्व का सर्जन करने में सहायता की है। इससे भी बढ़कर बात यह है कि उसने संपूर्ण देश में उच्च शिक्षा की सार्थकता के बारे में एक समझ पैदा की है और उसकी कुछ तुरंत एवं महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की ओर ध्यान आकर्षित करने में सफलता पाई है।

- (घ) अनुसंधान: स्वातं हयोत्तर काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इस काल में अनुसंधान, विशेषकर देश के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए अत्यंत उपयुक्त वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय अनुसंधान का विकास हुआ। इस संबंध में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने महान मार्गदर्शन किया। उनका विश्वास था कि देश की प्रगति इस बात पर निर्मर करती है कि हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी के उत्साहवर्धक अनुसंधान का सिहण्णुता, करुणा और प्रज्ञान जैसे उन बुनियादी मानव मूल्यों के साथ कितना संयोजन कर पाते हैं जिनका भारत युगों से पक्षपोषण करता रहा है। उन्हीं के सुझाव पर 1958 में भारत सरकार का वैज्ञानिक नीति संकल्प स्वीकृत हुआ था। इसके उपबंधों के अनुसार, राष्ट्रीय वैज्ञानिक नीति के उद्देश्य निम्नलिखित थे:
 - (!) विज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधान के परिशीलन को उसके सभी पहलुओं, शुद्ध, अनुपयुक्त और शैक्षिक से समुचित साधनों द्वारा प्रोत्साहन देना, बढ़ाना और कायम रखना;
 - (2) देश के अंदर सर्वोच्च प्रकार के अनुसंधान वैज्ञानिकों की पर्याप्त पूर्ति को सुनिश्चित करना और उनके कार्य को राष्ट्र की शक्ति के महत्वपूर्ण घटक के रूप में मान्यता देना;
 - (3) विज्ञान एवं शिक्षा, कृषि एवं उद्योग और रक्षा में देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त पैमाने पर, यथासंभव गित से वैज्ञानिक और तकनीकी कर्मचारियों के प्रशिक्षण संबंधी कार्यक्रमों को प्रोत्साहन देना और प्रारंभ करना;
 - (4) यह सुनिश्चित करना कि पुरुषों और स्त्रियों की सर्जनात्मक प्रतिभा की वैज्ञानिक क्रियाकलाप में प्रोत्साहन और कार्यक्षेत्र मिलेगा;
 - (5) शैक्षिक स्वृतंत्रता के वातावरण में ज्ञान के अर्जन और प्रसार तथा नए ज्ञान की खोज के लिए व्यष्टि पहल को प्रोत्साहन देना; और सामान्य रूप से
 - (6) देश की जनता के लिए उन सब लाभों को सुनिश्चित करना जो वैज्ञानिक ज्ञान के अर्जन तथा अनुप्रयोग से मिल सकते हैं।

इस नीति के अनुसार, सभी क्षेत्रों में अनुसंधान कार्य के बारे में भारी प्रगित हुई है। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद अनेक राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं का संचालन करती है और अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अनुसंधान करवा रही है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद और भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान परिषद भी अपने अपने क्षेत्रों में अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देने वाली बड़ी बड़ी संस्थाएं हैं। परमाणु ऊर्जा विभाग

द्वितीय योजना में ये निधियां 24 करोड़ रुपये, तृतीय योजना में 37 करोड़ रुपये, चतुर्थं योजना में 110 करोड़ रुपये और पंचम योजना में 210 करोड़ रुपये थीं।

स्वातं ह्योतर काल की सर्जना है और उसने अनेक उपलब्धियां प्राप्त की हैं। हाल में ही, उपर्यक्त कार्यक्रम को प्रोत्साहन देने के लिए एक पृथक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी विभाग का सर्जन किया गया है। पंचम पंचवर्षीय योजना में, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के संबंध में एक समकालीन योजना तैयार की गई है और उसे कूल योजना के महत्वपूर्ण क्षेत्र में शामिल किया गया है। इस योजना की अवधि में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में अनसंधान पर लगभग 1,600 करोड़ रुपये (योजना और गैर योजना) खर्च किए जाने का प्रस्ताव है। यह महसूस किया गया है कि अनुसंधान को बढ़ाने के लिए देश को अभी भी बहत कार्य करना है और बहत सी कमियों को दूर करना है। फिर भी पिछले पच्चीस वर्षों में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में जितनी उपलब्धि हो चुकी है वह इतनी पर्याप्त है कि देश उस पर गर्व कर सकता है।

- (ङ) तीन वर्षीय उपाधि पाठ्यकम : एक अन्य महत्वपूर्ण कार्यक्रम जिसे अब कार्यान्वित किया जा रहा है, तीन वर्षीय उपाधि पाठ्यक्रम है। कुछ विश्वविद्यालयों को छोड़कर, भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों ने तीन वर्षीय उपाधि पाठ्यक्रम चालु कर दिया है (निकट भविष्य में शेष विश्वविद्यालयों द्वारा भी इसी पाठ्यक्रम को अपना लिए जाने की आशा है)। इस कार्यक्रम को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से सहायता मिल रही है। तो भी, राधाकृष्णन आयोग की मूल सिफारिश यह थी कि इस तीन वर्षीय उपाधि पाठ्य-कम को बारह वर्षीय विद्यालय पाठ्यकम के बाद रखा जाए। इस समय विद्यालय पाठयक्रम की कुल अवधि माध्यमिक शिक्षा आयोग (जिसका आगामी परिच्छेद में उल्लेख किया जाएगा) की सिफारिशों के अनुसार घटाकर ग्यारह वर्ष की जा रही है और उसके बाद यह तीन वर्षीय उपाधि पाठ्यक्रम रखा जा रहा है। अतः यह प्रस्थापना के महत्व को जानबुझ कर कम कर देना है। इस कमजोरी को दूर करने के लिए, शिक्षा आयोग (1964-66) ने सिफारिश की थी कि सभी राज्यों में 10+2+3 की समान पद्धति अपनाई जाए। कुछ राज्य इस सिफारिश को कार्यान्वित कर चुके हैं और अन्य राज्य इस पर विचार कर रहे हैं। ऐसी संभावना है कि पंचम पंचवर्षीय योजना के दौरान कुछ अन्य राज्य भी इसे अपना लेंगे। यह संभव है कि आगे आने वाले समय में इस पद्धति का एक संशोधित रूप अधिक सामान्य हो जाए जिसमें सामान्य पाठ्यक्रम के लिए दो वर्षीय पाठ्यक्रम और प्रवीण उपाधि के लिए तीन वर्षीय पाठ्यक्रम रहे।
- (च) चयतात्मक विकास : ध्यान में रखने योग्य एक महत्वपूर्ण बात यह है कि 1947 में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनेक अच्छी संस्थाएं पैदा हो गई थीं और पिछले पच्चीस वर्षों में उनकी संख्या में काफी वृद्धि हो गई है। इन संस्थाओं में, 1947 के स्तर की अपेक्षा अब स्तर बहुत ऊंचा है। इनमें से उच्च अध्ययन केंद्रों जैसी कुछ संस्थाओं की विश्वविद्यालय अनुदान आयोग सहायता करता रहा हैं। अच्छे महाविद्यालयों की संख्या में भी वृद्धि हो गई है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने संबद्ध महाविद्यालयों के चयनात्मक विकास का कार्यक्रम आरंभ किया है। जैसी शिक्षा आयोग ने सिफारिश की थी अब तक स्वायत्त महाविद्यालयों की स्थापना करने का विचार है। इन्हें अपने पाठ्यक्रम तैयार करने और अपनी परीक्षाएं लेने का प्राधिकार प्राप्त होगा। सब तरफ गिरते हुए स्तरों को दृष्टि में

रखते हए, विशिष्ट संस्थाओं का यह छोटा सा समूह जो अच्छा कार्य कर रहा है उसकी अपेक्षा होने लगी है। परंतू यह इन संस्थाओं अथवा इनके उन अध्यापकों के प्रति न्याय नहीं है जो इस कार्य में लगे हुए हैं। वास्तव में इन संस्थाओं की उपलब्धियां प्रेरणा और मार्गदर्शन का एक ऐसा स्रोत होनी चाहिए जिससे हम उस कार्य को और अधिक विश्वास के साथ कर सकें जो हमारे सामने है।

चत्रथं पंचवर्षीय योजना के अंत तक शैक्षिक गतिविधियां

(ভ) कुछ अन्य प्रमुख कार्यक्रम: कई अन्य क्षेत्रों में विभिन्न मात्राओं में प्रगति हुई है। उदाहरण के लिए, विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में विद्यार्थियों और अध्यापकों की रहने और काम करने की स्थितियों को सुधारा गया है। यह सुधार जरूरतमंद विद्यार्थियों के लिए वित्तीय सहायता की व्यवस्था करके, कल्याण संबंधी स्विधाएं देकर और छाता-वासों का निर्माण तथा अन्य व्यवस्थाएं करके किया गया है। परंतु इन कार्रवाइयों के जो अच्छे परिणाम निकले हैं वे इसलिए व्यर्थ हो गए हैं कि छात्रों की संख्या में असाधारण वद्धि हुई है जिससे भारी भीड़ हो गई है। भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम बनाने के लिए भी कुछ कदम उठाए गए हैं। एक वैज्ञानिक शब्दावली तैयार की गई है और भारतीय भाषाओं में बड़े पैमाने पर पाठय पुस्तकों तैयार की जा रही हैं। कई संस्थाओं में स्नातकोत्तर चरण में अध्यापन के स्तर में सुधार हुआ है। वाचस्पति उपाधि के लिए अनसंघान करने वाले विद्यार्थियों की संख्या में कई गृती वृद्धि हो गई है। विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के विनिमय के लिए एक सीमित कार्यक्रम चालु किया गया है। अध्यापकों के ज्ञान को बढाने के लिए ग्रीष्मकालीन संस्थाओं का काफी बडा कार्यक्रम भी आरंभ किया गया है। पाठ्यचर्या को सुधारने का काम भी किया गया है। विश्वविद्यालय अनदान आयोग ने विभिन्न विद्या शाखाओं में पूनरीक्षण समितियां नियुक्त की थीं और उनके प्रतिवेदनों के आधार पर विश्वविद्यालय अब अपने पाठ्यक्रमों का आधुनिकीकरण कर रहे हैं। राष्ट्रीय सेवा का एक कार्यक्रम आरंभ किया गया है। जो कुछ उपलब्धि की जा चुकी है उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं होगा यद्यपि संबद्धता और सार्थकता के आधार पर पाठ्यचयाओं का और भी आधुनिकीकरण किए जाने के लिए अभी बहुत काम शेष है।

(ज) कछ समस्याएं: इन उपलब्धियों के बावजुद, विश्वविद्यालय पद्धति भारी तनावों और दबावों के कारण बूरी अवस्था में है। इनमें से कूछ तनाव और दबाव संख्या विद्व के कारण पैदा हुए हैं। संख्या वृद्धि पद्धति को अनियंत्रणीय बना देती हैं और निश्चय ही स्तर को गिरा देती हैं क्योंकि प्रसार के लिए धन, सामग्री और अध्याप कों के रूप में जितने संसाधनों की आवश्यकता है उसकी तुलना में संसाधन बहुत कम हैं। अध्यापन का स्तर इस कारण भी गिरा है कि अवमानक अध्यापकों की काफी बड़ी संख्या में भर्ती की गई है. विश्वविद्यालयों में भीड़ भाड़ है, आवश्यक सुविधाएं नहीं हैं और कार्य दशाएं असंतोष-जनक हैं। विद्यार्थी समुदाय में अब भारी अनुपात में ऐसे लोग शामिल हैं जिनका अभि-प्रेरण अल्पतम है और जिनकी उच्च शिक्षा से लाभ उठा सकने की क्षमता के बारे में भी संदेह है। उपर्युक्त कारण से, और विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में असंतोषजनक कार्य दशाएं होने तथा उपाधियों और नौकरियों के बीच अंतर बढ़ते चले जाने से विद्यार्थी क्षब्ध हो गए हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को उन राजनीतिज्ञों ने और बढ़ा दिया है जो अपने लाभ के लिए इस असंतोष को बढ़ावा देने का प्रयत्न कर रहे हैं। विद्यार्थियों का असंतोष

एक ऐसा प्रमुख कारक बन गया है जिससे विश्वविद्यालय प्रशासन को चलाना अत्यंत कठिन हो गया है।

कुछ कार्यक्रम जिनसे उच्च शिक्षा पद्धित में आमूल परिवर्तन हो सकता था, निम्निलिखित हैं: चयनात्मक दाखिले; स्तरों को कायम रखने का आग्रह; पाठ्यचर्याओं, अध्यापन प्रणालियों और परीक्षा पद्धितयों में आमूल सुधार; अध्यापन और अनुसंधान के बीच सहवित्त्व; भारतीय भाषाओं को शिक्षा माध्यम के रूप में अपनाया जाना; अनिवार्य राष्ट्रीय सेवा का आरंभ किया जाना; शैक्षिक रूप से ऐसी जीवनक्षम संस्थाओं की भारी संख्या में स्थापना जो किफायतपूर्ण और कार्यकुशल दोनों ही हों; विद्यार्थियों की गंभीर रुचि; इत्यादि। यदि इनमें से किसी एक क्षेत्र में भी गहन प्रयास किया जाता तो भी गुणात्मक अंतर हो सकता था। परंतु संबद्ध किन निर्णयों को लेने के लिए राजनीतिक इच्छा शक्ति न होने के कारण इस प्रकार का प्रयास नहीं किया गया, और कुछ ऐसे सुधारों एवं संशोधनों के साथ उसी पुरानी उच्च शिक्षा पद्धित का बड़े पैमाने पर विस्तार किया गया जो अनियोजित प्रसार द्वारा उत्पन्न तनावों एवं दबावों के कारण प्राय: प्रभावहीन हां चुके हैं। 1

माध्यमिक शिक्षा आयोग: विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिफारिश यह थी कि विश्वविद्यालय शिक्षा का सम्यक विकास करने के लिए पहले माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। अत: भारत सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन की समस्या को लिया। 1881-82 के बाद से इस समस्या पर विश्वद एवं अखिल भारतीय आधार पर विचार नहीं किया गया था। 1952 में डा० ए० एल० मुदालियर की अध्यक्षता में एक माध्यमिक शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन 1953 में प्रस्तुत किया। यह प्रतिवेदन स्वातं त्योत्तर काल के सबसे महत्वपूर्ण शैक्षिक दस्तावेजों में से है और उसमें जो सिफारिशें की गई हैं उनके आधार पर अब प्रयास किए जा रहे हैं।

आयोग की मुख्य सिफारिशों संक्षेप में इस प्रकार हैं:

(1) उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम: आयोग ने सिफारिश की थी कि विद्यालय पाठ्यक्रम की कुल अवधि को बारह वर्ष से घटाकर ग्यारह वर्ष कर दिया जाए। उसका यह विचार था कि भारतीय नवयुवक की आयु विद्यालय पाठ्यक्रम पूरा करते समय लगभग 17 वर्ष होगी अतः वह विश्वविद्यालय में प्रवेश करते समय काफी परिपक्व होगा। उसकी यह भी राय थी कि यदि पाठ्यचर्याओं को नई तरह से तैयार किया जाए और अध्यापन की ज्यादा अच्छी प्रणालियां अपनाई जाएं तो इंटरमीडिएट तक की शिक्षा को ग्यारह वर्ष की अवधि में पूरा किया जा सकता है (इसे पूरा करने में स्वाधीनता प्राप्ति से पहले बारह या तेरह वर्ष लगते थे)। अतः उसकी

सिफारिशों से एक ऐसा ढांचा तैयार होता था जिसमें प्राथमिक पाठ्यक्रम की कुल अविध सात या आठ वर्ष (जिसे और आगे 4+3 वर्ष अथवा 5+3 वर्ष के दो चरणों में विभाजित किया जा सकता था और इस प्रकार विश्वविद्यालय आयोग ने यह भी प्रस्ताव रखा कि उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम की पाठ्यचर्याओं में निम्तिखित चीजें होनी चाहिए:

- (1) तीन भाषाएं : मातृभाषा, संघीय भाषा (हिंदी) और अंग्रेजी । जिन बालकों की मातृभाषा हिंदी थी उन्हें हिंदी से इतर एक आधुनिक भारतीय भाषा का अध्ययन करना था;
- (2) सामाजिक ज्ञान और सामान्य विज्ञान (गणित सहित);
- (3) एक शिल्प जिसे विहित शिल्पों के समूह में से चयन करना था; और
- (4) सात विहित समूहों, अर्थात मानविकी, विज्ञान, तकनीकी, वाणिज्यिक, कृषि, लिलत कला और गृहविज्ञान समूह में से चयन किए गए तीन अतिरिक्त विषय।
- (2) बहुउद्देश्यीय विद्यालय: माध्यमिक शिक्षा पद्धति जिस रूप में ब्रिटिश काल में पनपी थी, उसकी मुख्य कमजोरी यह थी कि उसका स्वरूप बहुत अधिक शैक्षिक था। उसने अधिकांशत: केवल एक ही रास्ता खोला जो मैट्रिक परीक्षा के जिरए विश्वविद्यालय तक जाता था। इस दीर्घकालिक दोष को दूर करने और विद्यार्थियों की अभिक्षमताओं एवं क्षमताओं को पुष्ट करने के लिए माध्यमिक पाठ्यचर्या में विविधता लाने की दृष्टि से, आयोग ने सिफारिश की कि इस प्रकार के बहुउद्देश्यीय विद्यालयों की स्थापना की जाए जो प्रौद्योगिकी, वाणिज्य, कृषि, लितत कला और गृहविज्ञान में आवधिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करें। इन संस्थाओं का उद्देश्य यह था कि विद्यार्थियों को माध्यमिक पाठ्यक्रम के अंत में विभिन्न व्यवसायों में ले जाया जाए और इस प्रकार विश्वविद्यालय में प्रवेश संबंधी दबाव को कम कर दिया जाए।
- (3) परीक्षा सुधार: आयोग ने सिफारिश की कि चूंकि परीक्षाओं की परंपरागत प्रणाली सीमित क्षेत्र वाली तकनीकी में यांत्रिक और ऐसे परिणामों वाली है जिन पर निर्भर नहीं किया जा सकता है अत: उसके स्थान पर मूल्यांकन की आधुनिक प्रणाली चालू की जाए। मूल्यांकन की इस नई प्रणाली में छात्र के संपूर्ण छात्र जीवन में हुई उसकी प्रगति का वास्तविक मूल्यांकन किया जाना चाहिए और केवल स्मरण शक्ति की परीक्षा ही नहीं होनी चाहिए वरन विद्यार्थी की शैक्षिक संवृद्धि की माप भी की जानी चाहिए।
- (4) अध्यापक: आयोग ने पुनर्गठन की जिस योजना की सिफारिश की थी उसमें एक कठिनाई की बात यह कही गई थी कि माध्यमिक अध्यापक ज्यादा अहं और अधिक सक्षम हों। विद्यालय की ओर अधिक योग्य व्यक्ति को आकर्षित करने की दृष्टि से माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की सेवा में सुधार किया जाना चाहिए। आयोग की यह एक महत्वपूर्ण योजना थी कि उच्च माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ाने वाले अध्यापकों में से बहुत से अध्यापकों की स्नातकोत्तर अर्हताएं हों। उसने अध्यापकों की प्रशिक्षण प्रणाली में अनेक सार्थक परिवर्तन करने की भी सिफारिश की थी।

कृषि, इंजीनियरी और आयुर्विज्ञान शिक्षा के निकास को उत्तरवर्ती परिच्छेदों में कृषि इंजीनियरी और चिकित्सा विद्यालयों के साथ दिया गया है।

(5) शिक्षा तथा व्यावसायिक निर्देशन : आयोग का प्रस्ताव था कि छात्रों को शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन देने के लिए पर्याप्त कदम उठाए जाने चाहिए। यह एक ऐसी सुधार है जो माध्यमिक शिक्षा का विविधीकरण करने के प्रयास में अंतर्निहित है। [(6) आयोग की अन्य महत्वपूर्ण सिफारिशें निम्नलिखित हैं: (क) गतिशील अध्यापन प्रणालियों को अपनाना, (ख) पुस्तकालयों एवं प्रयोगशालाओं को समृद्ध बनाना, (ग) दृश्य श्रव्य साधनों का समावेश, (घ) माध्यमिक विद्यालय निवर्तेन परीक्षा के नियंत्रण को विश्वविद्यालयों से हटाकर विशेष रूप से गठित माध्यमिक शिक्षा बोर्डों को सौंपना।

माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशों की संतोषजनक पैमाने पर लागू करना संभव नहीं हो सका है। पहली बात तो यह है कि यह विषय सदैव विवाद।स्पद ही रहा है कि विद्यालय पाठ्यक्रम की कूल अवधि को घटा कर ग्यारह वर्ष कर दिया जाए। शिक्षाविदों का एक वर्ग और कुछ राज्य इस विचार से कभी सहमत नहीं हुए और वे अब भी बारह वर्षीय पाठ्यक्रम और उसके बाद तीन वर्षीय उपाधि पाठ्यक्रम का ही पक्ष समर्थन करते हैं। इसके अतिरिक्त माध्यमिक विद्यालयों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में बदल देने का जो काम हुआ, वह विशेषकर वित्तीय परिसीमाओं के कारण कुछ धीमी गति से हुआ है। बहु उद्देश्यीय विद्यालयों की योजना की प्रगति लगभग शृन्य के बराबर है और इस योजना को लगभग त्याग दिया गया है। इसका एक कारण यह है कि विशेषज्ञता को बहुत जल्दी आरंभ कर दिया गया था। दूसरा कारण यह है कि इन विद्यालयों के विद्यार्थी व्यवसायों में प्रवेश पाने अथवा उच्च शिक्षा में संगत व्यावसायिक पाठयक्रमों में दाखिले पाने के योग्य ही नहीं थे। इसी प्रकार, गुणात्मक सुधार के संबंध में आयोग की जो सिफारिशें थीं उनके कार्यान्वयन में अधिक प्रगति नहीं हुई क्योंकि सभी चरणों में प्रसार का दबाब पड़ने से इनके कार्यान्वयन को टाला जाता रहा। संभवतः आयोग की सिफारिशों की एक अच्छी उपलब्धियह थी कि माध्यमिक अध्यापकों की परिलब्धियों, प्रशिक्षण और सेवा की शर्तों में सुधार हुआ।

माध्यमिक शिक्षा का विकास : स्वाधीनता प्राप्ति से पहले भारतीय शिक्षा पद्धति की सबसे कमजोर कड़ी माध्यमिक शिक्षा थी। आज भी यही स्थिति है। यह स्थिति पांच कारणों से है : (क) पिछले पच्चीस वर्षों में माध्यमिक शिक्षा की उपेक्षा की जाती रही है और उसे जितने विनिधान प्राप्त होने चाहिए थे, वे केवल इस कारण से प्राप्त नहीं हुए हैं कि माध्यमिक शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा जैसा व्यापक आकर्षण नहीं है; (ख) माध्यमिक शिक्षा को संभ्रांत वर्ग का वैसा समर्थन भी प्राप्त नहीं है जैसा उच्च शिक्षा को प्राप्त है; माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिश के आधार पर विद्यालय और महाविद्यालय कक्षाओं के समान स्वरूप के संबंध में गलत निर्णय ले लिया गया था; (ग) उच्च शिक्षा का असाधारण और अनियोजित विस्तार होने दिया गया। इसका शिक्षा के स्तर पर हानि-कारक प्रभाव पड़ा; (घ) विद्यार्थियों को विभिन्न व्यवसायों के लिए तैयार करने और इस प्रकार से विश्वविद्यालयों में दाखिलों की संख्या घटाने के लिए कोई प्रभावी कदम नहीं उठाए गए; और (ङ) गुणात्मक सुधार के कार्यक्रमों की बहुत भारी उपेक्षा की गई।

इनमें से प्रत्येक कारण के बारे में कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक शैक्षिक गतिविधियां

- (क) माध्यमिक शिक्षा का महत्व: माध्यमिक शिक्षा वास्तव में राष्ट्रनिर्माण करने वाली शिक्षा है अत: उसके अच्छे गुण को कायम रखना अत्यंत जरूरी है। चंकि प्राथमिक अध्यापक माध्यमिक विद्यालयों से पढ़कर आते हैं अतः माध्यमिक शिक्षा का स्तर अच्छा होने से अंतत: प्राथमिक शिक्षा को सुधारने में सहायता मिलती है। दूसरी ओर चंकि विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी माध्यमिक विद्यालयों से आते हैं अतः उच्च शिक्षा के स्तर भी काफी हद तक माध्यमिक शिक्षा के स्तरों पर निर्भर करते हैं। यदि संपूर्ण शिक्षा पद्धति को अच्छा बनाए रखना है तो माध्यमिक शिक्षा को सुधारना बहुत आवश्यक है। दुर्भाग्य-बश इस उपयोगी सिद्धांत की सभी आनुक्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं में उपेक्षा कर दी गई। आयोजना में प्राथमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा, और तकनीकी शिक्षा को प्राथमिकता दी गई। माध्यमिक शिक्षा को बचे-खुचे विनिधानों से ही संतृष्ट रह जाना पड़ा । उदाहरण के लिए. प्रथम योजना में माध्यमिक शिक्षा को 20 करोड़ रुपये अर्थात् शिक्षा संबंधी कूल परिव्यय की 19 प्रतिशत, तृतीय योजना में 103 करोड़ रुपये अर्थात कुल परिव्यय की 18 प्रतिशत और चतुर्थ योजना में 140 करोड़ रुपये अर्थात कुल परिव्यय की 18 प्रतिशत धनराशि मिली। पंचम योजना में भी इसके लिए विनिधान 241 करोड़ रुपये अर्थात शिक्षा संबंधी कूल परिव्यय का 14 प्रतिशत है। परंतु इसके महत्व को दृष्टि में रखते हए, सामान्यत: इसे कूल विनिधान की लगभग एक तिहाई राशि मिलनी चाहिए थी।
- (ख) विद्यालय एवं महाविद्यालय कक्षाओं के लिए समान ढांचा: 1947 में विद्यालय और महाविद्यालय कक्षाओं का समान ढांचा इस प्रकार था:
 - (1) कुछ राज्यों में दस वर्ष का और अन्य राज्यों में ग्यारह वर्ष का विद्यालय चरण जो मैटिक परीक्षा तक ले जाता था;
 - (2) दो वर्ष का एक इंटरमीडिएट चरण; और
 - (3) दो वर्ष का पूर्व स्नातक चरण जो प्रथम उपाधि तक ले जाता था।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917-19) की यह राय थी कि इंटरमीडिएट चरण वास्तव में विद्यालय शिक्षा का ही अंग है और उसे ऐसा ही माना जाना चाहिए तथा दो वर्ष के पूर्व स्नातक पाठ्यक्रम को बढ़ाकर तीन वर्ष का कर देना चाहिए। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) की भी यही सिफारिश थी। उसने 10+2+3 के एकसम ढांचे को अपनाने का सुभाव दिया था। इस सिफारिश को कार्यान्वित करने के लिए केवल इस बात की आवश्यकता थी कि (1) सभी राज्यों में समान रूप से मैंट्रिक तक पहुंचने के लिए विद्यालय चरण को घटाकर दस वर्ष कर दिया जाता (इसमें कोई अतिरिक्त व्यय नहीं हुआ होता); (2) चूंकि इंटरमीडिएट पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों में अनुपयुक्त है अत: इसे विश्वविद्यालयों से हटाकर विद्यालय चरणों को सौंप दिया जाता जहां इसका जिल्त स्थान है। भारी संख्या में विद्यार्थियों को कार्य जगत में ले जाने के लिए इस पाठय-क्रम में व्यावसायिक तत्व का बड़े पैमाने पर समावेश किया जाता; और (3) सभी क्षेत्रों में पूर्व स्नातक पाठ्यक्रम की अवधि को बढ़ाकर तीन वर्ष कर दिया जाता (अथवा द्विवर्षीय पाठ्यक्रम को सामान्य उपाधि के लिए जारी रहने दिया जाता और प्रवीण

उपाधि के लिए तीन वर्षीय पाठ्यक्रम रखा जाता)। यदि इस ढांचे को अपनाया जाता तो शिक्षा पद्धति के ढांचे और स्वरूप में आमुल परिवर्तन हो सकता था। परंतू दुर्भाग्यवश, ऐसा नहीं किया गया। माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिश के अनुसार यह निर्णय लिया गया कि इंटरमीडिएट चरण को दो भागों में बांट दिया जाए। एक वर्ष का पाठय-क्रम विश्वविद्यालय को और एक वर्ष का पाठ्यक्रम विद्यालय को दिया जाना था। इस प्रकार 11 वर्ष के एकसम विद्यालय चरण और तीन वर्ष के पूर्व स्नातक पाठयक्रम को आरंभ करने का निश्चय किया गया। कई कारणों से यह एक पश्चगामी कदम था। ग्यारह वर्षीय उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम गलत था क्योंकि उसने विशेषज्ञता का बहत शोघ्र (आठवीं कक्षा की समाप्ति पर) समावेश कर दिया था, व्यावसायिकीकरण को कठिन बना दिया था और प्रसार को बढ़ा दिया था। वस्तुत: आठवीं कक्षा की समाप्ति पर चयनात्मक तत्व का समावेश उचित समय से पहले कर दिया गया था जिससे उन सभी विद्यार्थियों को मजबूर होकर ग्यारहवीं कक्षा तक पहुंचना जरूरी होता था जो नवीं कक्षा में माध्यमिक पाठ्यकम में प्रवेश पाते थे। इंटरमीडिएट चरण बहत लाभप्रद रहा था। एक ओर, यह उन लोगों को अच्छी प्राक प्रवेश शिक्षा देता था जो विश्वविद्यालय में प्रवेश चाहते थे। दूसरी ओर यह इस बात को भी संभव बनाता था कि उन लोगों को अच्छी व्यावसायिक शिक्षा दी जा सके जो जीविकोपार्जन के लिए कार्य आरंभ करना चाहते थे। अतः इस चरण को समाप्त कर देना एक गंभीर गलती थी। इस प्रकार इसने बहुमूल्य समय नष्ट कर दिया है। इससे भी बूरी बात यह है कि इंटरमीडिएट चरण का पूनर्समावेश करके इस गलती के लिए हमें भारी कीमत चुकानी है।

(ग) प्रसार: अनेक कारणों से माध्यमिक शिक्षा का असाधारण और अनायोजित प्रसार हुआ है। पहला कारण यह है कि चूंकि प्राथमिक शिक्षा का नौकरी के लिए महत्व पूरी तरह समाप्त हो चुका था और किसी नौकरी को पाने के लिए अथवा आगे शिक्षा के किसी उपयोगी पाठ्यकम में दाखिला लेने के लिए कम से कम मैट्कि होना जरूरी था। अत: माध्यमिक शिक्षा की सामाजिक मांग बढ़ गई। दूसरा कारण यह है कि उच्च अथवा मध्यम वर्गों के बालक प्रारंभिक शिक्षा (कक्षाएं 1-8 को 12 या 13 वर्ष की आयु तक पूरा कर लेते थे और चूंकि अन्य कोई काम करने के लिए उनकी आयू बहुत कम होती थी अत: वे सामान्यतः माध्यमिक विद्यालयों में दाखिल हो जाते थे। अतिरिक्त सुविधाओं की इस सामाजिक मांग को सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही प्रकार के विद्यालयों ने परा किया। इनमें से बहुत से विद्यालयों को तो अवमानक स्तर पर भी काम करने दिया गया। माध्यमिक विद्यालयों की अवस्थिति के बारे में सम्यक रूप से योजना बनाने और यह सुनिश्चित करने के लिए प्रायः कोई भी प्रयास नहीं किए गए कि वे बढकर आदर्श आकार के हो जाएं जिससे उनमें किफायत और कार्यकृशलता सुनिश्चित हो सके। इस प्रकार सामाजिक मांग के दबाव के परिणामस्वरूप माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में प्रचुर वृद्धि होने से सामाजिक मांग को और भी उद्दीपन मिला। माध्यमिक विद्यालयों में फीस में भारी छूट देने अथवा उसे बिल्कुल माफ कर देने की राज्य सरकारों की जो नीति थी उसके फलस्वरूप यह प्रवृत्ति और भी बढ़ी।

उपर्युक्त कारणों से पिछले पच्चीस वर्षों में माध्यमिक शिक्षा का असाधारण प्रसार हुआ। इस बात का निम्नलिखित आंकड़ों से पता चलता है:

माध्यमिक शिक्षा में भर्ती (1950-1978)

| योजना और वर्ष | | श्रेणी IX—XI में भर्ती (10 लाख में) | 14-17 आयु वर्ग की कुल जनसंख्या के साथ श्रेणी IX-XI में भर्ती बालकों का प्रतिशत |
|----------------|-----------|--|---|
| 1 | | 2 | 3 |
| 1950-51 | लड़के | 1.09 | 9.3 |
| | लड़िकयां | 0.16 | 1.5 |
| प्रथम योजना | योग | 1.25 | 5.5 |
| 1955-56 | लड़के | 1.65 | 13.4 |
| | लड़िकयां | 0.33 | 2.9 |
| द्वितीय योजना | योग | 1.98 | 8.3 |
| 1960-61 | लड़के | 2.47 | 17.5 |
| - | लड़िकयां | 0.56 | 4.3 |
| तृतीय योजना | योग | 3.03 | 11.1 |
| 1965-66 | लड़के | 4.07 | 25.5 |
| | लड़िकयां | 1.23 | 10.4 |
| | योग | 5.27 | 16.9 |
| 1968-69 | लड़के | 4.89 | 28.3 |
| | लड़िकयां | 1.58 | 9.5 |
| चतुर्थ योजना 🐇 | योग | 6.47 | 19.1 |
| 1973-74 | लड़के | 6.16 | 31.0 |
| (प्राक्कलन) | लड़कियां | 2.34 | 12.0 |
| पंचम योजना | योग | 6.47 | 22.0 |
| 1978 79 | लड़के | 8.04 | 36.0 |
| प्रक्षेप | लड़कियां | 3.17 | 15.0 |
| | योग | 11.21 | 26.0 |

आधार: 1. पंचम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा (1974-79), शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, 1972, (1950-51, 1955-56, 1956-66 और 1968-69 के लिए)।

^{2. 1973-74} और 1978-79 के लिए प्रारूप पंचवर्षीय योजना (1974-79), योजना आयोग, अध्याय आठ।

उच्च शिक्षा के प्रसार की भांति ही इस व्यापक प्रसार के अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों ही पहलू थे। एक ओर, इसने अब तक उपेक्षित क्षेत्रों में विशेषकर मध्यम आकार के ग्रामों में और बालिकाओं, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित आदिम जातियों अथवा भूमिहीन खेतिहर मजदूरों जैसे कमजोर वर्गों के बीच माध्यमिक शिक्षा का प्रसार किया और इस प्रकार शैक्षिक अवसरों की समानता में वृद्धि की। दूसरी ओर, इससे स्तर गिरा और सैंकड़ों छोटी और अदक्ष संस्थाओं की स्थापना हुई जबिक इसका बहुविध स्वरूप न होने के कारण विश्वविद्यालयों में दाखिलों का दबाव बढ़ गया। यह स्थिति वैसी ही है जैसी उच्च शिक्षा में थी। एक प्रकार से यह स्थिति उससे भी बुरी है क्योंकि विश्वविद्यालय शिक्षा में, कम से कम, सुधारों और नव प्रवर्तन की आशा तो थी जबिक माध्यमिक चरण में ऐसा नहीं है।

(घ) विविधोकरण और व्यावसायिकीकरण: यह बात बताई जा चुकी है कि माध्यमिक शिक्षा का विविधोकरण और व्यावसायिकीकरण करने की आवश्यकता को 1882 में ही स्वीकार किया जा चुका था। परंतु इस तथ्य के बावजूद कि इस दिशा में लगातार कुछ प्रयास किए जाते रहे थे, पद्धति में 1947 तक भी कोई सारभूत परिवर्तन नहीं हुआ था। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी उसी प्रकार की स्थिति रही है और व्यावसायिकीकरण हमारी शैक्षिक समस्याओं में सबसे महत्वपूर्ण और फिर भी सबसे अदम्य समस्या बन गया है।

यथार्थ संख्या की दृष्टि से निम्नलिखित कार्यक्रम का विस्तार होने से माध्यमिक चरण में व्यावसायिक शिक्षा संबंधी सुविधाओं में भारी वृद्धि हुई है: (1) प्रारंभिक विद्यालयों के अध्यापकों का प्रशिक्षण; (2) उद्योग के लिए कुशल और अर्धकुशल श्रमिकों को प्रशिक्षित करने के लिए पालीटेकनिकों और औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना; (3) सिववालयी तथा वाणिज्यक पाठ्यक्रम; (4) सह चिकित्सकीय कार्मिकों के प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था; (5) कृषि में मध्य स्तरीय श्रमिकों का प्रशिक्षण; (6) ग्रामोद्योगों एवं कुटीर उद्योगों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम का विकास; इत्यादि। परंतु इसके साथ ही सामान्य माध्यमिक शिक्षा की सुविधाओं और तत्सबंधी आयु वर्ग की जनसंख्या में इतनी अधिक वृद्धि हो गई कि आज भी व्यावसायिक पाठ्यक्रम में छात्रों की नामांकित संख्या माध्यमिक चरण की कुल नामांकित संख्या की लगभग 9 प्रतिशत ही है (जैसी 1947 में थी) और व्यवसायों के लिए प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे आयु वर्ग का अनुपात (लगभग दो प्रतिशत) संसार में अभी भी सबसे कम है।

माध्यमिक चरण में जिन कारणों से व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के विकास में बाधा पड़ी है वे निम्नलिखित हैं: उच्च और मध्यम वर्गों में इन पाठ्यक्रमों का सामान्यतः लोकप्रिय न होना, उनका अधिक खर्चीला होना और उपयुक्त अध्यापक प्राप्त करने में कठिनाई। पालीटेकिनिकों तथा औद्योगिक संस्थानों का वर्तमान विस्तार हो जाने पर भी बेकारी काफी व्यापक रूप से फैल रही है क्योंकि औद्योगिक मंदी आरंभ हो गई है तथा दाखिलों में कमी करनी पड़ी है। बुनियादी आवश्यकता इस बात की है कि प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक क्षेत्रों में कुशल एवं अर्धकुशल श्रमिकों के लिए पर्याप्त रोजगार

पैदा करने के लिए अर्थव्यवस्या में जान फूंकी जाए।

(ङ) गुणाहमक कार्यक्रम: जैसा पहले बताया जा चुका है, माध्यमिक शिक्षा के लिए उपलब्ध संसाधन बहुत अपर्याप्त थे । इनमें से अधिकांश संसाधनों को प्रसार के कार्यक्रमों में लगा देना पड़ा। ये कार्यक्रम अनायोजित एवं अनिगनत थे। अतः यह अनिवार्य था कि गुणात्मक सुधार संबंधी कार्यक्रमों को, अंशत: पर्याप्त वित्तीय सहायता न मिलने के कारण और अंशतः संख्या वृद्धि के कारण हानि पहुंचती । जैसा पहले बताया जा चुका है इस काल में संभवतः सबसे सार्थक उपलब्धि माध्यमिक अध्यापकों के संबंध में रही है। उनके पारिश्रमिक में सारभूत वृद्धि हुई है । दुर्भाग्यवश, पारिश्रमिक में हुई बहुत सी वृद्धि कीमतों में वृद्धि होने के फलस्वरूप शून्यवत हो चुकी है। उच्च शिक्षा का प्रसार हो जाने के फल-स्वरूप कूल मिलाकर माध्यमिक अध्यापक अब 1947 की अपेक्षा अधिक अर्हता प्राप्त हैं। पदाविधि की सुरक्षा की समस्या अब भी संतोषजनक रूप से हल नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि अधिकांश माध्यमिक विद्यालय गैर सरकारी क्षेत्र में हैं जहां अध्यापकों का शोषण करने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इस बात का प्रयास किया गया है कि पाठ्यचर्याओं एवं पाठ्य पुस्तकों में सुधार किया जाए, नई अध्यापन प्रणालियां आरंभ की जाएं, परीक्षा के संबंध में सुधार किए जाएं, व्यावसायिक निर्देशन के कार्यक्रम आरंभ किए जाएं और विज्ञान की शिक्षा अथवा शारीरिक शिक्षा के लिए अच्छी व्यवस्था की जाए। इसके परिणामस्वरूप कुछ लाभ भी पहुंचा है। यद्यपि कुल मिलाकर जितना लाभ पहुंचा है उसे अवमानक संस्थाओं की भारी संवृद्धि ने एक प्रकार से निष्फल ही बना दिया है।

एक बार फिर हम यहां विकास के पूर्वोक्त स्वरूप को ही उभरता हुआ पाते हैं: 10+2+3 ढांचे एवं व्यावसायिकीकरण को अपनाए जाने आदि से आमूल अंतर हो सकता था। परंतु इस प्रकार के कार्यक्रमों को कार्यान्वित नहीं किया गया अथवा नहीं किया जा सका। इसके बजाए कुछ छोटे छोटे परिवर्तनों और सुधारों के साथ पुरानी पद्धति का ही भारी विस्तार हुआ। यह पद्धति उन तनावों और ह्रास को नहीं रोक सकी जो अनायोजित विस्तार के फलस्वरूप अनिवार्य रूप से उत्पन्न होते हैं।

प्राथमिक शिक्षा: पूर्ववर्ती अध्यायों में 1947 तक के प्राथमिक शिक्षा संबंधी विकास का जो विवरण दिया गया है उससे दो मुख्य बातों पर प्रकाश पड़ता है: (1) यह एक प्रिय राष्ट्रीय आदर्श था कि 6-14 आयु वर्ग के सभी बालकों के लिए सर्वजनीन और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाए। संविधान के अनुच्छेद 45 में राज्य के नीति निदेशक सिद्धांत के रूप में शामिल करके इसे अभिभावी प्राथमिकता दी गई थी, और (2) यह आवश्यक था कि इस पद्धित के स्वरूप को बदला जाए और बुनियादी अथवा सदृश ढांचे के रूप में उत्पादकता की दिशा में उन्मुख किया जाए। ये दोनों ही प्राथमिक शिक्षा के विकास के स्वीकृत लक्ष्य थे और इन लक्ष्यों के पूरा होने से शिक्षा पद्धित में मूलभूत अंतर हो गया होता। परंतु दुर्भाग्यवश, यथेष्ट प्रसार के बावजूद भी प्रथम लक्ष्य को पूरा नहीं किया जा सका और दूसरे लक्ष्य के बारे में कोई सराहनीय प्रगित नहीं हुई है। अतः हमारे सामने पुनः एक ऐसा चित्र उपस्थित है जिसमें शिक्षा पद्धित में कुछ छोटे छोटे

परिवर्तनों एवं सुधारों के साथ यथेष्ट संवृद्धि हुई है।

(क) प्राथमिक शिक्षा का प्रसार: अब हम प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की समस्या पर विचार करते हैं। यह प्रसार तीन प्रावस्थाओं में हुआ: (1) सुविधाओं की सर्वजनीन व्यवस्था; (2) सर्वजनीन भर्ती, और (3) सर्वजनीन प्रतिधारण। ये प्रावस्थाएं आनु-क्रमिक नहीं अपितु सहवर्ती हैं।

संभवत: पिछले पच्चीस वर्षों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि प्राथमिक शिक्षा संबंधी सुवि-धाओं की सर्वजनीन व्यवस्था के बारे में है। 1947 में देश में कई ऐसे बड़े क्षेत्र मौजूद थे जिनमें इस प्रकार की सुविघाएं नहीं थीं। आनुक्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं में हजारों नए प्राथमिक विद्यालय स्थापित किए गए हैं। वर्तमान स्थिति यह है कि प्रत्येक बालक के घर से अत्यंत सुविधाजनक दूरी पर निम्न प्राथमिक विद्यालय (कक्षा I-V)मौजूद है। उच्च प्राथमिक विद्यालयों (कक्षा VI-VIII) की व्यवस्था देश के सब भागों में निम्न प्राथमिक विद्यालयों के समान व्यापक नहीं है । केरल अथवा तमिलनाडु जैसे कुछ राज्यों ने उच्च प्राथमिक विद्यालयों की भी व्यवस्था कर दी है जबकि आंध्र प्रदेश अथवा राज-स्थान जैसे राज्यों को इस दिशा में अब भी बहुत कार्य करना शेष है। कुल मिलाकर भारत में अब लगभग 5,00,000 निम्न प्राथमिक विद्यालय (कक्षा I-V) और लगभग 1,00,000 उच्च प्राथमिक विद्यालय हैं । अतः उच्च प्राथमिक विद्यालयों और निम्न प्राथमिक विद्यालयों के बीच 1 और 5 का अनुपात है। निस्संदेह एक राज्य से दूसरे राज्य में भारी विविधता पाई जाती है। तिमलनाडु में यह अनुपात बहुत ही कम अर्थात 1:2 है जबिक आंध्र प्रदेश में बहुत अधिक अर्थात 1:10 है। शिक्षा आयोग ने सिफारिश की थी कि उच्च प्राथमिक विद्यालयों और निम्न प्राथमिक विद्यालयों में 1 और 3 का अनुपात होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि पंचमपंचवर्षीय योजना के अंत तक इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकेगा। सब बातों पर विचार करके यह कहा जा सकता है कि देशनिम्न प्राथमिक चरण (कक्षा I-V) तक की व्यापक व्यवस्था करने में समर्थ हो गया है और लगभग अगले पांच वर्ष में उच्च प्राथमिक शिक्षा (कक्षा VI-VIII) के संबंध में भी व्यापक सुविधाएं दे देना संभव हो जाएगा।

किसी दिए हुए क्षेत्र में विद्यालय की स्थापना करना केवल पहला कदम है। यह स्थापना सामान्यतः अधिक संपन्न अथवा शैक्षिक रूप से अधिक सचेत सामाजिक वर्गों के कुछ बालकों की भर्ती करके होती है। इसके उपरांत वर्षानुवर्ष अधिकाधिक बालकों को भर्ती करने का सतत प्रयत्न करना होता है। जैसे जैसे निम्न एवं निर्धन सामाजिक वर्गों तक पहुंचते हैं, यह कार्य कठिन होता जाता है। अतः सर्वजनीन भर्ती की समस्या स्पष्ट रूप से अधिक कठिन है। परंतु इस क्षेत्र में भी भारी प्रगति हुई है। 1947 में कक्षा I-V में भर्ती लड़कों की संख्या 106.3 लाख (अथवा 6-11 आयु वर्ग की 53.1 प्रतिशत) और

लड़ कियों की संख्या 34.8 लाख (अथवा 6-11 आयु वर्ग की 17.4 प्रतिशत) थी। इसी प्रकार कक्षा VI-VIII में भर्ती लड़ कों की संख्या 17.2 लाख (अथवा 11-14 आयुवर्ग की 15.4 प्रतिशत) और लड़ कियों की संख्या 3.2 लाख (अथवा 11-14 आयुवर्ग की 2.9 प्रतिशत) थी। दूसरे शब्दों में, 6-11 आयुवर्ग के प्रत्येक तीन बालकों में से केवल एक बालक भर्ती था और 11-14 आयुवर्ग के प्रत्येक 11 बालकों में से केवल एक भर्ती था।

पिछले पच्चीस वर्षों में प्राथमिक चरण में छात्रों की संख्या को बढ़ाने के संबंध में जो भारी प्रगति हुई है उसे निम्नलिखित सारणी पेज 400-401 में दिखाया गया है:

उपर्युक्त आंकड़ों के बारे में कुछ टिप्पणियां दे देना उचित होगा।

- (1) ऐसा नहीं है कि कक्षा I-V में भर्ती सभी बालक 6-11 आयुवर्ग के हों। वास्तव में, इन कक्षाओं में भर्ती लगभग 30 प्रतिशत बालक या तो 6 वर्ष से कम आयु के हैं अथवा 11 वर्ष से अधिक आयु के हैं। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाए तो भर्ती का लक्ष्य 139 प्रतिशत होगा, 100 प्रतिशत नहीं। इससे पता चलता है कि 97 प्रतिशत भर्ती होने पर भी, जैसा कि 1978-79 के लिए मानस प्रत्यक्षीकरण किया गया है, हमें 6-11 आयुवर्ग में सर्वजनीन भर्ती के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए काफी कार्य करना होगा। यह बात इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि इस समय जो बालक विद्यालयों में भर्ती नहीं हैं वे दुर्बलतम सामाजिक वर्गों के हैं और उन्हें विद्यालय में लाने के लिए अनुपातत: बहुत अधिक प्रयास और व्यय करना होगा।
- (2) 1947 की अपेक्षा अब लड़िकयों की भर्ती बहुत अच्छी है। फिर भी लड़कों की अपेक्षा लड़िकयों की भर्ती करने के लिए बहुत अधिक कार्य करना होगा। स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में बहुत अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है।
- (3) अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के बालकों के बारे में भी उपर्यक्त बात कही जा सकती है।
- (4) देश के सभी क्षेत्रों में प्रारंभिक शिक्षा में एक जैसी प्रगति नहीं हुई है। लड़कों और लड़िक्यों दोनों की ही भर्ती सबसे अच्छी नगरीय क्षेत्रों में है। ग्राम्य क्षेत्रों में सामान्यत: भर्ती बहुत कम है और लड़िक्यों के संबंध में यह बात विशेषरूप से सच है। केरल तथा तिमलनाडु जैसे कुछ राज्य काफी उन्तत हैं जबिक राजस्थान, बिहार तथा उड़ीसा जैसे राज्य बहुत पिछड़े हुए हैं। यहां तक कि एक ही राज्य में कुछ जिलों में प्राथिमक शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई है जबिक कुछ अन्य जिले पिछड़े हुए हैं। सामान्यत: जिले के एक भाग से दूसरे भाग में प्राथिमक शिक्षा की प्रगति में यथेष्ट विविधता पाई जाती है। शिक्षा के विकास की इन सामाजिक और क्षेत्रीय असमताओं को दूर करने के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता है।

वे समस्याएं कौन सी हैं जो प्राथिमक विद्यालयों में सर्वजनीन भर्ती करने के संबंध में उत्पन्न होती हैं? सबसे पहली और महत्वपूर्ण समस्या निर्धनता है। अतः पाठ्य पुस्तकों और अन्य पठन एवं लेखन सामग्री की मुफ्त पूर्ति करने के कार्यक्रमों का समावेश किया गया है और यह सुनिश्चित करने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है कि कम से कम

माध्यमिक और उच्च शिक्षा में हमें इतने अधिक प्रसार की आवश्यकता नहीं थी फिर भी प्रसार हुआ । प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करना ही लक्ष्य था परंतु हम नहीं कर सके ।

प्रारंभिक शिक्षा में भर्ती (1950-1978)

| योजना और वष | | श्रेणी iv-v में भती (दस लाख में) | श्रेणी i-v में भर्ती बालकों का 6-11 आयु वर्ग की कुल जनसंख्या के साथ प्रतिशत | श्रेणी vi-viii में भर्ती (दस लाख में) | श्रेणी vi-viii में भर्ती बालको का 11-14 आयु वर्ग की कुल जनसंख्या के साथ प्रतिशत |
|---------------|--------------------------------|--|---|--|---|
| | 200 | 2 | es . | 4 | 5 |
| 1950-51 | लड़के लड़कियां | 13.8 | 60.8 | 2.6 | 20.8 |
| प्रथम योजना | योग | 19.2 | 43.1 | 3.1 | 12.8 |
| 1955-56 | लड़ के लड़ कियों | 17.5 | 72.0 | 3.4 | 25.4 |
| द्वितीय योजना | योग | 25.1 | 52.8 | 4.3 | 16.5 |
| 1960-61 | लड़के लड़कियां | 23.6 | 82.6 | 5.1 | 32.2 11.3 |
| तृतीय योजना | योग | 35.0 | 62.4 | 6.7 | 22.5 |
| 1965-66 | लड़ के लड़िक्या | 32.2 18.3 | 96.3 | 7.7 | 44.2 17.0 |
| | योग | 50.5 | 76.7 | C.0.I | 90.9 |

| 45.6 | 48.0 | 60.0 |
|---------------|------------|------------|
| 18.3 | 22.0 | 33.0 |
| 32.1 | 36.0 | 47.0 |
| 8.7 | 10.5 | 14.3 |
| 3.4 | 4.5 | 7.3 |
| 12.1 | 15.0 | 21.6 |
| 92.7 | 100.0 | 111.0 |
| 56.6 | 66.0 | 82.0 |
| 75.1 | 84.0 | 97.0 |
| 34.0 | 39.4 | 46.3 |
| 19.9 | 24.4 | 31.9 |
| 53.9 | 63.8 | 78.2 |
| लड़के | लड़के | लड़के |
| लड़कियां | लड़कियां | लड़कियां |
| योग | योग | योग |
| 1968-69 | 1973-74 | 1978-79 |
| चतुर्थं योजना | पंचम योजना | (प्रक्षेप) |

आघार : 1. पंचम पंचवर्षीय योजना में सिक्षा (1974-79), शिक्षा तथा समाज कत्याण मंत्रालय, 1972 (1950-51, 1955-56, 1960-61, 1965-66 और 1968-69 के लिए) ।

2. 1973-74 और 1978-79 के लिए प्रारूप पंचम पंचवर्षीय योजना (1974-79 योजना) आयोग, अध्याय आठ ।

सभी निर्धन बालकों को ये चीजें मुफ्त दे दी जाएं। मध्याह्न भोजन का कार्यक्रम एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली साधन है और इसे कई क्षेत्रों में, उल्लेखनीय रूप सेत मिलनाडु और केरल में, प्रारंभ किया गया है। प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ने वाले लगभग 10 प्रतिशत बालकों को इस समय विद्यालयों में मुफ्त भोजन मिलता है। तो भी इस कार्यक्रम का और अधिक क्षेत्र में यथेष्ट विस्तार करने की आवश्यकता है। कुछ मामलों में, विशेषकर लड़कियों को, पहनने के कपड़े और विद्यालय की विदयां भी मुफ्त दी जाती 'हैं। कक्षा VI-VIII में छात्रव्तियों का भी एक छोटा सा कार्यक्रम है।

यदि माता पिता शिक्षा के महत्व के बारे में सचेत हों तो बालकों द्वारा उपलब्ध किए जाने वाले शैक्षिक अवसरों में काफी अंतर पड़ जाता है। सामान्य अनुभव यह रहा है कि साक्षर पिता के बालक, और साक्षर माता की पुित्रयां, विद्यालयों में सामान्यत: भर्ती होते ही हैं। अत: वयोवृद्धों के बीच शिक्षा के फैलने से प्राथमिक शिक्षा में भर्ती बढ़ाने के लिए भारी प्रोत्साहन मिलेगा। दुर्भाग्यवश, प्रौढ़ों के बीच साक्षरता फैलाने के काम में पिछले पच्चीस वर्षों में अधिक प्रगति नहीं हुई है। जैसे ही साक्षरता फैलने लगेगी, प्राथमिक विद्यालयों में भर्ती में वृद्धि होने लगेगी।

विद्यालयों में बालकों को भर्ती करने के लिए काफी प्रचार करने की आवश्यकता है। प्रचार करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि विद्यालय वर्ष आरंभ होने से एक या दो महीने पहले प्रत्येक प्राथमिक विद्यालय अपने क्षेत्र में विद्यालय आयु के सभी बालकों की जनगणना कराए। जब विद्यालय वर्ष आरंभ होगा तो प्रबुद्ध माता पिता के समर्थन से, विद्यालयों के अध्यापकों को सभी बालकों को विद्यालय में लाने के लिए भारी प्रचार करना पड़ेगा। यदि प्रत्येक शैक्षिक वर्ष के आरंभ में इस प्रकार का प्रयत्न किया जाए तो कुछ समय में स्थित काफी सुधर जाएगी। दुर्भाग्यवश, सामान्यतः इस प्रकार के व्यव-स्थित और सतत प्रयत्न नहीं किए हैं।

सर्वजनीत भर्ती कराने के लिए एक अन्य उपाय यह है कि अनिवार्य शिक्षा कानून को लागू किया जाए। भारत के सभी राज्यों में अब एक अनिवार्य शिक्षा कानून बना हुआ है परंतु उसको लागू करने के बारे में अभी बहुत कुछ किया जाना है। बहुत कम मामले न्यायालयों में ले जाए जाते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बालकों की भर्ती के लिए विद्यालय प्रणाली जोर जबरदस्ती करने के बजाय समझाने बुझाने पर अधिक निर्भर करती है। एक गरीब देश में ऐसा होना आवश्यक है। अनिवार्य शिक्षा कानून माता या पिता को अपने बालकों को, उस दशा में विद्यालय भेजने के लिए बाध्य कर सकता है जबिक वह उन्हें भेज 'सकता है' परंतु भेज 'नहीं।' जहां माता पिता निर्धनता अथवा किन्हीं अन्य कारणों से अपने बालकों को विद्यालय भेजने में 'असमर्थ' हों तो अनिवार्य शिक्षा कानून कोई सहायता नहीं करता है।

कार्यक्रम की तीसरी प्रावस्था, अर्थात सर्वजनीन अवधारण संभवत: सबसे कठिन है। यदि प्रत्येक बालक प्राथमिक विद्यालयों में लगभग 6 वर्ष की आयु में कक्षा एक में भर्ती हो जाए तो उसे आठवीं कक्षा में पहुंचने या 14 वर्ष की आयु होने तक विद्यालय में रखना आवश्यक है। इस समय सामान्यत: ऐसा नहीं होता है। बालक बहुत पहले ही विद्यालय प्रणाली से निकल जाना शुरू कर देते हैं। यदि हम कक्षाओं को लें तो हम पाते हैं कि विद्यालय छोड़ देने वाले बालकों में उन बालकों की संख्या सबसे अधिक है जो कक्षा एक में ही विद्यालय छोड़ देते हैं। जो बालक विद्यालय छोड़कर चले जाते हैं उनमें आधे के लगभग कक्षा एक में ही छोड़ने वाले होते हैं। कक्षा V में पहुंचने तक प्रतिधारित विद्यार्थियों की संख्या घटकर 40 रह जाती हैं। कक्षा VIII में पहुंचने तक यह संख्या और भी घटकर लगभग 25 रह जाती है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कक्षा एक में भर्ती किए गए प्रत्येक 100 बालकों में से, कक्षा VIII अथवा 14 वर्ष की आयु तक पहुंचने तक विद्यालय प्रणाली में लगभग 25 बालक ही प्रतिधारित रहते हैं। शेष 75 किसी न किसी चरण में विरत हो जाते हैं। इनमें से लगभग 35 कक्षा एक में, लगभग 25 कक्षा 2 और कक्षा V के बीच और अन्य 16 कक्षा V और कक्षा VIII के बीच विरत होते हैं। पड़े पैमाने पर होने वाली यह विरति ही भारत में सर्वजनीन प्राथमिक शिक्षा देने के मार्ग में आने वाली सबसे बड़ी समस्या है। यह समस्या सभी विकासशील देशों में समान रूप से पाई जाती है।

इस विरित का सबसे महत्वपूर्ण कारण निर्धनता है। निर्धन परिवारों के बालकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे परिवार पोषण में सहायता करने के लिए घर या घर से बाहर काम करेंगे। लड़के खेतों पर काम करने लगते हैं अथवा सवेतन मजदूरी करने बाहर चले जाते हैं। लड़कियां सामान्यतः अपनी माता की सहायता करती हैं और छोटे बालकों की देखभाल करती हैं। अतः ये बालक पूर्णकालिक आधार पर विद्यालय में नहीं रह सकते हैं जैसा कि उनसे अब अपेक्षा की जाती है। वे लगभग नौ वर्ष की आयु में विद्यालय छोड़ना आरंभ कर देते हैं। बालक जितना ही बड़ा होगा, उसको काम करने की भी उतनी अधिक आवश्यकता होगी। अतः निर्धनता के कारण होने वाली विरित आयु बढ़ने के साथ साथ बढ़ती जाती है। इस समस्या का एकमात्र दीर्घकालिक हल यह है कि सामान्य जन की आर्थिक स्थिति को सुयारा जाए। इस बीच, एक अन्य तरीका यह हो सकता है कि उन बालकों को अंशकालिक शिक्षा दी जाए जो पूर्णकालिक आधार पर विद्यालयों में नहीं जा सकते हैं। परंतु इस अंशकालिक शिक्षा पद्धित को अभीतक आरंभ नहीं किया गया है। पचम पचवर्षीय योजना में इसको बड़े पैमाने पर चलाने का विचार है।

विरित के अन्य कारण सामाजिक एवं शैक्षिक हैं। सामाजिक कारणों में विवाह (ग्राम्य क्षेत्रों में बहुत सी बालिकाओं का विवाह 14 वर्ष की आयु से पहले ही हो जाता है) और बीमारी शामिल हैं। शैक्षिक कारणों में निम्निलिखित शामिल हैं: पाठ्यचर्या का घटिया किस्म का होना और उसका स्थानीय स्थिति से संबंधित न होना, अध्यापन के घटिया तरीके, घटिया विद्यालय (जो बालकों को आर्काधित करने अथवा उन्हें रोके रखने में असमर्थ हैं) और अधिकांश प्राथमिक विद्यालयों में पाया जाने वाला नीरस वातावरण। अब आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा का गुणात्मक सुधार किया जाए और विद्यालय पाठ्यचर्या का स्थानीय वातावारण से संबंध स्थापित करने की दिशा में कार्रवाई की जाए।

प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के पूर्ववर्ती विवरण से यह पता चल जाएगा कि संविधान

के अनुच्छेद 45 के निदेश का पूरी तरह पालन करना संभव नहीं हो सका है। 6-14 आयू वर्ग के सभी बालकों को 1960 तक विद्यालयों में भर्ती किया जाना था। इस समय स्थित यह है कि हम 1978-79 तक 6-11 आयु वर्ग के लगभग 97 प्रतिशत बालकों और 11-14 आयू वर्ग के 47 प्रतिशत बालकों को भर्ती कर पाएंगे। सांविधानिक निदेश को कार्या-न्वित करने में 10 से 20 वर्ष तक और लग सकते हैं। अन्य कारणों के साथ इस असफलता के निम्नलिखित कारण भी हैं:

- (1) पिछले पच्चीस वर्षों में जनसंख्या में भारी वृद्धि हुई है। जब संविधान में अनुच्छेद 45 का समावेश किया गया था तो यह सोचा गया था कि यदि लगभग 560 लाख बालक भर्ती कर लिए जाएंगे तो हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाएगा। हो सकता है पंचम योजना की समाप्ति पर, हम 998 लाख बालकों को भर्ती कर लें परंतू फिर भी हम लक्ष्य से बहुत दूर ही रहे हैं।
- (2) सर्वजनीन प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था एक बहुत खर्चीला कार्यक्रम है और इसके लिए लगभग 3-4 प्रतिशत राष्ट्रीय आय की आवश्यकता पड़ेगी। आर्थिक विकास के वर्तमान स्तर पर, शिक्षा पर हमारा कूल व्यय संपूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन के 3 और 4 प्रतिशत के बीच रहा है। अतः इस कार्यक्रम के लिए आवश्यक संसाधन उपलब्ध नहीं हैं।
- (3) हम लगभग अनन्य रूप से एक स्तर प्रवेश और पूर्णकालिक आनुक्रमिक एवं संस्थागत शिक्षा व्यवस्था पर निर्भर रहे हैं। इस प्रकार की व्यवस्था का लाभ केवल वही बालक उठा सकते हैं जो संपन्न परिवारों के हैं और पूर्णकालिक आधार पर विद्यालय जा सकते हैं। जैसा पहले बताया जा चका है, हमारे अधिकांश बालक निर्धन परिवारों के हैं और उन्हें काम करना होता है। उनमें से बहुत से बालक काफी अधिक आयू में विद्यालय में दाखिल होना चाहेंगे। अत: आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया जाए। औपचारिक पूर्णकालिक शिक्षा व्यवस्था के अतिरिक्त हमें बहुस्तर प्रवेश (विशेषकर 11 और 14 वर्ष की आयु में) और अंशकालिक शिक्षा के एक वृहद कार्यक्रम को भी शामिल करना पड़ेगा। अभी तक इन कार्यक्रमों को बड़े पैमाने पर नहीं चलाया गया है। परंतु जब तक इन कार्यक्रमों को व्यापक रूप से नहीं चलाया जाएगा तब तक निर्धन परिवारों के उन अधिकांश बालकों को शिक्षा देना संभव नहीं होगा जो काम करने के लिए मजबूर हैं।
- (4) प्रौढों के बीच साक्षरता फैलाने के कार्यक्रमों की उपेक्षा की गई है। इस से उस प्रकार का घरेलू वातावरण पदा नहीं होता है जो बालकों को विद्यालय में जाने के लिए प्रोत्साहन दे।
- (5) सर्वजनीन भर्ती अथवा प्रतिधारण में, विशेषकर ग्राम क्षेत्रों में सबसे बड़ी बाधा यह रही है कि वहां औसत परिवार निर्धन हैं। जब तक इस दिशा में भारी प्रयत्न नहीं किए जाएंगे तब तक 6-14 आयु वर्ग के सभी बालकों को सर्वजनीन प्राथमिक शिक्षा दिए जाने की अधिक आशा नहीं की जा सकती है।
- (ख) बुनियादी शिक्षा: विकास का दूसरा मुख्य कार्यक्रम यह सोचा गया था कि बुनियादी

शिक्षा कार्यक्रम के अंतर्गत विद्यालय में ऐसे उत्पादक कार्य का समावेश किया जाए जो सामाजिक रूप से उपयोगी हो। बुनियादी शिक्षा के मुख्य तत्वों के बारे में अध्याय दस में पहले ही चर्चा की जा चुकी है। प्रारंभिक अवस्था में, बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए काफी जोश विद्यमान था। उत्तर प्रदेश सरकार ने अचानक ही अपने सभी प्राथ-मिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालय में बदल दिया। अन्य राज्यों में इस कार्यक्रम को विशिष्ट विद्यालयों अथवा विशिष्ट क्षेत्रों अथवा दोनों में चालू किया गया। अध्यापकों के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया। इस दिशा में पहला कदम यह था कि अध्यापकों की सभी प्रशिक्षण संस्थाओं को बूनियादी शिक्षा के ढांचे से बदल देने का निर्णय किया गया। निरीक्षण अधिकारियों को भी प्रशिक्षण दिया गया अथवा बुनियादी शिक्षा कार्यंक्रम की ओर अभिमुख कर दिया गया। कुछ क्षेत्रों में, इस प्रयोग का विस्तार माध्यमिक चरण तक भी कर दिया गया तथा कुछ ऐसे विद्यालय भी स्थापित किए गए जो बुनियादी शिक्षा से आगे की शिक्षा देते थे।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक शैक्षिक गतिविधियां

जब यह पता चला कि इस कार्य के संबंध में प्रगति उतनी संतोषजनक नहीं रही है जितनी वांछित थी तो 1956 में 'बुनियादी शिक्षा का अभिविन्यास' नामक एक संशोधित योजना चालू की गई। इस योजना के अंतर्गत अब सभी प्राथमिक विद्यालयों में क्रिया-कलापों का एक सरल और सीमित कार्यक्रम आरंभ होना था और जब अध्यापक एवं निधियां उपलब्ध हो जातीं तो कुछ वर्षों में इन विद्यालयों के ढांचों को बदलकर पणें बुनियादी बना देना था। इस कार्यक्रम की प्रगति भी संतोषजनक नहीं रही।

ब्रियादी शिक्षा के संप्रत्यय के फलस्वरूप कई अच्छी बातें हुईं। इनमें सबसे महत्व-पूर्ण बात यह थी कि शैक्षिक विचारघारा में परिवर्तन हुआ । अब यह माना जाने लगा कि विद्यालय चरण में बालकों की शिक्षा में निम्नलिखित बातें हों : बहत काफी किया-कलाप, काम करके सीखना, शारीरिक श्रम का यथेष्ट तत्व और सामाजिक रूप से उत्पादक उपयोगी कार्य में भाग ग्रहण । ये बातें न केवल बालक को उसके प्रौढ़ जीवन के लिए तैयार करने के लिए आवश्यक थीं, वरन् उसके बौद्धिक और संवेगात्मक विकास के लिए भी इनकी आवश्यकता थी। वास्तव में, बुनियादी शिक्षा के संप्रत्यय ने पूस्तक पर केंद्रित साहित्यिक शिक्षा के पुराने संप्रत्यय पर घातक प्रहार किया यद्यपि उपर्यक्त कार्य-कम को संतोषजनक ढंग से कार्यान्वित करना संभव नहीं हो सका है।

ब्रिनयादी शिक्षा कार्यक्रम की प्रगति संतोषजनक न होने के निम्नलिखित मूख्य कारण हैं:

(1) वर्तमान प्राथमिक शिक्षा पद्धति का निर्माण मुख्यतः उच्च एवं मध्यम वर्गों के लिए किया गया था। चूंकि इस पद्धति में पूर्णकालिक शिक्षा पर अनन्य रूप से जोर दिया जाता है अतः सामान्यतः आम जनता के बालक इस पद्धति से बाहर ही रहते हैं। भारत के, विशेषकर नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले, उच्च और मध्यम वर्गों में शारीरिक श्रम के प्रति परंपरागत उदासीनता पाई जाती है और पुस्तक पर केंद्रित साहित्यिक शिक्षा के प्रति आकर्षण पाया जाता है। इन सामाजिक समूहों द्वारा किए गए सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रतिरोध पर काबू नहीं पाया जा सका। अतः यद्यपि उपर्युक्त शिक्षा संबंधी

महत्वपूर्ण सुधार के बारे में काफी चर्चा की गई तथापि इसे लागू करने के लिए प्रायः कोई प्रयास नहीं किए गए।

- (2) सर्वसाधारण ने भी इस पद्धित का भारी विरोध किया। उच्च और मध्यम वर्ग अपने लिए जो कुछ कर रहे थे, सर्वसाधारण ने सामान्यतः उसी की नकल करनी चाही। जब उसने यह देखा कि उच्च और मध्यम वर्ग के बालकों के लिए नगरीय क्षेत्रों में पुस्तक पर केंद्रित एवं साहित्यिक शिक्षा दी जा रही है (और अंग्रेजी भाषा सीखने पर जोर दिया जा रहा है) तथा ग्राम्य क्षेत्रों और निर्धन लोगों के लिए एक ऐसी अन्य शिक्षा पद्धित को चुना जा रहा है जिसमें काम पर जोर दिया जाता है और अंग्रेजी भाषा का अध्ययन नहीं कराया जाता है तो उसने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि उसे घटिया शिक्षा दी जा रही है। वस्तुतः इसी दृष्टिकोण से, बुनियादी शिक्षा के बारे में यह कहा जाने लगा कि 'वह अन्य लोगों के बालकों के लिए सबसे अच्छी शिक्षा है। अतः सर्वसाधारण भी बुनियादी शिक्षा का उच्च और मध्यम वर्गों के बराबर ही विरोधी हो गया। उसने यह मांग की कि देश के तमाम बालकों के लिए एक सामान्य एकरूप शिक्षा पद्धित होनी चाहिए। शिक्षा आयोग (1964-66) ने भी सिफारिश की कि प्राथमिक चरण में एक समान विद्यालय प्रणाली होनी चाहिए। इस सिफारिश को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। एक दोहरी शिक्षा पद्धित की व्यवस्था करने का प्रयास भी असफल रहा। इसमें से एक उच्च वर्गों के लिए थी और दूसरी सर्वसाधारण के लिए थी।
- (3) अनेक तकनीकी समस्याएं भी इससे जुड़ी हुई थीं। बुनियादी विद्यालयों में शिल्प के रूप में कताई और बुनाई पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया। विशेष-कर कताई के संबंध में विशेष किठनाइयां सामने आई। कृषि को सफलता मिलने की अपेक्षाकृत बहुत अधिक संभावना थी। परंतु अनेक कारणों से इसका केवल बहुत थोड़े ही विद्यालयों में समावेश किया जा सका। उदाहरण के लिए, इनमें से एक कारण यह था कि भूमि उपलब्ध न थी। शिल्प का अध्यापन भी पुराने ढंग का और अलाभकर था। कुशल अध्यापकों को प्रशिक्षित करना किठन कार्य था। आवश्यक साज सामान की व्यवस्था नहीं की जा सकी और बहुधा उसे अच्छी दशा में कायम रखना भी संभव नहीं हुआ। कच्चे माल की पूर्ति की व्यवस्थाएं प्रायः भंग हो जाती थीं और तैयार माल की बिक्री के लिए कोई संतोषजनक व्यवस्था नहीं की जा सकी।
- (4) एक अन्य बड़ी समस्या यह थी कि संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। यदि प्रयोग सीमित पैमाने पर हुआ होता तो उसे सफलता मिल सकती थी। वस्तुत: बहुत से ऐसे विद्यालयों में यह प्रयोग सफल भी हुआ जिसमें सही ढंग के अध्यापक उपलब्ध थे और आवश्यक सुविधाएं दी गई थीं। परंतु कार्यक्रम का बड़े पैमाने पर विस्तार करने के लिए संसाधन उपलब्ध नहीं थे।

बुनियादी शिक्षा की संपूर्ण समस्या पर पुनः शिक्षा आयोग (1964-66) ने विचार किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इस पद्धति के अनिवार्य तत्व सूल रूप से सही हैं और आवश्यक संशोधनों के साथ उन्हें शिक्षा के सभी चरणों में अपनाया जाएगा। शिक्षा आयोग ने ये तत्व निम्नलिखित बताए थे:

- (1) शिक्षा में उत्पादक कियाकलाप; (2) पाठ्यचर्या का उत्पादक कियाकलाप और भौतिक एवं सामाजिक परिवेश के साथ सह संबंध; और (3) विद्यालय एवं स्थानीय समुदाय के बीच निकट संपर्क। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि पाठ्यचर्या में समाविष्ट किया जाने वाला उत्पादक कियाकलाप, जिसे 'कार्यानुभव' कहते हैं, आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर आधारित होना चाहिए और, शिल्पों की भांति, पिछड़ा दिखाई देने वाला नहीं होना चाहिए। कार्यानुभव के इस प्रत्यय को स्वीकार कर लिया गया है। परंतु इसे शिक्षा पद्धित का एक अभिन्न अंग बनाना संभव नहीं हो सका है। बुनियादी शिक्षा की प्रगित में जो किठनाइयां बाधक रही हैं, वस्तुतः वे वही किठनाइयां हैं जो कार्यानुभव की प्रगित में भी बाधा डाल रही हैं।
- (ग) गुणात्मक सुधार के कार्यक्रम: गुणात्मक सुधार के कार्यक्रमों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है क्योंकि, कुल मिलाकर, प्राथमिक विद्यालयों के गुण को सुधारने के लिए अधिक काम नहीं किया गया है।
- (1) प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों के पारिश्रमिक को बढ़ाने के लिए काफी कार्य किया गया है। परंतु इस संबंध में जो वास्तविक प्रगति हुई है वह उतनी संतोषजनक नहीं है जितनी विश्वविद्यालय और माध्यमिक चरण में हुई है। प्राथमिक विद्यालय के अध्यापकों के वेतनमान अब भी कम हैं और अलग अलग राज्यों में भिन्न भिन्न हैं।
- (2) प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों की अईता को बढ़ाने के संबंध में अपेक्षाकृत अच्छी प्रगति हुई है। अब किसी व्यक्ति को तब तक प्राथमिक विद्यालय का अध्यापक नियुक्त नहीं किया जाता है जब तक वह अपनी माध्यमिक शिक्षा पूरी न कर ले। नगरीय क्षेत्रों और ग्राम्य क्षेत्रों में भी प्राथमिक विद्यालयों में काम करने के लिए स्नातक भी भारी संख्या में उपलब्ध होते जा रहे हैं। अध्यापिकाओं का प्रतिशत लगातार बढ़ रहा है। प्राथमिक अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण की सुविधाएं भी बढ़ा दी गई हैं और उनमें सुधार भी कर दिया गया है। असम और पश्चिमी बंगाल जैसे कुछ राज्यों को छोड़कर, प्रशिक्षित अध्यापकों के प्रतिशत में भी यथेष्ट वृद्धि हो गई है। केरल अथवा पंजाब जैसे राज्यों में प्राथमिक विद्यालयों में अप्रशिक्षित अध्यापक तो हैं ही नहीं।
- (3) प्राथमिक विद्यालयों की पाठ्यचर्या में भी सुधार किया गया है और उसे आधुनिक बना दिया गया है। दुर्भाग्यवश, न तो कार्यानुभव के क्रियाकलाप को संतोष-जनक रूप से चलाया गया है और न प्राथमिक शिक्षा की पाठ्यचर्या का स्थानीय परिवेश के साथ घनिष्ठ संबंध ही स्थापित कर पाए हैं।
- (4) पाठ्यचर्या और मूल्यांकन की प्रणालियों में कुछ प्रगति हुई है। पाठ्य पुस्तकों के गुण में भी कुछ सुधार हुआ है। ऐसा विशेषकर इसलिए हुआ है कि अधिकांश राज्य सरकारों ने उन्हें तैयार करने के लिए विशेष संस्थाएं भी स्थापित की हैं।
- (5) विद्यालय भवनों एवं साज सामानों में भी कुछ सुधार हुआ है। कई क्षेत्रों में, स्थानीय समुदाय विद्यालय भवनों और साज सामान की भी व्यवस्था कर रहा है। तिमलनाडु जैसे राज्यों में उल्लेखनीय परिणाम निकले हैं। रुड़की के केंद्रीय भवन अनुसंधान संस्थान ने कम लागत वाले विद्यालय भवनों के डिजाइन तैयार कर

लिए हैं और इनका प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता चला जा रहा है।

408

(6) प्राथमिक शिक्षा के प्रबंध की जो पूरानी समस्या है उसकी ओर बहुत घ्यान दिया गया है। परंतु कोई एकसम राष्ट्रीय ढांचा तैयार करना संभव नहीं हुआ है। कुछ राज्यों में राज्य सरकार प्राथमिक शिक्षा का सीधे प्रशासन करती है। अन्य राज्यों में इसका प्रशासन स्थानीय निकायों के द्वारा होता है। कभी कभी इन निकायों का जिले के स्तर पर गठन किया जाता है इसलिए इन निकायों को दी गई शक्तियों में भी विधिवता पाई जाती है। कुछ राज्यों में स्थानीय निकाय केवल प्राथमिक शिक्षा का काम संभालते हैं। अन्य राज्यों में वे माध्यमिक विद्यालयों का प्रबंध भी करते हैं। यह अभी भी एक विवादास्पद विषय है कि स्थानीय निकायों को शिक्षा का प्रशासन करने दिया जाए या न कर दिया जाए और इस संबंध में भारी मतभेद हैं। नियमतः अध्यापक यह चाहते हैं कि राज्य सरकारें प्राथमिक शिक्षा का सीधा प्रशासन करें। जनता का कोई एकमत नहीं है। राजनीतिक मत समय समय पर बदलता रहा है। एक बार अधिकतर लोगों की राय यह थी कि प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय निकायों को अंतरित कर दिया जाए। इसके बाद अब लोगों की राय दूसरी दिशा में बदलनी आरंभ हो गई है। वर्तमान स्थिति यह हैं कि अब भी भारी मतभेद मौजूद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विषय ऐसे विवादास्पद विषयों में से है जिनके बारे में कोई सामान्य राष्ट्रीय नीति विकसित करना संभव नहीं होगा और न ऐसा प्रयत्न करने की आवश्यकता ही है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन के विभिन्न प्रतिरूपों को विभिन्न राज्यों द्वारा न अपनाया जाए बशर्ते दैनंदिन प्रशासन कार्यकुशल हो और अच्छी शिक्षा के विकास में सहायक हो।

प्रोढ़ शिक्षा: यद्यपि स्वाधीनता पूर्व काल में राष्ट्रीय शिक्षा का जो संप्रत्यय प्रतिपादित किया गया था, उसमें व्यापक निरक्षरता को समाप्त करने के कार्यक्रमों को उच्च प्राथमिकता दी गई थी तथापि स्वातंत्र्योत्तर काल में प्रौढ़ साक्षरता के कार्यक्रमों की ओर यथेष्ट घ्यान नहीं दिया गया। सामान्य दृष्टिकोण यह था कि यदि अल्पकाल में, अर्थात जैसी संविधान के अनुच्छेद 45 में अपेक्षा की गई है 1960 तक, सर्वजनीन शिक्षा के कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित कर दिया गया, तो कुछ वर्षों में प्रौढ़ साक्षरता सर्वजनीन हो जाएगी। दुर्भाग्यवश, यह कार्यक्रम समयानुसार कार्यान्वित न हो कर बहुत पिछड़ गया है। इसके अतिरिक्त, इसका साक्षरता पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि प्राथमिक विद्यालयों के छात्र स्थाई साक्षरता अजित करने से पहले ही बहुत बड़ी संख्या में विद्यालयों की पढ़ाई छोड़ देते हैं। उनमें से कुछ पुनः निरक्षर बन जाते हैं क्योंकि ग्राम्य क्षेत्रों में वे जिस वातावरण में रहते हैं, उसमें उन्हें अपनी साक्षरता का उपयोग करने के लिए अधिक गुंजाइश नहीं रहती है।

1947 में भारत में लगभग 14 प्रतिशत साक्षरता थी। 1971 की जनगणना के अनु-सार यह 29 प्रतिशत है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि साक्षरता का प्रतिशत दूना हो गया है। यह प्रगति धीमी है, विशेषकर इस दृष्टि से कि सारक्षरता एक प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी कम दर से बढ़ी है जबकि जनसंख्या 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी है। अत: 1947 की अपेक्षा आज निरक्षर प्रौढ़ अधिक संख्या में हैं।

व्यापक साक्षरता बढ़ने से सामाजिक जीवन में गुणात्मक अंतर आ जाता है। भारतीय समाज के विकास में एक मुख्य बाधा यह रही है कि व्यापक निरक्षरता सतत रूप से विद्यमान है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि आगामी वर्षों में इस कार्यक्रम को उच्च प्राथमिकता देनी होगी और प्रौढ़ों के बीच साक्षरता फैलाने के लिए व्यापक अभियान चलाने होंगे। महाराष्ट्र राज्य के कुछ क्षेत्रों में लोगों ने साक्षरता फैलाने के इस कार्य को स्वैच्छिक प्रयत्न द्वारा बहुत सफलतापूर्वक किया है। पश्चिमी बंगाल राज्य में भी कुछ अच्छा कार्य किया गया है। आवश्यकता इस बात की है कि देश के सभी भागों में इन प्रयत्नों का और अधिक व्यापक रूप से विस्तार किया जाए। इस दिशा में एक कदम युवकों (15-25 आयु वर्ग) के बीच साक्ष रता का प्रसार करने की एक प्रस्थापना है। इस प्रस्थापना को पंचवर्षीय योजना में शामिल किया गया है।

इस क्षेत्र में दो महत्वपूर्ण चीजों का उल्लेख करने की आवश्यकता है। इनमें से पहली चीज सामाजिक शिक्षा का संप्रत्यय है। इसमें साक्षरता तो शामिल है ही, परंत उससे भी आगे प्रौढ़ शिक्षा के समाजीकरण पर जोर दिया गया है। इसमें निम्नलिखित विषयों को समाविष्ट किया गया है: नागरिकता तथा स्वास्वध्य संबंधी शिक्षा, दैनिक जीवन में अनुप्रयुक्त विज्ञान की जानकारी, व्यावसायिक कार्यकुशलता की बढाने वाली सचना एवं कौशल का अर्जन, अच्छी आदतों का डालना तथा सांस्कृतिक एवं मनोरंजक कार्यक्रमों में भाग ग्रहण । यदि इस संप्रत्यय को बड़े पैमाने पर विकसित करके उसके अंतर्गत संपूर्ण प्रौढ जनसंख्या को शामिल किया जा सके तो वास्तव में ही इस व्यापक संप्रत्यय से भारी परिर्वतन होगा। दूसरी चीज विश्वविद्यालय चरण का प्रौढ़ शिक्षा संबंधी कार्यक्रम है। यह अभी प्रारंभिक अवस्था में हैं। यहां कार्यक्रम का निहित उद्देश्य साक्षरता नहीं है और न सामाजिक शिक्षा ही हैं। यहां उसका निहित उद्देश्य यह है कि उन लोगों की शिक्षा को आगे जारी रखना है जो माध्यमिक शिक्षा अथवा विश्वविद्यालय शिक्षा भी ग्रहण कर चके हैं। चुंकि समाज बहुत तेजी से बदल रहा है अतएव प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह लगातार अपने को पुन: शिक्षित करता रहे। कर्मी प्रौढों की शिक्षा जारी रखने के कार्यक्रमों को दिन पर दिन प्रमुखता मिलती जा रही है। यह एक अच्छी बात है कि भारतीय विश्वविद्यालय भी इन कार्यक्रमों को अपना रहे हैं ।

प्राग्विद्यालय शिक्षा: एक अन्य कार्यक्रम जिसके महत्व को समझा तो गया था परंतु जिसे पर्याप्त रूप से आगे नहीं बढ़ाया गया प्राग्विद्यालय शिक्षा का कार्यक्रम है। पिछले पच्चीस वर्षों में प्राग्विद्यालय शिक्षा की सार्थंकता के बारे में चेतना बढ़ी है और पूर्व प्राथमिक विद्यालयों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। परंतु इनमें से अधिकांश संस्थाएं नगरीय क्षेत्रों की फीस की सहायता से चलने वाली गैर सरकारी संस्थाएं हैं। इनके शिक्षार्थी उच्च तथा मध्य वर्गों के हैं। परंतु निर्धन वर्गों के बीच इस शिक्षा की अधिक आवश्यकता है और यह अनिवार्य रूप से राज्य का उत्तरदायित्व है।

निर्धन वर्गों के लिए प्राग्विद्यालय शिक्षा देने के कार्यक्रम सामुदायिक विकास कार्यक्रम

के अंतर्गत और केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड के अधीन शुरू हुए थे। शिक्षा विभागों ने भी कुछ पूर्व प्राथमिक विद्यालय स्थापित करना अथवा उन्हें सहायता देना आरंभ किया था। परंतु चूंकि उपलब्ध निधियां सीमित थीं, अतः समग्र प्रगति बहुत कम हुई। यह अनुमान लगाया गया है कि 1972 तक लगभग 10 लाख बालक अथवा केवल लगभग 2 प्रतिशत बालक इस कार्यक्रम के अंतर्गत आ पाए थे।

पंचम योजना में, अनेक विशिष्ट क्षेत्रों में शिशु देखभाल सेवाओं का समाकलित कार्यक्रम चलाने का विचार है। इस कार्यक्रम में पोषाहार, रोगक्षमताकरण, स्वास्थ्य एवं कल्याण सेवाएं तथा जहां कहीं संभव होगा, प्राग्विद्यालय शिक्षा को भी शामिल किया जाएगा।

शैक्षिक अवसरों का समकरण: आनुक्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं का एक मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि शैक्षिक अवसरों का समकरण हो। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, प्रारंभिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय चरणों में शक्षिक सुविधाओं के विस्तार कार्य-क्रमों के द्वारा इस दिशा में यथेष्ट प्रगति हुई है। तो भी यहां पर इस समस्या के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं का उल्लेख कर देना चाहिए:

(1) लड़ कियों की शिक्षा: लड़कों और लड़ कियों की शिक्षा में अब भी असमानता है। जैसे जैसे शिक्षा की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ते जाते हैं यह असमानता बढ़ती चली जाती है परंतु चूंकि सभी चरणों में लड़ कियों की शिक्षा को बढ़ाने के लिए सभी पंचवर्षीय योजनाओं में विशेष प्रयत्न किए गए हैं अतः यह विसंगति अब घटती जा रही है।

1958 में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में भारत सरकार ने एक स्त्री शिक्षा राष्ट्रीय समिति नियुक्त की थी। इस समिति से निवेदन किया गया था कि वह उन कठिनाइयों पर विचार करे जो लड़ कियों की शिक्षा की प्रगति में बाधक हैं और उस रीति के बारे में अपनी सिफारिशों सरकार को दे जिस रीति से लड़ कियों की शिक्षा को, विशेषकर प्राथमिक तथा माध्यमिक चरणों में, लड़ कों की शिक्षा के बराबर लाया जा सकता है। समिति ने इस समस्या पर विशद रूप से विचार किया और उसका प्रतिवेदन इस विषय में एक प्रमाणिक निर्देशद स्तावेज है। उसकी मुख्य सिफारिशों निम्निलिखित हैं:

- (1) आगामी कुछ वर्षों तक स्त्री शिक्षा को विशेष समस्या माना जाए और देश की पंचवर्षीय योजना में इसके विकास के लिए विशेष निधियों की व्यस्था की जाए:
- (2) केंद्र में स्त्री शिक्षा के लिए एक राष्ट्रीय परिषद हो और सभी राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों में स्त्री शिक्षा के लिए राज्य परिषदें स्थापित की जाएं। इन परिषदों का मुख्य लक्ष्य यह होगा कि जनमत को शिक्षात किया जाए, स्त्री शिक्षा के कार्य में लगे हुए सरकारी और गैर सरकारी लोगों को लड़िकयों की शिक्षा के विकास के लिए एक ही मंच पर लाया जाए और लड़िकयों की शिक्षा की द्रुत गित से उन्नित करने के लिए अपनाए जाने वाले उपायों के वारे में भारत सरकार और राज्य सरकारों को सलाह दी जाए।
- (3) शिक्षा कार्यक्रमों की देखरेख के लिए भारत सरकार में एक विशेष यूनिट हो।

निदेशालय स्तर पर एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाए और उसे लड़िकयों की शिक्षा से संबंधित कार्यक्रमों का भार सौंपा जाए। वर्तमान बालिका विद्यालय निरीक्षणालय को भी काफी सबल बनाया जाए।

- (4) लड़िकयों की शिक्षा का द्रुत विस्तार करने के लिए भारी संख्या में विशेष कार्यकम तैयार करने की आवश्यकता है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण निम्नलिखित कार्यक्रम हैं: अध्यापिकाएं तैयार करना और उन्हें नौकरी देना, लड़िकयों के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करना जैसे मुपत पुस्तकें एवं लेखन सामग्री, छात्रवृत्तियां और वस्त्र दिया जाना और मध्याह्न भोजन की व्यवस्था।
- (2) अनुसूचित जातियों की शिक्षा: अनुसूचित जातियों की शिक्षा में यथेष्ट प्रगित हुई है। नगरीय क्षेत्रों में अस्पृश्यता संबंधी कठोर नियंत्रणों में अब बहुत कमी हो गई है। ग्राम्य क्षेत्रों में भी यह कुप्रथा समाप्त होती जा रही है। शिक्षा के सभी चरणों में अनुसूचित जातियों के छात्रों की भर्ती में हुई वृद्धि की दर संपूर्ण देश में छात्रों की भर्ती में हुई वृद्धि की दर की अपेक्षा बहुत अधिक है। इससे अनुसूचित जातियों तथा अन्य जातियों के बीच की खाई तेजी से पटती जा रही है। अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधियों के लिए स्थानीय निकायों, राज्य विधान मंडलों और संसद में स्थान आरिक्षित हैं जिससे उन्हें यथेष्ट राजनीतिक उत्तोलन मिल गया है। उनकी जनसंख्या के आधार पर सरकारी नौकरी में भी उनके लिए पद आरिक्षत हैं।
- (3) अनुसूचित जनजातियों की शिक्षा: अनुसूचित जनजातियों के बीच शिक्षा का प्रसार करने के लिए भी उसी प्रकार के कार्यक्रम अपनाए गए हैं जिस प्रकार के अनुसूचित जातियों के लिए अपनाए गए हैं। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा के सभी स्तरों पर इन जातियों के छात्रों की संख्या में भारी वृद्धि हो रही है। कुछ जनजातियां बहुत उन्नत हैं। परंतु कुल मिलाकर वे अनुसूचित जातियों से भी पिछड़ी हैं और उन्नत जातियों के बराबर पहुंचने के लिए उन्हें अभी बहुत मार्ग तय करना है।
- (4) क्षेत्रीय असमानताएं: ऐतिहासिक, भौतिक, सामाजिक और आर्थिक कारणों से देश के विभिन्न राज्यों में शिक्षा प्रसार के संबंध में भारी असमानता पाई जाती है। इस बात का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि प्राथमिक शिक्षा के विकास में क्षेत्रीय असमानताएं विद्यमान हैं। माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में भी इसी प्रकार की असमानताएं मौजूद हैं। इन असमानताओं को सभी आनुक्रमिक योजनाओं में अनेक प्रकार से कम करने के लिए विशेष प्रयत्न किए गए हैं। उदाहरण के लिए, पिछड़े क्षेत्रों के लिए विशेष सहायता की व्यवस्था की गई है। समय बीतने के साथ असमानताएं कम होती जा रही हैं यद्यिप समस्या अब भी दुर्जेय बनी हुई है।
- (5) विकलांग बालक: समाज कल्याण के अंतर्गत, विकलांग बालकों को शिक्षित करने के लिए कुछ वर्षों से एक शालीन कार्यक्रम तैयार किया जा रहा है। सभी श्रीणयों के विकलांग बालकों के विद्यालयों की संख्या में वृद्धि हो गई है। भारत सरकार ने विकलांग बालकों के लिए छात्रवृत्तियों का कार्यक्रम, अंधों के लिए ब्रेल पुस्तकों का कार्यक्रम और विकलांग व्यक्तियों के व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं पुनर्वास की एक योजना प्रारंभ की है।

इनमें से अधिकांश विद्यालयों का संचालन स्वेच्छा संगठन करते हैं। इन संगठनों को राजकीय निधियों से सहायता प्राप्त होती है।

(6) छात्रवृत्तियां: आनुक्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं में एक मुख्य कार्यक्रम यह रखा गया था कि प्रतिभा को खोजा और बढ़ाया जाए। राज्य सरकारों ने उस धनराशि में वृद्धि कर दी है जो वे माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय चरणों में छात्रवृत्तियों के लिए देती हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन छात्रवृत्तियों के अतिरिक्त भारत सरकार ने छात्रवृत्तियों के दो मुख्य कार्यक्रम चालू किए हैं: (1) माध्यमिक चरण में विकेंद्रीकृत भौगोलिक आधार पर दी जाने वाली छात्रवृत्तियों का एक बड़ा कार्यक्रम आरंभ किया गया है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत, प्राथमिक विद्यालय की पढ़ाई समाप्त होने पर ग्राम्य क्षेत्र से प्रतिभावान विद्याधियों को खोज निकाल्य जाएगा और उनकी सहायता की जाएगी ताकि वे अच्छे विद्यालयों में माध्यमिक शिक्षा पूरी कर सकें; (2) जो योग्य छात्र आधिक बाधाग्रस्त परिवारों से आते हैं उनके लिए राष्ट्रीय छात्रवृत्तियों एवं परिदाय छात्रवृत्तियों का एक बड़ा कार्यक्रम आरंभ किया गया है। इस कार्यक्रम की सहायता से वे विश्वविद्यालय चरण में अपना अध्ययन जारी रख सकेंगे। कई अन्य छात्रवृत्तियों भी हैं जैसे समुद्र पार अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियां, आवासिक अथवा पिलक स्कूलों में छात्रवृत्तियां, प्राथमिक तथा माध्यमिक अध्यापकों के बालकों के लिए छात्रवृत्तियां, प्राथमिक तथा माध्यमिक अध्यापकों के बालकों के लिए छात्रवृत्तियां इत्यादि।

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के छात्रों की सहायता करने के लिए छात्रवृत्तियों एवं अन्य सुविधाओं का एक बड़ा कार्यक्रम आरंभ किया गया है। इन वर्गों के विद्यार्थियों को नि:शुल्क माध्यमिक शिक्षा मिलती है। सरकार ने बड़ी संख्या में छात्रा-वास भी स्थापित किए हैं जहां इन वर्गों के विद्यार्थियों के लिए मुफ्त भोजन और आवास की व्यवस्था की जाती है। विश्वविद्यालय चरण में अनुसूचित जनजातियों के प्रत्येक विद्यार्थी को छात्रवृत्ति दी जाती है परंतु उसकी जीविका साधन की जांच होती है। इस समय दी जाने वाली उपर्युक्त छात्रवृत्तियों की संख्या 2,25,000 से भी अधिक है और इनसे इन दुर्बलतर वर्गों को माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय चरणों में शैक्षिक विकास की समानता प्रदान करने में सारभूत रूप से सहायता मिली है।

कृषि शिक्षा: विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने कहा है कि 'कृषि का हित साधन करने वाली शिक्षा बहुत ही अपर्याप्त है और कृषि शिक्षा को एक प्रमुख राष्ट्रीय विषय माना जाना चाहिए।' कृषि शिक्षा का महत्व स्वीकार किए जाने से न केवल सुविधाएं बढ़ीं वरन विद्यमान संस्थाओं तथा उन नई संस्थाओं में कृषि शिक्षा की पुनर्व्यवस्था भी हुई जो शैक्षिक कार्य कमों के विशेष गुण पर जोर देते हुए, कृषि विज्ञानों की विभिन्न शाखाओं में कृषि किमयों के प्रशिक्षण की सुविधाएं प्रदान करने के लिए स्थापित की गई थीं।

1947 में, कृषि में उच्च शिक्षा देने वाली कुल 17 कृषि संस्थाएं थीं। इस समय 93 कृषि महाविद्यालय हैं। 1965-66 में इन संस्थाओं में सबसे अधिक दाखिले (11, 562) हुए। परंतु कृषि स्नातकों की बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण हाल में दाखिलों में कुछ कमी हुई है। कृषि शिक्षा के प्रसार की प्रारंभिक अवस्थाओं में अध्यापन संस्थाओं में कोई

भी विस्तार नहीं हुआ और न अनुसंधान संबंधी गतिविधियां हुईं। उनका ढांचा भी वही रहा जो स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व था। परंतु शीघ्र ही इस पद्धति की कमजोरी का पता चल गया और कृषि शिक्षा को ठोस आधार देने के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका के लैंड ग्रांट महाविद्यालयों के नमूने पर कृषि विद्यालय स्थापित करने का निर्णय किया गया। लैंड ग्रांट महाविद्यालयों में कृषि शिक्षा, अनुसंधान और शिक्षा प्रसार एक साथ शामिल हैं। इस प्रकार के अब 19 विश्वविद्यालय हैं और यह लक्ष्य है कि प्रत्येक राज्य में एक एक कृषि विद्यालय स्थापित कर दिया जाए। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के अधीन कृषि अनुसंधान का एक व्यापक कार्यक्रम भी तैयार किया गया। इस कार्यक्रम तथा इसी के समान व्यापक शिक्षा प्रसार कार्यक्रम का बहुर्चीचत हरित क्रांति को लाने में प्रमुख हाथ रहा है। सभी किसानों को (यहां तक की निरक्षर नवयूवकों और प्रौढों को भी) कृषि का आवश्यक तकनीकी ज्ञान 'तकनीकी तंत्र' की शिक्षा देने के लिए कृषि पाली-टेक्नीकों का और आगे विस्तार करने का एक विशाल कार्यक्रम तैयार किया गया है। चिकित्सा शिक्षा: 1946 तक देश में 15 आयुर्विज्ञान महाविद्यालय थे। उनकी वार्षिक छात्र संख्या 1,200 थी। भारत के सबसे पुराने महाविद्यालयों में भी विशेषज्ञों के प्रशिक्षण एवं स्नातकोत्तर शिक्षा पर या तो बिल्कूल जोर नहीं दिया गया था या बहत थोड़ा जोर दिया गया था। अत: इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम पर स्वातंत्र्योत्तर काल में बहुत जोर दिया गया। स्वास्थ्य सर्वेक्षण तथा योजना समिति (1959-60), मुदालियर समिति आदि ने इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया। आज 100 आयु विज्ञान महाविद्यालय मौजूद हैं जिनकी वार्षिक प्रदेश क्षमता 12,500 है। अतः चिकित्सकों की संख्या में यथेष्ट वृद्धि हो गई है और अब प्रत्येक लगभग 4,400 व्यक्तियों के लिए एक चिकित्सक मौजूद है (जबिक प्रत्येक 3,500 व्यक्तियों के लिए एक चिकित्सक होने का लक्ष्य रखा गया है)। अनुचिकित्सा कार्मिकों के प्रशिक्षण की सुविधाओं में समान वृद्धि हुई है। इसके परिणामस्वरूप चिकित्सा सुविधाओं एवं सेवाओं को बढ़ा और सुधार लिया गया है। इन कार्यों से तथा स्वस्थ्य सेवाओं में सुधार होने और निवारक कार्यंक्रमीं (जैसे मलेरिया उन्मूलन, चेचक के टीके, हैजे के टीके आदि) के परिणामस्वरूप मृत्यु दर में भारी कमी हो गई है और जन्मोपरांत जीवन प्रत्याशा में भारी वृद्धि हो गई है।

आयुर्विज्ञान में स्नातकोत्तर अध्यापन एवं अनुसंधान का भी यथेष्ट विस्तार हुआ है। क्षेत्रीय स्नातकोत्तर केंद्र स्थापित किए जा रहे हैं और संसद के एक अधिनियम द्वारा एक अखिल भारतीय चिकित्सा विज्ञान संस्थान की स्थापना की गई है। एक राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्रशासन तथा शिक्षा संस्थान की भी स्थापना की गई है और भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद के अधीन चिकित्सा अनुसंधान को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

तकनीकी शिक्षा: स्वतंत्र भारत के लिए सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की थी कि वह अपनी कृषि प्रधान अर्थं व्यवस्था को अल्पकाल में एक बड़ी औद्योगिक अर्थव्यवस्था में बदल दे परंतु इस कार्य को आरंभ करने के लिए बुनियाद बहुत छोटी थी। 1947 में देश में इंजीनियरी में केवल 930 छात्र स्नातक बने और प्रौद्योगिकी में 320 बने। स्नातकोत्तर

चरण में प्रौद्योगिकी में उच्च प्रशिक्षण की सुविधाएं बहुत कम थीं और इंजीनियरी में तो प्रायः थीं ही नहीं।

पिछले पच्चीस वर्षों में तकनीकी शिक्षा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है । इस समय देश में पांच प्रौद्योगिकी संस्थान और 15 क्षेत्रीय इंजीनियरी महाविद्यालय हैं। ये सब प्रथम श्रेणी की संस्थाएं हैं और उच्च कोटि की इंजीनियरी शिक्षा देती हैं। इसके अतिरिक्त विद्यमान इंजीनियरी महाविद्यालयों और पालीटेकनीकों का विस्तार किया गया और उन्हें सबल बनाया गया। बहुत से नए महाविद्यालय तथा पालीटेकनीक भी स्थापित किए गए। परिणाम यह हुआ कि 1947 में इंजीनियरी महाविद्यालयों में वार्षिक दाखिलों की संख्या 3,000 से बढ़कर 1965-66 में 25,000 हो गई । पालीटेकनीकों में होने वाले वार्षिक दाखिलों की संख्या 1947 में 3,700 थी। वह बढ्कर 1965-66 में 50,000 हो गई। स्वांतह्योतर काल में उद्योगों का जो भव्य विकास हुआ है। उसके प्रमुख कारणों में से एक कारण इंजीनियरी महाविद्यालयों एवं पालीटेकनीकों का उपयुक्त प्रसार भी है। दुर्भाग्यवश, 1965-66 के बाद औद्योगिक मंदी आ गई और उसने प्रशिक्षित इंजीनियरी जनशक्ति की मांग को कम कर दिया। इसके परिणामस्वरूप इंजीनियरों और पाली-टेकनीकों में प्रशिक्षित व्यक्तियों के बीच बेरोजगारी बढ़ने लगी । अत: सरकार ने अस्थाई उपाय के तौर पर इंजीनियरी महाविद्यालयों और पालीटेकनीकों में होने वाले नए दाखिलों में कमी कर दी। अब स्थिति काफी सुधर गई है। यह आशा की जाती है कि पंचम योजना में उद्योगों की पुनः पहले जैसी गति से संवृद्धि होने लगेगी जिससे प्रशिक्षित इंजीनियरी जन शक्ति की मांग बढ़ जाएगी। इससे इंजीनियरी संस्थाओं में वार्षिक दाखिलों को पूववर्ती स्तरों पर लाना और सुविधाओं को और भी अधिक बढ़ा पाना संभव हो जाएगा।

अन्य कार्यक्रम : यहां पर अन्य कार्यक्रमों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है जो केंद्र में और राज्यों में स्वांतह्योतर काल में चलाए गए हैं :

- (1) हिंदी के विकास के लिए भारत सरकार एक अच्छा कार्यक्रम तैयार कर सकी हैं। उसने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया है कि वह एक तकनीकी शब्दावली तैयार करा रही है। इस शब्दावली का हिंदी तथा अन्य सभी भारतीय भाषाओं में प्रयोग किया जाएगा। उपर्युक्त प्रयोजन के लिए 1950 में एक केंद्रीय तकनीकी शब्दावली बोर्ड गठित किया गया था और हाल ही में उसका स्थान वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली संबंधी स्थाई आयोग ने ले लिया है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में स्नातक और स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए अपेक्षित कुल अनुमानित 3,50,000 तकनीकी शब्दों में से लगभग 2,90,000 तकनीकी शब्द अब तक गढ़े जा चुके हैं। भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के कर्मचारियों को हिंदी सिखाने के लिए भी योजनाएं चालू हैं। हिंदी को अहिंदी भाषी क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाने और उसका प्रसार करने के लिए अनुदान दिए जा रहे हैं। मानक ग्रंथों के प्रकाशन के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया गया है और उसे कार्यान्वित किया जा रहा है।
 - (2) शारीरिक शिक्षा और संबद्ध कियाकलापों के क्षेत्र में यथेष्ट प्रगति हुई है।

ग्वालियर में 'रानी लक्ष्मीबाई शारीरिक शिक्षा महाविद्यालय' नामक एक शारीरिक शिक्षा राष्ट्रीय महाविद्यालय स्थापित किया गया है। इस महाविद्यालय में शारीरिक शिक्षा का तीन वर्षीय पाठ्यकम चल रहा है और शीघ्र ही यह स्नातकोत्तर स्तर पर भी अनुसंधान की सुविधाएं प्रदान करने लगेगा। खेलकूद के विकास के लिए पिटयाला में नेताजी सुभाष राष्ट्रीय खेलकूद संस्थान की स्थापना की गई है। इसका उद्देश्य देश में खेलकूद के विकास के लिए प्रथम श्रेणी के अनुशिक्षक तैयार करना है। विदेशों से बुलाए गए विश्वेषज्ञ अनुशिक्षकों की सहायता से अनेक अनुशिक्षण योजनाओं को भी कार्यान्वित किया जा रहा है। विद्यालयों के विद्यार्थियों में अनुशासन बढ़ाने और उनका चरित्र निर्माण करने के उद्देश्य से एक राष्ट्रीय अनुशासन योजना आरंभ की गई है। इस समय इस योजना को देश की 1,500 से अधिक संस्थाएं कार्यान्वित कर रही हैं। बालचरों और गर्ल गाइडों के एक कार्यक्रम को आरंभ करने के लिए भी कदम उठाए गए हैं। अनेक युवक कल्याण योजनाएं भी तैयार की गई है और उन्हें कार्यान्वित किया जा रहा है।

- (3) 1947 से पहले, देश के तमाम भागों में होने वाली शैक्षिक गतिविधियों से संबंधित आंकड़े एक स्थान पर उपलब्ध नहीं थे। ब्रिटिश भारतीय प्रांत शिक्षा के संबंध में अपने अपने प्रतिवेदन प्रकाशित करते थे। परंतु ब्रिटिश भारतीय प्रांत देश का केवल दो तिहाई भाग ही थे और शेष एक तिहाई भाग 700 से अधिक देशी रियासतों में बंटा हुआ था। बड़ी बड़ी देशी रियासतों शिक्षा के संबंध में अपने अलग प्रतिवेदन प्रकाशित करती थीं। परंतु उन रियासतों की संख्या बहुत कम थी। अधिकांश देशी रियासतों के संबंध में कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं थे। स्वांतह्योत्तर काल की एक मुख्य उपलब्धि यह थी कि देश को गिनी चुनी जीवनक्षम प्रशासनिक इकाइयों में विभाजित कर दिया गया और संपूर्ण देश के बारे में शैक्षिक आधार सामग्री और आंकड़ों का संग्रह किया गया। प्रथम अखिल भारतीय आंकड़े 1949-50 में प्रकाशित किए गए थे। उसके बाद से इन्हें प्रतिवर्ष प्रकाशित किया जाता रहा है। शिक्षा मंत्रालय में एक प्रकाशन अनुभाग भी स्थापित किया गया है और अधिकांश राज्य सरकारों के अपने अपने प्रकाशन विभाग हैं। इसके परिणामस्वरूप शैक्षिक सूचना अब प्रचुर मात्रा में और देश के सभी भागों के संबंध में उपलब्ध है।
- (4) आंकड़ों को इकट्ठा करने का यह कार्य लगातार चल रहा हैं। इसके अतिरिक्त आविधक रूप से शिक्षा के संबंध में विशद सर्वेक्षण भी किए जाते हैं। पहला अखिल भारतीय शिक्षा सर्वेक्षण 1957 में किया गया था। इसमें प्राथमिक तथा माध्यथमिक शिक्षा को लिया गया था। दूसरा सर्वेक्षण 1965 में किया गया था। यह बहुत व्यापक था परंतु फिर भी विद्यालय चरण तक सीमित था। अब तीसरा अखिल भारतीय शिक्षा सर्वेक्षण किया जा रहा है। यह सभी पूर्ववर्ती सर्वेक्षणों से अधिक व्यापक है और इसमें न केवल विद्यालय शिक्षा को लिया गया है वरन उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और शैक्षिक योजना को भी शामिल किया गया है। इसके 1975 तक पूरा हो जाने की आशा है।
- (5) प्रथम दो योजनाओं में अनुसंघान और विकास कार्यक्रमों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था। परंतु उसके बाद से उनकी ओर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में, इन कार्यक्रमों के लिए विश्वविद्यालय अनुदान

आयोग उत्तरदाई है। विद्यालय चरण में, इन्हें विशेष रूप से केंद्र में राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंघान प्रशिक्षण परिषद द्वारा (1960 में स्थापित) तथा राज्य शिक्षा संस्थानों (1964-65 में स्थापित) द्वारा चलाया जा रहा है। इस बात के लिए भी प्रयास किए गए हैं कि विद्यालय शिक्षा सुधार के लिए कार्यक्रम तैयार करने में, विशेषकर विज्ञान और गणित में पाठ्यचर्या के विकास कार्य में, विशिष्ट विद्यालय विभागों को संबद्ध किया जाए। जैसा पहले बताया जा चुका है, शैक्षिक प्रबंध और आयोजना के क्षेत्र में शिक्षा योजनाकार तथा प्रशासक राष्ट्रीय कर्मचारी वर्ग महाविद्यालय अनुसंधान एवं विकास कार्य को भी प्रोत्साहन देगा। पंचम पंचवर्षीय योजना में इन कार्यक्रमों पर और भी अधिक जोर दिया जाएगा और उनके लिए निधियां निर्धारित कर दी गई हैं।

- (6) हाल ही में, लोगों के मन में यह भाषना बलवती हो गई है कि यह वांछनीय नहीं होगा कि अतीत की भांति प्राय: अनन्य रूप से उस एक स्तर प्रवेश वाली, आनुक्रमिक एवं पूर्णकालिक औपचारिक शिक्षा पद्धति पर जोर दिया जाए जो इस देश में पिछले 200 वर्षों में विकसित हुई है। अतः शिक्षा आयोग ने इस बात की जोरदार सिफारिश की कि पूर्णकालिक सांस्थानिक शिक्षा की सारिणी के अतिरिक्त, अंशकालिक शिक्षा की एवं स्वाध्याय की वैकल्पिक सारणियों का सभी चरणों में बड़े पैमाने पर विकास किया जाए और इन्हें वही दर्जा दिया जाए जो पूर्णकालिक सांस्थानिक शिक्षा को दिया गया है। इस सिफारिश को कार्यान्वित करने के लिए चतुर्थं योजना में कुछ हद तक प्रयास किया गया था। पंचम योजना में और आगे प्रयास करने का विचार है। प्रारंभिक चरण में एक बहु-स्तर प्रवेश पद्धति और अंशकालिक शिक्षा के विशाल कार्यक्रमों को अपनाए जाने की प्रस्थापना का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय चरणों में भी अंशकालिक शिक्षा तथा स्वाध्याय के कार्यक्रमों को बड़े पैमाने पर चलाया जाएगा और सभी बोर्ड तथा विश्वविद्यालय परीक्षाओं में प्राइवेट विद्यार्थी भी बैठ सकेंगे। इसके अतिरिक्त पंचम पंचवर्षीय योजना में (इंग्लैंड के मुक्त विश्वविद्यालय के नमूने पर) एक राष्ट्रीय जन विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव है। इससे भारत के दूरस्य कोने के किसी भी विद्यार्थी को अच्छी उच्च शिक्षा उपलब्ध हो जाएगी। शैक्षिक अवसरों के समकरण के अलांबा, इससे राष्ट्रीय एकता भी बढ़ेगी।
- (7) स्वांतत्त्योत्तर काल में गैर सरकारी उद्यम की भूमिका में भी भारी परिवर्तन हुआ। स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व गैर सरकारी उद्यम महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था क्योंकि उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह गुणात्मक रूप से भी, राजकीय शिक्षा पद्धित की किमयों को पूरा करेगा। इसके अतिरिक्त, उस समय गैर सरकारी विद्यालयों में योग्य और लगनशील अध्यापक आते थे और ये विद्यालय शिक्षक नव प्रवर्तन तथा गुणात्मक सुधार के संबंध में बहुमूल्य योगदान कर सकते थे। पुराने जमाने के अच्छे गैर सरकारी विद्यालय अब भी अच्छा कार्य कर रहे हैं और उनकी संख्या में विद्ध भी हो गई है। परंतु गैर सरकारी विद्यालयों की संख्या में (इनमें से बहुत से विद्यालय राजनीतिक, जातिगत अथवा इसी प्रकार के अन्य गैर शैक्षिक कारणों से स्थापित किए जाते हैं) भारी वृद्धि होने का कारण यह है कि बहुत से ऐसे अवमानक विद्यालय चल रहे हैं जो लाभ के

बजाए हानि अधिक पहुंचा रहे हैं और जहां अध्यापकों का सामान्यतः शोषण होता है अतः हवा का रुख गैर सरकारी उद्यम के काफी विरुद्ध हो गया है। यह बात सही है कि हमें शिक्षा को मिलने वाली गैर सरकारी सहायता का भरपूर उपयोग करना चाहिए और अच्छे गैर सरकारी विद्यालयों का पूर्ण लाभ उठाना चाहिए। तथापि यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित में गैर सरकारी उद्यम छोटी भूमिका ही अदा कर सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का वित्तीय उत्तरदायित्व पूरी तरह राज्य को ही ग्रहण करना होगा।

श्रीक्षक प्रशासन, आयोजना और कार्यान्वयन: स्वातत्योत्तर काल में शिक्षा कार्यक्रमों को चलाने और प्रोत्साहन देने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर बहुत से अभिकरणों का सर्जन किया गया। इनमें निम्नलिखित शामिल हैं: (1) केंद्र में शिक्षा मंत्रालय; (2) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जिसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है; (3) राष्ट्रीय शिक्षा अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद जो विद्यालय शिक्षा में अनुसंधान एवं विकास कार्यक्रमों की देखरेख करती है; (4) शिक्षा योजनाकार तथा प्रशासक राष्ट्रीय कर्मचारी वर्ग महाविद्यालय जिसका मुख्य उद्देश्य केंद्रीय और राज्य सरकारों के वरिष्ठ शिक्षा अधिकारियों को शिक्षा संबंधी आयोजना तथा प्रशासन का प्रशिक्षण देना है। इसके अतिरिक्त, केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड, अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद आदि अनेक सलाहकार निकाय मौजूद हैं।

राज्य स्तर पर, राज्य शिक्षा विभागों को सबल बनाने और उनका विस्तार करने के लिए कदम उठाए गए हैं। परंतु ये कदम, विशेषकर इस काल में हुए भारी प्रसार को देखते हुए, अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं। सभी प्रकार से सोच विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि यदि राज्य शिक्षा विभागों को शैक्षिक प्रसार एवं सुधार के उन कार्यों को कुशलता-पूर्वक पूरा करना है जिनको करने की देश से अपेक्षा की जाती है तो इन विभागों का पुनर्गठन करना और उन्हें काफी सबल बनाना आवश्यक है।

चूंकि स्वातंत्र्योत्तर काल में शैक्षिक विकास अनुक्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा हुआ है अतः जिस ढंग से केंद्र एवं राज्य स्तरों पर शैक्षिक योजनाएं तैयार की जाती हैं उसका कुछ विधरण दे देना भी रोचक होगा।

(क) संगठन: पंचवर्षीय योजनाएं तैयार करने और उनके कार्यान्वयन की देखभाल करने के लिए, योजना आयोग भारत सरकार और राज्य सरकारों के सभी संबंधित मंत्रालयों के साथ निकटतम सहयोग स्थापित करके कार्य करता है। राज्य सरकारों के साथ समन्वय होना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इस परिषद के सदस्य निम्नलिखित पदा-धिकारी होते हैं: भारत का प्रधानमंत्री, योजना आयोग के सदस्य और सभी राज्यों के मुख्यमंत्री। भारत सरकार के मंत्रीगण भी इसके विचार विमर्श में भाग लेते हैं। परिषद पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारूप का अनुमोदन करती है और अपनी सिफारिशों भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को भेज देती हैं। इसके पश्चात ये सरकारों आवश्यक निर्णय लेती हैं।

शैक्षिक योजना तैयार करने का काम दो स्तरों पर होता है, केंद्रीय और राज्य । केंद्रीय स्तर पर, योजना आयोग और शिक्षा मंत्रालय शैक्षिक विकास की एक राष्ट्रीय योजना तैयार करते हैं। इस योजना के दो भाग होते हैं: (1) एक केंद्रीय योजना इसका संबंघ शिक्षा में भारत सरकार के सीधे उत्तरदायित्व से होता है जिनमें कतिपय विशिष्ट क्षेत्रों में शैक्षिक विकास के लिए राज्य सरकारों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता की योजनाएं (जिन्हें केंद्र प्रायोजित योजनाएं कहा जाता है) भी शामिल हैं; और (2) शैक्षिक विकास की राज्य योजनाओं का एक समाकलित सारांश । राज्य स्तर पर योजना एवं शिक्षा विभाग संबंधित राज्य के शैक्षिक विकास की विस्तृत योजनाएं तैयार करते हैं। अत: संपर्ण देश के शैक्षिक विकास की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए, राष्ट्रीय योजना तथा राज्य योजनाओं पर विचार करना होगा।

पंचवर्षीय योजनाओं को तैयार करने के लिए केंद्रीय एवं राज्य दोनों ही स्तरों पर एक विस्तत व्यवस्था स्थापित हो गई है। यह संक्षेप में इस प्रकार है:

- (1) केंद्रीय स्तर पर व्यवस्था: केंद्रीय योजनाएं तैयार करने में सहायता देने के लिए योजना आयोग में एक शिक्षा प्रभाग है जिसमें विशेषज्ञ रखे गए हैं। इस कार्य से संबंध रखने वाला प्रमुख मंत्रालय शिक्षा मंत्रालय है। वहां भी एक ब्युरो है। यह ब्युरो न केवल योजना आयोग के शिक्षा प्रभाग तथा शिक्षा मंत्रालय के अन्य कार्यालयों, वरन राज्यों के शिक्षा विभागों से भी भारी सहयोग प्राप्त करके कार्य करता है। इसके अतिरिक्त खाद्य तथा कृषि मंत्रालय कृषि शिक्षा का काम देखता है। स्वास्थ्य मंत्रालय आयुर्विज्ञान शिक्षा का काम संभालता है। श्रम तथा सेवा नियोजन मंत्रालय श्रमिकों के व्यावसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण तथा इस प्रयोजन के लिए स्थापित औद्योगिक तकनीकी संस्थान नामक संस्थाओं का काम देखता है। उच्च शिक्षा की योजना में शिक्षा मंत्रालय की सहायता विश्वविद्यालय अनुदान आयोग करता है। यह आयोग एक सांविधिक निकाय है। इसका काम उच्च शिक्षा में स्तरों का समन्वय करना और उन्हें कायम रखना है। यह देश के सभी विश्वविद्यालयों को अनुदान देता है। इसी प्रकार, अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद तकनीकी शिक्षा के विकास की योजना तैयार करने में और केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड राज्यों के शैक्षिक विकास की योजना का समन्वय करने में शिक्षा मंत्रालय की सहायता करते हैं।
- (2) राज्य स्तर पर शक्षिक आयोजना के लिए व्यवस्था: राज्य स्तर पर भी शैक्षिक योजना के लिए उपर्युक्त ढंग की व्यवस्था है। हाल ही में एक बात यह हुई है कि कुछ राज्य सरकारों ने योजना बोर्ड स्थापित किए हैं जो केंद्र के योजना आयोग के सद्श हैं। यह विचार और भी जड़ पकड़ता जा रहा है, और यह आशा की जाती है कि बहुत शीघ्र ही सभी राज्य सरकारें अपने अपने योजना बोर्ड स्थापित कर लेंगी। जहां पर कोई योजना बोर्ड नहीं है वहां राज्य योजनाओं को तैयार करने का उत्तरदायित्व राज्य योजना विभाग का है। यह विभाग राज्य सरकार के अन्य विभागों तथा योजना आयोग और केंद्रीय मंत्रालयों के साथ संपर्क रखने के लिए उत्तरदाई है। राज्य शिक्षा विभाग गैक्षिक कार्य-कमों से संबंघ रखने वाला प्रमुख विभाग है। तकनीकी शिक्षा सामान्यतः शिक्षा विभागों के अधीन रहती है। परंतु इसे कभी कभी अन्य विभागों के अधीन भी रख दिया जाता है। केंद्र की भांति ही, राज्यों में भी कृषि शिक्षा के काम को कृषि विभाग और स्वास्थ्य शिक्षा के काम को स्वास्थ्य विभाग देखते हैं। श्रमिकों के व्यावसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण

संबंधी कार्यक्रमों को (औद्योगिक तकनीकी संस्थानों सहित) कभी शिक्षा और कभी श्रम जैसे अन्य विभाग देखते हैं।

चतुर्थं पंचवर्षीय योजना के अंत तक शैक्षिक गतिविधियां

(स) पंचवर्षीय योजना का तैयार किया जाना : विशद आर्थिक विकास की पंचवर्षीय योजना को तैयार करने की प्रक्रिया योजना काल से लगभग दो वर्ष पूर्व आरंभ हो जाती है। (1) विशद विकास योजना का तैयार किया जाना : संबंधित मंत्रालयों के सहयोग से योजना आयोग पूर्ववर्ती पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वयन में हुई प्रगति का पूनरीक्षण करता है। वह समग्र आर्थिक स्थिति तथा योजनाबद्ध विकास के लिए उपलब्ध संसाधनों को दृष्टि में रखकर, अगली पंचवर्षीय योजना के लिए विभिन्न क्षेत्रों में आगामी 15-20 वर्षों के परिप्रेक्ष्य में व्यापक लक्ष्य, अल्पकालिक पंचवर्षीय लक्ष्य अथवा व्यापक निर्देशक सिद्धांत भी निर्धारित करता है। उसके इस कार्य में उसकी सहायता कार्यकारी दल क्रत्यक बल करते हैं। इनमें योजना आयोग, संबंधित मंत्रालयों, राज्य सरकारों और विशेषज्ञों के प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार ये योजनाकारों, कार्यान्वित करने वालों और विशेषज्ञों का परस्पर संबंध स्थापित कराते हैं और एक सार्थक भूमिका अदा करते हैं। इन कार्यकारी दलों कृत्यक बलों के विचार विमर्श के आधार पर योजना आयोग पंच-वर्षीय योजना का अपना प्रथम लघु ज्ञापन तैयार करता है। इस ज्ञापन को केंद्रीय मंत्रिमंडल और राष्ट्रीय विकास परिषद के अनुमोदन के लिए भेज दिया जाता है। इस ज्ञापन से यह पता चलता है कि कूल कितने संसाधन उपलब्ध होने की संभावना है, योजनाबद्ध विकास की व्यह रचना क्या होगी, स्वीकृति किए जाने के लिए प्रस्तावित प्राथमिकताएं क्या होंगी, प्रत्येक क्षेत्र को कितना विनिधान किया जाएगा, प्राप्त करने कें लिए निर्घारित लक्ष्य क्या होंगे और पंचवर्षीय योजना में शामिल करने के लिए प्रस्तावित मुख्य योजनाओं की मोटी रूपरेखा क्या है।

जब मंत्रिमंडल तथा राष्ट्रीय विकास परिषद पंचवर्षीय योजना संबंधी लघ ज्ञापन का अनुमोदन कर देते हैं तब ब्यौरेवार योजनाएं तैयार करने का काम हाथ में लिया जाता है। योजना आयोग कार्यकारी दलों कृत्यक बलों की सहायता से संबंधित मंत्रालय से परामर्श करके, प्रत्येक प्रथक क्षेत्र के लिए एक ब्यौरेवार विकास योजना तैयार करता है। इसके बाद इन सबको मिलाकर योजना का एक व्यापक प्रारूप तैयार किया जाता है और उसे पुनः अनुमोदन के लिए मंत्रिमंडल तथा राष्ट्रीय विकास परिषद को भेज दिया जाता है। इस बीच, राज्य योजना बोर्ड विभाग राष्ट्रीय योजना के ढांचे के अंतर्गत अपने अपने राज्यों के लिए सदृश योजनाओं को अंतिम रूप प्रदान करते हैं। इसके बाद इन प्रारूपों पर संसद और राज्य विधान मंडलों में चर्चा होती है। तत्पश्चात केंद्रीय और राज्य सरकारें इन्हें अंतिम रूप प्रदान करती हैं।

- (2) शिक्षा विकास योजना का तैयार किया जाना : पंचवर्षीय योजना के शिक्षा खंड को तैयार करने की प्रक्रिया का संपूर्ण पंचवर्षीय योजना तैयार करने की उपर्युक्त सामान्य प्रिक्रिया से निकट संबंध है। उसकी समय सारणी भी संपूर्ण योजना की समय सारणी के समान रहती है। अंतिम रूप दिए जाने से पहले इसे निम्नलिखित प्रक्रमों से गुजरना होता है:
 - (1) पहल सामान्यतः शिक्षा मंत्रालय का योजना ब्यूरो करता है। यह पूर्ववर्ती

पंचवर्षीय योजना की प्रगति का पुनरीक्षण करता है, 15-20 वर्ष के विकास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अगली पंचवर्षीय योजना में शैक्षिक विकास का व्यापक कार्यक्रम निश्चित करता है और राज्य शिक्षा विभागों के परामर्श से अगली पंचवर्षीय योजना में किए जाने वाले शैक्षिक विकास के संबंध में एक प्रारूप दस्तावेज तैयार करता है। इसके बाद इस दस्तावेज को केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड को प्रस्तुत किया जाता है। बोर्ड इसे ब्यौरेवार और लंबी चर्चा के बाद आवश्यक परिवर्तनों के साथ स्वीकार कर लेता है।

- (2) उसके बाद यह दस्तावेज योजना आयोग के साथ बातचीत का आघार बन जाता है। शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों के बारे में विचार करने के लिए योजना आयोग कई कार्यकारी दल अथवा कृत्यक बल नियुक्त करता है। प्रत्येक कार्यकारी दल, कृत्यक बल में राज्य शिक्षा विभागों के प्रतिनिधि और संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं। कार्यकारी दलों, कृत्यक बलों के विचार विभागों एवं सिफारिशों के आधार पर योजना आयोग के विचारार्थ एक प्रारूप दस्तावेज तैयार किया जाता है। इस दस्तावेज में प्राक्कलनों सहित, अगली पंचवर्षीय योजना में किए जाने वाले शैक्षिक विकास के संबंध में मुख्य प्रस्थापनाएं होती हैं।
- (3) योजना आयोग इस दस्तावेज पर अन्य क्षेत्रों के लिए तैयार किए गए सदृश दस्तावेजों के साथ विचार करता है। वह समग्र संसाधन स्थिति को घ्यान में रखते हुए, शिक्षा के लिए तथा विकास की व्यूह रचना के लिए उपलब्ध हो सकने वाले विनिधानों और दी जाने वाली प्राथमिकताओं तथा पंचवर्षीय योजना में शामिल की जाने वाली मुख्य योजनाओं की मोटी रूपरेखा प्रस्तावित करता है।
- (4) इसके उपरांत योजना आयोग द्वारा किए गए विनिधानों और अन्य संकेतों के आधार पर पंचवर्षीय योजना तैयार करने का ब्यौरेवार कार्य आरंभ होता है। शिक्षा मंत्रालय केंद्रीय योजना की एक विस्तृत रूपरेखा तैयार करता है। जैसा पहले बताया जा चुका है, इस योजना का संबंध दो विषयों से होता है: भारत सरकार के सीधे उत्तर-दायित्व और केंद्र प्रायोजित योजनाएं जो उन निर्दिष्ट क्षेत्रों में शैक्षिक विकास के लिए राज्य सरकारों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता से संबंध रखती है जिन्हें प्राथमिकता देनी होगी। इसके साथ ही साथ, राज्य शिक्षा विभाग भी अपने क्षेत्रों के शैक्षिक विकास ब्यौरेवार योजनाएं तैयार करते हैं। परंतु ये योजनाएं उन्हें अपने योजना विभागों द्वारा सूचित किए गए विनिधानों को दृष्टि में रखकर तैयार करनी होती हैं।
- (5) इसके बाद योजना आयोग शिक्षा मंत्रालय द्वारा तैयार की गई केंद्रीय शिक्षा योजना और राज्य शिक्षा विभागों द्वारा तैयार की गई राज्य शिक्षा योजनाओं को मिला-कर, आवश्यक संशोधन सहित, शैक्षिक विकास की एक समाकित राष्ट्रीय प्रारूप योजना तैयार करता है। इसे आर्थिक विकास की समग्र प्रारूप योजना के अभिन्न खंड के रूप में शामिल कर लिया जाता है। इसके साथ ही, प्रत्येक राज्य का योजना विभाग भी, राज्य शिक्षा विभाग के सहयोग से अपने राज्य के शैक्षिक विकास की ब्यौरेवार योजना तैयार करता है। इसे उनकी वृहद् राज्य योजना के महत्वपूर्ण खंड के रूप में शामिल कर लिया जाता है। इसके बाद जैसा ऊपर बताया जा चुका है, इन पर संसद

और राज्य विधान मंडलों में चर्चा होती है और इन्हें कार्यान्वयन के लिए स्वीकार कर र्लिया जाता है।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अंत तक शैक्षिक गतिविधियां

- (ग) वार्षिक योजनाएं: केंद्र का प्रत्येक मंत्रालय, योजना आयोग एवं वित्त मंत्रालय के परामर्श से पंचवर्षीय योजना के अंग के रूप में, प्रत्येक वर्ष के लिए एक वार्षिक योजना तैयार करता है। राज्य योजना विभाग भी अपने वित्त विभाग और योजना आयोग के साथ परामर्श करके अपने राज्य की वार्षिक योजना तैयार करता है। इसी प्रकार, राज्य शिक्षा विभाग अपने योजना विभाग तथा वित्त विभाग के साथ परामर्श करके अपनी वार्षिक योजना तैयार करता है। ये वार्षिक अभ्यास भी योजनाएं तैयार किए जाने के समान ही महत्व रखते हैं।
- (घ) योजना में विकेंद्रीकरण: अभिनव प्रवृत्ति यह है कि योजना का विकेंद्रीकरण किया जाए। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, राज्य स्तर पर योजना बोर्ड स्थापित किए जा रहे हैं। हाल ही में कुछ समय से यह भी प्रयास किया जा रहा है कि जिला स्तर पर भी योजना का काम शुरू किया जाए। इस प्रयोजन के लिए, जिला अधिकारियों के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं और उनके लिए आवश्यक योजना तथा प्रशासन संबंधी तंत्र की व्यवस्था की जा रही है। शिक्षा में भी विकेंद्रीकरण की यही प्रवृत्ति चल रही है। अब शैक्षिट विकास योजनाओं को जिला स्तर पर तैयार किया जा रहा है और शिक्षा योजनाकार तथा प्रशासक राष्ट्रीय कर्मचारी वर्ग महाविद्यालय ने इस प्रयोजन के लिए जिला शिक्षा अधिकारियों के लिए एक कार्यक्रम आरंभ किया है (इस महाविद्यालय की स्थापना हाल में की गई है और इसकी उत्पत्ति 1962 में यूनेस्को के सहयोग से स्थापित शिक्षा योजना तथा प्रशासन संबंधी एशियाई संस्थान से हुई है)। सांस्थानिक योजना का कार्यक्रम भी तैयार किया गया है और उसे राज्य शिक्षा विभाग कार्यन्वित कर रहे हैं। वे राज्य शिक्षा संस्थानों तथा अन्य प्रशिक्षण संस्थाओं के द्वारा विद्यालयों के प्रधानों को प्रशिक्षण दे रहे हैं।
- (ङ) मूल्यांकन : योजना बनाने एवं कार्यान्वित करने वाले अभिकरणों अर्थात केंद्र में योजना आयोग तथा शिक्षा मंत्रालय और राज्यों में योजना विभागों तथा राज्य शिक्षा विभागों का यह सतत उत्तरदायित्व हैं कि वे पुरागामी योजनाओं का मूल्यांकन करें। यह मूल्यांकन वार्षिक योजना पर चर्चा होने के समय और वार्षिक बजट तैयार करते समय होता हैं। महत्वपूर्ण योजनाओं का सिमितियों द्वारा विशेष रूप से पुनरीक्षण किया जाता है। योजना आयोग में एक योजना मूल्यांकन संगठन हैं। मूलतः इसे सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का मूल्यांकन करने के लिए स्थापित किया गया था। परंतु उसके बाद इसके क्षेत्र का विस्तार कर दिया गया है और सभी योजना कार्यक्रम अब इसके अंतर्गत आ गए हैं। तथापि, हाल के पुनरीक्षण से पता चला था कि इस बात की अभी काफी गुंजाइश है कि योजना का अधिक सतत एवं अच्छा मूल्यांकन किया जाए। अतः पंचम पंचवर्षीय योजना में विशेष प्रयत्न करने और मूल्यांकन व्यवस्था का सुधार करने का विचार है। इस प्रयोजन के लिए केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय में एक विशेष यूनिट स्थापित करने का भी प्रस्ताव है।

संसाधन: भारत में शैक्षिक विकास की सबसे बड़ी बाधा संसाधनों की कमी है। भारत जैसे विशालकाय देश में, जहां 1947 में शैक्षिक विकास का स्तर नीचा था, यह संभव नहीं है कि आधिक विकास के वर्तमान चरण में शिक्षा के लिए जितने संसाधनों की आवश्यकता है उन्हें प्राप्त किया जा सके। प्रत्येक योजना का यह अनुभव रहा है कि शैक्षिक विकास के लिए वस्तुतः जितने संसाधनों का विनिधान किया जाता है वे मूल रूप से संतुलित आधार पर मांगे गए विनिधानों के लगभग आधे ही होते हैं। अगले पृष्ठ पर दी गई सारणी में उन संसाधनों को दिखाया गया है जो आनुकमिक पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के लिए वास्तव में उपलब्ध हुए थे।

सामुदायिक सहायता द्वारा उपलब्ध निधियों की अनुपूर्ति करने के प्रयास किए गए हैं। कुछ ऐसे क्षेत्रों में जो संपन्न हैं (जैसे पंजाब और हरियाणा में) अथवा जहां जनता में शिक्षा संबंधी चेतना फैल चुकी है (जैसे तिमलनाडु में) अच्छी अनुक्रिया रही है। सामुदायिक सहायता में सामान्यतः भूमि, भवन, और साज सामान तथा विद्यालय में भोजन जैसी सेवाएं शामिल हैं।

जब प्रत्येक योजना समाप्त होती है तो शिक्षा संबंधी कुल आवर्ती व्यय में सारभूत वृद्धि हो जाती है। अतः और आगे विकास के लिए अतिरिक्त संसाधन पाना किन हो जाता है। प्रथम योजना में, शिक्षा के लिए विनिधान कुल योजना का 8.7 प्रतिशत था। द्वितीय योजना में यह घटकर 6.7 प्रतिशत रह गया। तृतीय योजना में यह लगभग उसी स्तर पर स्थिर रहा और 6.9 प्रतिशत था। चतुर्थ योजना में यह पुनः गिरा और 5.2 प्रतिशत हो गया। पंचम योजना में यह केवल 4.6 प्रतिशत रहेगा। 1950-51 में कुल शिक्षा व्यय 144 करोड़ रुपये था जो बढ़कर 1973-74 में लगभग 1,200 करोड़ रुपये हो गया है। इस प्रकार शिक्षा व्यय पठार तक पहुंच चुका है और जैसे जैसे समय बीतता जाएगा, शैक्षिक विकास के लिए अतिरिक्त निधि प्राप्त करना अधिकाधिक कठिन होता जाएगा।

स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षाः एक विहंगावलोकनः इस समय तक हम भारत की स्वातंत्र्योत्तर काल की मुख्य शैक्षिक गतिविधियों का मोटे तौर से सर्वेक्षण कर चुके हैं। अब समय आ गया है कि हम यह पता लगाएं कि हमारी मुख्य उपलब्धियां और असफलनताएं क्या हैं और सबसे अच्छे आधार क्या होंगे जिन पर शिक्षा का और आगे विकास करने का प्रयास किया जा सकता है।

(क) एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित: इस बात को पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार वर्तमान शताब्दी के आरंभिक काल में स्वतंत्रता संग्राम के पार्थवं उत्पादन के रूप में राष्ट्रीय शिक्षा के संप्रत्यय का जन्म हुआ था और किस प्रकार संपूर्ण पूर्व स्वाधीनता काल में उपर्युक्त संप्रत्यय को स्पष्ट करने और इसे परखने के लिए (सरकारी शिक्षा पद्धित से बाहर) कुछ प्रायोगिक संस्थाएं स्थापित करने का सतत प्रयत्न किया गया था। यह दिलचस्गी स्वातंत्र्योत्तर काल में भी जारी रही। अपने अपने क्षेत्रों में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) और माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) ने यह व्याख्या करने का प्रयत्न किया कि राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित कैसी होनी चाहिए। वैज्ञानिक अनुसंधान

आनुक्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा पर व्यय, परिव्यय (1950-1978) (करोड रुपयों में)

| | प्रथम | द्वितीय | तृतीय | वार्षिक | चतुर्थ | पंचम |
|------------------------|-------|---------|---------|------------|--------|-------|
| | योजना | योजना | योजना . | योजना वर्ष | | योजना |
| प्रारंभिक शिक्षा | 85 | 95 | 178 | 65 | 239 | 743 |
| | (56) | (35) | (30) | (20) | (30) | (43) |
| माध्यमिक शिक्षा | 20 | 51 | 103 | 53 | 140 | 241 |
| | (13) | (19) | (18) | (16) | (18) | (14) |
| विश्वविद्यालय शिक्षा | 14 | 48 | 87 | 77 | 195 | 337 |
| | (9) | (18) | (15) | (24) | (25) | (20) |
| | × | × | | | • | • |
| अध्यापक शिक्षा | | | 23 | 9 | | |
| | | | (4) | (3) | | |
| प्रौढ़-शिक्षा | 5 | 4 | 2 | 2 | 5 | 35 |
| • | (3) | (1) | (-) | (1) | (1) | (2) |
| सांस्कृतिक कार्यक्रम् | | 3 | 7 | 4 | 12 | 35 |
| | | (1) | (1) | (1) | (2) | (2) |
| अन्य शैक्षिक कार्यक्रम | 9 | 23 | 64 | 31 | 90 | 171 |
| | (6) | (8) | (11) | (9) | (11) | (10) |
| कुल सामान्य शिक्षा | 133 | 224 | 484 | 241 | 680 | 1562 |
| | (87) | (82) | (79) | (75) | (87) | (91) |
| तकनीकी शिक्षा | 20 | 49 | 125 | 81 | 106 | 164 |
| | (13) | (18) | (21) | (25) | (13) | (9) |
| योग कुल शिक्षा | 153 | 273 | 589 | 322 | 7,86 | 1726 |
| | (100) | (100) | (100) | (100) | (100) | (100) |

आधार: 1. प्रथम, द्वितीय, और तृतीय योजनाओं के लिए पंचम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा (1974-79), शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, 1972।

^{2.} चतुर्थं और पंचम योजनाओं के लिए प्रारूप पंचम पंचवर्षीय योजना (1974-79), योजना आयोग।

^{3.} लघु कोष्ठक में दिए गए आंकड़े योग का प्रतिशत बताते हैं।

^{*} प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा में शामिल ।

^{*} अन्य शैक्षिक कार्यक्रमों में शामिल।

अथवा तकनीकी, आयुर्वेज्ञानिक एवं कृषि शिक्षा जैसे अन्य क्षेत्रों में अनेक महत्वपूर्ण समितियों ने भी सदृश प्रयत्न किए। परंतु संभवतः सबसे अच्छा और सबसे व्यापक प्रयत्न शिक्षा आयोग (1964-66) ने किया। इसकी राय थी कि 'वर्तमान शिक्षा पद्धित मुख्यतः सामंती एवं परंपरागत समाज द्वारा स्थापित की गई सीमाओं में रहकर एक साम्राज्यिक प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनी थी। अतः यदि आधुनिक लोकतंत्रीय एवं समाजवादी समाज के उद्देश्यों को पूरा करना है तो इस पद्धित में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक होगा, उद्देश्यों, अध्यापन प्रणालियों, कार्यक्रमों, विद्यार्थी निकाय के आकार एवं गठन, अध्यापकों के चयन एवं वृत्तिक तैयारी और संगठन में परिवर्तन करने होंगे।' उसके बाद आयोग ने नई राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का खाका तैयार करने का प्रयत्न किया और उसे कार्यान्वित करने के लिए बीस वर्ष (1966-86) तक का एक कार्यक्रम भी तैयार किया। इस दृष्टि से शिक्षा आयोग का यह प्रतिवेदन देश के लिए राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित के संप्रत्यय को स्पष्ट करने के लिए काफी समय से हो रहे प्रयत्न की दिशा में एक भारी उपलब्धि है। संदर्भ की सुविधा के लिए इसकी मुख्य सिफारिशों का सारांश अनुबंध में दिया गया है।

विचारधारा में हुए एक प्रमुख परिवर्तन पर यहां अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए। 1947 से पहले राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने का प्रयत्न तो किया गया था परंतु यह प्रयत्न सरकारी व्यवस्था के बाहर किया गया था क्योंकि सरकारी व्यवस्था का वित्त प्रबंध और नियंत्रण एक विदेशी सरकार करती थी। स्वातंत्र्योत्तर काल में इसकी कोई आवश्यकता नहीं रही। अतः पूर्ववर्ती राष्ट्रीय संस्थाएं सामान्य व्यवस्था का अंग बन गई और अब यह प्रयत्न किया गया कि संपूर्ण शिक्षा पद्धित को राष्ट्रीय पद्धित में बदल दिया जाए। इसलिए काम अत्यंत जटिल और किठन हो गया। ऐसा विशेषकर इस पद्धित के विशाल और बढ़ते हुए आकार के कारण हुआ। परंतु समस्या हल करने का यही एकमात्र तरीका था।

ऊपर कही गई बात का अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित के संप्रत्यय के बारे में शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन ही अंतिम बात थी। यद्यपि यह प्रतिवेदन कांतिकारी था तथापि 1966 में जब इसे प्रस्तुत किया गया था, उस समय यह पर्याप्त कांतिकारी नहीं था। अब तक इतने परिवर्तन हो चुके हैं कि यह तिनक भी कांतिकारी नहीं रह गया है और इस समस्या पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है। तेजी से बदलते हुए आधुनिक समाज में ऐसा होना एक प्रकार से अनिवार्य है। शैक्षिक विचारधारा को लोगों की बदलती आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप बनाना होगा। अतः राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित के संप्रत्यय से संबंधित कार्य सतत कार्य है। इसके साथ ही, यह बात भी विश्वास के साथ कही जा सकती है कि राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित के संप्रत्यय को स्पष्ट किया जा चुका है अथवा थोड़ा अतिरिक्त प्रयत्न करके पूरी तरह स्पष्ट किया जा सकता है। अतः शिक्षा पद्धित का पुनिनमाण, सुधार एवं विस्तार करने के लिए इस समय भी हमारे पास पर्याप्त 'ज्ञान' मौजूद है। इस प्रकार हमारी असफलता मुख्यतः यह है कि हम अपने विचारों को कार्यान्वित नहीं कर सके हैं, उन्हें अमली जामा नहीं पहना पाए हैं। हमारे

सामने विचार करने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न यह है: क्या कारण है कि हम शैक्षिक विकास के एक ज्ञात एवं सम्मत कार्यक्रम तक को कार्यान्वित नहीं कर पाते हैं? यदि इस प्रश्न का सही उत्तर ज्ञात किया जा सके और उस पर अमल किया जा सके तो शीघ्र ही पूरी शैक्षिक स्थित बदल जाएगी।

(ख) राष्ट्रीय विकास के शक्तिशाली साधन के रूप में शिक्षा: एक राष्ट्र के रूप में हमारे मन में शिक्षा के प्रति आदर एवं प्रेम है। हमारी प्राचीन परंपरा में यह माना जाता था कि शिक्षा आत्मिसिद्धि का सबसे महत्वपूर्ण साधन है आधुनिक काल में हमने इस विश्वास में एक आयाम और जोड़ दिया है: अब हम शिक्षा को आत्मिसिद्धि का नहीं वरन राष्ट्रीय विकास का भी सबसे महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। पूर्व स्वाधीनता काल में हमने राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित का सर्जन करने के लिए जो प्रयत्न किए थे उनके लिए उपर्युक्त विश्वास से ही प्रेरणा मिली थी। यही विश्वास हमें स्वातं ह्योत्तर काल में भी प्रेरणा दे रहा है। जैसा शिक्षा आयोग ने कहा था: 'भारत के भाग्य का निर्माण अब उसकी कक्षाओं में किया जा रहा है।

हमारा अनुभव यह बताता है कि इस विश्वास में कुछ हद तक संशोधन करना होगा। शिक्षा दो भूमिकाएं अदा कर सकती है: (1) वह यथापूर्व स्थित बनाए रखने के लिए समय समय पर आवश्यकतानुसार कुछ छोटे संशोधन करके यथापूर्व स्थिति को मजबूत कर सकती है और उसे कायम रख सकती है; अथवा (2) वह राष्ट्रीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था का सर्जन कर सकती है। जिन समाजों में शिक्षा का वित प्रबंध और नियंत्रण राज्य करता है उन सभी में शिक्षा पद्धति कुछ ऐसे छोटे परिवर्तनों और समायोजनों के साथ शासक वर्गों के हितों की रक्षा और अभिवृद्धि करने लगती है जो स्वयं शासक वर्गों के व्यापक हित में होते हैं। भारतवर्ष में यही होता है रहा। ब्रिटिश शासकों ने जो शिक्षा पद्धति बनाई वह अनिवार्य रूप से शासक वर्गों के लिए ही थी। जब ब्रिटिश शासन समाप्त हुआ तो यही वर्ग, अर्थात नगरीय एवं मध्यम वर्ग, धनी किसान और ग्राम्य समुदाय के संपन्न वर्ग सत्तारूढ़ हो गए। अतः हमारी शिक्षा पद्धति इन वर्गर ा हितसाधन कर रही है। यही कारण है कि माध्यमिक और उच्च शिक्षा के कार्यक्रमों को लगातार प्राथमिकता दी गई है और भारी महत्व प्रदान किया गया है। यह भी एक कारण है जिससे हमारी शिक्षा पद्धति को जनता का हित साधन करने के लिए तैयार नहीं किया गया है और तकनीकी तंत्र' के कार्यक्रमों के लिए (अथवा सर्वसाधारण की उत्पादन क्षमता बढ़ाने की दृष्टि से सर्वसाधारण को आधु-निक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का ज्ञान प्रदान करने के लिए), व्यापक निरक्षरता को समाप्त करने के लिए और 6-14 आयु वर्ग के सभी बालकों के लिए सर्वजनीन एवं अनि-वार्य शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए न तो पर्याप्त संसाधन ही प्राप्त हुए हैं और न इनकी ओर पर्याप्त ध्यान ही दिया गया है।

इस प्रयोग से हमें जो सबक मिलता है वह स्पष्ट है। यह आशा नहीं की जा सकती कि शिक्षा को सुधारने का प्रयास अपने आप पूर्णतया सफल हो जाएगा। उसी प्रकार, शिक्षा की सहायता लिए बिना समाज में प्रमुख संरचनात्मक परिवर्तन करने के प्रयत्न भी सफल नहीं होंगे। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि असमानता एवं अनमनी-यता पर आधारित वर्तमान सामाजिक ढांचे को एक ऐसे नए समाज में बदलने के लिए राजनीतिक एवं आर्थिक प्रयत्न किए जाएं जो न्याय, समानता, स्वतंत्रता, व्यक्ति की गरिमा और सामाजिक गतिशीलता के पूर्ण अवसर प्रदान करे। इसके साथ ही वर्तमान शिक्षा पद्धित में आमूल परिवर्तन करने और और राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप एक नई शिक्षा पद्धित का निर्माण करने के लिए प्रयत्न किया जाए। शिक्षा पद्धित को पुन: गठित करने के हमारे प्रयत्न इसलिए असफल हुए हैं कि उनके राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यक्रमों के द्वारा सामाजिक ढांचे को बदलने के लिए प्रयत्न नहीं किए गए हैं। अत: अब समय आ गया है जब इन प्रयत्नों पर जोर दिया जाना चाहिए।

(ग) आधारभृत प्राथमिकताएं : यह कहा जा सकता है कि शैक्षिक विकास में हम बूनि-यादी प्राथमिकताओं के संबंध में स्थिर नहीं रह पाए हैं और यह भी एक मुख्य कारण है कि हम इच्छित राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति सर्जन नहीं कर सके हैं। शिक्षा आयोग ने यह बताया था कि देश के समक्ष सबसे महत्पूर्ण कार्य यह है कि शिक्षा पद्धति का रूपांतरण करके उसे जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनरूप बनाया जाए ताकि संविधान की प्रस्तावना में मानस प्रत्यक्षीकरण किए गए नए समाज के निर्माण में सहा यता मिल सके । 1947 में समग्र शिक्षा पद्धति का आकार छोटा था और उसमें वे तनाव और दबाव पैदा नहीं हुए थे जो आज विद्यमान हैं। अत: उस समय शिक्षा पद्धति का रूपांतरण बहुत सरलता से कर दिया गया होता। परंतू ऐसा नहीं किया गया। जैसा हम देख चुके हैं, पिछले पच्चीस वर्षों में बिटिश शासन से उत्तराधिकार में मिली आधुनिक शिक्षा पद्धति का छोटे मोटे संशोधनों के साथ असाधारण विस्तार होने दिया गया। अतः इस समय समस्या कई गुनी अधिक जटिल और कठिन हो गई है। जितना ही अधिक समय बीतने दिया जाएगा, वर्तमान पद्धति उतनी ही अधिक विस्तृत होती जाएगी और उस पर तनाव और दबाव भी बढ़ते जाएंगे। इस प्रकार, जैसे जैसे समय बीतता जाएगा. शिक्षा पद्धति का रूपांतरण अधिक कठिन होता जाएगा। अत: हमारे लिए यह परम आवश्यक है कि शिक्षा पद्धति को रूपांतरित करने का प्रयत्न करें। यह एक ऐसा काम है जिसे सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए और हम इसे जितना शीघ्र करेंगे उतना ही अच्छा होगा।

शैक्षिक पुनर्निर्माण में दूसरी प्राथमिकता स्तरों को सुधारने के कार्य को देनी है। इस निराशावादी विचार का समर्थन नहीं किया जा सकता है कि पिछले पच्चीस वर्षों में शैक्षिक स्तरों में गिरावट ही आई है। यह बात अवश्य स्वीकार की जानी चाहिए कि अनेक क्षेत्रों में और अनेक विषयों, विशेषकर विज्ञान एवं व्यवसाय के अध्यापन में काफा सुधार हुआ है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि अच्छी संस्थाओं और प्रथम कोटि के विद्यार्थियों की संख्या अब बहुत अधिक है। गुणात्मक रूप से यदि वे पहले जमाने के विद्यार्थियों से ज्यादा अच्छे नहीं तो उनके बराबर तो हैं हीं। इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि स्तरों को सुधारने के लिए हमने पर्याप्त कार्य नहीं किया है और अवमानक संस्थाओं तथा अवमानक उपलब्धियों वाले विद्यार्थियों की संख्या में भारी वृद्धि हो गई

है। इस क्षेत्र में हमें जो असफलता मिली है, शिक्षा पद्धित के रूपांतरण संबंधी हमारी असफलता के बाद इसी की बारी आती है।

क्या कारण है कि हम स्तरों को पर्याप्त रूप से सुधारने में असफल रहे हैं ? निस्संदेह धन इसका एक कारण है क्योंकि गुणात्मक सुधार के कार्यक्रमों के लिए निधियों की आवश्यकता होती है परंतु असफलता का मुख्य कारण धन नहीं है क्योंकि गुणात्मक सुधार के लिए अपेक्षाकृत कम धन की आवश्यकता थी और इस धनराशि को आनुकमिक पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के लिए उपलब्ध विनिधानों से ही प्राप्त किया जा सकता था। गुणात्मक सुधार के कार्यक्रमों के लिए घन से भी अधिक मानव प्रयत्न की आवश्यकता होती है। अतः स्तरों को सुधारने के हमारे प्रयत्नों की असफलता का कारण संसाधनों की कमी की अपेक्षा आवश्यक मानव प्रयत्न न कर पाना ही अधिक है। अंततोगत्वा, शिक्षा का गुण स्तर अध्यापकों, विद्यार्थियों एवं शैक्षिक प्रशासकों पर सत्य एवं प्रकर्ष की खोज में उनकी समर्पण की भावना पर और उनकी देखरेख में रखे गए विद्यार्थियों के हितों के साथ होने वाले उनके तादातम्य पर निर्भर करती है। विभिन्न कारणों से हम पर्याप्त संख्या में अच्छे अध्यापक प्राप्त नहीं कर सके हैं, शिक्षा और विकास के कार्य में अध्यापकों में रुचि नहीं जगाई जा सकी है और कठोर श्रम, वचनवद्धता और आदर्शवाद का वह वातावरण उत्पन्न नहीं कर पाए हैं जिसके बिना गुणात्मक सुधार का कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता है। यदि हमें पर्याप्त गुण वाली राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति का सर्जन करना है तो यह एक दूसरी बड़ी कमजोरी है जिसे दूर करना होगा ।

तीसरी प्राथमिकता सुविधाओं के विस्तार को देनी है। ऐसा नहीं है कि यह कार्य महत्वहीन है। परंतु इसे शिक्षा पद्धित के रूपांतरण अथवा उसके गुण स्तर के सुधार से तरजीह नहीं दी जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि यदि आवश्यक निधियां उपलब्ध कर दी जाएं तो प्रसार संबंधी कार्यक्रमों को आसानी से कार्यान्वित किया जा सकता है परंतु यहां भी इस समस्या के दो पहलू हैं। प्राथमिक चरण में प्रसार स्वयं एक लक्ष्य है परंतु सर्वजनीन भर्ती और प्रतिधारणा कर पाना किठन है। इन विषयों में भी मानव प्रयत्न गुणात्मक विकास के कार्यक्रमों के समान ही महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर, उस असाधारण और अनायोजित प्रसार के नियंत्रित करने की वास्तव में ही आवश्यकता है जो इस समय माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय चरणों में हो रहा है। यह भी एक बहुत किठन समस्या है। पूर्ववर्ती विवरण से यह पता चल गया होगा कि हम दोनों दिशाओं में असफल रहे हैं। हम उतना प्रसार नहीं कर पाए है जितना प्राथमिक चरण में जरूरी था और न हम माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय चरणों में उच्छू खल प्रसार को ही नियंत्रित कर पाए हैं। इन विषयों की ओर आगामी वर्षों में विशेष ध्यान देना पड़ेगा।

(घ) मुद्रा निवेश पर आवश्यकता से अधिक जोर: स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षा का पुर्नानर्माण करने के लिए हमने जो प्रयत्न किए हैं, उनकी एक अन्य मुख्य कमजोरी यह रही है कि मुद्रा निवेश पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है अथवा हमारी शिक्षा योजनाएं 'क्यय अभिमुख' रही हैं। इसका आधार यह सहज विश्वास रहा है कि शिक्षा

में ऐसा कोई दोष नहीं है जिसे घन द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है। यह सच है कि सभी शिक्षा योजनाओं के वित्तीय निहितार्थ अवश्य होंगे और उनके कार्यान्वयन के लिए कुछ घन का निवेश करना आवश्यक होगा। परंतु एक ऐसी शिक्षा योजना जिसके वित्तीय निहितार्थ होते हैं, और एक ऐसी वित्तीय योजना में बड़ा अंतर होता है जिसमें दी गई घन राशि को कितपय शैक्षिक कार्यक्रमों पर व्यय करने का प्रस्ताव हो। वस्तुत: यह अंतर इतना ही व्यापक और इतना ही मूलभूत है जितना 'जीने के लिए भोजन करने' और 'भोजन करने के लिए जीने' के बीच है। हमने इस बुनियादी अंतर को नहीं समझा है और अपनी तमाम योजनाओं को असामान्य रूप से व्यय अभिमुख कर दिया है। हमारे लिए योजना की अंतर्वस्तु की अपेक्षा योजना के खर्च का महत्व अधिक है और इस विषय में हम केवल उपर्युक्त दृष्टि से विचार करते हैं।

यह घ्यान रखना आवश्यक है कि यद्यपि शैक्षिक विकास के लिए धन आवश्यक है तथापि शैक्षिक विकास केवल धन व्यय करने से ही नहीं हो सकता है। धन पर आवश्यकता से अधिक जोर दिए जाने से बहुधा धन का काफी अपव्यय होता है क्योंकि विचार बुद्धि को खर्च करने की अपेक्षा धन को खर्च करना अधिक सरल होता है, विशेष-कर जब वह किसी और का हो। परंतु जब तक विचार बुद्धि को इस्तेमाल नहीं किया जाएगा वस्तुतः कोई उपयोगी परिणाम नहीं निकल सकेगा। हमारा देश निधंन है और हम क्रिक्षा में बहुत अधिक धन का निवेश नहीं कर सकते हैं। जैसा पहले बताया जा चुका है, हम शिक्षा के संबंध में पठार पर पहुंच चुके हैं और शैक्षिक पुनर्निर्माण के लिए अतिरिक्त निधियां जुटाना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि हम धन पर आवश्यकता से अधिक जोर देना छोड़ दें और ज्यादा अच्छी योजना बनाने तथा समर्पित मानव प्रयत्न की ओर ध्यान दें। शैक्षिक प्रगति के इन धनेतर अनिवार्य तत्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है और भारत जैसे निर्धन विकासशील देश को तो बिल्कुल ही नहीं करनी चाहिए।

(ङ) आवश्यकता है एक स्वदेशी आंदो नन की: अंतिम बात यह है कि स्वातं ह्योत्तर काल में हमारे कार्यक्रमों को इसलिए हानि पहुंची है कि हम विचारों तथा कार्यक्रमों के संबंध में विदेशी विशेषज्ञ मत पर लगातार अति निर्भर रहे हैं। 1947 से पहले हम इंग्लैंड पर निर्भर रहे थे और ब्रिटिश अनुभव से प्राप्त उदाहरणों की तलाश मं रहते थे। स्वातं ह्योत्तर काल में इंग्लैंड पर हमारी निर्भरता में कुछ हद तक कमी हुई है परंतु हमारी विचारधारा में निर्भरता की अभिवृत्ति की अब भी प्रमुखता है। अब हम संयुक्त राज्य अमरीका अथवा सोवियत संघ की ओर देखने लगे हैं। चाहे जिस देश पर निर्भर करें अथवा इस निर्भरता के जो भी कारण हों, अन्य देशों पर निर्भरता के परिणाम अनर्थकारी ही हो सकते हैं और अनर्थकारी परिणाम निकले भी हैं।

अब समय आ गया है जब हमें इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि क्या यह बात अच्छी है कि हम इन विदेशी आदर्शों पर निर्भर रहें, भले ही यह निर्भरता सामाजिक व्यवस्था के संबंध में हो अथवा शैक्षिक विकास के। महात्मा गांधी ने इस समस्या पर यथेष्ट विचार किया था कि हम भारत में किस प्रकार के समाज की रचना

करना चाहेंगे। परंतु उन्होंने जो मार्ग बताया उस पर अभी तक चला नहीं गया है और हमने बड़े अविवेकी ढंग से पश्चिम के भारी औद्योगीकृत, उपभोक्ता समाजों को अपना आदर्श स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार हमने पाश्चात्य शिक्षा पद्धतियों को भी अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लिया है। पाश्चात्य समाजों और उनकी शिक्षा पद्धतियों की आंख मंद कर की गई यह नकल हमारी सबसे बड़ी बरबादी रही है क्योंकि न तो इन समाजों का स्वरूप ही हमारे लिए उपयुक्त है और न उनके तरीके की शिक्षा । अतः हमारे लिए तात्कालिक आवश्यकता इस बात की है कि एक स्वदेशी आंदोलन चलाया जाए, इस बात को निर्घारित करने के लिए गंभीर प्रयत्न किया जाए कि हम अपने लिए किस प्रकार के समाज का निर्माण करेंगे, एक ऐसा समाज जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी के साथ उन आध्यात्मिक एवं नैतिक मुल्यों को जोडेगा जिनको हमारा महान देश सदा से मानता आ रहा है। इसके लिए हमें जिस प्रकार की शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है, उसके विषय में मौलिक विचार करना पड़ेगा। यदि ये दोनों प्रयत्न गंभीरता से और लगातार किए जाएं तो पिछले पर्चीस वर्षों में शिक्षा पद्धति का पूर्नीनर्माण करने में हमें जो असफलता मिली हैं वह शीघ्र ही अतीत की बात हो जाएगी और वर्तमान शाताब्दी समाप्त होने से पूर्व हम अपने स्वप्नों के अनुसार एक ऐसे भारतीय समाज का निर्माण कर सकेंगे जिसमें संविधान की प्रस्तावना में प्रतिष्ठापित महान सिद्धांतों पर अमल होगा और समाज की आवश्यकताओं एवं संभाव्यक्ताओं के उपयुक्त एक शिक्षा पद्धति भी होगी।

परिशिष्ट

शिक्षा आयोग की मुख्य सिफारिशें (1964-66)

शिक्षा आयोग की नियुक्ति 1964 में की गई थी और इसके अध्यक्ष एक विख्यात भारतीय वैज्ञानिक एवं शिक्षाविद डा० डी० एस० कोठारी थे। आधुनिक भारतीय शिक्षा के इतिहास में नियुक्त किया गया यह छठा और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद नियुक्त किया गया तीसरा आयोग है। तो भी कुछ बातों में यह अद्वितीय है और अपनी तरह का पहला हैं। पांचों पूर्ववर्ती आयोगों ने संपूर्ण शिक्षा पर नहीं वरन उसके कुछ पहलुओं पर ही विचार किया था । एक आयोग ने विद्यालय शिक्षा और महाविद्यालयों (विश्वविद्यालयों को छोड़कर), दो आयोगों ने विश्वविद्यालय शिक्षा और एक ने माध्यमिक शिक्षा पर विचार किया था। परंतु इस आयोग के निर्देश पद प्रथम बार व्यापक रखे गए थे। इसने शिक्षा के सभी पहलूओं और क्षेत्रों पर विचार किया। इससे अपेक्षा की गई थी कि यह देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति विकसित करने के बारे में सरकार को सलाह देगा। इस आयोग की दूसरी अद्वितीय विशेषता यह थी कि इसका अंतर्राष्ट्रीय संघटन था। इसके सदस्यों में से ग्यारह भारतीय थे और अन्य पांच फ्रांस, जापान, यूनाइटेड किंगडम, संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के व्यक्ति थे । इससे भारतीय अनुभव का व्यापक रीति से पुनरीक्षण करना और भारतीय शिक्षा के पुनर्निर्माण को संसार के कुछ शैक्षिक रूप से सर्वाधिक उन्नत देशों की नवीतम गतिविशिंगों के साथ संबद्ध करना संभव हो गया ।

बुनियादी दृष्टिकोण: इस आयोग ने आधुनिक काल में, विशेषकर स्वाधीनता प्राप्ति के समय से भारत में हुए गैक्षिक विकास का पुनरीक्षण किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि यदि देश को संविधान की प्रस्तावना में वर्णित दीर्घकालिक लक्ष्यों को प्राप्त करना है अथवा विभिन्न क्षेत्रों की अपनी समस्याओं से निबटना है तो भारतीय शिक्षा का कड़ाई के साथ पुनर्निर्माण करने की, क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। आयोग का कहना है कि इस व्यापक पुनर्निर्माण के तीन मुख्य पहलू हैं:

आंतरिक रूपांतरण, ताकि उसे राष्ट्र के जीवन, आवश्यकताओं से संबद्ध किया सके, गुणात्मक सुधार, ताकि प्राप्त किए गए स्तर पर्याप्त हों, लगातार ऊंचे होते रहें और कम से कम कुछ क्षेत्रों में तो अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर तुलना करने योग्य भी हो जाएं और शैक्षिक सुविधाओं का विस्तार, जिसे मोटे तौर पर जनशक्ति संबंधी आवश्य-कताओं के आधार पर और शैक्षिक अवसरों के समकरण पर जोर देते हुए, किया जाए।

अांतरिक रूपांतर: आयोग की राय में, कोई भी सुधार इतना महत्वपूर्ण और तत्काल इतना जरूरी नहीं है जितना शिक्षा का रूपांतरण करना और उसे जनता के जीवन, आवश्यकताओं और आंकाक्षाओं से संबद्ध करना है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि इस प्रकार का रूपांतर करके ही शिक्षा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों का एक शक्तिशाली साधन बन सकती है। यह तत्काल जरूरी भी है और प्रसार की अपेक्षा इसे प्राथमितकता दी जानी है क्योंकि परंपरागत शिक्षा पद्धति का जितना ही अधिक विस्तार होगा उसके स्वरूप को बदलना उतना ही अधिक कठिन और खर्चीला हो जाएगा।

यह रूपांत्रण करने के लिए आयोग ने निम्नलिखित दस कार्यक्रमों पर जोर दिया है:

(1) विज्ञान की शिक्षा: विज्ञान की शिक्षा को तमाम विद्यालय शिक्षा का अभिन्न अंग बना दिया जाए। विश्वविद्यालय चरण में उसके अध्यापन में सुधार किया जाए और वैद्यानिक अनुसंघान के विकास पर ओर दिया जाए।

(2) कार्यानुभव: कार्यानुभव से हमारा तात्पर्य विद्यालय में, घर में, वर्कशाप में, खेत कर कार्यानुभव: कार्यानुभव से हैं। इसे समस्ता कामान्य शिक्षा का अभिन्न अंग बनाया जाए। विद्यार्थियों की आयु और परि-क्षित के अनुसार विविधता हो और यह प्रौद्योगिकी एवं औद्योगीकरण और कृषि सहित समस्ता किया में विज्ञान के अनुसार विविधता हो और यह प्रौद्योगिकी एवं औद्योगीकरण और कृषि सहित सम्बद्ध किया में विज्ञान के अनुसार की ओर अभिमुख हो।

() व्यावसायिक शिक्षा: व्यावसायिक शिक्षा पर, विशेषकर प्राथमिक चरण में, जोर दिया किया के निम्न माध्यमिक (11-16 आयु वर्ग) में व्यावसायिक शिक्षा अंतत: कुल भती कार्यों से लगभग 20 प्रतिशत छात्रों को दी जाए। उच्च माध्यमिक चरण (17-18 कार्यु वर्ग) में इसे बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दिया जाए। उच्च शिक्षा में कुल भर्ती छात्रों में से लगभग एक तिहाई व्यावसायिक कार्यक्रमों को पढ़ सकते हैं। विशेष रूप से, कृषि की शिक्षा और अनुसंधान के विकास पर बल देना अत्यावश्यक है।

(4) सर्वेश्वनीन विद्यालय: अगले 20 वर्षों में एक सुव्यवस्थित कार्यंक्रम के अनुसार लोक शिक्षा की एक ऐसी सर्वजनीन प्रणाली विकसित की जाए जो सभी सामाजिक स्तरों के बालकों को प्रवेश का समान अवसर प्रदान करे और जिसमें पर्याप्त परिणाम एवं गुणता हो।

(5) सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा: सभी चरणों में विद्यार्थियों के लिए किसी न किसी प्रकार की समाज सेवा अनिवार्य हो। विद्यार्थियों की आयु और परिपक्वता के अनुसार इन सेवाओं के स्वरूप और कार्यक्रम में अंतर हो।

(6) भाषा संबंधी नीति: सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालय चरण में शिक्षा माध्यमों के रूप में और संबंधित राज्यों में प्रशासन की भाषाओं के रूप में विकसित

किया जाए और उनका प्रयोग किया जाए। हिंदी को संपूर्ण देश की संपर्क भाषा और संघ की राजभाषा के रूप में विकसित किया जाए। सबसे महत्वपूर्ण पुस्तकालय भाषा के रूप में और विश्व को देखने के लिए वातायन के रूप में अग्रेजी का अध्ययन जारी रखा जाए। इसके साथ ही साथ, अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकालय भाषाओं, विशेषकर रूसी भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाए। त्रिभाषा सूत्र में संशोधन किया जाए: निम्न प्राथमिक चरण में केवल मातृभाषा अनिवार्य हो; उच्च प्राथमिक चरण में एक द्वितीय भाषा जोड़ दी जाए, यह हिंदी या अग्रेजी हो, निम्न माध्यमिक चरण में तीन भाषाओं का अध्ययन किया जाए, मातृभाषा, हिंदी (अथवा हिंदी क्षेत्रों में एक आधुनिक भारतीय भाषा) और अग्रेजी। इनमें से कोई दो भाषाएं उच्च माध्यमिक चरण में अनिवार्य हों। विश्वविद्यालय चरण में कोई भी भाषा अनिवार्य न हो।

- (7) राष्ट्रीय एकता को बढ़ाना: पाठ्यचर्या तथा सह पाठ्यचर्या संबंधी कार्यक्रमों के द्वारा राष्ट्रीय चेतना और एकता की भावना को बढ़ाना चाहिए। यह कार्य अंतर्राष्ट्रीय बोध संबंधी शिक्षा के विकास के साथ साथ किया जाना चाहिए।
- (8) लोच और गतिशील: वर्तमान पद्धित अनमनीय और एकरूप है और अधिक अन्मनीय और एकरूप होती जा रही है। अनेक क्षेत्रों में, जैसे पाठ्यचर्या के विहित किए जाने, अध्यापन प्रणालियों के अपनाए जाने, विभिन्न चरणों में विद्यार्थियों द्वारा विक्री के चयन और प्रशासनिक प्रक्रियाओं के संबंध में काफी लोच और गतिशीलता ल ने के लिए जोरदार कार्रवाइयां करनी होंगी। इस प्रयोजन के लिए अध्यापकों एवं शिका प्रशासकों के लिए सेवाकालीन शिक्षा के एक विशाल कार्यक्रम का सुझाव दिया गुना है।
- (9) अंशकालिक और स्वकालिक शिक्षा: इस समय केवल पूर्णकालिक शिक्षा के लिए सुविधाएं दी जाती हैं। इसके साथ ही साथ अंशकालिक शिक्षा के दिन आविधाएं दी जाती हैं। इसके साथ ही साथ अंशकालिक शिक्षा के बराबर दर्ज देना अवधाक है। आयोग का प्रस्ताव है कि उच्च प्राथमिक तथा निम्न माध्यमिक चरणों वे कार्ती कुल छात्रों के 10 प्रतिशत, उच्च माध्यमिक चरण में भर्ती कुल छात्रों के 25 कार्रिकात और विश्वविद्यालय चरण में भर्ती छात्रों से एक ही हाई छात्र अंशकालिक अथवा स्वाध्याय पाठ्यक्रम पढ़ें।
- (10) सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा: शिक्षा पद्धित को मूलभूत सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के विकास पर जोर देना चाहिए। भारतीय समाज जैसे बहुधर्मी और लोकतंत्रीय समाज में विभिन्न धर्मों के संबंध में शिक्षा देने के लिए भी कोई व्यवस्था हो।

गुगात्मक सुधार: आयोग ने शिक्षा के लिए गतिशील और विकासशील स्तरों की आव-श्यकता पर जोर दिया है। यह वास्तव में इस समय भारतीय शिक्षा का एक निर्णायक कार्यक्रम है और अगले बीस वर्षों के दौरान इस पर जार देते रहना होगा। इस प्रयोजन के लिए आयोग ने निम्नलिखित कार्रवाइयां करने की सिफारिश की है:

(1) सुविधाओं का उपयोग: इस समय विद्यमान सुविधाओं का बहुत ही अपर्याप्त उप-योग हो रहा है। आयोग के मतानुसार स्तरों को सुधारने के लिए पहला कदम यह है कि विद्यमान सुविधाओं का अधिकतम उपयोग किया जाए। इस प्रयोजन के लिए आयोग ने अनेक सिफारिशों की हैं जैसे कार्य दिवसों की संख्या में वृद्धि कर दिया जाना, कार्य दिवस की अविध को बढ़ा दिया जाना, दीर्घावकाश का उचित उपयोग और सतत एवं समीमत कार्य के लिए वातावरण पैदा किया जाना।

- , (2) शैक्षिक ढांचे का पुनर्गठन : आयोग ने सिफारिश की है कि शैक्षिक ढांचे का पुनर्ग-ठन किया जाए। विद्यालय शिक्षा के पहले दस साल सामान्य शिक्षा काल हों और विशेषज्ञता सामान्यतः दसवीं कक्षा के बाद आरंभ हो। उच्च माध्यमिक चरण की अविध दो वर्ष रखने का प्रस्ताव है। उसके पश्चात एक प्रथम उपाधि पाठ्यक्रम होगा जिसकी अविध तीन वर्ष से कम नहीं होगी। आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि अंततः उच्च माध्यमिक चरण को विद्यालयों में रखा जाना चाहिए।
- (3) अध्यापकों की हैसियत और शिक्षा: आयोग ने सिफारिश की है कि अध्यापकों, विशेषकर माध्यमिक चर्ण के अध्यापकों के पारिश्रमिक में सारभूत सुधार किया जाए। शिक्षा के विभिन्न चरणों के अध्यापकों के पारिश्रमिक के भारी अंतर को समाप्त कर देने का प्रस्ताव रखा गया है। सभी प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में काम करने वाले अध्यापकों के वेतनमानों, भत्तों और निवृत्ति लाभों में समानता और एकरूपता होगी चाहे ये संस्थाएं सरकारी हों, स्थानीय शासन की हों अथवा गैर सरकारी हों। पदोन्नित की पर्याप्त सुविधाएं होंगी और कार्य एवं सेवा की शर्तों को सुधारा जाएगा। यदि इस संबंध में आयोग द्वारा की गई सिफारिशों को कार्योन्वित किया गया तो अध्यापन व्यवसाय के लिए, शिक्षा पद्धित से पढ़कर निकलने वाले सर्वोत्तम व्यक्ति पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हो जाएंगे। इससे स्तर स्पष्ट रूप से ऊंचा हो जाएगा।
- (4) पाठ्यचर्याएं, अध्यापन प्रणालियां और मूल्यांकन: आयोग ने पाठ्यचर्याओं, अध्यापन प्रणालियों और मूल्यांकन में भारी परिवर्तन करने की सिफारिश की है और लोच एवं गतिशीलता के व्यापक तत्व की आवश्यकता पर जोर दिया है। उसका यह प्रस्ताव विशेष उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के स्वायत्त महाविद्यालयों और प्रयोगात्मक विद्यालयों की स्थापना की जाए जो बाह्य परीक्षाओं के बंधन से मुक्त हों।
- (5) चयनात्मक विकास . मनुष्यों, सामग्री और मुद्रा के कूप में उपलब्ध संसाधन समस्त संस्थाओं का सुधार करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। अतः आयोग ने सिफारिश की है कि अगले दस वर्षों में दस प्रतिशत संस्थाओं को पर्याप्त स्तर तक उच्च श्रेणी का बना दिया जाए। प्राथमिक चरण में इन संस्थाओं को देश के तमाम भागों में न्यायोचित रूप से फैंला दिया जाए। माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में, प्रत्येक सामुदायिक विकास खंड में कम से कम एक माध्यमिक विद्यालय और प्रत्येक जिले में कम से कम एक महाविद्यालय को उच्च श्रेणी का बनाने का प्रयास किया जाए। विश्वविद्यालय चरण में, लगभग पांच या छः विश्वविद्यालयों को उनमें शिक्षा के बहुत से केंद्र स्थापित करके गहन विकास के लिए चुना जाए और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के तुलनीय स्तरों तक पहुंचने में उनकी सहायता की जाए।

शैक्षिक सुविधाओं का विकास : शिक्षा आयोग ने शैक्षिक सुविधाओं का सभी चरणों में

विस्तार करने की सिफारिश की है परंतु इसे आंतरिक रूपांतरण और गुणात्मक सुधार के वाद प्राथमिकता दी गई है। उसने इस संबंध में जिन कार्यक्रमों की सिफारिश की है उनमें से अधिक महत्वपूर्ण कार्यक्रम निम्नलिखित हैं:

- (1) प्रौढ़ साक्षरता: आयोग ने सुझाव दिया है कि 11-14 आयु वर्ग के उन सभी बालकों के लिए लगभग एक वर्ष की अवधि के अंशकालिक पाठ्यक्रम चलाए जाएं जो विद्यालय में दाखिल ही नहीं हुए अथवा जिन्होंने साक्षरता प्राप्त होने से पहले ही विद्यालय छोड़ दिया था। इससे प्रौढ़ निरक्षरों की संख्या में और आगे वृद्धि नहीं होगी। प्रौढ़ निरक्षरता को समाप्त करने के लिए अभियान चलाए जाएं और इन्हें स्थानीय स्थित के अनुसार चयनात्मक आधार पर अथवा जन अभियान के रूप में चलाया जाए। समग्र प्रयास यह होना चाहिए कि साक्षरता के प्रतिशत को (जो इस समय लगभग 30 है) बढ़ा कर चतुर्थ योजना के अंत तक 60 और पंचम योजना के अंत तक 80 कर दिया जाए।
- (2) प्राथमिक शिक्षा: सभी बालकों के लिए अच्छी और प्रभावी प्राथमिक शिक्षा दी जाए। शिक्षा नीति का उद्देश्य यह हो कि 1975 तक पांच वर्ष की प्राथमिक शिक्षा और 1985 तक सात वर्ष की प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था कर दी जाए।
- (3) मान्यमिक एवं उच्च शिक्षा: इसका प्रसार चयनात्मक आधार पर किया जाए। शिक्षा संस्थाओं से जो छात्र पढ़कर निकलें उनकी संख्या मोटे तौर से जनशक्ति संबंधी आवश्यकताओं अथवा रोजगार के अवसरों से संबद्ध होनी चाहिए।

आयोग यह मानस प्रत्यक्षीकरण करता है कि 1985 तक, राष्ट्रीय शिक्षा पद्धित में कुल छात्र संख्या बढ़कर 17 करोड़ हो जाएगी जबिक 1965 में यह 7 करोड़ थी। इसी अविध में शिक्षा व्यय बढ़कर 1985 में 4,700 करोड़ रुपये हो जाएगा जबिक 1965 में यह 6,000 करोड़ रुपये था। शिक्षा में लगाई जाने वाली राष्ट्रीय आय का अनुपात 1965 में 2.9 प्रतिशत था जो बढ़कर 1985 में 6 प्रतिशत हो जाएगा।

उपर्युक्त प्रसार करने के लिए, शैक्षिक अवसरों के समकरण पर जोर दिया जाना चाहिए। इस दिशा में पहला प्रमुख कदम यह होगा कि सभी बालकों के लिए अच्छी और प्रभावी प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाए। माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में, छात्र-वृत्तियों और स्थापन का एक व्यापक कार्यक्रम चलाया जाए और उच्चकोटि की संस्थाओं में दाखिले प्रतिभा के आधार पर हों। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाए कि ग्राम्य क्षेत्रों के अथवा पिछड़े सामाजिक वर्गों के विद्यार्थियों को अच्छी संस्थाओं अथवा उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए होने वाली सामान्य प्रतियोगिता में किसी बाधा का सामना न करना पड़े।

सामान्य: शिक्षा आयोग ने जिस शैक्षिक पुनर्निर्माण की सिफारिश की है उसकी मूल बात यह है कि हमें विज्ञान पर आधारित और भारतीय संस्कृति एवं मूल्यों से संगत शिक्षा पद्धित का सर्जन करना है। विज्ञान पर जोर देना आवश्यक है क्योंकि आधुनिक संसार में राष्ट्र की प्रगति, कल्याण और सुरक्षा जिस बात पर निर्णायक रूप से निर्भर करती है वह है विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की शिक्षा तथा अनुसंघान के गुण एवं प्रसार क्षेत्र की द्रुत, योजनाबद्ध और सतत संवृद्धि।

शिक्षा पाने का सौभाग्य अब तक एक बहुत छोटे वर्ग को मिलता रहा है। विज्ञान शिक्षा को उत्पादन से संबद्ध करने और उसका विशाल जनता तक विस्तार करने में भी भारी सहायता कर सकता है। भय एवं अंधविश्वास, नियतिवाद एवं निष्क्रिय प्रतिरोध के शक्तिशाली निवारक के रूप में विज्ञान का भारी सांस्कृतिक महत्व भी है। परंतु विज्ञान का विकास सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के साथ साथ ही होना है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो हो सकता है कि मनुष्य एक दिन स्वयं को ही नष्ट कर दे। उसकी मुक्ति वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों क्रि मिश्रण करने में अथवा 'विज्ञान एवं आध्यात्मिकता के युग' का निर्माण करने में ही है। इस प्रसंग में स्वयं आयोग के शब्दों को उद्धत कर देना ही उचित होगा:

'परमाख और अहिंसा' अथवा यदि इसे दूसरे शब्दों में कहें तो मनुष्य के बाह्य अंतरिक्ष के ज्ञान एवं अधिकार तथा उसके अपने मस्तिष्क के अंदर के ज्ञान एवं अधिकार की बीच असंतुलतन उत्पन्न हे ग्या है। मानव जाति को इसी असंतुलन को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य अब उपना ही सामना कर रहा है । उसके सामने पह विकल्प है कि वह या तो एक परमाणवीय वितल में लुढ़ककर बर्बाद और नष्ट हो जाए अथवा अपने को गौरव और पूर्णता के उस शिखर तक पहुंचा दे जिसकी अब तक कल्पना भी नहीं की गई है। भारत ने विश्व संस्कृति को अनेक गौरवमय देन दी हैं और संभवत: उनमें महानतम देन करुणा तथा अहिंसा का संप्रत्यय एवं आदर्श है। इस संप्रत्यय एवं आदर्श को बुद्ध तथा महावीर, नानक तथा कबीर और हमारे समय में विवेकानंद, रमन महींष और गांधी ने चाहा, स्पष्ट किया और अपने जीवन में अपनाया और उनके बाद भी करोड़ों लोगों ने इस आदर्श पर चलने की चेष्टा की है।

'वैज्ञानिक कांति निस्संदेह यूरोप की महानतम देन हैं। यदि विज्ञान और अहिंसा मिलकर विश्वास एवं कर्म का एक रचनात्मक संश्लेषण तैयार कर दें तो मानव जाति को उद्देश्यपूर्णता, समृद्धि और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि का एक नया स्तर प्राप्त होगा। क्या पश्चिमी जगत की वैज्ञानिक उपलब्धि में एक नया आयाम जोड़ने के लिए भारत कुछ कर सकता है? यह प्रश्न एक बड़ी चुनौती प्रस्तुत करता है और भारत के स्त्री पुरुषों के लिए और विशेषकर उन नवयुवकों के लिए अद्वितीय अवसर प्रदान करता है जो भविष्य के चिह्नक हैं।'